साहित्यिक निबन्ध



डॉ. कृष्णलाल 'हंस'

साहित्यिक निबन्ध

२६०६

डॉ॰ कृष्णलाल 'हंस'



हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
वाराणसी–१

Sahitya Nibandh : Dr Krishnalal Hans
Literary Essays

प्रकाशक
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
पी बाक्स नं ७
पिशाचमोचन वाराणसी-१

मुद्रक
अजन्ता प्रेस
[illegible] वाराणसी-१

संस्करण प्रथम
६१

आवरण
मनोरंजन कांजीलाल

मूल्य ५ रु ७५ न प

साहित्यिक निबन्ध

दो शब्द

प्रस्तुत ग्रंथ में लेखक के साहित्यिक निबन्ध संगृहीत हैं। इन निबन्धों के निर्वाचन में हिन्दी-साहित्य के क्रमिक विकास एवं समय-समय पर प्रस्फुटित होनेवाली उसकी धाराओं का ध्यान रखा गया है। परिणामस्वरूप साहित्य की सभी विधाएँ और उनके अंतर्गत सभी प्रमुख प्रवृत्तियों को इन निबन्धों में स्थान मिल गया है। ग्रन्थ में संकलित निबन्धों को हम सैद्धान्तिक ऐतिहासिक प्रवृत्तिमूलक मताभिव्यंजक एवं विश्लेषणात्मक निबन्धों में विभाजित कर सकते हैं। इस विभाजन के अनुसार साहित्य का स्वरूप और महत्त्व काव्य आदि निबन्धों को सैद्धान्तिक हिन्दी का उद्गम और विकास हिन्दी एकांकी स्वरूप और विकास आदि निबन्धों को ऐतिहासिक छायावादी काव्य-साहित्य हिन्दी काव्य में रहस्यवाद आदि निबन्धों को प्रवृत्तिमूलक निर्गुण उपासना का उद्गम और विकास सूफीमत का प्रादुर्भाव आदि निबन्धों को मताभिव्यंजक तथा कबीर का साधना पथ हिन्दी का सूफी काव्य-साहित्य, विद्यापति का काव्य-वैभव आदि निबन्धों को विश्लेषणात्मक कह सकते हैं। संकलन के प्राय सभी निबन्ध समीक्षात्मक हैं। इस प्रकार इस संकलन में उन सभी विषयों को स्थान देने का प्रयत्न किया गया है जिनसे परिचित होना एक उच्च कोटि के साहित्यानुरागी के लिए आवश्यक है। मेरा विश्वास है यह ग्रन्थ विभिन्न भारतीय विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगी।

संकलन के समस्त निबन्ध, मेरा इन विषयों से संबंधित अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। इनके लेखन में मेरा 'अपना' कितना है इसका निर्णय मैं विद्वान् पाठकों पर छोड़ता हूँ। यदि मेरा यह 'निबन्ध-प्रयास' साहित्य जिज्ञासुओं को 'रुच' सका तो मैं अपना प्रयत्न सफल समझूँगा। मैं उन समस्त विद्वान् लेखकों का अनुगृहीत हूँ जिनकी कृतियों से मुझे इस संकलन के निबन्धों के लिखने में सहायता मिली है।

शासकीय महाविद्यालय
देवास (म० प्र०)
कार्तिक पूर्णिमा (सं २०१८ वि)

विनीत
[illegible]



विषयानुक्रमणिका

हिन्दी का उद्गम और विकास

भारतीय आर्य भाषाएँ

काल-क्रम के अनुसार भारतीय आर्य भाषाएँ तीन कालों में विभाजित की जा सकती हैं —

१ प्राचीन भारतीय आर्य भाषा काल—अधिकांश भाषाशास्त्रियों ने यह काल सन् ईस्वी के १५०० वर्ष पूर्व से ५०० वर्ष पूर्व तक माना है। प्रस्तुत काल में इस भाषा के दो रूप रहे हैं। इनमें से एक रूप को लोकभाषा और दूसरे रूप को साहित्यवाणी कहा जा सकता है। उस समय की जनता बोलचाल में किस प्रकार की भाषा का प्रयोग करती थी यह कहना प्रमाणों के अभाव में सम्भव नहीं है। पर तत्कालीन साहित्य वाणी का रूप हम आज भी ऋग्वेद में देख सकते हैं। ऋग्वेद आर्यों का प्राचीनतम ग्रन्थ है जिसकी रचना सन् ईस्वी के एक सहस्र वर्ष से भी अधिक पहिले की गई थी। जिस भाषा में इस ग्रन्थ की रचना की गई है, वह 'छन्दस' भाषा कही गई है जिसे हम वैदिक संस्कृत भी कह सकते हैं। ऋग्वेद की भाषा से यह स्पष्ट है कि पूरे ग्रन्थ की रचना किसी एक ही काल में नहीं हुई है। पूरे ग्रन्थ में भाषा की एकरूपता नहीं है। उदाहरणार्थ इस ग्रन्थ के दशम मंडल की भाषा अन्य मंडलों की भाषा से भिन्न है। इस मंडल में हमें 'र्' के स्थान में ल् का प्रयोग मिलता है। इसी प्रकार पूर्व मंडलों में जहाँ ळ् का प्रयोग है वहाँ इस मंडल में ड् का प्रयोग मिलता है।

आर्य लोग सर्वप्रथम पंजाब में आकर बसे और सम्भवतः उन्होंने वहीं ऋग्वेद की रचना आरम्भ की पर इसके पश्चात् उनके आगे बढ़ने का क्रम बराबर रहा और इसके साथ ही इस ग्रन्थ के शेष भाग की रचना भी होती रही। इस प्रकार काल में वे अपनी भाषा को सुरक्षित न रख सके। अनार्यों के संसर्ग से उसके मूल रूप में परिवर्तन होता रहा। हमें यजुर्वेद संहिता में अनार्य शब्दों का प्रभाव पूर्वापेक्षा अधिक मिलता है जिसका कारण भाषा परिवर्तन ही कहा जा सकता है। यजुर्वेद संहिता की रचना के पश्चात् भी यह परिवर्तन का क्रम चलता ही रहा। आर्यों की मूल भाषा के अनेक शब्द लुप्त होने लगे और उनका स्थान नवीन शब्द ग्रहण करने लगे। ब्राह्मण ग्रन्थों और सूत्र ग्रन्थों की रचना यजुर्वेद संहिता के पश्चात् हुई और इसके पश्चात् उपनिषदों की रचना हुई। यदि हम ऋग्वेद से उपनिषदों तक की भाषा का अध्ययन तुलनात्मक दृष्टि से करें तो रूप और नाम परिवर्तन के साथ वैदिक भाषा में होनेवाला

क्रमिक परिवर्तन स्पष्ट रूप से हमारे सामने आ सकता है। इसी परिवर्तन ने आगे चलकर 'संस्कृत' भाषा को जन्म दिया।

'संस्कृत' शब्द से ही ज्ञात पड़ता है कि इस भाषा के अस्तित्व में आने के पूर्व कोई ऐसी भाषा या भाषाएँ अवश्य थीं जिनका संस्कार कर संस्कृत का रूप सँवारा गया था। इसमें 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम 'पाणिनीय शिक्षा' में मिलता है। यह नामकरण पाणिनि ने सन् ईसवी के लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व किया था। ऋग्वेद काल से सूत्र काल तक आर्यों की लोकभाषा में ही नहीं वरन् साहित्यिक भाषा में भी बहुत परिवर्तन हो गया था। अतः पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' व्याकरण ग्रन्थ की रचना कर इसका रूप स्थिर कर दिया। यही रूप 'संस्कृत' के नाम से प्रसिद्ध है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी की रचना कर जिस भाषा के रूप को व्यवस्था और सुस्थिरता प्रदान की उसे उन्होंने 'लोक-प्रचलित आदर्श भाषा' कहा है। इससे ऐसा ज्ञात पड़ता है कि पाणिनि ने लोक-प्रचलित विभिन्न भाषाओं में सामंजस्य स्थापित कर संस्कृत भाषा का निर्माण किया था। इस नवनिर्मित भाषा में ग्रन्थ-रचना तो होने लगी पर इसके व्याकरण के नियमों से आबद्ध होने से इसके विकास का मार्ग अवरुद्ध हो गया जब कि अन्य लोकभाषाएँ स्वच्छन्द गति से विकास करती रही थीं।

२. मध्यभारतीय आर्य भाषा काल—यह काल सन् ईसवी के पाँच सौ वर्ष पूर्व से १००० ई० तक माना जाता है। पाली, प्राकृत और अपभ्रंश इस काल की मुख्य भाषाएँ हैं।

पाली

पाणिनि-प्रणीत संस्कृत का प्रयोग ग्रन्थ-रचना और विद्वज्जनों तक ही सीमित था। जनता की भाषा इससे भिन्न थी। इसी समय भारत में बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हुआ। भगवान् बुद्ध ने अपने धर्म प्रचार के लिए जनता की भाषा को माध्यम बनाया। उनके अनुयायियों ने भी बुद्ध-स्वीकृत जनभाषा में ही धर्म प्रचार आरम्भ किया। परिणाम-स्वरूप जन भाषा परिमार्जित और परिष्कृत होने लगी और एक दिन साहित्यिक भाषा बन गई। यही भाषा 'पाली' के नाम से प्रसिद्ध है। बौद्ध धर्म के थेरवाद (स्थविरवाद) और 'हीनयान' शाखा के अधिकांश ग्रन्थों की रचना इसी भाषा में हुई है। इसी भाषा में मूल त्रिपिटक पर 'अट्ठकथा' 'विसुद्धि मग्ग' 'दीपवंस' आदि की रचना भी हुई। धीरे-धीरे बौद्ध धर्म के साथ पाली भाषा का प्रचार लंका, स्याम, बर्मा, चीन आदि देशों में भी हो गया और वहाँ भी इस भाषा में ग्रन्थ-रचना होने लगी।

डा० विण्टरनित्ज ने पाली में मागधी तथा पैशाची के कुछ लक्षण देखकर इसे मगध देश की भाषा कहा है और इसका यहीं से उज्जयिनी में पहुँचना तथा वहाँ पर पैशाची का

प्रभाव पड़ता बतलाया है। किन्तु तक्षशिला 'महायान' शाखा का केन्द्र था जिसका त्रिपिटक संस्कृत में लिखित था पाली में 'हीनयान' का त्रिपिटक था।

प्राकृत भाषाएँ

पाली बौद्ध धर्म का आश्रय पाकर साहित्यिक भाषा बन गई थी पर इस समय भी भारत के विभिन्न भागों में कुछ जन-भाषाएँ प्रचलित थीं। उत्तरी भारत में जो लोकभाषा प्रचलित थी वह 'उदीच्य' मध्यदेश की भाषा 'मध्यदेशीय' और पूर्वी भारत की लोकभाषा 'प्राच्य' कहलाती थी। ये ही लोक भाषाएँ आगे चलकर 'प्राकृत' के नाम से प्रसिद्ध हुईं। इनमें से प्राच्य प्राकृत को अशोक के राज्यकाल में 'राज्य भाषा' होने का गौरव प्राप्त हुआ। अशोक की अनेक स्थानों में खुदवाई गई राज्याज्ञाएँ इसी भाषा में हैं पर कुछ धर्माज्ञाएँ वहाँ की स्थानीय भाषाओं में भी मिलती हैं। यथा जयपुर बैराट की धर्माज्ञा शुद्ध प्राच्य में गिरनार की धर्माज्ञा सौराष्ट्री में और शाहबाजगढ़ी की धर्माज्ञा उदीच्य में है।

प्राकृतों का जन्म और विकास

ऊपर जिन तीन प्रकार की भाषाओं का उल्लेख किया गया है वे विभिन्न भागों में बोली जानेवाली लोक-प्रचलित भाषाएँ थीं। ये जनता-द्वारा स्वाभाविक (प्राकृतिक) रूप से बोली जाने के कारण प्राकृत कहलाईं और अपने क्रमिक विकास के साथ साहित्यिक प्राकृत बन गईं। साहित्यिक रूप प्राप्त होने पर इनका विकास पाँच रूपों में हुआ—शौरसेनी प्राकृत मागधी प्राकृत अर्धमागधी प्राकृत महाराष्ट्री प्राकृत और पैशाची प्राकृत। प्राकृत के ये रूप स्थान विशेष के द्योतक हैं। इनमें महाराष्ट्री प्राकृत सबसे अधिक समृद्ध भाषा थी। प्राकृत साहित्य का एक बड़ा भाग इसी प्राकृत में उपलब्ध है। इस प्राकृत का राष्ट्र के अधिकांश भाग पर प्रभाव था सम्भवतः इसीलिए इसे महाराष्ट्री प्राकृत की संज्ञा दी गई थी। आचार्य दंडी ने 'महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः' कहकर इसे सर्वोत्कृष्ट प्राकृत कहा है। भाषाशास्त्रियों ने सन् १ ई० से ५०० ई० तक साहित्यिक प्राकृतों का समय माना है।

शौरसेनी प्राकृत

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है यह शूरसेन प्रदेश अथवा मध्यदेश की भाषा थी। यह भारत के उस भू-भाग की भाषा थी जहाँ वैदिक भाषा संस्कृत और पाली के समान साहित्यिक भाषाओं का विकास हुआ था। साहित्यिक प्राकृतों में यह प्राचीनतम है। गुप्तों के पश्चात् से इसका रूप कुछ प्राचीन नाटकों में ही देखा जा सकता है। भवभूति भास कालिदास आदि नाटककारों के मध्यवर्गीय पात्रों की यही भाषा है। इसके अतिरिक्त कुछ जैन-ग्रन्थों में भी इसका धार्मिक साहित्य सुरक्षित है। यह संस्कृत भाषा के अधिक निकट है।

२. मागधी प्राकृत—यह मगध और उसके निकटवर्ती पूर्वी भाग की भाषा थी। इसी का प्राचीन रूप पाली के नाम से प्रचलित था। अशोककालीन पूर्वी और उत्तरी भारत के शिलालेख इसी भाषा में अंकित हैं। संस्कृत के 'मृच्छकटिक' नाटक में इसका रूप देखा जा सकता है। संस्कृत के नाटककार ने निम्न श्रेणी के पात्रों से इसी भाषा का प्रयोग कराया है।

३. अर्धमागधी प्राकृत—यह शूरसेन और मगध प्रदेश के मध्य भाग की भाषा थी। इसमें शौरसेनी और मागधी दोनों के लक्षण उपलब्ध हैं पर इसकी प्रवृत्ति की शौरसेनी की ओर ही अधिक दृष्टिगोचर होती है। कुछ विद्वानों ने इसे ही 'आर्ष भाषा' कहा है। भगवान बुद्ध ने मागधी में और भगवान महावीर ने अर्धमागधी में ही अपना उपदेश दिया था।

४. महाराष्ट्री प्राकृत—जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है साहित्यिक प्राकृतों में महाराष्ट्री प्राकृत ही सर्वाधिक विकसित भाषा थी। गाथा सप्तशती वज्जालग्ग रावणवहो गउडवहो कुमारपाल चरित आदि ग्रन्थों की रचना इसी भाषा में हुई है। यह आरम्भ से ही पद्य की भाषा रही है, जिससे इसमें काव्य-ग्रन्थों का ही निर्माण हुआ है। डा. मनमोहन घोष महाराष्ट्री को शौरसेनी की उत्तरकालीन शाखा मानते हैं। चाहे जो भी हो पर इसमें सन्देह नहीं कि पाँचवीं और छठवीं शती में महाराष्ट्री साहित्य से यह महान् राष्ट्र प्रभावित था।

इस भाषा की प्रमुख विशेषता—इसमें स्वर मध्यग व्यंजनों क् त् प् ग् द् ब् का लोप होकर ख् घ् थ् ध् भ् के स्थान पर केवल प्राण ध्वनि 'ह' का शेष रह जाता है। इसका यही रूपान्तर इसे शौरसेनी से पृथक् करता है। इस प्राकृत के दक्षिण में पहुँचने पर यह वहाँ की लोक-भाषाओं से प्रभावित हुई और परिणाम स्वरूप इसने एक नया रूप धारण कर लिया जो मराठी के नाम से प्रसिद्ध है। इसे हम शौरसेनी प्राकृत तथा शौरसेनी अपभ्रंश के मध्य की भाषा भी कह सकते हैं।

५. पैशाची—वाग्भट ने इसे पिशाचों अथवा भूतों की भाषा कहा है इसीलिए यह भूतभाषा अथवा भूत-भाषित भी कही गई है। वररुचि शौरसेनी को पैशाची का मूल बताते हैं। हार्नले के मतानुसार यह एक द्रविड़ भाषा थी। इस प्राकृत का प्रमुख क्षेत्र पश्चिमोत्तर सीमाप्रदेश जिसमें पेशावर है, समझा जाता है। गुणाढ्य की बृहत् कथा (बड्ड कहा) इसी भाषा में लिखी गई थी जो अब अप्राप्य है। इसके संस्कृत रूपान्तर आज कथा सरित्सागर (सोमदेव) बृहत्कथा मंजरी (क्षेमेन्द्र) आदि के रूप में देखे जा सकते हैं। गुणाढ्य प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन के आश्रित बतलाये जाते हैं। इनका समय सन् ७८ ई. के लगभग है। हम्मीर मद मर्दन और 'मोहराज पराजय' आदि नाटकों में कुछ पात्र पैशाची बोलते दिखाए गए हैं।

अपभ्रंश भाषाएँ (सन् ६०० ई० से १२०० ई० तक)

जिस प्रकार पाणिनि ने संस्कृत को व्याकरण के कठोर नियमों में आबद्ध कर उसका स्वाभाविक विकास अवरुद्ध कर दिया था उसी प्रकार प्राकृतों के व्याकरण बनने पर इनका विकास भी रुक गया, पर लोकभाषाओं पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा। पाणिनि के समय संस्कृत का व्याकरण जानने वाले ही शुद्ध संस्कृत बोल सकते थे और अन्यों-द्वारा बोली जानेवाली संस्कृत 'अशुद्ध संस्कृत' समझी जाती थी। इसी अशुद्ध समझी जाने वाली संस्कृत ने आगे चलकर प्राकृत का रूप ग्रहण किया था। यही स्थिति प्राकृत के व्याकरण बनने पर भी उत्पन्न हो गई। प्राकृत के व्याकरण तत्कालीन लोक-भाषाओं के प्रवाह को अवरुद्ध न कर सके वे स्वाभाविक गति से विकसित होती गईं। प्राकृत के वैयाकरणों की दृष्टि में ये सामान्य वर्गों-द्वारा बोली जानेवाली बोलियाँ अशुद्ध समझी जाती थीं अतः वे इन्हें 'अपभ्रंश' कहने लगे।

अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग संभवतः प्राकृत वैयाकरण चंड ने सर्वप्रथम छठवीं शती में अपने ग्रन्थ प्राकृत लक्षणम्' में किया है। आचार्य भामह ने भी अपने 'काव्यालंकार' ग्रन्थ में इसे संस्कृत और प्राकृत के साथ स्थान दिया है। इससे यह स्पष्ट है कि छठवीं शती में कोई भाषा ऐसी अवश्य थी जिसे अपभ्रंश कहा जाता था। इसका ९ वीं शती तक क्रमशः विकास होता गया और उसे स्थान भिन्नता के साथ रूप भिन्नता भी प्राप्त होती गई। ग्यारहवीं शती में प्राकृत वैयाकरण पुरुषोत्तम ने इसे सभ्यों की भाषा कहा है। इससे मालूम होता है कि इस समय तक इसे साहित्यिक मर्यादा प्राप्त होती ही गई थी। इसके पश्चात् ही आचार्य हेमचन्द्र ने इस भाषा का व्याकरण बना कर इसे कुछ निश्चित नियमों में आबद्ध किया था।

हमें सर्वप्रथम भरत के नाट्य शास्त्र में अपभ्रंश का रूप मिलता है पर वह प्राकृत से इतना अधिक प्रभावित है कि हम उसे अपभ्रंश का प्रारंभिक रूप मात्र कह सकते हैं। इसका स्पष्ट रूप हमें कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक की कुछ पंक्तियों में ही मिलता है। आचार्य दंडी ने अपभ्रंश को 'आभीरादिगिरः' कहा है। इससे छठी शती में इसका आभीरों की भाषा होना प्रमाणित होता है। संभव है कुछ अन्य जातियाँ भी इसे बोलती रही हों। इससे ६ ठी शती इस भाषा का आरम्भ काल माना जा सकता है।

कवि राजशेखर ने मरुभूमि टक्क और भादानक को अपभ्रंश का क्षेत्र कहा है। इससे राजशेखर के समय तक राजस्थान और पंजाब तक अपभ्रंश का विस्तार ज्ञात पड़ता है।

हिन्दी-उन्मुख अपभ्रंश

पाली और प्राकृत संस्कृत के जितने निकट हैं उतने निकट अपभ्रंश नहीं है। पाली और प्राकृत के तद्भव शब्दों का प्रयोग कर देने तथा विभक्ति और परसर्गों के प्रयोगों

में परिवर्तन कर देने से इन दोनों भाषाओं के रूप संस्कृत की तरह हो जाते हैं पर अपभ्रंश के रूपों में इस प्रकार के परिवर्तन कर देने से संस्कृत के रूप नहीं बनते। प्राचीन वैदिक भाषा के रूप में भी जो परिवर्तन आरम्भ हुआ वह क्रमशः बढ़ता हुआ अपभ्रंश काल तक बदल गया कि अपभ्रंश संस्कृत से बहुत दूर की भाषा बन गई। इसी परिवर्तन ने अपभ्रंश को हिन्दी जन्म देने में समर्थ बनाया। भाषा विकास का जो प्रवाह संस्कृत से प्राकृत तक अविच्छिन्न गति से प्रवाहित होता आ रहा था वह अपभ्रंश-काल में विच्छिन्न होकर एक नई दिशा में प्रवाहित होने लगा। इस प्रकार अपभ्रंश का सन् ६०० ई० से १२०० ई० तक जो विकास हुआ उसकी हम दो स्थितियाँ देखते हैं। इनमें से प्रथम स्थिति ६०० से लगभग ८०० ई० तक और द्वितीय स्थिति ८०० से १२०० ई० तक की कही जा सकती है। प्रथम स्थिति में अपने विकास के साथ हिन्दी उन्मुख होती गई।

अपभ्रंश का जन्म भी पाली और प्राकृत से भिन्न प्रणाली पर आधारित है। इसने क्रिया विभक्तियाँ नई स्वीकार की पर तत्सम शब्दों के बहिष्कार की प्रवृत्ति पाली और प्राकृत से ग्रहण की। इसका यह स्वरूप लगभग ८ वीं शताब्दी तक बना रहा। इसके पश्चात् अपभ्रंश (साहित्यिक अपभ्रंश) में भी तद्भव शब्दों के स्थान पर संस्कृत के तत्सम शब्दों का अधिकाधिक प्रयोग आरम्भ हो गया। इस नये प्रयोग ने कुछ शताब्दियों के पश्चात् का अपभ्रंश विकास हिन्दी में किया। अपभ्रंश में तत्सम शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति बढ़ने का कारण अपभ्रंश के साहित्यकारों का संस्कृत के पंडित होना था। सरहपा लवपा भूसुकुपा और स्वयम्भू आठवीं शताब्दी के अपभ्रंश के साहित्यकार हैं। इनमें से प्रथम तीन बौद्ध चतुर्थ जैन थे पर चारों का संस्कृत पर अच्छा अधिकार था। नवीं शताब्दी में अपभ्रंश के तेरह कवि दसवीं शताब्दी में सात कवि ग्यारहवीं शताब्दी में ९ कवि बारहवीं में २४ कवि और तेरहवीं शताब्दी में अपभ्रंश के भी हुए। आरम्भ में अपभ्रंश में रचना करनेवाले बौद्ध और जैन कवि ही थे पर आगे चलकर हिन्दू ही नहीं वरन् मुसलमान भी अपभ्रंश में साहित्य सृजन करने लगे। बौद्ध कवियों ने अपभ्रंश के मूल रूप को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया किन्तु उनके पश्चात् जैन और हिन्दू कवियों के द्वारा उसके स्वरूप में परिवर्तन आरम्भ हो गया और धीरे-धीरे ग्यारहवीं शताब्दी में ऐसा दिखाई देने लगा कि अपभ्रंश का विकास एक नई भाषा के रूप में होने जा रहा है।

हिन्दी का जन्म

'हिन्दी' फारसी भाषा का शब्द है। संस्कृत के स का उच्चारण फारसी में ह होता है। भारत की उत्तरीय सीमा के समीप से सिंधु नदी बहती है। उत्तर से आने वालों को भारत में प्रवेश करना पड़ता था। फारसी में 'सिन्ध' का उच्चारण 'हिन्द' होने के कारण वे इस देश को हिन्द कहने लगे और इस हिन्द देश में बोली जानेवाली भाषा को उन्होंने हिन्दी कहा। फारसी भाषा के अनुसार हिन्दी का अर्थ 'हिन्द से संबंध रखने वाला' होता है, किन्तु बहुत समय तक हिन्दी शब्द का प्रयोग हिन्द के रहनेवाले

अथवा 'हिन्द की भाषा' के अर्थ में होता रहा। इस अर्थ में भारत में बोली जानेवाली सभी भाषाएँ हिन्दी के अंतर्गत आ जाती हैं किन्तु यहाँ हिन्दी से हमारा तात्पर्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषा के उस रूप से है जो भारत की एक बहुत बड़ी जनसंख्या के द्वारा बोली जाती है।

कुछ भाषा शास्त्रियों ने हिन्दी का प्रारंभ सं० १००० वि० के पश्चात् ही माना है पर वास्तव में इसका जन्म ७वीं शताब्दी में ही हो गया था। सरहपा ने सं० ६९० के लगभग हिन्दी के प्राचीन रूप में रचना की थी। पुष्पदन्त अथवा पुंड ने भी जो कि अपभ्रंश का कवि था संवत् ७७० वि० में एक अलंकार ग्रन्थ की रचना हिन्दी दोहों में की थी। इसके पश्चात् संवत् ८९० वि० में रचित 'खुमान रासो' ग्रन्थ मिलता है। इसके पश्चात् संवत् १००० वि० के लगभग किसी भुआल कवि द्वारा रचित श्रीमद्भगवद्गीता के अनुवाद का पता लगता है। इसी प्रकार सं० ११६७ वि० में श्वेताम्बराचार्य जिनवल्लभ सूरि-द्वारा हिन्दी में 'नवकार' नामक ग्रन्थ की रचना, सं० ११८० वि० में मसऊद और कुतुब अली की रचना सं० ११९१ वि० में माई रामचरण के द्वारा 'धर्मसमार' ग्रन्थ की रचना सं० १२०५ और १२४८ के बीच अकरम फैज द्वारा वरतमाल नामक ग्रन्थ की रचना होने का पता लगता है। अकरम फैज द्वारा संस्कृत के 'वृत्तरत्नाकर' का भी हिन्दी में अनुवाद करने का अनुमान किया जाता है। इसके पश्चात् ही चन्दबरदाई का 'पृथ्वीराज रासो' हमारे सामने आता है। यद्यपि आज इन ग्रन्थों में से अधिकांश उपलब्ध नहीं हैं तथापि इन सभी ग्रन्थों को हम आनुमानिक नहीं कह सकते। अनुमान का भी कोई न कोई आधार अवश्य होता है फिर वह आधार चाहे कल्पित ही क्यों न हो। अतः हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा कि सातवीं शताब्दी में ही अपभ्रंश हिन्दी उद्भूत होने जा रही थी और उस हिन्दी में ग्रन्थ-रचना का प्रयत्न भी हो गया था। इसी काल की हिन्दी को हम प्राचीन हिन्दी कह सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से ही प्राचीन हिन्दी में साहित्य-सृजन प्रारम्भ हो गया था। किसी भी भाषा को साहित्यिक प्रतिष्ठा अपने जीवन के प्रारम्भ से ही प्राप्त नहीं होती उसे यह प्रतिष्ठा प्राप्त करने में कुछ समय अवश्य लग जाता है। यदि हम यह समय कम-से-कम दो शताब्दी भी मान लें तो हिन्दी भाषा का जन्म-काल निश्चित रूप से पाँचवीं शताब्दी माना जा सकता है।

हिन्दी की उपभाषाएँ

हिन्दी का क्षेत्र विस्तृत है। भारत का एक बड़ा भाग हिन्दी भाषी क्षेत्र से ही सम्पन्न है। भारतीय संविधान ने जिस क्षेत्र को हिन्दी भाषी क्षेत्र स्वीकार किया है वह उत्तर में शिमला से लेकर नेपाल के पूर्वी छोर तक उत्तर-पश्चिम में अम्बाला तक पश्चिम में जैसलमेर तक पूर्व में भागलपुर तक दक्षिण-पूर्व में रायगढ़ तक दक्षिण-पश्चिम में बुरहानपुर तक तथा दक्षिण में छिन्दवाड़ा बैतूल तक विस्तृत है। इस क्षेत्र की जनसंख्या

१९५१ की जनगणना के अनुसार लगभग बारह करोड़ है। डा० ग्रियर्सन ने पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी के क्षेत्र को ही हिन्दी भाषी क्षेत्र के अन्तर्गत स्वीकार किया है, किन्तु इस भाषा के उपर्युक्त विशाल क्षेत्र को देखते हुए राजस्थानी बिहारी और पहाड़ी भाषाएँ भी इसी क्षेत्र के अन्तर्गत आती हैं। इसी दृष्टि से हिन्दी की उपभाषाएँ मानी जानी चाहिए।

हिन्दी की बोलियाँ

पश्चिमी हिन्दी पूर्वी हिन्दी राजस्थानी बिहारी और पहाड़ी भाषाओं को हिन्दी की उपभाषाएँ स्वीकार कर लेने पर इन सभी की बोलियाँ हिन्दी की ही बोलियाँ समझी जायँगी। तदनुसार हिन्दी की बोलियाँ निम्नांकित हैं—

(क) पश्चिमी हिन्दी की बोलियाँ

१ खड़ी बोली—यह मुख्यतः पश्चिमी रुहेलखंड गंगा के उत्तरी दोआब तथा अंबाला जिले की बोली है, पर इसका साहित्यिक रूप पूर्ण हिन्दी भाषी भाग में प्रचलित है। बोलचाल की खड़ी बोली में फारसी के अर्धतत्सम और तद्भव रूपों का पर्याप्त व्यवहार होता है। रामपुर मुरादाबाद बिजनौर मेरठ मुजफ्फरपुर, सहारनपुर देहरादून अम्बाला और पटियाला में खड़ी बोली ही नित्य व्यवहार की बोली है। इस बोली के बोलनेवालों की संख्या लगभग ५३ लाख है।

२. ब्रज भाषा—एक दीर्घकाल तक ब्रज को साहित्यिक सम्मान प्राप्त रहा है जिससे यह 'भाषा' कहलाती है पर वास्तव में यह पश्चिमी हिंदी की एक बोली ही है। यह मथुरा आगरा अलीगढ़ धौलपुर, गुड़गाँव भरतपुर, करौली और ग्वालियर के पश्चिमोत्तर भाग में बोली जाती है। इसके अतिरिक्त बुलन्दशहर बदायूँ और नैनीताल में भी खड़ी बोली से प्रभावित ब्रज ही बोली जाती है। इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग ७९ लाख है।

३ बुन्देली—यह बुन्देलखंड की बोली है, जिसमें झाँसी जालौन हमीरपुर भोपाल ओड़छा सागर दमोह जबलपुर नरसिंहपुर और होशंगाबाद सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त चरखारी दतिया और पन्ना में ब्रज प्रभावित बुन्देली तथा बालाघाट और छिन्दवाड़ा के कुछ भाग में मराठी प्रभावित बुन्देली बोली जाती है। इस बोली के बोलनेवालों की संख्या लगभग ६९ लाख है।

४ बाँगरू—यह दिल्ली करनाल रोहतक और हिसार जिले में बोली जानेवाली बोली है। इसके अतिरिक्त पटियाला और नाभा के कुछ भागों भी यही बोली बोली जाती है। इस बोली पर राजस्थानी और पंजाबी का एक साथ ही प्रभाव देखा जाता है। इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग २२ लाख है।

कन्नौजी—यह कन्नौज फर्रुखाबाद हरदोई शाहजहाँपुर पीलीभीत इटावा और कानपुर जिले में बोली जाती है। इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग ४५ लाख है।

६ मालवी—डा० ग्रियर्सन के अनुसार मालवी का स्थान राजस्थानी के अन्तर्गत है पर हम इसके स्वरूप को देखते हुए पश्चिमी हिन्दी के ही अन्तर्गत रखना अधिक तर्कसंगत मानते हैं। यह मुख्यतः मालवभूमि की बोली है जिसके अन्तर्गत इन्दौर उज्जैन रतलाम धार, देवास आदि जिले हैं। इस बोली के बोलनेवालों की संख्या लगभग ५ लाख है।

७. निमाड़ी—यह मुख्यतः निमाड़ के दोनों जिले अर्थात् निमाड़ और खरगोन निमाड़ की भाषा है पर कुछ निमाड़ी भाषी मध्यप्रदेश के दूसरे भागों में भी रहते हैं। इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग तीन लाख है।

(ख) पूर्वी हिन्दी की बोलियाँ

८. अवधी—यह लखनऊ उन्नाव रायबरेली सीतापुर, गोंडा फैजाबाद खीरी बहराइच प्रतापगढ़ और बाराबंकी के अतिरिक्त फतहपुर कानपुर इलाहाबाद मिर्जापुर और जौनपुर जिले के कुछ भाग में भी बोली जाती है। इस बोली के बोलनेवालों की संख्या लगभग एक करोड़ चालीस लाख है। ब्रज भाषा के पश्चात् अवधी में ही हिन्दी का सबसे अधिक साहित्य प्राप्त है।

९ बघेली—यह बघेलखंड की बोली है जिसके अन्तर्गत पूर्वविन्ध्य प्रदेश का अधिकांश भाग है। इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग ४६ लाख है।

१० छत्तीसगढ़ी—यह मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ भाग की प्रमुख बोली है जिसके अन्तर्गत रायपुर बिलासपुर, रायगढ़ सरगुजा बस्तर और दुर्ग जिला है। इनमें से रायगढ़ की छत्तीसगढ़ी उड़िया से और सरगुजा के उत्तर-पश्चिमी भाग की छत्तीसगढ़ी बघेली से प्रभावित है। बस्तर जिले में छत्तीसगढ़ी बोलनेवालों की संख्या बहुत कम है। इस जिले की बोली हलबी है जो छत्तीसगढ़ी उड़िया और तेलगू का एक मिश्रण सी जान पड़ती है। छत्तीसगढ़ी बोलनेवालों की संख्या लगभग ३८ लाख है।

(ग) बिहारी की बोलियाँ

११ भोजपुरी—यह वाराणसी या बनारस मिर्जापुर जौनपुर गाजीपुर बलिया गोरखपुर बस्ती आजमगढ़ शाहाबाद चम्पारन सारन और छोटा नागपुर तक बोली जाती है। इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग दो करोड़ है।

१२. मैथिली—यह प्राचीन मिथिला प्रदेश की भाषा है जिसमें प्रायः बिहार प्रदेश का उत्तरी भाग है। इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग एक करोड़ है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि विद्यापति ने इसी बोली में काव्य रचना की थी।

१३. मगही—यह बिहार प्रदेश में गंगा के दक्षिणी भाग में बोली जाती है जिसमें मुख्यतः पटना और गया जिले हैं। इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग ६५ लाख है।

(घ) राजस्थानी की बोलियाँ

१४ मारवाड़ी—डा० ग्रियर्सन के अनुसार यह पश्चिमी राजस्थानी है, जो जोधपुर बीकानेर जैसलमेर और उदयपुर के क्षेत्र में बोली जाती है। प्राचीन डिंगल साहित्य इसी बोली में उपलब्ध है। इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग ६० लाख है।

१५ जयपुरी—यह जयपुर और कोटा-बूँदी के क्षेत्र में बोली जाती है। इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग १० लाख है।

१६ मेवाती—यह पूर्व अलवर राज्य तथा पंजाब के दक्षिणी भाग के ग्रामों में बोली जाती है। इस पर ब्रजभाषा का प्रभाव अधिक है। अहीरवाटी इसकी उपबोली है। इस बोली के बोलनेवालों की संख्या लगभग १६ लाख है।

(ङ) पहाड़ी बोलियाँ

१७. पश्चिमी पहाड़ी—यह हिमाचल प्रदेश के अधिकांश भाग की मुख्य बोली है। क्योंथली, कुलुई और चम्बाली इसकी उपबोलियाँ हैं। यह बोली टाकरी या टक्करी लिपि में लिखी जाती है। चम्बाली की लिपि कुछ भिन्न है। अब यह देवनागरी लिपि में लिखी जा रही है।

१८. मध्य पहाड़ी—इसके अन्तर्गत कुमायूँनी और गढ़वाली बोलियाँ हैं। कुमायूँनी अल्मोड़ा-नैनीताल के भाग में और गढ़वाली गढ़वाल तथा मसूरी के समीपवर्ती पहाड़ी भाग में बोली जाती है।

१९ पूर्वी पहाड़ी—यह मुख्यतया नेपाल की बोली है। इसे नेपाली भी कहा जाता है।

इन समस्त पहाड़ी बोलियों के बोलनेवालों की संख्या लगभग २८ लाख है। इस भाग की साहित्यिक भाषा खड़ी हिन्दी ही है।

हिन्दी का शब्द-भण्डार

हिन्दी के वर्तमान शब्द भंडार में हमें चार प्रकार के शब्द मिलते हैं—संस्कृत के शब्द भारतीय भाषाओं के शब्द भारतीय अनार्य भाषाओं के शब्द और विदेशी भाषाओं के शब्द।

१ संस्कृत के शब्द

हिन्दी का अधिकांश शब्द-भंडार संस्कृत से पुष्ट है। इसमें संस्कृत के तत्सम मूल शब्द अथ तत्सम और तद्भव शब्दों का स्थान है। इसे साहित्यिक हिन्दी में तत्सम शब्दों की अधिकता मिलती है और बोल चाल की हिन्दी में अर्ध-तत्सम एवं तद्भव शब्दों का बाहुल्य है। तत्सम शब्द वे हैं जो संस्कृत से मूल रूप में हिन्दी में आए हैं यथा कर्म धर्म अग्नि दुग्ध कन्या पदार्थ अंग उत्तम मंदिर आदि।

संस्कृत के अनेक तत्सम शब्द जनभाषा में शुद्ध करके बोले जाते हैं। ऐसे ही शब्द तत्सम कहलाते हैं। करम करम भाग वंश कारज ग्राम आदि इसी प्रकार के हैं। हिन्दी में अनेक ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है जो संस्कृत के मूल शब्दों में न परिवर्तन कर बनाये गये हैं। इनका यह रूप किसी के द्वारा प्रयत्नपूर्वक बनाया गया वरन् भाषा के स्वाभाविक परिवर्तन के साथ धीरे-धीरे अपने आप बनकर अब में आ गया है।

इनमें से अधिकांश शब्द मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं—पाली प्राकृत अपभ्रंश से होते हुए हिन्दी में आये हैं काम कार्य नीम शीप सीसा दीप्ति गीध गृध्र पृष्ठ सींग शृंग पुरी पूरिका पूरना शुष्क आदि ये हिन्दी में प्रयुक्त व शब्द हैं।

अन्य भारतीय भाषाओं के शब्द

बंगला मराठी गुजराती पंजाबी आदि आधुनिक आर्य भाषाएँ हैं। इन भाषाओं के हिन्दी में क्वचित् ही मिलते हैं। प्रायः उन्हीं की बोलचाल की भाषा में इन भाषाओं शब्दों का प्रयोग मिलता है। साहित्यिक हिन्दी में इनमें से किसी भी भाषा के शब्दों प्रयोग नहीं होता। अब हिन्दी भारत की राजभाषा होने जा रही है अतः राज त हिन्दी में अन्य भारतीय भाषाओं के सरल और बोधगम्य शब्दों को स्थान देने पर र दिया जा रहा है।

भारतीय अनार्य भाषाओं के शब्द

वर्तमान भारतीय अनार्य भाषाओं में तमिल तेलुगु कन्नड़ और मलयालम भाषाओं अतिरिक्त मुंडा परिवार की भाषाओं का भी स्थान है। इन भाषाओं में से मुंडा परिवार की भाषाओं को साहित्यिक रूप प्राप्त नहीं है। शेष भाषाओं में न के तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुलता से मिलता है। हिन्दी में इन भाषाओं के शब्दों का प्रयोग प्रायः नहीं मिलता।

विदेशी भाषाओं के शब्द

हिन्दी में जिन विदेशी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग मिलता है उनमें अंग्रेजी पुर्त गी फ्रांसीसी फारसी अरबी और तुर्की भाषा के शब्दों का स्थान है। हिन्दी में ल मेम पुलिस मास्टर, ऐजेन्ट जज अपील [illegible] डिप्टी [illegible] कमिश्नर ट स्टेशन आदि हिन्दी में अंग्रेजी से आये हुए शब्द हैं। पादरी गिरजाघर कम्पनी कमान र्नल आलमारी इस्पात [illegible] आदि पुर्तगाली से आये हुए और कारतूस कूपन [illegible] आदि शब्द भी फ्रेंच भाषा से आए हुए शब्द हैं।

हिन्दी में काबुल [illegible] [illegible] दरबार [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] सरदार [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] फारसी से [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

इमारत इज्जत इनकार इनाम नसीहत कीमत नसीब फौज बरकत जरूरत मजा मालिक मुकाबला मुनाफा हकीम हिम्मत आदि अरबी भाषा से और टोप दरोगा बावर्ची, गलीचा चाकू तमगा, कलगी आदि तुर्की भाषा से आये हुए शब्द हैं।

हिन्दी का विकास

हिन्दी भाषा का विकास तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है— १ प्राचीन काल २ मध्यकाल और ३ आधुनिक काल।

प्राचीन काल

जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है हमें हिन्दी भाषा के साहित्य का प्राचीन रूप विक्रम की सातवीं शताब्दी से मिलता है, अतः प्राचीन काल सातवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक मानना ही उचित होगा। इसमें से सातवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक का वह काल है जिसमें हिन्दी अपभ्रंश से विकसित होकर क्रमशः आगे बढ़ रही थी। इस काल में हमें अधिकांश रचनाएँ बौद्ध और जैन कवियों की मिलती हैं। ये वास्तव में अपभ्रंश के कवि थे, किन्तु इन्होंने धर्म प्रचार के लिये जिस सरलतम अपभ्रंश का प्रयोग अपने काव्य में किया वही हिन्दी का प्राचीन रूप माना जाना चाहिए। इस काल के प्रमुख कवि सरहपा शबरपा भुसुकुपा स्वयंभू आदि का नाम हम पहिले ले चुके हैं। हिन्दी का प्राचीनतम रूप देखने के लिये बौद्ध कवि सरहपा की निम्नांकित पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

जह् मन पवन न सञ्चरइ, रवि शशि नाह् प्रवेश।
तहि् वट चित्त बिसराम करु, सरह् कहिअ उवेश॥

अपभ्रंश के इन बौद्ध और जैन कवियों की अपभ्रंश प्रभावित हिन्दी-काव्य के पश्चात् हमें हिन्दी का विकास 'चारण-काव्य' में मिलता है। बीसलदेव रासो खुमाण-रासो पृथ्वीराज रासो जैचंद रासो आल्हखंड आदि रचनाएँ इसी काव्य के अन्तर्गत हैं। यद्यपि इन ग्रंथों की भाषा की प्रामाणिकता के विषय में विद्वानों में मतभेद है तथापि इन ग्रन्थों की काव्य रचना से उस समय के हिन्दी के रूप का कुछ अनुमान अवश्य किया जा सकता है। उदाहरणार्थ बीसलदेव रासो की निम्नांकित पंक्तियाँ देखिये—

कुरल्यो फाटइ काँचुवउ, पोपरि फाटइ मन का चीर।
जाँघे देव रायी सोवन्नी, तुपसी हुई मरइ ईभ नाह।
डाबा हाथ को मूँदड़ा, आवण लागी जीवणा पाँद।

यद्यपि हिन्दी के अपनी ब्रजभाषा और खड़ी बोली रूप का विकास लगभग सोलहवीं शती से माना जाता है तथापि इन भाषाओं का रूप हमें इनके बहुत पहिले के काव्य में भी मिल जाता है। उदाहरणार्थ पृथ्वीराज रासो की निम्नांकित पंक्तियों में ब्रजभाषा का प्रयोग देखिये——

एकादश से पचदह विक्रम साक अनन्द।
तिहिं रिपुजय पुरहरन को भय पृथिराज नरिन्द॥

खड़ी बोली का विकसित रूप हमें अमीर खुसरो की रचनाओं में मिलता है। अमीर खुसरो का समय सन् १२५५ से १३२५ ईस्वी तक माना जाता है। खुसरो की कविता में खड़ी बोली का विकसित रूप देखकर ऐसा जान पड़ता है कि हिन्दी का विकास खड़ी बोली के रूप में खुसरो के पहिले ही आरम्भ हो गया था। हम इनकी रचना में ब्रजभाषा का भी प्रयोग देखते हैं अतः इस भाषा के विकास के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है।

२. मध्य काल

पंद्रहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक का समय मध्य काल के अन्तर्गत है। हिन्दी भाषा के साहित्यिक दृष्टि से यह काल हिन्दी साहित्य का 'स्वर्ण काल' कहा जाता है। इसी काल में हिन्दी के अवधी और ब्रजभाषा रूपों का विकास विशेष रूप से हुआ। इस काल में विशेष रूप से भक्ति साहित्य की रचना हुई। इस काल में सब प्रथम नाथ-पंथी साहित्य हमारे सामने आता है। यह इस सम्प्रदाय के सन्त-साधुओं द्वारा रचित साहित्य था। इसमें निर्गुणवादी साहित्य की प्रधानता रही। इस साहित्य में प्रयुक्त भाषा खड़ी बोली का प्रारंभिक रूप ही समझा जाना चाहिए। इसके पश्चात् संत कवि एवं अन्य सन्त कवियों के साहित्य के रूप में हिन्दी भाषा का विकास हुआ जो हिन्दी साहित्य के इतिहास में निर्गुण धारा के कवियों के नाम से प्रसिद्ध है। इसी समय महाराष्ट्र के सन्त कवि नामदेव ने खड़ी बोली में तथा विद्यापति ने हिन्दी के एक भिन्न रूप मैथिली भाषा में काव्य-रचना की। कबीर द्वारा प्रमुख निर्गुण काव्य धारा का हिन्दी में विकास हो ही रहा था कि एक दूसरी काव्यधारा का सूत्रपात प्रेममार्गीय सूफी कवियों ने किया। यह काव्यधारा 'प्रेममार्गीय काव्य धारा' के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि इस काव्य धारा के प्रथम कवि मुल्ला दाऊद थे तथापि इसका सर्वोचित विकास मलिक मुहम्मद जायसी के "पद्मावत" में ही हुआ। इस धारा के कवियों के काव्य में अवधी का प्रशंसनीय विकास हुआ। निर्गुण धारा के कवियों ने मिश्र भाषा का प्रयोग किया है वह एक मिश्र भाषा है किन्तु उसमें खड़ी बोली का ही रूप प्रमुखता से मिलता है जिस पर ब्रजभाषा का प्रभाव है।

इसके पश्चात् हिन्दी का विकास सगुण धारा के साहित्य में विशेष रूप से हुआ। सर्व प्रथम महाकवि सूरदास 'कृष्ण-काव्य' को लेकर एक महान् प्रतिभा के साथ हिन्दी काव्य-साहित्य के प्रांगण में उपस्थित हुए। इनके तथा अन्य कृष्ण-भक्त के रचयिता कवियों के द्वारा हिन्दी के ब्रजभाषा-रूप का विकास चरम सीमा को

इमारत इम्तहान इनकार इनाम दलील दौलत नसीब फौज बन्दा बन्दगी मजा मालिक मुकदमा मुनाफा हकीम हुक्म आदि अरबी भाषा से और तोप दरोगा बवर्ची, गलीचा चाकू तमगा कलगी आदि तुर्की भाषा से आये हुए शब्द हैं।

हिन्दी का विकास

हिन्दी भाषा का विकास तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है— १ प्राचीन काल २ मध्यकाल और ३ आधुनिक काल।

प्राचीन काल

जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है हमें हिन्दी भाषा के साहित्य का प्राचीन रूप विक्रम की सातवीं शताब्दी से मिलता है, अतः प्राचीन काल सातवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक मानना ही उचित होगा। इसमें से सातवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक का वह काल है जिसमें हिन्दी अपभ्रंश से विकसित होकर क्रमशः आगे बढ़ रही थी। इस काल में हमें अधिकांश रचनाएँ बौद्ध और जैन कवियों की मिलती हैं। ये वास्तव में अपभ्रंश के कवि थे, किन्तु इन्होंने धर्म प्रचार के लिये जिस सरलतम अपभ्रंश का प्रयोग अपने काव्य में किया वही हिन्दी का प्राचीन रूप माना जाना चाहिए। इस काल के प्रमुख कवि सरहपा शबरपा भुसुकपा स्वयंभू आदि का नाम हम पहिले ले चुके हैं। हिन्दी का प्राचीनतम रूप देखने के लिये बौद्ध कवि सरहपा की निम्नांकित पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

जहँ मन पवन न संचरइ, रवि ससि नाह पवेस।
तहि बट चित्त विसराम करु, सरहे कहिअ उवेस॥

अपभ्रंश के इन बौद्ध और जैन कवियों की अपभ्रंश प्रभावित हिन्दी-काव्य के पश्चात् हमें हिन्दी का विकास 'चारण-काव्य' में मिलता है। बीसलदेव रासो खुमान रासो पृथ्वीराज रासो परमाल रासो आल्हखंड आदि रचनाएँ इसी काव्य के अंतर्गत हैं। यद्यपि इन ग्रंथों की भाषा की प्रामाणिकता के विषय में विद्वानों में मतभेद है तथापि इन ग्रन्थों की काव्य रचना से उस समय के हिन्दी के रूप का कुछ अनुमान अवश्य किया जा सकता है। उदाहरणार्थ बीसलदेव रासो की निम्नांकित पंक्तियाँ देखिये—

कुहुकी फाटइ काँचुअउ, पोपरि फाटइ मन को चीर।
आँखे देख दाघी लोकड़ी, दुबली हुई भरइ ईम नाइ।
आला हाथ को मुँदड़उ, आवस लागी आँचली चीर।

यद्यपि हिन्दी के अपनी ब्रजभाषा और खड़ी बोली रूप का विकास लगभग सोलहवीं सदी से माना जाता है, तथापि इन भाषाओं का रूप हमें इसके बहुत पहिले के काव्य में भी मिल जाता है। उदाहरणार्थ पृथ्वीराज रासो की निम्नांकित पंक्तियों में ब्रजभाषा का प्रयोग देखिये--

एकादस से पचपह विक्रम साक अनन्द।
तिहिं रिपुजय पुरहरन को भय पृथिराज नरिन्द॥

खड़ी बोली का विकसित रूप हमें अमीर खुसरो की रचनाओं में मिलता है। अमीर खुसरो का समय सन् १२५५ से १३१८ ईस्वी तक माना जाता है। खुसरो की कविता में खड़ी बोली का विकसित रूप देखकर ऐसा ज्ञात पड़ता है कि हिन्दी का विकास खड़ी बोली के रूप में खुसरो के पहिले ही आरंभ हो गया था। हम इनकी रचना में ब्रजभाषा का भी प्रयोग देखते हैं अतः इस भाषा के विकास के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है।

२. मध्य काल

चौदहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक का समय मध्य काल के अन्तर्गत है। हिन्दी भाषा के साहित्यिक दृष्टि से यह काल हिन्दी साहित्य का 'स्वर्ण काल' कहा जाता है। इसी काल में हिन्दी के अवधी और ब्रजभाषा रूपों का विकास विशेष रूप से हुआ। इस काल में विशेष रूप से भक्ति साहित्य की रचना हुई। इस काल में सब प्रथम नाथ-पंथी साहित्य हमारे सामने आता है। यह इस सम्प्रदाय के भक्त-साधुओं द्वारा रचित साहित्य था। इसमें निर्गुणवादी साहित्य की प्रधानता रही। इस साहित्य में गृहीत भाषा खड़ी बोली का प्रारंभिक रूप ही समझा जाना चाहिए। इसके पश्चात् संत कवि एवं अन्य संत कवियों के साहित्य के रूप में हिन्दी भाषा का विकास हुआ जो हिन्दी साहित्य के इतिहास में निर्गुण धारा के कवियों के नाम से प्रसिद्ध है। इसी समय महाराष्ट्र के संत कवि नामदेव ने खड़ी बोली में तथा विद्यापति ने हिन्दी के एक भिन्न रूप मैथिली भाषा में काव्य रचना की। कबीर द्वारा प्रमुख निर्गुण काव्य धारा का हिन्दी में विकास हो ही रहा था कि एक दूसरी काव्यधारा का सूत्रपात प्रेममार्गीय सूफी कवियों ने किया। यह काव्यधारा 'प्रेममार्गीय काव्य धारा' के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि इस काव्य धारा के प्रथम कवि मुल्ला दाऊद थे तथापि इसका सर्वाधिक विकास मलिक मुहम्मद जायसी के "पद्मावत" में ही हुआ। इस धारा के कवियों के काव्य में अवधी का प्रशंसनीय विकास हुआ। निर्गुण धारा के कवियों ने जिस भाषा का प्रयोग किया है, वह एक मिश्र भाषा है किन्तु उसमें हमें खड़ी बोली का ही रूप प्रमुखता से मिलता है, जिस पर ब्रजभाषा का प्रभाव है।

इसके पश्चात् हिन्दी का विकास सगुण धारा के साहित्य में विशेष रूप से हुआ। सब प्रथम महाकवि सूरदास 'कृष्ण-काव्य' को लेकर एक महान प्रतिभा के साथ हिन्दी काव्य-साहित्य के प्रांगण में अवतरित हुए। उनके तथा अन्य कृष्ण-काव्य के रचयिता कवियों के द्वारा हिन्दी के ब्रजभाषा-रूप का विकास चरम सीमा को

इमारत इज्जत इश्तहार इलाज इलीत दौलत नसीब फौज बरकत मकान मजा मालिक मुकदमा मुनाफा हकीम हिम्मत आदि अरबी भाषा से और तोप बरीता बावर्ची गलीचा चाकू तमगा कैंची आदि तुर्की भाषा से आये हुए शब्द हैं।

हिन्दी का विकास

हिन्दी भाषा का विकास तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है— १ प्राचीन काल २ मध्यकाल और ३ आधुनिक काल।

प्राचीन काल

जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है हमें हिन्दी भाषा के साहित्य का प्राचीन रूप विक्रम की सातवीं शताब्दी से मिलता है, अतः प्राचीन काल सातवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक मानना ही उचित होगा। इसमें से सातवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक का वह काल है जिसमें हिन्दी अपभ्रंश से विकसित होकर क्रमशः आगे बढ़ रही थी। इस काल में हमें अधिकांश रचनाएँ बौद्ध और जैन कवियों की मिलती हैं। ये वास्तव में अपभ्रंश के कवि थे, किन्तु इन्होंने जन प्रचार के लिये जिस सरलतम अपभ्रंश का प्रयोग अपने काव्य में किया वही हिन्दी का प्राचीन रूप माना जाना चाहिए। इस काल के प्रमुख कवि सरहपा शबरपा भुसुकुपा स्वयंभू आदि का नाम हम पहिले ले चुके हैं। हिन्दी का प्राचीनतम रूप देखने के लिये बौद्ध कवि सरहपा की निम्नांकित पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

जहँ मन पवन न संचरइ, रवि शशि नाह प्रवेश।
तहिं बट चित्त बिसराम करु, सरहे कहिअ उवेश॥

अपभ्रंश के इन बौद्ध और जैन कवियों के अपभ्रंश प्रभावित हिन्दी-काव्य के पश्चात् हमें हिन्दी का विकास 'चारण-काव्य' में मिलता है। बीसलदेव रासो खुमान रासो पृथ्वीराज रासो परमाल रासो आल्हखंड आदि रचनाएँ इसी काव्य के अंतर्गत हैं। यद्यपि इन ग्रंथों की भाषा की प्रामाणिकता के विषय में विद्वानों में मतभेद है तथापि इन ग्रन्थों की काव्य रचना से उस समय के हिन्दी के रूप का कुछ अनुमान अवश्य किया जा सकता है। उदाहरणार्थ बीसलदेव रासो की निम्नांकित पंक्तियाँ देखिये—

ऊबरयो फाटइ कोंसुबर, पापरि फाटइ धन को चीर।
माँगे देव राखो ओकड़ी, तुबसी हुई मरइ ईम गाह।
डावा हाथ को मूँदड़ा, आवण लागी जीवणी बाँह।

यद्यपि हिन्दी के अवधी ब्रजभाषा और खड़ी बोली रूप का विकास लगभग सोलहवीं सदी से माना जाता है, तथापि इन भाषाओं का रूप हमें इससे बहुत पहिले के काव्य में भी मिल जाता है। उदाहरणार्थ पृथ्वीराज रासो की निम्नांकित पंक्तियों में ब्रजभाषा का प्रयोग देखिये——

एकादस से पंचदह विक्रम साक अनन्द।
तिहि रिपुजय पुरहरन को भय पृथिराज नरिन्द॥

खड़ी बोली का विकसित रूप हमें अमीर खुसरो की रचनाओं में मिलता है। अमीर खुसरो का समय सन् १२५५ से १३२५ ईस्वी तक माना जाता है। खुसरो की कविता में खड़ी बोली का परिमार्जित रूप देखकर ऐसा जान पड़ता है कि हिन्दी का विकास खड़ी बोली के रूप में खुसरो से पहिले ही प्रारंभ हो गया था। हम इनकी रचना में ब्रजभाषा का भी प्रयोग देखते हैं अतः इस भाषा के विकास के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है।

२ मध्य काल

पंद्रहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक का समय मध्य काल के अन्तर्गत है। हिन्दी भाषा व साहित्यिक दृष्टि से यह काल हिन्दी साहित्य का 'स्वर्ण काल' कहा जाता है। इसी काल में हिन्दी व अवधी और ब्रजभाषा रूपों का विकास विशेष रूप से हुआ। इस काल में विशेष रूप से भक्ति साहित्य की रचना हुई। इस काल में सर्व प्रथम नाथ-पंथी साहित्य हमारे सामने आता है। यह इस सम्प्रदाय के सन्त-नाथों द्वारा रचित साहित्य था। इसमें निर्गुणवादी साहित्य की प्रधानता रही। इस साहित्य में गृहीत भाषा खड़ी बोली का प्रारंभिक रूप ही समझा जाना चाहिए। इसके पश्चात् सन्त कवि एवं अन्य उन कवियों के साहित्य के रूप में हिन्दी भाषा का विकास हुआ जो हिन्दी साहित्य के इतिहास में निर्गुण धारा के कवियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसी समय महाराष्ट्र के सन्त कवि नामदेव ने खड़ी बोली में तथा विद्यापति ने हिन्दी के एक भिन्न रूप मैथिली भाषा में काव्य-रचना की। कबीर द्वारा प्रमुख निर्गुण काव्य धारा का हिन्दी में विकास हो ही रहा था कि एक दूसरी काव्यधारा का सूत्रपात प्रेममार्गीय सूफी कवियों ने किया। यह काव्यधारा 'प्रेममार्गीय काव्य धारा' के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि इस काव्य धारा के प्रथम कवि मुल्ला दाऊद थे तथापि इसका सर्वाधिक विकास मलिक मुहम्मद जायसी के "पद्मावत" में ही हुआ। इस धारा के कवियों के काव्य में अवधी का प्रगतिशील विकास हुआ। निर्गुण धारा के कवियों ने जिस भाषा का प्रयोग किया है, वह एक मिश्र भाषा है किन्तु उसमें हमें खड़ी बोली का [illegible] रूप प्रमुखता से मिलता है, किन्तु उस पर ब्रजभाषा का प्रभाव है।

इसके पश्चात् हिन्दी का विकास सगुण धारा के साहित्य के रूप में हुआ। सर्व प्रथम महाकवि सूरदास "कृष्ण काव्य" को लेकर एक महान प्रतिभा के साथ हिन्दी काव्य-साहित्य के प्रांगण में अवतरित हुए। इनके बाद अन्य कृष्ण-काव्य के रचयिता कवियों के द्वारा हिन्दी के ब्रजभाषा-रूप का विकास चरम सीमा को

पहुँच गया। सूरदास के आविर्भाव के कुछ ही समय पश्चात् गोस्वामी तुलसीदास की काव्य-प्रतिभा से हिन्दी-साहित्याकाश समुज्ज्वल हो उठा। गोस्वामी जी तथा 'राम-काव्य' के अन्य कवियों के काव्य में हिन्दी के दूसरे रूप अवधी का महत्त्वपूर्ण विकास हुआ।

पूर्व मध्यकाल के इस विकास के पश्चात् वह काल प्रारंभ हुआ जो हिन्दी साहित्य के इतिहास में "रीतिकाल" के नाम से प्रसिद्ध है। रीतिकाल में लगभग दो सौ वर्षों में हिन्दी के ब्रजभाषा रूप का जो विकास हुआ वह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसमें काल में रीति-ग्रंथों की रचना के अतिरिक्त शृंगार-साहित्य वीर-साहित्य और नीति-साहित्य की भी रचना ब्रजभाषा में हुई। केशव देव बिहारी, मतिराम भूषण पद्माकर लाल गिरधर वृन्द आदि इस काल के प्रमुख कवि हैं, जिन्होंने अपने काव्य साहित्य द्वारा हिन्दी भाषा के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया।

आधुनिक काल

इस काल के अन्तर्गत १९ वीं शताब्दी से वर्तमान तक का समय है। इसके पूर्व विशेष रूप से हिन्दी के अवधी और ब्रजभाषा रूप का ही विकास हुआ था। प्राचीन काल से जब-तब खड़ी बोली के दर्शन होते रहे, किन्तु हिन्दी के इस रूप को विकसित होने का अवसर न हो सका। इसका विशेष विकास आधुनिक काल में ही हुआ। द्वितीय इस काल के पूर्व हिन्दी के अधिक विकास पद्य-रूप ही हो सका। इसके गद्य रूप का विकास होना अभी भी शेष था। नाथ पंथी साहित्य एवं ब्रजभाषा काल के कुछ ग्रंथों में हमें ब्रजभाषा के गद्य रूप के भी कुछ दर्शन हो जाते हैं, किन्तु यह इसके गद्य रूप के विकास के लिये पर्याप्त नहीं समझा जा सकता। ब्रजभाषा के गद्य का अधिक विकास न होने का एक कारण यह भी है कि हिन्दी का यह रूप जितना काव्य-रचना के उपयुक्त है, उतना गद्य साहित्य-रचना के उपयुक्त नहीं। आधुनिक काल में भी ब्रजभाषा अथवा अवधी का विकास गद्य-रूप में न हो सका। इस काल को मुख्यतः खड़ी बोली के विकास का ही काल कहा जा सकता है। इस काल में हिन्दी के इस रूप का गद्य और पद्य, दोनों में चरम विकास हुआ। भारतेन्दु-युग में इसका रूप स्थिर हुआ, प्रारंभिक विकास हुआ और वह हिन्दी की विविध साहित्यिक विधाओं में विकसित होता हुआ वर्तमान स्थिति में आया। भारतेन्दु-युग में हिन्दी काव्य को खड़ी बोली का रूप प्राप्त हुआ पर उस पर से ब्रजभाषा का प्रभाव भी पूर्णतः पृथक न हो सका। खड़ी बोली के साथ ब्रजभाषा में भी काव्य रचना होती रही। इसी समय मुंशी इंशाअल्ला खाँ लल्लूलाल मुंशी

सदासुखलाल आदि के द्वारा खड़ी बोली के गद्य का जन्म हुआ। बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके समकालीन बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त, प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनाथ उपाध्याय आदि ने हिन्दी साहित्य के विविध गद्य-विधाओं में इसका विकास किया। द्विवेदी-युग में भारतेन्दु द्वारा आविर्भूत नाटक, निबन्ध, कहानी, उपन्यास, आलोचना आदि गद्य-विधाएँ पुष्ट और परिष्कृत हुईं। खड़ी बोली के विशुद्ध रूप में पद्य-साहित्य का भी सृजन हुआ। हिन्दी के खड़ीबोली रूप को व्याकरण-सम्मत रूप दिया गया और उसे अधिकाधिक विकसित करने का प्रयत्न किया गया। इसी युग में सर्व प्रथम खड़ी बोली का प्रयोग खंड काव्य, महाकाव्य और प्रबंध काव्य की रचना में किया गया।

द्विवेदी-युग का अंत होते-होते हिन्दी में छायावादी काव्य-रचना आरंभ हुई। इसके पश्चात् खड़ी बोली हिन्दी का विकास रहस्यवादी, प्रगतिवादी, हालावादी, प्रयोगवादी आदि काव्यधाराओं में हुआ। पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन ने हिन्दी साहित्यकारों को नया दृष्टिकोण प्रदान किया और उसके प्रकाश में हिन्दी के न केवल काव्य का वरन् इसके विविध अंगों नाट्य साहित्य, उपन्यास-साहित्य, निबन्ध-साहित्य, आलोचना-साहित्य, कहानी साहित्य एवं अन्य शास्त्रीय और वैज्ञानिक साहित्य का भी अभूतपूर्व विकास हुआ। आज हिन्दी को राष्ट्रभाषा कहलाने का गौरव प्राप्त है। वह दिन दूर नहीं, जब हिन्दी भाषा का वर्तमान व्यापक विकास, सार्वजनिक प्रभाव और सर्वग्राह्यता उसे भारत की 'राजभाषा' कहलाने का सम्मान प्रदान करेगी।

सत्यं शिवं सुन्दरम्

कुछ लोगों का मत है कि "सत्यं शिवं सुन्दरम्" सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् प्लेटो के "the True, the good the beautiful का हिन्दी रूपान्तर है किन्तु यह सत्य नहीं है। यह वास्तव में भारत का वह प्राचीनतम सूत्र है जिस पर हमारा धर्म, संस्कृति और दर्शन आधारित है। दूसरे शब्दों में यह वह सूत्र है, जिसे भारतीय ऋषियों ने अपनी साधना के द्वारा जीवन में उतारने का प्रयत्न किया है। भगवान् श्रीकृष्ण ने जो मद्भगवद्गीता में अर्जुन से कहा है—

अनुद्वेग करं वाक्यं सत्य प्रिय हितं च।
: सत्य, प्रिय तथा हितकर वाणी बोलो।

इस उद्धरण से भी इस सूत्र की प्राचीनता प्रमाणित है। यहाँ "प्रिय' में सुन्दर का तथा हित में शिव का भाव समाहित है। "सच्चिदानन्द शब्द में भी हम सत्यं शिवं सुन्दरम्" का स्पष्ट समावेश देखते हैं।

हमारे प्राचीन ग्रंथों में और अन्यत्र भी हमें इस सूत्र के सत्य शिव और सुन्दर शब्दों का एक साथ ही प्रयोग मिलता है। प्रयोग में हमें इन शब्दों का क्रम भी इसी प्रकार मिलता है। सत्य वह है जिसका कभी नाश नहीं होता। परमेश्वर केवल ब्रह्म है, जो निर्गुण और निराकार है। शिव और सुन्दर से भी वह सत्य ब्रह्म परे है। उसमें से शिव गुण है। यह शिव निर्गुण और सगुण और निराकार को साकार बनाता है। अतः हम कह सकते हैं कि निर्गुण और निराकार सत्य शिव और सुन्दर का योग पाकर मूर्तिमान होता है। "सत्यं शिवं सुन्दरम्' की समन्वित साधना अथवा बोध ही निराकार और साकार ब्रह्म की समन्वित साधना और बोध है। मानव-जीवन का चरम लक्ष्य भी सत्यं शिवं सुन्दरम् को ही प्राप्त करना है, जो सत्य अन्तिम सचाई के रूप में निर्गुण और निराकार है वही मानव की उपासना में शिव और सुन्दर बनकर सगुण और साकार हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि जिस प्रकार कमल जल में रहकर भी जल से पृथक रहता है, उसी प्रकार सत्य शिव और सुन्दर से परे होकर भी उनसे पृथक् नहीं है। संक्षिप्त में जो तत्व निर्गुण और निराकार की सृष्टि के साथ सत्य है वही साकार होकर शिव और सुन्दर कहलाता है अर्थात् सत्य शिव और सुन्दर से भिन्न होकर भी अभिन्न है।

उपासना के क्षेत्र में इनमें सत्य साध्य है और शिव तथा सुन्दर साधन है। साधक इन साधन तत्त्वों के द्वारा साध्य को पाने का प्रयत्न करता है। ये साधन तत्त्व भी सुगम नहीं हैं। मनुष्य की बुद्धि इतनी सीमित है कि वह अनेक बार शिव और अशिव अथवा सुन्दर और असुन्दर का वास्तविक अन्तर नहीं समझ पाती। अतः उस शिव और सुन्दर के वास्तविक स्वरूप को समझने में भी बहुत समय लग जाता है। वास्तविक शिव और सुन्दर वह है जो हमारे हृदय में सत्य के प्रति निष्ठा जागृत करता है। जिसे हम शिव-सुन्दर समझते हैं उसमें यदि यह शक्ति न हो तो उन्हें शिव और सुन्दर कहना ही व्यर्थ है। अंग्रेजी कवि कीट्स सत्य और सुन्दर को एक-दूसरे से भिन्न नहीं मानते। उनका मत है कि सुन्दर ही सत्य है, सत्य ही सुन्दर है। यही विश्व में हम जानते हैं और यही जानने की हमें आवश्यकता भी है—

Beauty is truth truth is beauty
That all ye know on earth
And all ye need to know

श्री सुमित्रानन्दन पंत के विचार इससे कुछ भिन्न हैं। वे कहते हैं सत्य ही हृदय में मधुर और नेत्रों में सौन्दर्य बन जाता है। इसी सत्य की मोद-मैत्री की भावना जाग्रत होने पर हम शिव-रूप में ग्रहण करते हैं।—

यही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार।
लोचनों में लावण्य अनूप,
लोक सेवा में शिव अविकार।"

सत्य शिव और सुन्दर में से सत्य स्वयं पूर्ण है, उसे किसी अवलम्बन की आवश्यकता नहीं है। उसमें न शिव का स्थान है, न किसी परस्पर विरोधी भावना का ही अस्तित्व है। वह इन संभव भावनाओं से परे है। किन्तु शिव और सुन्दर की स्थिति ऐसी नहीं है। अशिव की स्थिति से ही शिव की स्थिति है। असुन्दर की स्थिति में ही सुन्दर की स्थिति है। साधक अशिव और असुन्दर को छोड़ता हुआ शिव और सुन्दर द्वारा सत्य की ओर अग्रसर होता है। शिव और सुन्दर ही साधन अर्थात् मार्ग हैं। दूसरे शब्दों में शिव और सुन्दर मानव-साधनापथ के दो विश्रान्ति-स्थल हैं। साधक इन विश्राम-स्थलों पर रुक-रुक कर अपनी थकान दूर करता है और फिर अपने चरम लक्ष्य सत्य के मन्दिर पहुँचने का प्रयत्न करता है। सत्य तक पहुँचने पर इन शिव और सुन्दर की आराधना भी आवश्यक नहीं है। यह अपेक्षाकृत स्वाभाविक है। क्योंकि शिव और सुन्दर ईश्वर लाभ के लिए साधक का हृदय केन्द्रित होना आवश्यक है। जिसके हृदय में प्रेम का निवास होता

प्रवाहित नहीं होता वह स्वयं अशिव और असुन्दर है। जो स्वयं अशिव और असुन्दर है उसके सत्य के समीप पहुँचने की कल्पना भी हास्यास्पद है। साहित्यकार भी साधक है। एक सच्चा साहित्यकार अपने साहित्य का सृजन इसी तत्व सत्य को आधारभूत मानकर करता है। वह सुन्दर साहित्य तो निर्माण करना चाहता ही है पर साथ ही वह यह भी चाहता है कि उसका वह सुन्दर साहित्य शिव-भावना से रिक्त न हो। उसकी इसी भावना के कारण उसका सुन्दर साहित्य लोक कल्याण में सक्षम होता है। इस प्रकार साहित्यकार सुन्दर और शिव की आराधना करता हुआ सत्य की ओर अग्रसर होता है। साधना के क्रम में उसकी स्थिति आत्मरक्षा कहलाती है। साधक की यह आत्मरक्षा साहित्यकार की रस दशा है। यह दशा प्राप्त होने पर साधक अथवा साहित्यकार मानव-हृदय की संकुचित भावनाओं से ऊपर उठकर लोक-सामान्य-भूमि में प्रवेश करता है। इस स्थिति में वह जिस साहित्य का सृजन करता वही अमर साहित्य होता है। हमें यह लोक-मंगल साहित्यिक विचार सूर-तुलसी जैसे अमर साहित्यकारों के साहित्य में सहज परिलक्षित होता है। अब हम शास्त्रीय दृष्टि से सुन्दर, शिव और सत्य के स्वरूप पर दृष्टिपात करेंगे।

सौन्दर्यशास्त्रियों के मतानुसार सौन्दर्य लोक, रूप और अभिव्यक्ति का समन्वय है। जिस तत्व से वस्तु के कलेवर का निर्माण होता है वह सौन्दर्यशास्त्रियों के शब्दों में लोक तत्व है। यथा जल में नीलिमा चन्द्र में ज्योत्स्ना आदि। जिस तत्व से सुन्दर कही जानेवाली वस्तु को आकार प्राप्त होता है, वह रूप तत्व कहलाता है। जो तत्व सुन्दर वस्तु के बाह्य कलेवर और दृष्टि ग्राहक होने वाले उसके आकार को विविध अनुभूतियों का स्रोत बना देता है, वही अभिव्यक्ति तत्व है। वह अभिव्यक्ति जितनी अधिक गम्भीर और आध्यात्मिक स्वरूप की होती है, उतनी ही अधिक उसमें सौन्दर्य की उच्चता होती है।

सौन्दर्य का प्रथमाधार लोक तत्व है। मानव मन इस तत्व के आस्वादन द्वारा ही तो रसानुभूति प्राप्त करता है। मनुष्य स्वभावतः सौन्दर्यप्रिय होता है, क्योंकि उसमें सौन्दर्य चेतना भी स्वाभाविक ही होती है। वह इसी चेतना के द्वारा लोक तत्व को ग्रहण करता है और रसानुभूति प्राप्त करता है। ध्वनि वर्ण गंध, स्पर्श आदि द्रव्य अपने प्रभाव से आनन्द की सृष्टि करने में समर्थ होते हैं। साहित्यकार इनके सामंजस्य द्वारा साहित्य का सृजन करता है इसीलिए साहित्य भी आनन्द दायक होता है। वह अनेक ध्वनियों के शब्दों को शृंखला में पिरोकर उन्हें न केवल मधुर वरन् विविध अर्थों के अभिव्यक्तिकरण की सामर्थ्य भी प्रदान करता है। इस प्रकार वह निर्जीव ध्वनियों को सजीवता प्रदान कर ऐसी सृष्टि की रचना करता है, जिसमें हम अनेक चित्र वर्णों चित्र रसों चित्र भावों और वीर रसों की

प्रकाशमयी क्रीड़ा देखते और कुछ क्षणों को उसमें खो जाते हैं। यह आत्मविस्मृति ही काव्यानंद अर्थात् सौन्दर्यानुभूति का चरम विकास है।

रूप से तात्पर्य संगठन, संयोजन अथवा विन्यास से है। ध्वनियों के संयोजन से गीत को रूप प्राप्त होता है पर स्वयं ध्वनियाँ भी अरूप नहीं होतीं। यदि वे अरूप होतीं तो उनके संयोजन से निर्मित गीत भी सरूप नहीं होता। हमारे मतलब का अर्थ न निकलने के कारण हम कुछ ध्वनियों को निरर्थक भले ही समझें पर वास्तव में कोई भी ध्वनि निरर्थक नहीं होती। ध्वनियों के अनेकत्व का संयोजन ही वास्तव में एक गीत, पद अथवा वाक्य है। उसमें अनेकत्व का संयोजन होने के कारण हम अपनी बुद्धि के प्रयोग से उसमें अनेक अर्थ पाते हैं। ध्वनि भी सुन्दर है इसीलिए उसके सुरव की अनुभूति होती है। विविध ध्वनियों के संयोजन से जिस समष्टि का निर्माण होता है वही जीवन है। 'व्यष्टि' जिनके संयोजन से समष्टि का निर्माण हुआ है अपने अपने अस्तित्व में भी सुन्दर हैं, तो उनसे संयोजित स्वरूप समष्टि भी सुन्दर होगा। जीवन का निर्माण अनेक सुन्दर और आनन्ददायक अवयवों से हुआ है यही कारण है कि हम उसमें पर्याप्त सौंदर्य और आनन्द पाते हैं।

हमें जिस वस्तु के दर्शन से सुखानुभव होता उसे हम 'सुन्दर' कहते हैं किन्तु वे सुख या दुःख उन वस्तुओं के गुण नहीं हैं जिनके दर्शन से उनका अनुभव होता है। किसी वस्तु को देखकर हमें सुख या दुःख का अनुभव होना हमारी अनुभविता आत्मा के गुण पर अवलंबित है। सामान्यतः आह्लादकारी उपकरणों के सामंजस्य से निर्मित वस्तु-दर्शन विपरीत प्रभाववाला होता है। यथा कोमलता, मधुरता, मार्दव, शीतलता आदि गुणों से समन्वित व्यक्ति को देखकर हम सुख और कुरूपता, निर्दयता, कठोरता, दुःशीलता आदि अवगुणों से युक्त व्यक्ति को देखकर हमें घृणा अथवा ग्लानि का अनुभव होता है। इस सौन्दर्य के दो प्रकार स्पष्ट हो जाते हैं— बाह्य और अन्तर्सौन्दर्य। दूसरे शब्दों में हम बाह्य-सौन्दर्य को रूप-सौन्दर्य और अन्तर्सौन्दर्य को भाव-सौन्दर्य कह सकते हैं। यद्यपि चित्र आदि में रूप-सौन्दर्य तथा काव्य, संगीत आदि में भाव-सौन्दर्य का प्राधान्य है, किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि जिन वस्तुओं में हम रूप-सौन्दर्य का प्राधान्य देखते हैं वे भाव-सौन्दर्य से रहित हैं अथवा जिनमें हम भाव-सौन्दर्य का प्राधान्य देखते हैं वे भाव-सौन्दर्य से रहित हैं अथवा जिनमें हम भाव-सौन्दर्य का प्राधान्य पाते हैं वे रूप-सौन्दर्य से शून्य हैं।

कवि किसी एक रस का [illegible] संचयन करता है। इसी से काव्य को रूप प्राप्त होता है। इस रूप [illegible] पश्चात् ही वह 'काव्यत्व' कहलाने योग्य होता है। इस काव्य अथवा अन्य किसी

कलाकृति में जो एकसूत्रता देखते हैं उसका कारण उसकी रूप की उपलब्धि ही है। इस रूप की अभिव्यक्ति ही हमें सौन्दर्यानुभूति में समर्थ बनाती है। अतः स्पष्ट है कि सौन्दर्य की अभिव्यंजना में भाव और रूप की तरह 'अभिव्यक्ति' तत्व भी आवश्यक है। इस अभिव्यक्ति तत्व के कारण ही हम किसी रूपवती युवती लहलहाती कुसुमित वनस्पति हरित वनस्थली क्रीड़ित पशुपक्षी कलकल वाहिनी सरिता अठखेलियाँ करते निर्झर अपने वक्ष पर मुस्कराते शतदल लिये झूमते तड़ाग निरभ्र नीलाकाश सुषमासम्पन्न चन्द्र और मनोल्लासदायिनी स्निग्ध किरणों से युक्त बालरवि की ओर सहसा आकृष्ट हो जाते हैं। वास्तव में ये सब विराट जीवन की विभिन्न अभिव्यंजना ही हैं। इसी दृष्टिकोण से हम मूर्ति चित्र संगीत और काव्य आदि जीवन की विभिन्न अनुभूतियों को व्यक्त करने की व्यापक और अकल्पित प्रेरणा के दर्शन कर सकते हैं और इस प्रेरणा के सहारे न केवल मनुष्यकृत वरन् प्रकृतिदत्त वस्तुओं के भी संपूर्ण सौन्दर्य का अनुभव करने में समर्थ हो सकते हैं और इस दृश्य जगत की लघुतम वस्तुओं में भी विराट-सौन्दर्य-दर्शन कर सकते हैं।

ओज माधुर्य और प्रसाद काव्य के ही गुण नहीं अपितु सौन्दर्याभिव्यक्ति के भी वाहन हैं। इन्हीं तीन गुणों के सहारे सौन्दर्य की अभिव्यंजना होती है। ये तीनों विभिन्न मानसिक अवस्थाओं के परिचायक हैं। ये रसानुभूति से निकट संबंध ही नहीं रखते पर रसों में प्राणप्रतिष्ठा भी करते हैं।

सौन्दर्यानुभूति 'आनन्द' की जननी है, किन्तु आनंद के आविर्भाव में सौन्दर्य ही एक कुछ नहीं है, उसे सत्य और शिव का भी योग प्राप्त है। जिस सौन्दर्य में सत्य का प्रकाश और शिव की कल्याणमयी पवित्र भावना नहीं वह क्षणिक और नग्न सौन्दर्य है। ऐसे सौन्दर्य-दर्शन से जो आनन्दानुभूति होगी वह भी थोड़ी क्षणभंगुर अथवा निकृष्ट होगी। उससे प्राप्त आनन्द भी वीभत्स और कुत्सित होगा। कला में सत्य की प्रतीति ही उसके प्रभाव को सफलता का आधार होती है। विभिन्न अवयवों के समन्वय से कला साकार होती है। यदि ये अवयव एक सत्यानुभूतता की संगत कड़ियाँ न हुए, तो कलाकृति का निर्माण ही संभव नहीं है और यदि तत्काल निर्माण किया गया तो वह कलाकृति विरूप और सौन्दर्य-विहीन होगी। एक कुशल साहित्यकार जीवन के विभिन्न क्षेत्रों और विभिन्न अनुभवों का सामंजस्य कर एक नवीन सत्य हमारे सामने उपस्थित करता है। यद्यपि उसके इस सत्य में कल्पना का योग ही अधिक होता है, तथापि हम उसके इस कल्पनाप्रसूत सत्य को भी असत्य नहीं कह सकते। वह अपने नवीन सत्य को इस ढंग से प्रस्तुत करता है कि वह हमारे अनुभवों की कसौटी पर भी सत्य ही प्रमाणित होता है इसीलिए हम उसकी सत्यता पर विश्वास कर लेते हैं। उसका वह सत्य मानव-जीवन की एक सुन्दर अभिव्यक्ति होता है।

शिव' में मानव जीवन का एक सर्वोत्कृष्ट आदर्श निहित है। शिव की प्राप्ति ही मानव जीवन का परमोद्देश्य है। जिस प्रकार सत्य का अनुभव कर बुद्धि ज्योतित हो जाती है उसी प्रकार शिव तत्व के अनुभव से आत्मा स्वयं शिवस्वरूप मंगलमय बन जाती है। शिव तत्व की पूर्ण उपलब्धि होने पर धर्माधर्म का द्वन्द्व निःशेष हो जाता है और मानव एक ऐसे सौम्य ऐसे आनन्द का अनुभव करता है जो एक महान् योगी को ही प्राप्त हो सकता है। डा० हजारीप्रसाद शर्मा सौन्दर्योपासना को आत्म-तत्व की उपासना की भाँति अत्यन्त प्राचीन बतलाते हुए कहते हैं कि 'घर की उपासना में यह कहना कठिन है कि कौन सी भूमिका पार्थिव रूप है और कौन दिव्यलोकेश्वर । अनुभूति में उसका साक्षात्कार की है। साथ ही इस भावना में जहाँ सत्य का यह प्रकाश बलेगय मन और कल्याण में उसका चरम तृप्ति है वहाँ सौन्दर्य की अनुभूति में उसका परम साक्षात्कार भी है। सत्य, शिव और सौन्दर्य का एक ही तत्व में यह अनुभव विलक्षण है और हमारे लिए आज भी आस्था है।

सत्य और शिव तत्व सौन्दर्य के बाधक नहीं वरन् साधक हैं। प्रत्येक का उद्घाटन एक नवीन सौन्दर्य को जन्म देता है। कुछ लोगों का मत है कि बुद्धि के योग से सौन्दर्य विकृत हो जाता है किन्तु वास्तविक बात ऐसी नहीं है। जब बुद्धि एक कवि की रचना के अंतराल में अवगाहन करती तब वह मर्मस्थलों का उद्घाटन करती है और हम प्रत्येक नवीन अर्थ के साथ एक नवीन सौन्दर्य का दर्शन करने में समर्थ होते हैं।

'वसुधैव कुटुम्बकम्' हमारा प्राचीन आदर्श है। इसी आदर्श ने प्राचीन आर्यों को सामूहिक जीवन के सर्वांगीण विकास की ओर प्रवृत्त किया था। हमारी इस प्राचीन "शिव भावना" के अंतराल में एक अनुपमेय सौन्दर्य की सत्ता छिपी पड़ी है जिसका प्रभाव हम आज भी अपनी प्राचीन कला और साहित्य में स्पष्ट देखते हैं। सूर की गोपियाँ कृष्ण की कठोरता और निष्ठुरता से परिचालित होने पर भी 'निरमोही श्याम हमारे' कहकर असमर्थता प्रकट करना नहीं भूलतीं।

काव्य कला और सौन्दर्य का परस्पर इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व फीका जान पड़ता है। कला काव्य को सँवारती और सौन्दर्य उसमें प्राण प्रतिष्ठा करता है। कलाहीन काव्य केवल तुकबंदी है और सौन्दर्य बिना वह निष्प्राण है। शब्द अर्थ रेखा किन्तु आदि कलाकृति के पार्थिव माध्यम हैं। इन्हीं के सहयोग से कलाकार अपने भाव प्रकाश करता है किन्तु बिना आध्यात्मिक माध्यम की सहायता के उस कलाकृति की पूर्णता संभव नहीं है। कलाकार की "भावना" ही उसका आध्यात्मिक माध्यम है। कलाकार इसी माध्यम के अनुसार अपनी कलाकृति को आकार प्रदान कर स्पर्श और सौन्दर्य प्रदान कर उसे

गम्भीर बनाता है। इस प्रकार उसमें सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती और मानव उस अभिव्यक्ति को हृदयंगम कर आनन्द-विभोर हो जाता है। कलाकार अपनी अनुभूति द्वारा विपुल प्रकृति सौन्दर्य को देखता और उसे अपने हृदय में समाहित करने का प्रयत्न करता है। कलाकार एक सुन्दर सरोवर देखकर उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो उसमें प्रवेश नहीं करता, वह उस सरोवर को उसके समस्त सौन्दर्य सहित अपने हृदय में आसीन कर लेता है। सरोवर की विशालता उसके हृदय में समा जाती उसकी उठती और गिरती लहरें उसके हृदय में अधिक बढ़कर लहराने लगतीं। सरोवर के वक्ष पर मुस्कराते शतदल और अठखेलियाँ करता शीतल मंद समीर उसके हृदय को उल्लास से भर देता सरोवर के जल में प्रतिबिम्बित होनेवाली अम्बर की नीलिमा और उस पर चाँदी का जाल बुनेवाली चन्द्र की किरणें चन्द्र-सहित उसके हृदय में उतर आती हैं और वह अपने हृदय में संचित इस समस्त सौन्दर्य का कला के पार्थिव माध्यम द्वारा अपनी कृति में भरने का प्रयत्न करता है। इसके साथ ही उस सौन्दर्य-दर्शन के प्रभावस्वरूप उसके मानस में जो विभिन्न भाव उद्वेलित होते, वे भी उसकी पूर्व स्मृतियों युग-युग के अनुभवों और जीवन के उत्थान-पतनों के साथ उस कृति में समाहित हो जाते हैं। यह पार्थिव और आध्यात्मिक स्वरूप का सम्मिलन उसकी कलाकृति को अपूर्व सौन्दर्य अजर अमर यौवन और अमिट आकर्षण प्रदान करता है। यही कारण है कि युग बीतते जाते हैं निर्माण और ध्वंस जगती को सुरूप और विरूप बनाते जाते हैं परिस्थितियाँ करवटें लेती जाती हैं, पर एक सफल कलाकार की कलाकृति ज्यों की त्यों प्रभावमयी बनी रहती है। वाल्मीकि की रामायण कालिदास का शाकुन्तल भवभूति का उत्तर रामचरित, माघ का नैषध बाण-भट्ट की कादम्बरी तुलसी का रामचरित मानस और सूर का सूरसागर आज भी जन-मन को अपने सौन्दर्य-सागर में पूर्ववत् ही विरत्न-उतराता दृष्टिगोचर होता है। कलाकार अपनी प्रतिभा के बल से जड़ को चैतन्यता प्रदान करता है और अपनी मानवता से परिप्लावित कर मानव जगत् को उसकी सौन्दर्यानुभूति में निमग्न होने को विवश करता है।

अब हम देखें मानव-जीवन के विकास में सुन्दर, शिव और सत्य का क्या महत्व है। मानव की मूल प्रवृत्तियाँ दो दिशाओं में काम करती हैं, वह एक प्रवृत्ति के अनुसार वर्तमान जीवन में उपलब्ध है, आनन्द का उपभोग करता है। उसकी इस प्रवृत्ति का मूल वर्तमान है। वह सुन्दर से सुन्दर वस्तुओं की कामना करता, उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करता और उनकी उपलब्धि पर सुख और आनन्द अनुभव करता। इस प्रकार वह जीवन में "सुन्दर" को साकार करता है। उसकी दूसरी प्रवृत्ति भविष्य पर आधारित होती है। वह अपनी इसी प्रवृत्ति के अनुसार उस रहस्य को जानने का प्रयत्न करता है, जो उसके वर्तमान जीवन में अगोचर है। उसके पीछे

यम, यम-नियम-संयम, योग-जप-तप और साधना उसकी इसी मनोवृत्ति के परिचायक हैं। यह उसका 'शिव' की उपलब्धि का प्रयत्न है। व्यावहारिक रूप में मानव-जीवन के ये दोनों सुन्दर और शिव की उपलब्धि की दिशा में किये जाने वाले प्रयत्न परस्पर विरोधी जान पड़ते हैं। सुन्दर की खोज शिव की उपलब्धि में बाधक और शिव की साधना में सुन्दर की उपेक्षा दृष्टिगोचर होती है, किन्तु वास्तव में ये दोनों तत्व बाधक नहीं अपितु एक-दूसरे के पूरक हैं। सुन्दर के अभाव में शिव की साधना सम्भव नहीं है और शिव के अभाव में सुन्दर वस्तुत्वहीन है। ये दोनों तत्व मिलकर मानव का इहलौकिक और पारलौकिक जीवन सवारते। ये वास्तव में सत्य ही के दो तत्व हैं जिनकी पूर्ति मानव को सत्य के समीप पहुँचने के लिये आवश्यक है। इतना अवश्य है कि इन दोनों की एक सीमा है। उस सीमा से आगे बढ़ने पर दोनों व्यर्थ हो जाते हैं। शिवत्व से युक्त सुन्दरता और सुन्दरता से युक्त शिवत्व दोनों ही मानव जीवन की अमूल्य निधियाँ हैं।

मानव जीवन के निर्माण में प्रवृत्ति और निवृत्ति का समान योग है। सुन्दर प्रवृत्ति का सूचक है और शिव निवृत्ति का अभ्यासी है। जब शिव की साधना प्रधान होती है तब एक किसी न किसी सीमा तक सुन्दर का मोह-संवरण आवश्यक हो जाता है। इसके विपरीत जब जीवन में सुन्दर को प्रमुख स्थान मिल जाता है तब शिव गौण हो जाता है। जिस जीवन में सुन्दर और शिव का सन्तुलन है वही जीवन वास्तव में जीवन है। भावनाहीन साधना एक बन्ध है। यदि शिव की साधना में सुन्दर का अभाव है तो वह साधना शून्य है। इस शून्यता में शिव की उपलब्धि असम्भव है क्योंकि शिव में सुन्दरता का सार घुल-मिल कर समाहित है। इस प्रकार वह सुन्दर जिसमें शिवत्व का अभाव है वास्तव में सुन्दर नहीं पर किसी वस्तु का बाह्य आवरण है जिसे हम भ्रमवश सुन्दर कहते हैं। हमारी कोई भी वास्तविक सौन्दर्य-युक्त भावना शिवत्व को पद-दलित कर अग्रसर नहीं हो सकती यदि वह ऐसा करती है, तो वह सुन्दर नहीं किन्तु विकृत भावना है। इस विवेचन का तात्पर्य यह है कि हमारा सुन्दर के प्रति आकर्षण स्वाभाविक और आवश्यक भी है। किन्तु उसमें शिवत्व का अभाव न हो इसे ध्यान रखना आवश्यक है। इसी प्रकार शिव की उपलब्धि भी मानव-जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। पर उसकी साधना ऐसी न हो जिससे हम जीवन के सौन्दर्य को ही भूल जावें।

सत्य ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। सुन्दर और शिव उस सत्य तक पहुँचने के दो निमित्त साधन हैं। शिव व्यापक विविध सुन्दरताओं को मानव हृदय में उतार कर उसे सुन्दर बनाता है। इसके पश्चात् वह केवल

जीवन-सौन्दर्य को शिवाभिमुख बनाने का प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न में सफल होने पर उदात्त हृदय गौरवमयी शिव भावना का विकास करके एक दीर्घ साधना के पश्चात् सत्य के समीप पहुँचाता है। इस स्थिति में पहुँचने पर सुन्दर-शिव और सत्य का कोई पृथक अस्तित्व नहीं रह जाता। सुन्दर और शिव उसी सत्य में विलीन हो जाते हैं जिसके वे अंश हैं और जिसने दो ज्योतियों के रूप में आविर्भाव किया था। मानव की यह सत्य की उपलब्धि की स्थिति ही साध्य है।

—:०:—

: ३ :

साहित्य का स्वरूप और महत्त्व

मानव अपने विविध माध्यमों-द्वारा अपनी भावनाएं व्यक्त करता आया है। मूर्तिनिर्माण, चित्रांकन, काव्य, संगीत आदि उसके ऐसे ही माध्यम हैं। ये विविध कलाएं हैं जिनमें साहित्य का जन्म और विकास भी उसी प्रकार हुआ, जिस प्रकार इन कलाओं का। साहित्य के मूल में भी मानव की वे ही मनोभावनाएं हैं जो इन कलाओं के मूल में भी हैं। साहित्य-निर्माण नियमों का बन्धन स्वीकार नहीं करता; साहित्य की सरिता नियमों के बन्धनों की अवहेलना कर स्वच्छन्द गति प्रवाहित होने में ही विकासमयी होना पसन्द करती है। साहित्यकार का काम उसे नियमों के प्रस्तर से अवरुद्ध करना नहीं वरन् उसके स्वच्छन्द और अविरल प्रवाह में अपनी प्रतिभा के मानसरोवर से उद्भूत स्रोतों को उसमें समाहित कर उसके प्रवाह को गति प्रदान करना है।

साहित्य संस्कृत के 'सहित' शब्द से बना है, जिसका अर्थ साथ-साथ अथवा साथ-साथ रहने का भाव है। यह साथ साथ रहने का भाव समान संवेदनशीलता से ही सम्भव है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में रमणीयता उत्पन्न करने के लिए जब शब्द और अर्थ एक दूसरे से स्पर्द्धा करते हुए साथ-साथ आगे बढ़ते रहें तो ऐसे 'परस्परस्पर्द्धी' शब्द और अर्थ का जो साथ-साथ रहना होगा, वही साहित्य कहा जा सकता है। राजशेखर ने भी शब्द और अर्थ के यथावत् सहयोग देनेवाली विद्या को ही साहित्य विद्या कहा है (शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्य विद्या)।

प्रत्येक मनुष्य में आत्मभाव और अनात्मभाव भिन्न भिन्न प्रमाण में वर्तमान हैं। लोक में इन्हें ही मूल प्रवृत्ति कहा है। आत्म और अनात्म के मिश्रण का नाम ही संसार है। ये दोनों भाव प्रत्येक मनुष्य में समानुपात में नहीं हैं। इस प्रमाण की न्यूनाधिकता के कारण ही जीवों के वर्गीकृत रूप हैं। एकोऽहम् बहुस्याम् ही परमात्मा का रूप है।

अभेद और विभेद, आकर्षण और विकर्षण, अनुराग और विराग ही आत्मा और अनात्मा के विषय हैं और ये ही साहित्य के भी विषय हैं। जैसे नित्य के

जीवन-सौन्दर्य को शिवाभिमुख बनाने का प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न में सफल होने पर उसका हृदय सौन्दर्यमयी शिव भावना का विकास उसे एक दीर्घ साधना के पश्चात् सत्य के समीप पहुँचाता है। इस स्थिति में पहुँचने पर सुन्दर-शिव और सत्य का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रह पाता। सुन्दर और शिव उसी सत्य में विलीन हो जाते हैं जिसके वे अंश हैं और जिससे की ज्योतियों के रूप में आविर्भाव हुआ था। मानव की यह सत्य की उपलब्धि की स्थिति ही मोक्ष है।

: २ :

साहित्य का स्वरूप और महत्त्व

मानव अपने विविध माध्यमों-द्वारा अपनी भावनाएं व्यक्त करता आया है। मूर्तिनिर्माण, चित्रांकन, काव्य, संगीत आदि उसके ऐसे ही माध्यम हैं। ये विविध कलाएँ हैं किन्तु साहित्य का जन्म और विकास भी उसी प्रकार हुआ, जिस प्रकार इन कलाओं का। साहित्य के मूल में भी मानव की वे ही मनोभावनाएं हैं, जो इन कलाओं के मूल में भी हैं। साहित्य निर्धारित नियमों का बन्धन स्वीकार नहीं करता; साहित्य की सरिता नियमों के प्रस्तरों की अवहेलना कर स्वच्छन्द गति प्रवाहित होने में ही विकासमयी होना पसन्द करती है। साहित्यकार का कार्य उसे नियमों के प्रस्तर से अवरुद्ध करना नहीं, वरन् उसके स्वच्छन्द और अविरल प्रवाह में अपनी प्रतिभा के मानसरोवर से उद्भूत स्रोतों को उसमें समाहित कर उसके प्रवाह को गति प्रदान करना है।

'साहित्य' संस्कृत के 'सहित' शब्द से बना है, जिसका अर्थ साथ-साथ अथवा साथ-साथ रहने का भाव है। यह साथ साथ रहने का भाव समान संवेदनशीलता से ही सम्भव है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'रमणीयता उत्पन्न करने के लिए जब शब्द और अर्थ एक दूसरे से स्पर्द्धा करते हुए साथ साथ आगे बढ़ते रहें, तो ऐसे 'परस्परस्पर्द्धी' शब्द और अर्थ का जो साथ-साथ रहना होगा, वही साहित्य कहा जा सकता है।' राजशेखर ने भी शब्द और अर्थ के यथायोग्य सहयोग देनेवाली विद्या को ही साहित्य विद्या कहा है (शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्य विद्या)।

प्रत्येक मनुष्य में आत्मभाव और अनात्मभाव भिन्न भिन्न प्रमाण में उपस्थित हैं। सांख्य में इसे ही गुण प्रकृति कहा है। आत्म और अनात्म के मिश्रण का नाम ही संसार है। ये दोनों भाव प्रत्येक मनुष्य में समप्रमाण में नहीं हैं; इस प्रमाण की न्यूनाधिकता के कारण ही जीवों के भेद विकसित हुए हैं। 'एकोऽहं बहुस्याम्' ही परमात्मा का रूप है।

आनंद और विषाद, आकर्षण और विकर्षण, अनुराग और विराग ही आत्मा और अनात्मा के विषय हैं और ये ही साहित्य के भी विषय हैं। किन्तु जिस के

जीवन में हमारी ज्ञान, इच्छा और क्रिया की वृत्तियाँ आनन्द और विषाद, आकर्षण और विकर्षण, आत्म और अनात्म के अगणित भेदों के साथ संयुक्त हो जाती हैं, वैसे ही वे साहित्य में भी होती हैं। जीवन में जो प्रमुख इच्छाएँ और कामनाएं हैं, साहित्य में वे ही स्थायीभाव हैं। जिस प्रकार जीवन में प्रत्येक प्राणी अपनी इच्छाओं की पूर्ति द्वारा अपने आनंद का विस्तार करना चाहता है, उसी प्रकार साहित्य का प्रत्येक पाठक भी अपने अनुकूल 'रस' की प्राप्ति कर अपना आनंद बढ़ाना चाहता है। जिस प्रकार किसी देश, जाति या राष्ट्र का जीवन उसके प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का समष्टि रूप है, उसी प्रकार साहित्य में भी समष्टि रूप से सबके भोग्य सामग्री और सब के विकास के साधन रहते हैं।

यदि हमारे साहित्य का यह रूप न होता तो उसका 'साहित्य' नाम ही सार्थक न होता। संसार 'ब्रह्ममय' है और साहित्य 'रसमय'। इसीलिए शास्त्रकारों ने साहित्य के रस के आनन्द को 'ब्रह्मानंद सहोदर' कहा है। साहित्य लौकिक है पर उसका एक रसानन्द अलौकिक है। हमारी लौकिक इच्छाएँ साहित्य में भावना के रूप धारणकर परिष्कृत हो जाती हैं।

अभी तक 'साहित्य' की जो परिभाषाएँ की गई हैं, उनमें से कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं –

"साहित्य समाज का दर्पण है।"
"साहित्य जीवन की आलोचना है।"
"साहित्य जीवन की वास्तविकता का कलात्मक प्रतिबिम्ब है।"

यद्यपि उपर्युक्त परिभाषाओं में परस्पर कुछ न कुछ अन्तर अवश्य है, तथापि तीनों परिभाषाएं साहित्य का जीवन से निकटतम सम्बन्ध स्वीकार करने में एकमत हैं। इस दृष्टि से साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है, फिर वह अभिव्यक्ति जीवन के विकृत स्वरूप की हो या सुन्दर की।

आज हम राजनीतिक पराधीनता से मुक्त हैं, पर आर्थिक विषमता और वर्गसंघर्ष की समस्या अभी भी ज्यों की त्यों है। मार्क्स प्रथम विचारक हैं जिनके विचारों से जीवन के प्रत्येक क्षेत्र किसी न किसी सीमा तक प्रभावित हुए बिना न रहे। हिन्दी का साहित्य भी उससे कम प्रभावित नहीं है। मार्क्स अर्थशास्त्री थे, पर उनके सिद्धांतों के वैज्ञानिक स्वरूप के कारण उनका प्रभाव बहुमुखी रहा। आज के साहित्यकार को मार्क्सवादी विचारों के प्रकाश में साहित्य का वह स्वरूप निश्चित कर लेना है जो हमारी आर्थिक विषमता और वर्गसंघर्ष का अन्त कर एक सर्वजनकल्याणकारी राष्ट्र के निर्माण में सहायक हो। कुछ लोगों को भ्रम है कि यदि हम साहित्य-निर्माण में मार्क्स के सिद्धांत पूर्णतः स्वीकार कर लें तो हमारा

प्राचीन साहित्य अर्थविहीन हो जायगा, किन्तु वास्तव में ऐसी आशंका निर्मूल है। साहित्य जीवन के स्थायी तथ्यों का सजीव चित्रण है। भिन्न-भिन्न काल का साहित्य तत्कालीन समाज का स्मारक है। अतः समाज के रूप में परिवर्तन होने पर भी उसके उन साहित्यिक स्मारकों का अंत नहीं होता और उस साहित्य की जीवनोपयोगिता नष्ट नहीं होती। साहित्य अपने काल के समाज की संस्कृति का प्रतिबिम्ब और लोक-मनोभावना की अक्षय निधि है। यह ठीक है कि साहित्यकार समाज की एक इकाई है और इसलिए उसके व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का उसके साहित्य पर प्रभाव भी पड़ता है किन्तु साहित्य इन प्रभावों और उनकी प्रतिक्रियाओं का संकलनमात्र नहीं है। साहित्यकार समाज के बीच रहता हुआ भी स्वतंत्र जीवन कल्पना में समर्थ होता है। वह जितना अधिक प्रतिभा-सम्पन्न होगा उतना ही अधिक उसका साहित्य सामान्य समाज के भावों से स्वतंत्र होगा। वह अपने काल के समाज के बीच जीवन-यापन करता हुआ भी अपने साहित्य-द्वारा उसे नवीन दृष्टिकोण देने में समर्थ होगा। कवि के लिए यह तथ्य अधिक सत्य प्रमाणित होता है। भिन्न-भिन्न काल में भिन्न-भिन्न वादों और विचारधाराओं का जन्म होता और उनके द्वारा साहित्य को प्रभावित करने का प्रयत्न होना स्वाभाविक है। ऐसा सदा ही होता रहा है पर फिर भी साहित्य की अक्षुण्ण सत्ता बनी रही। आज के साहित्यकार को भी अपने साहित्य को इन वादों और विचारधाराओं से निरपेक्ष रखने के लिए सतर्क रहने की आवश्यकता है। जब अपने साहित्य को एक विशिष्टवाद या विचारधारा से मर्यादित नहीं रहता है, उसे समाज को ऐसा साहित्य देना है जो उसे इन वादों के दलदल से मुक्त कर सर्वतोमुखी प्रगति में सहायक हो। जो उसके जीवन का स्तर ऊँचा कर सके, जो उसकी मनोभावनाओं को उज्ज्वल बना सके। ऐसा साहित्य ही जीवन साहित्य होगा।

वादमुक्त साहित्य

हमारे ऐसा कहने का यह तात्पर्य न समझा जाना चाहिए कि हम विज्ञान, दर्शन अध्यात्म आदि का साहित्य से बहिष्कार कर देने के पक्षपाती हैं और इन्हें समाज के लिए हानिकारक समझते हैं। वास्तव में इन्हीं के द्वारा तो जीवन तत्वों का निर्माण होता है, फिर हम इनका बहिष्कार कैसे कर सकते हैं? हमारे युग के वादों और विचारधाराओं से साहित्य को निरपेक्ष रखने का तात्पर्य उसके विशुद्ध स्वरूप में साहित्य की रक्षा करना ही है। कोई भी वाद और विचारधारा तब तक तिरस्करणीय नहीं है जब तक कि उसमें विरोधी तत्वों का समावेश नहीं होता किन्तु प्रायः देखा जाता है कि आज के अधिकांश वाद और नवीन विचारधाराएं

परस्पर विरोधी सम्भावनाओं और तथ्यों को लेकर उद्भूत होती हैं और वे वर्ग-विशेष को प्रभावित करने का प्रयत्न करती हैं। इस प्रकार के वाद और विचारधाराएं वर्ग-संघर्ष को मिटाने के स्थान पर अधिक विकट करने में ही सहायक होती हैं। जो वाद और विचारधारा एक वर्ग के कल्याण और दूसरे वर्ग के अकल्याण में प्रयत्नशील है वह तो कभी भी सर्वजनहिताय स्वीकार करने योग्य नहीं हो सकती। साहित्यकार वर्गविशेष का प्रतिनिधि नहीं हो सकता वह तो अपने काल का लोक-प्रतिनिधि है और उसे अपने साहित्य में वर्गविशेष का कल्याण नहीं पर सार्वजनीन कल्याण देखना है। सारा राष्ट्र ही उसका अपना है। अतः उसे अपने साहित्य-सृजन द्वारा व्यष्टि-कल्याण से ऊपर उठकर समष्टि-कल्याण में रत होना है। दूसरे शब्दों में उसे वास्तविक अर्थ में जीवन-साहित्य का निर्माण करना है। अपने काल के विविध वाद और विचारधाराएँ भी साहित्य-सृजन में सहायक हो सकती हैं पर अनुवर्ती रूप में ही, वे साहित्य की नियामक नहीं हो सकतीं। साहित्य की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है और वह जीवन-सापेक्ष है साहित्यकार को सदैव यह ध्यान रखना है।

देश-भेद काल-भेद और समाज-भेद से साहित्य की कृति-प्रकृति और आकृति में अन्तर हो सकता है। उसके विकास की दिशा में भिन्नता हो सकती है पर उसकी इस स्वरूप बहुरूपता के अन्तस्तल में भी एकता का तत्व पल्लवित और पुष्पित हो रहा है। साहित्यकार का लक्ष्य उसी तत्व को सौष्ठव भाषा में जन-जीवन का विकसन करता है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने काव्य की परिभाषा बतलाते हुए लिखा है — "काव्य प्रकृत मानव अनुभूतियों का नैसर्गिक कल्पना के सहारे, ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है जो मनुष्यमात्र में स्वभावतः अनुरूप भावोच्छ्वास और सौन्दर्य-संवेदन उत्पन्न करता है।" साहित्य की परिभाषा भी लगभग यही होगी। इस परिभाषा के अनुसार साहित्य प्रकृत मानव अनुभूतियों का चित्रण है और वह व्यक्तिविशेष अथवा वर्गविशेष में नहीं पर मनुष्यमात्र में सौंदर्य-संवेदन उत्पन्न करता है इससे यह स्पष्ट है कि साहित्य अप्राकृत अनुभूतियों से परे है। साहित्य का सौंदर्य संवेदन ही मानव-जीवन को सौष्ठव प्रदान करता है और इसकी उपलब्धि से मानव की कुरूपता नष्ट हो जाती है। सौष्ठव स्वस्थ जीवन का प्रतीक है और स्वस्थ जीवन वही है जो कथित वादों, विचारधाराओं वर्गसंघर्षों और सामाजिक जीवन की विषमताओं से मुक्त हो स्वाभाविक गति से उत्थान की ओर अग्रसर हो रहा हो। साहित्यकार को ऐसे साहित्य का ही निर्माण करना है, जो साहित्य की उपयुक्त परिभाषा की कसौटी पर खरा उतर सके। ऐसा साहित्य ही अपने सच्चे अर्थ में जीवन साहित्य कहलाने का अधिकारी हो सकता है। साहित्यकार में नैसर्गिक प्रतिभा का

जितना अधिक विकास होगा और वह वर्गगत वादों और विचारों से जितना अधिक अपने को असंपृक्त रखेगा वह उतना ही उच्चकोटि का जनहितकारी साहित्य के निर्माण में समर्थ होगा। वर्गगत अथवा साम्प्रदायिक साहित्य को जीवनसाहित्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती वह तो वादविशेष या विचारधारा विशेष का समर्थक और प्रचारक साहित्य ही हो सकता है जिसका अन्त भी उस वाद या विचारधारा के अन्त के साथ अवश्यम्भावी है। साहित्य में निहित सौन्दर्य-तत्त्व शाश्वत और अमर होता है, इसीलिये वह शताब्दियों के अनन्तर भी सप्रभाव होता है ऐसे सार्वजनीन और शाश्वत साहित्य का निर्माणकर्त्ता साहित्यकार ही अमर होता है। उसके भौतिक जीवन के अन्त के पश्चात् भी उसका साहित्य जनमन को जीवन-सौन्दर्य से युक्त करने और एक उत्थानकारी संदेश देने में समर्थ होता है और अपने साथ अपने निर्माता की स्मृति भी अमर बनाए आगे बढ़ जाता है। वह साहित्य देश काल और समाज के प्रभाव से असंपृक्त होता है। आज वाल्मीकि कालिदास सूर तुलसी कबीर शताब्दियों के पश्चात् जनजीवन के आलोक बने हुए हैं। उसका कारण केवल यही है कि उन्होंने संकुचित वादों आधारित मनोभावनाओं और कुत्सित सौन्दर्य के स्तर से ऊपर उठकर सर्वजनहिताय साहित्य का सृजन किया था। उन्होंने साहित्यसृजन करते समय मानव-जीवन की उस हृदय-वीणा के तार स्पंदित किये थे जिनसे शाश्वत सौन्दर्य का संगीत प्रवाहित होता है।

आज के भौतिक युग में उद्भूत होनेवाले वाद मानव-जीवन को प्रगति की ओर अग्रसर करने के स्थान में उसे विकृत बनाने में ही अधिक सहायक हो रहे हैं और नित्य शाश्वत साहित्य के निर्माण में बाधक हो रहे हैं। हम यह स्वीकार करते हैं कि युग परिवर्तनशील है। एक के पश्चात् दूसरा युग नई धारणाएं, नई प्रेरणाएं और नई समस्याओं को लेकर आता है और उससे समाज भी प्रभावित होता है। साहित्यकार उसी समाज का एक अंग होता है इसलिए उसका भी युग-भावना से प्रभावित होना स्वाभाविक है। साहित्यकार को भी प्रत्येक नये युग का स्वागत करने उसकी बात सुनने और उसकी समस्याओं पर विचार करने को तैयार रहना चाहिए, पर उसके प्रवाह में बह जाना उसका काम नहीं है। उसे यह न भूलना चाहिए कि उसका जीवन सामान्य जनजीवन से कुछ न कुछ पृथकता रखता है और इस पृथकता के कारण उसका उत्तरदायित्व भी अन्यों से अधिक है। साहित्य की नैतिक और आध्यात्मिक मर्यादाएं अक्षुण्ण हैं। अतः आवश्यक है कि साहित्यकार अपने युग की गतिविधियों का ध्यान रखते हुए साहित्य की इन नैतिक और आध्यात्मिक मर्यादाओं को विस्मरण न करे तभी वह अपने युग के मानवों को सार्वजनोपयोगी कल्याणकारी सत्साहित्य प्रदान कर सकेगा। ऐसा साहित्य ही उसके युग का 'जीवन साहित्य' होगा और यही साहित्य अपने शाश्वत जीवन-सौन्दर्य के लिए युग-युग तक

जीवित रह सकेगा। युग के साथ परिवर्तनशील भावनाएं प्रचलित विधि-निषेधों पर आधारित होती हैं, अतः युग के साथ उनका अंत भी निश्चित है पर हमारी नैतिक और आध्यात्मिक मर्यादाएं सदैव अविच्छिन्न रहती हैं। यदि साहित्यकार साहित्य सृजन के पूर्व वादों का अध्ययन न कर मानव-समाज के बहुमुखी जीवन का अध्ययन करें और इसके आधार पर अपने साहित्य की रूपरेखा निश्चित करें तो वे युग के साथ रहकर भी शाश्वत जीवन-साहित्य का निर्माण कर सकते हैं। वह विभिन्न वादों और विचारधाराओं का भी अध्ययन करे पर उनके प्रकाश में साहित्य-निर्माण करना आरंभ करने के पूर्व उन्हें सार्वजनिक नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों की कसौटी पर कसकर परख ले। यदि उनमें वास्तव में कोई जनोत्थानकारी तत्व हैं तो उन्हें ग्रहण कर ले और उन्हें भी अपने साहित्य में स्थान दे। वाद तो वास्तव में जीवन-विषयक धारणाओं के प्रतीक हैं और धारणाएं सदैव ही परिवर्तनशील रही हैं अतः वादों का भी परिवर्तनशील होना स्वाभाविक है। ये धारणाएं और उन पर आधारित वाद उत्थानकारी भी हो सकते हैं और विनाशकारी भी। अतः उन्हें साहित्य में स्थान देने के पूर्व उनकी विश्लेषणात्मक परख आवश्यक है। यदि हमने सतर्कता से ऐसा न किया तो वे हमारे साहित्य को विकृत बना देंगे। हमारे साहित्य की विकृति समाज की विकृति का कारण बनेगा। साहित्यकार समाज का प्रतिनिधि ही नहीं पर समाज का जीवननिर्माता भी है। अतः उसे विकृत और साम्प्रदायिक साहित्य का निर्माण कर भावी पीढ़ी और अपने ही काल के अन्य वर्गों का सम्मान और श्रद्धा का पात्र होने के बदले तिरस्कार और घृणा का पात्र बनने का प्रयत्न न करना चाहिए।

वाद का स्वरूप सदैव एकदेशीय और उद्देश्य एकांगी होता है। उसकी प्रवृत्ति व्यक्तिमुखी होती है, समाजमुखी नहीं। वाद एक प्रणाली विशेष की बौद्धिक व्याख्या करके रह जाता है, उसमें समाज की कायापलट कर उसे नवजीवन प्रदान करने की क्षमता नहीं होती। वाद जिस सत्य का निरूपण करता है वह कालचक्र से प्रभावित हो पंगु भी बन सकता है, किन्तु साहित्य की स्थिति वाद की स्थिति से सर्वथा भिन्न है। साहित्य बहुमुखी होता है, उसकी प्रणाली बौद्धिक विश्लेषण पर नहीं, पर समाज के जीवन की वास्तविकता और अनुभूति पर आधारित होती है। साहित्य में निहित सत्य शाश्वत और कालचक्र से अप्रभावी होता है। वह जब भी परखा जाता है कुन्दन की तरह चमक उठता है। साहित्य की इन विशेषताओं को ध्यान में रखकर सृजित साहित्य ही चिर नवीन 'अमर-साहित्य' हो सकता है।

समाज और साहित्य

आज मानव-समाज को अधिकाधिक सभ्य सुखी और समृद्ध बनाने के विविध प्रयास किये जा रहे हैं। विज्ञान के द्वारा उसे भौतिक साधनों से पूर्ण

करने का प्रयत्न हो रहा है। राजनीतिज्ञ सम्पूर्ण मानवसमाज को एकता के सूत्र से आबद्ध करने तथा उसमें नव चेतना लाने का प्रयत्न कर रहे हैं। अध्यात्म उसे भौतिकवादी संकीर्णता से मुक्त कर उसे अधिक उदार और उच्च बनाना चाहता है किन्तु ये सब प्रयत्न संभव नहीं हैं। साहित्यकार में ही इन भौतिक साधनों राजनीतिक प्रयत्नों एवं आध्यात्मिक प्रेरणाओं को जीवनोपयोगी कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करने की क्षमता है। यदि साहित्यकार इन सब साधनों का समाजोपयोगी सन्तुलित और समन्वित रूप प्रस्तुत न करे तो ये साधन परस्पर टकरा भी सकते हैं। साहित्यकार समाज को शिवम् और सुन्दरम् बनाने के लिए अपने साहित्य द्वारा जो सत्य प्रस्तुत करता है, वह वास्तव म उसका अपना नहीं वरन् समाज के प्रत्येक व्यक्ति के हृदय का सत्य है जो साहित्यकार इस रूप में साहित्य सृजन करता है वह समाज का साहित्य होता है और वही समाज के उत्कर्ष में सहायक होता है।

साहित्य मे हृदय-परिवर्तन की अपार क्षमता होती है। शासन समाज के सुधार और उत्थान के लिए कानून बना सकता है, किन्तु वह इन कानूनों के द्वारा समाज का हृदय-परिवर्तन नहो कर सकता। कानून के पालन में सर्वत्र भय की प्रेरणा होती है। जो काम भय से किया जाता है, वह क्षणिक और अस्थायी होता है। समाज की बुराइयों का निमूलन हृदय-परिवर्तन के अभाव म कभी भी सम्भव नहीं है। यह काम साहित्यकार ही कर सकता है। साहित्य का समाज जीवन पर स्थायी प्रभाव होता है और यही प्रभाव उसे उत्थान की ओर अग्रसर कर सकता है। साहित्य के तीन उद्देश्य माने गये हैं मानव मनोवृत्तियों को शान्त करना हित साधन करना और मानव मनोवृत्तियों को उन्नत करना। साहित्य के ये तीनों उद्देश्य मानव-समाज के जीवन को सुखद मधुर और उन्नत बनाने में सहायक हैं। इन उद्देश्यों को ध्यान मे रखकर सजित साहित्य निश्चित रूप से समाज के उत्थान मे सहायक हो सकता है जिस साहित्य मे ये गुण नहीं है वह साहित्य वास्तव में साहित्य कहलाने का अधिकारी ही नही है।

जहाँ साहित्य समाज को प्रभावित करता है वहाँ साहित्य भी समाज स प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। साहित्यकार अपने युग की भावनाओं परिस्थितियों एवं जीवन का प्रतिनिधित्व करता हुआ साहित्य का निर्माण करता है, इस रूप में वह अपने युग का प्रतिनिधि है पर उसकी दृष्टि वर्तमान तक ही सीमित नही होती। ह वर्तमान की पृष्ठभूमि पर भविष्य का निर्माण करता है। इस रूप में उसे भ्रष्टा का गौरव प्राप्त होता है। उसकी विशेषताओं के कारण उसका साहित्य युग तक अमर होता है। साहित्य और युग अथवा समाज का यह आदान-प्रदान

सदैव से चलता आया है। साहित्यकार इसी आदान-प्रदान की शिला पर समाज कल्याणकारी अमर साहित्य का निर्माण करता है।

साहित्य और कला

कला के क्षेत्र में 'कला कला के लिए' या 'कला जीवन के लिए' विवाद बहुत समय से चलता रहा। इस विवाद का आधार साहित्य का नैतिक पक्ष था। पाश्चात्य विद्वानों ने साहित्य को भी एक कला माना है। वे कला के अनेक उद्देश्य मानते हैं। यथा कला कला के लिए, कला जीवन के लिए, कला जीवन में प्रवेश करने के लिए, कला सृजन की आवश्यकता की पूर्ति के लिए, आदि। हम इन उद्देश्यों को दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम वर्ग में वे उद्देश्य हैं जिनका मानव-जीवन की नैतिकता अथवा उत्थान से कोई संबंध नहीं है। दूसरे वर्ग में उद्देश्य हैं जो मानव-जीवन को नैतिक आधार पर सँवारना और उन्नत करना चाहते हैं। हम इनमें से प्रथम वर्ग के उद्देश्यों को हम 'कला कला के लिए' के अन्तर्गत और द्वितीय वर्ग के उद्देश्यों को 'कला जीवन के लिए' के अन्तर्गत रख सकते हैं। वास्तव में कला के ये दोनों उद्देश्य पाश्चात्य मस्तिष्क की देन हैं। प्रथम सिद्धान्त के सृष्टा प्लेटो तथा द्वितीय सिद्धान्त के सृष्टा अरस्तू हैं। प्रथम सिद्धान्त का सर्वप्रथम प्रभाव फ्रांस के साहित्यकारों पर पड़ा। इसी सिद्धांत के अनुसार बाडलेयर ने कहा—"कविता का उससे पृथक कोई प्रयोजन नहीं है।

मारिस ने कहा—'हमारे लिए इतना ही पर्याप्त है कि हमारी कविता-विहगिनी मधुर ध्वनि करती हुई आनन्दपूर्वक अपने सुन्दर पंखों को कल्पना-जीवन गगनस्थ पर फड़फड़ाती रहे। इंगलैंड के साहित्यकारों में से वाल्टर पैटर, स्विनबर्न, आस्कर वाइल्ड, टी० एस० ईलियट आदि ने 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का समर्थन किया। इसके विपरीत मैथ्यू आरनाल्ड, आर० ए० रिचर्ड्स, रस्किन शैली वर्ड्सवर्थ मिल्टन आदि ने "कला जीवन के लिए" सिद्धांत का समर्थन किया। प्रथम सिद्धान्त में सौंदर्य भावना की प्रधानता है और द्वितीय सिद्धांत में लोक-कल्याण की भावना निहित है।

साहित्य के दो पक्ष हैं— १ भावपक्ष और २ कलापक्ष। भाव हृदय की वस्तु है इसका अभिव्यक्त रूप ही साहित्य है। कला वह प्रणाली है जिसके द्वारा कवि अथवा साहित्यकार अपने हृद्गत भावों को अभिव्यक्त करता है। प्रथम पक्ष ही वास्तव में साहित्य का प्रधान अंग है। मानव-समाज का आधार सदाचरण है। साहित्यकार अपनी कला की सहायता से अपने साहित्य द्वारा मानव-समाज में सदाचरण की प्रवृत्ति और दुराचरण की निवृत्ति की भावना का प्रसार करता है। वह यह कार्य नीति का उपदेश देकर नहीं वरन् भावगत सौन्दर्य की सृष्टि करके करता है। बंकिम बाबू

ने सौन्दर्य की इसी धर्मोत्कर्ष साधक सृष्टि को काव्य अथवा साहित्य का मुख्य उद्देश्य मानते हैं। साहित्यकार मानव जीवन के विविध मार्मिक चित्र उपस्थित कर जन-समाज को प्रभावित करते हैं। अतः साहित्य अथवा कला का मानव जीवन से पृथक कोई अस्तित्व स्वीकार करना निरर्थक है। प्रेमचन्दजी ने भी कहा है — 'साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और सुन्दर बनाता है। दूसरे शब्दों में उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है।' महात्मा गांधी और टालस्टाय ने भी कला की जीवनोपयोगिता का ही समर्थन किया है। महात्मा गांधी के मतानुसार — 'जीवन में वास्तविक पूर्णता प्राप्त करना ही कला है। यदि कला जीवन को सुमार्ग पर न लाये तो वह कला क्या हुई?' टालस्टाय ने लिखा है — 'कला समभाव के प्रचार द्वारा विश्व को एक करने का साधन है।' बर्क का कथन है— 'आत्म प्रकाश की भावना ही प्रत्येक कला का मूल है।' मनुष्य अपने को दूसरे के समक्ष व्यक्त करना चाहता है। उसकी इस अभिव्यक्ति में प्रेम आनन्द करुणा क्रोध घृणा आदि सभी का स्थान है। ये ही साहित्य के भी उपादान हैं। इन मनावेगों की अभिव्यक्ति एकस्थलीय अथवा एकदेशीय नहीं है। इसीलिए इनकी कलापूर्ण अभिव्यक्ति साहित्य भी एकस्थलीय एकदेशीय अथवा एकांगी न होकर सार्वजनिक होती है। ऐसा साहित्य ही जीवन साहित्य और अमर साहित्य होता है। और ऐसा साहित्य ही मानव समाज के लिए कल्याण सिद्ध होता है। साहित्य की जो उपयोगिता है वही कला की भी है। जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है, कि कला भावाभिव्यक्ति की एक प्रणाली मात्र है, अतः उसका अभिव्यक्ति के अभाव में कोई अस्तित्व नहीं उसका अस्तित्व वास्तव में अभिव्यक्ति पर आधारित है। अभिव्यक्ति और कला का समन्वित रूप ही साहित्य है। इससे स्पष्ट है कि साहित्य और कला दोनों की सार्थकता मानव-समाज को सुन्दर और शिव रूप प्रदान कर उसे 'सत्य' के समीप ले आने में ही है।

— • —

: ४ :

काव्य : एक विश्लेषण

काव्य का स्वरूप —

सौन्दर्य-निस्सीम भाव-जगत से उद्भूत भाव राशि ही काव्य है।" इससे काव्य में सुन्दर भावाभिव्यक्ति की आवश्यकता स्पष्ट है। साहित्यशास्त्र के पंडितों ने समय-समय पर काव्य की अनेक परिभाषायें बनाई हैं किन्तु अभी तक कोई ऐसी परिभाषा न बन सकी जो सर्वमान्य और स्थायी हो। कुछ लोगों की दृष्टि में काव्य केवल कल्पना का विलास है और इसलिए उसका जीवन में कोई स्थान नहीं है, जीवन से उसका कोई प्रयोजन नहीं है। ऐसा समझने का कारण यह है कि काव्य की सीमा जहां से आरम्भ होती है वहां सांसारिक प्रयोजन की सीमा समाप्त होती है। डा० हजारीप्रसाद के शब्दों में काव्य उस आनंद का प्रकाश है जो प्रयोजन की सीमाबद्धता के परे है। वह प्रयोजन को छोड़कर नहीं रह सकता पर प्रयोजन के अतिरिक्त है।

काव्य की परिभाषा —

काव्य की परिभाषा के लिए संस्कृत के तीन आचार्यों के मत आधारभूत माने जाते हैं। वे हैं:—मम्मट का काव्य प्रकाश विश्वनाथ का साहित्य दर्पण और जगन्नाथ पंडित का रस गंगाधर। हम भी यहां काव्य की परिभाषा निश्चित करने के लिए इन्हीं आचार्यों के मतों के प्रकाश में विचार करेंगे। इनकी परिभाषायें निम्न प्रकार हैं —

१ "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। काव्य प्रकाश (मम्मट)

ऐसे शब्द और अर्थ को कविता कहते हैं, जिसमें दोष न हो, गुण हों अलंकार हों और कभी-कभी अलंकार न भी रहें।

२ "वाक्यं रसात्मकं काव्यं। साहित्यदर्पण

रसपूर्ण रमणीयक भावानुभूति से पूर्ण वाक्य को कविता कहते हैं।

३ "रमणीयार्थ प्रतिपादकःशब्दः काव्यम्। रसगंगाधर (पं० जगन्नाथ)

यद्यपि तात्विक दृष्टि से उन तीनों परिभाषाओं में कोई विरोध नहीं है, तथापि तीनों परिभाषाओं में अपनी-अपनी विशेषता अवश्य है। साहित्य दर्पणकार रसमयी वाक्यावली को काव्य कहते हैं पर कोई भी व्यक्ति बिना 'रस' के मर्म और सिद्धान्त को पूर्णतया समझे काव्य की परिभाषा समझने में असमर्थ ही रहेगा और रस का स्वरूप

बड़ा भ्रमात्मक है। अतः यह परिभाषा के सिद्धान्त रूप में बहुत सुन्दर और पूर्ण होने पर भी पूर्ण व्यावहारिक नहीं है।

प्रारम्भ में तो साधारण शब्दों में कविता के सीधे स्वरूप का वर्णन करना चाहिए और उचित ज्ञान हो जाने के पश्चात् ही ध्वनि, रस आदि की बात कहना चाहिए। इसलिए व्यवहारविद् आचार्य मम्मट ने पहिले कविता के दोष गुण, अलंकार आदि की ही चर्चा की है और रस का नाम तक न लिया। वे भी रस को प्रधान मानते हैं, पर वे उसका उचित स्थान भी जानते हैं।

रस गंगाधरकार के मतानुसार रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहते हैं, पर यह तो पूरे साहित्य का ही निचोड़ है आरंभ में कहने की बात नहीं है, क्योंकि 'रस की तरह रमणीय' शब्द का स्वरूप भी कम भ्रमात्मक और विवादपूर्ण नहीं है। अतः हमें मम्मट की परिभाषा ही अधिक सुबोध और युक्तिसंगत जान पड़ती है। मम्मट शब्द और अर्थ दोनों का काव्य में समावेश करते हैं। इस प्रकार एक ओर "ध्वनि" को काव्य मानते हैं और दूसरी ओर "चित्रकाव्य" को भी। यही उनके विवेचन की व्यापकता है।

शब्द और अर्थ अभेद रूप से कविता के आधार होते हैं, इसी से कविता के स्वरूपज्ञान के लिए वाचक, लक्षक और व्यंजक तीनों प्रकार के शब्द वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य—तीनों प्रकार के अर्थ और अभिधा लक्षणा व्यंजना तीनों प्रकार की शब्द-शक्तियों का ज्ञान परमावश्यक है। शब्दार्थ के इसी विवेचन के आधार पर रस, ध्वनि सौन्दर्य कलात्मक अनुभूति साधारणीकरण आदि की व्याख्या होती है।

काव्य के उपकरण :—

सौन्दर्य, अर्थरमणीयता रस अलंकार तथा भाषा काव्य के उपकरण हैं।

सौन्दर्य :

पाठक को काव्य से जो आनन्द प्राप्त होता है, उस आनन्द का जनक काव्यगत सौन्दय है। इस सौन्दर्य का मूल रुचि है। भिन्न-भिन्न रुचि के कारण भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के पसंदगी के सौन्दय का स्वरूप भी भिन्न होता है अतः इसकी कोई निश्चित सर्वमान्य परिभाषा स्थिर नहीं की जा सकती। जो वस्तु एक व्यक्ति को सुन्दर जान पड़ती है वही दूसरे व्यक्ति की दृष्टि में असुन्दर होती है। वास्तव में सुन्दर और असुन्दर शब्दसापेक्षिक भावों के द्योतक हैं और भिन्न-भिन्न देशों में इसकी कसौटी भिन्न-भिन्न आदर्श संस्कृति और सभ्यता के अनुसार निश्चित की गई है। इस भिन्नता का कारण रुचि-वैचित्र्य तथा भिन्न-भिन्न संस्कृति और सभ्यता के विकास के क्रम की भिन्नता है। काव्य की सुन्दरता भी भिन्न-भिन्न रुचि और आदर्शों पर निर्भर है। पर यह सापेक्ष विभेद केवल व्यावहारिक सामञ्जस्य के

लिए ही आवश्यक है, तत्व निर्धारण की दृष्टि से केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि सौन्दर्य काव्य का अनिवार्य उपकरण है।

अर्थ-रमणीयता :

रस गंगाधर के रचयिता काव्य को रमणीय अर्थ का प्रतिपादक मानते हैं। पाश्चात्य मतानुसार 'काव्य के अन्तर्गत वे ही पुस्तकें आनी चाहिए, जो विषय तथा उसके प्रतिपादन की विशेषता के कारण मानव-हृदय को स्पर्श करनेवाली हों और जिनमें रूपविधान का मूलतत्व तथा उसके कारण आनन्द का जो उद्रेक होता है, उसकी सामग्री विशेष प्रकार से वर्तमान हो। इस व्याख्या के अनुसार काव्य में अर्थ रमणीयता का होना स्पष्ट है। रस गंगाधरकार का तात्पर्य भावात्मक और रसात्मक काव्य से है। उत्कृष्ट रसात्मक काव्य में रस व्यंग होता है, वाच्य और लक्ष्य नहीं। इसलिये काव्य की रसात्मकता के साथ उसका व्यंजना-प्रधान अथवा व्यंग्यात्मक होना भी स्वीकार किया गया है।

रस

अपने भावों और विचारों को दूसरे पर प्रकट करने तथा दूसरे के भावों और विचारों को सुनने और समझने की मानवमात्र में स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। वह चिरकाल से वाणी के वरदान का उपयोग करता आया है। वह प्रेम दया, करुणा हर्ष घृणा क्रोध आदि मानसिक वृत्तियों की अभिव्यंजना भी चिरकाल से करता आया है और उसी अभिव्यंजना में उसे एक प्रकार की तृप्ति सन्तोष अथवा आनन्द प्राप्त होता रहा है। मानव की इसी प्रवृत्ति की प्रेरणा से ज्ञान और शक्ति के उस भंडार का सृजन, संचय और संवर्द्धन होता है, जिसे हम साहित्य कहते हैं। इन मनोवृत्तियों के अतिरिक्त मानव में सौन्दर्य-भावना भी स्वाभाविक रहती है, जो साहित्य में एक अलौकिक चमत्कार तथा आकर्षण लाने में सहायक होती है। इसी भावना के कारण मनुष्य अपनी वाणी से रस प्रसरण करता है जिससे एक अलौकिक और अनिर्वचनीय आनन्द की उपलब्धि होती है। साहित्यकारों ने इसी आनन्द को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहा है।

रस निरूपण—

रस का अर्थ है "आस्वाद"—'आस्वाद्यत्वात् रसः' जैसे भोज्य और पेय-पदार्थों का रस लिया जाता है, वैसे ही काव्य के रस का भी स्वाद लिया जाता है। रस-विहीन काव्य, काव्य ही नहीं है। भरत रस की मीमांसा करनेवाले पहिले आचार्य हैं। उनके मतानुसार रसों के आधार भाव हैं। भाव मन के विकार हैं। ये वाणी, अंग-रचना और अनुभूति के द्वारा काव्यार्थों की भावना कराते हैं। गहराई की न्यूनाधिक मात्रा के अनुसार भाव दो प्रकार के हैं। जो लघु तरंगों की भांति उठकर अल्पकाल में

विलीन हो जाते हैं वे संचारी भाव कहलाते हैं। इन्हें व्यभिचारी भाव भी कहते हैं। इनके विपरीत जो भाव रस का आस्वादन होने तक मन में ठहरे रहते हैं और उसे रस-निमग्न कर देते हैं, वे स्थायी भाव कहलाते हैं। स्थायी भाव ही रस के लिये मूल आधार प्रस्तुत करते हैं। संचारी भाव तो स्थायी भाव को पुष्ट करने के लिए थोड़े ही समय संचरण कर चले जाते हैं। संचारी भावों के शंका, श्रम, धृति चिंता, त्रास चपलता मद स्मृति अमर्ष आदि तैंतीस प्रकार हैं।

रति हास क्रोध उत्साह, भय जुगुप्सा विस्मय और शोक ये आठ स्थायी-भाव हैं।

विभावः—

यद्यपि स्थायीभाव ही रस के प्रधान निष्पादक हैं, पर उसके रस-अवस्था तक पहुँचने के लिए उनका जागरित तथा उद्दीप्त होना आवश्यक है। यह कार्य विभावों के द्वारा ही सम्पन्न होता है। जो विभाव भाव को जागृत करते हैं उन्हें आलंबन कहते हैं और उसे उद्दीप्त या तीव्र करने वाला विभाव 'विभाव उद्दीपन' कहलाता है। सुन्दर पुष्पित और एकांत उद्यान में शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त के हृदय में रतिभाव जागरित होता है। यहाँ शकुन्तला आलंबन विभाव है और एकांत पुष्पित उद्यान उद्दीपन विभाव। रतिभाव से मुख की कांति बढ़ जाती है, क्रोध से ओंठ काँपने लगते हैं। ये बाह्य लक्षण ही अनुभाव कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि भाव कारण और अनुभाव कार्य है। अनुभावों के द्वारा ही भाव की सूचना मिलती है।

अनुभाव तीन प्रकार के हैं—कायिक मानसिक और सात्विक। स्थायी भावों के कारण उत्पन्न अन्य भाव अथवा मनोविकार मानसिक अनुभाव हैं। आंतरिक अनुभूति के सूचक शारीरिक लक्षण कायिक अनुभाव हैं और जब यही अनुभाव मन की अत्यन्त विह्वलकारी दशा से उत्पन्न होते हैं तब सात्विक अनुभाव कहलाते हैं। स्तंभ स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु वैवर्ण्य अश्रु आदि प्रलय सात्विक अनुभावों के प्रकार हैं।

रसोत्पत्ति पर विविध विचार

भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद

भट्ट लोल्लट ने कहा कि भरतमुनि का निष्पत्ति से अभिप्राय उत्पत्ति और संयोग से था। उनके अनुसार विभाव कारण थे और रस उनका कार्य। रस वस्तुतः नाटक आदि के पात्रों में उत्पन्न होता है। नट वेषभूषा, वाणी क्रिया आदि से उनका अनुकरण करता है जिससे उसमें भी रस की प्रतीति होती है और प्रेक्षक या पाठक चमत्कृत होकर आनंदित हो जाते हैं।

इस मत के मानने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। पहिले तो समझ में नहीं आता कि भावों का अनुकरण कैसे किया जा सकता है। वेषभूषा, क्रिया आदि बाह्य बातों

का तो अनुकरण सम्भव है, परन्तु स्वयं भावों का अनुभवगम्य अनुकरण संभव नहीं है। फिर भी यह संभव नहीं कि प्रेक्षक या पाठक को जिस भाव का स्वयं अनुभव न हो उससे वह आनंद उठा सके। इसके अतिरिक्त रस को विभाव आदि का कार्य भी नहीं माना जा सकता; क्योंकि कार्य कारण के अनन्तर भी अस्तित्व में रह सकता है। पर रस तभी तक रहता है, जबतक विभाव आदि का प्रत्यक्ष दर्शन होता रहता है। फिर कारण और कार्य का पूर्वापर सम्बन्ध रहता है, किंतु विभावों का दर्शन और रस का आस्वादन दोनों साथ ही होते हैं। इसलिए लोल्लट का मत उचित नहीं जान पड़ता।

श्री शंकुक का अनुमितिवाद :

शंकुक भरत के 'निष्पत्ति' का अर्थ अनुमिति मानते हैं। उनके अनुसार विभाव अनुमापक हैं और रस अनुमाप्य। इन्हीं को गम्य और गमक भी कहते हैं। नायक में स्थायी भाव रहता है। विभाव अनुभाव आदि के, जिनको वह बड़ी कुशलता से अभिनय करके दिखाता है, नट में भी उसका अनुमान कर लिया जाता है। इस तरह प्रेक्षक उस नट को ही नायक समझ लेता है। इस सुन्दर भ्रम में पड़कर उसे नायक के भावों का अनुमान हो जाता है। इस अनुमान से ही वह उसके भाव समझ लेता है और उसके उस भाव के सौन्दर्य से चमत्कृत होकर आनंद प्राप्त करता है। यही आनंद स्वाद या रस है।

इस मत के विरुद्ध भी कुछ आक्षेप हैं। सर्वप्रथम तो इनमें इस तथ्य की उपेक्षा की गई है कि प्रत्यक्ष ज्ञान से जो चमत्कारपूर्ण आनन्द मिल सकता है वह अनुमान से नहीं। दूसरे उत्पत्तिवाद की तरह अनुमितिवाद में भी रस की सत्ता प्रेक्षक में नहीं मानी जाती। यदि मान भी ली जाय तो प्रश्न होगा कि उसने दूसरे व्यक्ति के भावों को कैसे अपना लिया। जैसे कि भट्ट नायक ने कहा है—'यदि रस की अवस्थिति अन्य व्यक्ति में है, और वह तटस्थ है, तो प्रेक्षक स्वयं उससे प्रभावित नहीं हो सकता।"

इस पर कुछ विद्वानों का मत है कि विभावानुभाव आदि के द्वारा नायक के स्थायी भाव की प्रतीति होती है, जिससे सहृदय प्रेक्षकों के हृदय में यह भावना उत्पन्न होती है कि मैं ही नायक हूँ। इस प्रकार प्रेक्षक का हृदय कल्पित नायकत्व से आ जाने पर वह रसानुभव करने लगता है।

इस मत के अनुसार आलंबन के प्रति नायक का स्थायीभाव प्रेक्षक के हृदय में सर्वथा भिन्न रूप में उदय होता है और आत्मा का परावर्तित चैतन्य उसे प्रकाशित करता है, जिससे रसरूप में उसका आनंद मिलता है। पर यह मान लेने पर जब हम किसी पूज्य व्यक्तित्व या देवता आदि की बात सोचते हैं, तो बड़ी कठिनाई उपस्थित हो जाती है। जैसे सीता के प्रति हमारी चिरकाल से मातृ भावना है।

राम के हृदय में उसके प्रति जो रतिभाव उदय होता है उसे हम अपने को कल्पित राम मानकर अपने हृदय में उदय होने दें तो सदाचार का बंधन टूट जायगा और हमारी परम्परागत दृढ़ भावना के कारण हमारे हृदय में राम की तरह सीता के प्रति रतिभाव उदय ही नहीं हो सकता। दूसरे यदि प्रेक्षक नायक के ही भावों का अनुभव करता है, तो रस सदैव आनन्दरूप ही नहीं माना जा सकता क्योंकि नायक के शोकमग्न होने पर प्रेक्षक भी शोकमग्न होगा, जो आनन्द का नहीं पर दुःख का प्रतीक है।

भट्टनायक का भुक्तिवाद :

भट्टनायक प्रेक्षक के हृदय में रस की उपस्थिति मानते हैं। उनके अनुसार स्थायीभाव से रस बनने तक की क्रिया में तीन शक्तियों का योग रहता है। ये शक्तियाँ हैं — अभिधा भावकत्व और भोजकत्व। अभिधा के द्वारा काव्य के सामान्य और आलंकारिक अर्थों का ज्ञान होता है। भावकत्व के द्वारा विभाव अनुभाव आदि व्यक्ति-संबंध से मुक्त होकर मनुष्यमात्र के अनुभव के योग्य हो जाते हैं। यह शकुन्तला को केवल स्त्री और दुष्यन्त को केवल पुरुष मानता है। इस भावना से स्थायीभाव मनुष्यमात्र के भोग के योग्य बन जाता है। जिस क्रिया के द्वारा इस प्रकार साधारणीकृत स्थायीभाव का रस-रूप में भोग होता है उसे भोजकत्व कहते हैं। यह भोग ही निष्पत्ति है। यह भोग राजस और तामस भोग नहीं पर शुद्ध सात्विक भोग है, जिसे प्राप्त कर मनुष्य कुछ समय के लिए भवबंधनों से मुक्त होकर सार्वभौम चैतन्य जगत में प्रवेश पा जाता है। इसी से यह आनन्द ब्रह्मानंद सहोदर कहा जाता है।

अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद :

भट्टनायक के मत पर यह आपत्ति की जाती है कि काव्य की तीन शक्तियों को मानने के लिए कोई आधार रूप प्रमाण नहीं है। भट्टनायक भावकत्व और भोजकत्व दो नई क्रियाओं को मानते हैं। अभिनवगुप्ताचार्य के अनुसार इन दोनों क्रियाओं का काम व्यंजना और ध्वनि से चल जाता है। भरतमुनि के अनुसार जो काव्यार्थों को भावना का विषय बनावें वे ही भाव हैं। इस प्रकार भावकत्व तो भावों का अपना गुण है ही। अभिनवगुप्त के अनुसार काव्यार्थ से तात्पर्य उस अर्थ से है जिसमें काव्य का आनन्द निहित है। संचारियों से पुष्ट होकर स्थायी भाव ही आस्वादयुक्त काव्यार्थ के अस्तित्व का कारण है। अतएव काव्यार्थ ही रस का आधार है। इसलिए भोजकत्व को पृथक शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इस काव्यार्थ का भोग या आस्वादन ही रस है।

मनुष्य भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में पड़कर जिन भावों का अनुभव करता है, वे वासनारूप में उसके हृदय में स्थिर हो जाते हैं, पर आत्मा पर अज्ञान का

आवरण होने से मनुष्य को उनका ज्ञान नहीं होता। जब निपुण अभिनय के द्वारा विभावानुभाव के प्रदर्शन से उस अज्ञान के पर्दे के हट जाने पर वे अभिव्यक्त हो जाते हैं और इस प्रकार आत्मानंद के प्रकाश में जब उनका अनुभव होता है तब वे रस कहे जाते हैं।

यद्यपि रस का आनंद विषयजन्य है तथापि विषयानंद से उसका कोई संबंध नहीं इसीलिए उसे ब्रह्मानन्द सहोदर कहा है क्योंकि मनुष्य उसका आस्वादन अपने व्यक्तित्व को भुलाकर—मनुष्यमात्र होकर करता है।

यह अभिनव गुप्त का मत ही उनके पश्चात् के अन्य आचार्यों ने भी स्वीकार किया है।

अलंकार

'रमणीय अर्थ के प्रतिपादन के लिए संस्कृत में अलंकारों की विशेष रूप से योजना हुई है और रस को तो काव्य की आत्मा ही कहा गया है। काव्य के अलंकार युक्त अब पाठकों के लिए विशेष आकर्षक बन जाते और उनसे एक प्रकार का विशेष सौन्दर्य दृष्टिगोचर होने लगता है। अलंकार-योजना का परिणाम यह होता है कि इससे चित्त किसी विशेष मनोवेग से चमत्कृत हो जाता और काव्य रसमय होकर अधिक आस्वाद्य बन जाता है। इस प्रकार अलंकार रस के सहायक हैं पर अधिक विकास होने पर अलंकार और रस के पृथक् सम्प्रदाय बन गये। पर फिर भी अलंकार काव्य-सौन्दर्य के लिए अनिवार्य नहीं समझे जा सकते। कभी-कभी तो अलंकारों के भार से कविता कामिनी का स्वाभाविक रूप ही विकृत हो जाता है।

भाषा

कुछ काव्य समीक्षक भाषा को भी काव्य का उपकरण मानते हैं पर वास्तव में वह काव्य का उपकरण नहीं कहा जा सकता। हाँ वह काव्य का अभिन्न अंग अवश्य है। भाव जगत की अभिव्यक्ति ही भाषा का प्रयोजन है। भाषा विज्ञान के सिद्धांत के अनुसार भावाभिव्यक्ति की प्रक्रिया के साथ ही भाषा का विकास होता गया। इस प्रकार वह सदैव से भावाभिव्यक्ति का ही साधन रही है पर काव्य का उपकरण नहीं बन सकी।

कविता और छंद

अधिकांश काव्य शास्त्रों में छंदों का स्थान नहीं है। इसका कारण एक तो छंदों की अपनी अपरिमित संख्या है और दूसरे काव्य-साधना वास्तव में शब्द साधना है। अतः उसमें स्वर-साधना विषयक छंदशास्त्र का लंबा प्रकरण स्थानाभाव के कारण उचित नहीं जान पड़ा। रस काव्य से निष्पन्न होता है, पर काव्य में संगीत सहायक का ही काम कर सकता है, यदि वही प्रधान बन जाय तो कविता का व्यक्तित्व ही नष्ट हो जायगा। सिद्धान्त रूप में छन्दों की अनिवार्यता

का खंडन करते हुए भी उसकी आवश्यकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि काव्य-साहित्य एक बड़ी मात्रा में छन्दोबद्ध है और छन्द संगीतशास्त्र के अनुसार ही निर्मित है। पाश्चात्य आचार्य भी कविता और छंद का अन्योन्य संबंध मानते हैं। वाटसन कविता को छन्दमय निबन्ध मानते हैं। कारलाइल कविता को 'संगीतमय विचार' कहते हैं। वह कहते हैं कि कविता मनोवेगमय और संगीतमय भाषा में मानव-अन्तःकरण की मूर्त और कलात्मक व्यंजना करती है। इससे कविता और छंद का घनिष्ठ सम्बन्ध स्पष्ट है पर छन्दमात्र ही कविता नहीं कहा जा सकता यह स्मरणीय है।

मानवमात्र संगीत की महत्ता स्वीकार करता है। मंद-मंद वायु के संचार, पक्षियों के कलरव, झरनों की कलकल ध्वनि, पत्तियों का मर्मर स्वर, नदियों का प्रवाह, यहाँ तक कि समुद्र के गर्जन में भी संगीत है और इसीलिए इस संगीत को सुनकर मनुष्य आनंद का अनुभव करता है। जो संगीत का रसास्वादन कर चुके हैं वे मुक्तकंठ से संगीतमय भाषा की प्रशंसा करेंगे और उससे प्रभावित होंगे। इसीलिए कविता और संगीत का समन्वय आवश्यक है। पर यह भी देखा जाता है कि छंदों की रूढ़ि-ग्रसित परंपरा को काव्य पर लाद देने से कविता की भाव-व्यंजना में अनेक बार बाधाएँ भी उपस्थित होती हैं। कभी-कभी कविता और संगीत में विरोध भी उपस्थित हो जाता है। ऐसी स्थिति में छन्द के नियमों में शिथिलता कर देना अनुचित नहीं है। छंद का बंधन वहीं तक उपयुक्त है जहाँ तक वह कविता को पंगु या मूक न बना सके।

इतिहासज्ञों के मतानुसार कविता और संगीत का संबंध अत्यन्त प्राचीन है। सृष्टि के आरंभ से ही मनुष्य ने अत्यन्त गंभीर और मार्मिक भावों की व्यंजना संगीतमय भाषा में ही की है। इस संबन्ध के कारण हमारे मनोवेग अधिक तीव्र भाव से उत्तेजित हो उठते और हमारे भावों तक में अद्भुत परिवर्तन हो जाता है। हम हिन्दी साहित्य के इतिहास में भी देखते हैं कि संगीतमय भाषा में पहिले ग्रन्थ निर्मित हुए और छन्दहीन भाषा गद्य का जन्म उस समय हुआ जबकि काव्य का पर्याप्त विकास हो चुका था। इतना ही क्यों पर संसार का आदिग्रन्थ ऋग्वेद की भी रचना पद्य में ही हुई है। इससे मनुष्य का आरंभ से ही संगीतप्रिय होना स्पष्ट है।

कविता गद्यमय भी हो सकती है और पद्यबद्ध सभी पंक्तियों को कविता की समता प्राप्त होना भी आवश्यक नहीं है पर गद्यमय कविता यदि संगीतमय भी हो, तो उसका प्रभाव और महत्व निश्चय ही बढ़ सकता है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कविता के लिए छंदों के बंधन अनिवार्य तो नहीं हैं, पर उसके स्वरूप और मात्रा में विकृति न आते हुए यदि वह छन्दबद्ध की जा सके तो सर्वोत्तम है।

कवि कल्पना :

काव्य की भूमि मानव-कल्पना की भूमि है। जो तत्त्व उपदेशकों और धर्माचार्यों की शब्दावली में निहित होकर संसार की विरक्ति के कारण बन गए हैं उन्हें कवियों की वाणी में पाकर जनसमाज आनंद से पी गया। विज्ञान में जो बुद्धि है, दर्शन में जो दृष्टि है, वही कविता में कल्पना है। कल्पना के साथ कवि की कला है। कवियों ने अपनी कल्पना के बल से कितने ऐसे महान पात्रों की सृष्टि की है, जो संसार के हृदय पर प्रभाव शासन कर रहे हैं, *और करते रहेंगे। कवि की कल्पना संसार की प्रायः समस्त* उज्ज्वल, उदात्त और ऊर्जस्वित भावनाओं को पुष्ट करनेवाली उन्हें मनोरम बनाकर मनुष्य-जीवन में मिला देनेवाली सिद्ध हुई है। कवि अपनी कल्पना के इंगित से सहस्रों वर्षों तक संसारव्यापी समाज के मन पर शासन करता है। वह मानव हृदय के सिंहासन पर अभिषिक्त हो अपनी प्रभुता का विस्तार करता है और लोक की श्रद्धांजलि उसके चरणों का नित्यप्रति अभिषेक करती है।

कवि कल्पना की इतनी प्रभुता है पर उसका उत्तरदायित्व भी कम नहीं है। कवि-कल्पना का सत्य होना आवश्यक है और यह सत्य-साधना दुःसाध्य है। प्रकृति की विस्तृत और दुर्गम निधि से सत्य कल्पना के रत्न चुन लेना और उन्हें काव्य-रूप में इस प्रकार सजाकर प्रस्तुत करना कि वह लोक-हृदय का हार हो जाय कोई साधारण काम नहीं है। पर यहाँ कवि-कल्पना के सत्य का स्थूल *अर्थ लेना उचित नहीं है, यह सत्य तो विज्ञान में ही देखा जा सकता है।* कविता में सत्यता से अभिप्राय उस निष्कपटता से—उस अन्तर्दृष्टि से है जो हम अपने मनोभावों या मनोवेगों का अभिव्यंजन करने में उनका हम पर जो प्रभाव पड़ता है, उसे प्रत्यक्ष करने में तथा उनके कारण हमें जो दुःख सुख, आशा निराशा, भय आशंका आश्चर्य श्रद्धा भक्ति आदि के भाव उत्पन्न होते हैं, उनकी अभिव्यक्ति में प्रदर्शित करते हैं। कवि अपनी कल्पना के सत्य द्वारा वस्तु का वास्तविक रूप प्रस्तुत नहीं करता वरन् उसकी सुन्दरता, उसका रहस्य, उसकी मनोमुग्धकारिता आदि का हम पर जो प्रभाव पड़ता है उसे कविता की दृष्टि से स्पष्ट करके दिखलाता है। यही कविता-द्वारा जीवन की—मानव-जीवन और प्रकृति-जीवन की—कल्पना और मनोवेगों के रूप में व्याख्या है।

काव्यगत सत्य

अनन्त काल से हमारे कवि दार्शनिक वैज्ञानिक तथा अन्य अनेक विद्वान निरन्तर सत्य का अन्वेषण करने का प्रयास करते आ रहे हैं। इन सबके अन्वेषण का उद्देश्य मानव-कल्याण है। वे ऐसे सत्य को प्रत्यक्ष करना चाहते हैं, जो मानव के कल्याण और उत्थान की आधारशिला बनकर मानव-जगत को सदैव सत्पथ की ओर अग्रसर करता रहे। दार्शनिक का लक्ष्य मानव में आध्यात्मिक भावनाओं

का विकास करता है, वैज्ञानिक का सत्य हमें भौतिक जगत की उपलब्धियाँ सुलभ करता है, किन्तु कवि का सत्य हमारे भावना-जगत को परिष्कृत और प्रभावित करता है। काव्य कवि की कल्पना की सृष्टि है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसकी यह कल्पना एक मिथ्या जगत की ही सृष्टि करती है। उसकी कल्पना का सत्य भी चिरन्तन सत्य का ही एक रूप होता है। कवि सामान्य जीवन से ऊपर उठकर मानव की विभिन्न प्रवृत्तियों और भावनाओं के सागर का मन्थन कर एक ऐसे सत्य को अपनी कल्पना के सहारे प्रत्यक्ष करना चाहता है, जो उसके अपने जीवन का नहीं पर मानव मात्र के जीवन का सत्य होता है। यह अवश्य है कि इसका यह सत्य सामान्य लौकिक सत्य से भिन्न होता है, इसीलिए वह असाधारण सत्य है। उसका इस सत्य पर आधारित काव्य भी असाधारण होता है, इसीलिए वह जन सामान्य पर असाधारण प्रभाव डालने में समर्थ होता है। डा० श्यामसुन्दर दास ने लिखा है—'काव्य के वाक्य, पद आदि असाधारण रूप में एक संश्लिष्ट अर्थ ध्वनित करते हैं। इसी असाधारण सामर्थ्य से काव्य एक विशेष प्रकार का आनन्द प्रदान करता है जिसे संस्कृत के विद्वानों ने अलौकिक आनन्द कहा है।

काव्य का सत्य देश-काल की सीमाओं से आबद्ध नहीं होता उसका एक मात्र आधार मानव का भावना-जगत ही है। कवि इसी सत्य के रूप में मानव भावनाओं की वास्तविक अभिव्यक्ति करता है। उसका यह सत्य प्रकृत सत्य की अपेक्षा अधिक स्थायी चिरन्तन और शाश्वत होता है। दार्शनिकों और वैज्ञानिकों की दृष्टि केवल सत्य के तत्त्वों तक ही प्रविष्ट करती है किन्तु एक कवि की दृष्टि तत्त्वों से आगे बढ़कर सत्य के समस्त सौंदर्य तक पहुँच उस सौन्दर्य को अपने काव्य द्वारा प्रत्यक्ष करने को आतुर होता है। कवि अपनी संवेदनाशील दृष्टि से एक ही वस्तु में अनेक रूप देखने में समर्थ होता है। उदाहरणार्थ प्रातःकालीन विकसित पुष्पराजि के प्रांगण में दृश्यमान ओस बिन्दु कवि की संवेदनशील कल्पना के अनुसार मुक्ता भी है, और अश्रु भी। सामान्य दृष्टि से व केवल ओस-बिन्दु है। यही प्रकृत सत्य है किन्तु कवि का सत्य इस सत्य से भिन्न है। वह आनन्द मग्न स्थिति में उनके मुक्ता होने की कल्पना करता है और करुण एवं शोकमय स्थिति में वह उनके ओस बिंदु अथवा मुक्ता न होकर अश्रु होने की कल्पना करता है। इस प्रकार कवि अथवा काव्य का सत्य प्रकृत सत्य से भिन्न होते हुए भी मनोभावना-जगत में एक चिरन्तन सत्य होता है। यही काव्यगत सत्य का स्वरूप है।

काव्य के दोष

संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने काव्य के दोषों पर विशद् प्रकाश डाला है और उनके द्वारा प्रदर्शित दोषों से युक्त काव्य को 'भ्रष्ट काव्य' की संज्ञा दी है।

कवि कल्पना :

काव्य की भूमि मानव-कल्पना की भूमि है। जो तत्त्व उपदेशकों और धर्माचार्यों की शब्दावली में निहित होकर संसार की विरक्ति के कारण बन गए हैं उन्हें कवियों की वाणी में पाकर जनसमाज आनंद से भर गया। विज्ञान में जो बुद्धि है, दर्शन में जो दृष्टि है वही कविता में कल्पना है। कल्पना के साथ कवि की कला है। कवियों ने अपनी कल्पना के बल से कितने ऐसे महान पात्रों की सृष्टि की है, जो संसार के हृदय पर अबाध शासन कर रहे हैं, और करते रहेंगे। कवि की कल्पना संसार की प्रायः समस्त उज्ज्वल, उदात्त और ऊर्जस्वित भावनाओं को पुष्ट करनेवाली उन्हें मनोरम बनाकर मनुष्य-जीवन में मिला देनेवाली सिद्ध हुई है। कवि अपनी कल्पना के इंगित से सहस्रों वर्षों तक संसारव्यापी समाज के मन पर शासन करता है। वह मानव हृदय के सिंहासन पर अधिष्ठित हो अपनी प्रभुता का विस्तार करता है और लोक की श्रद्धांजलि उसके चरणों का नित्यप्रति अभिषेक करती है।

कवि कल्पना की इतनी प्रभुता है पर उसका उत्तरदायित्व भी कम नहीं है। कवि-कल्पना का सत्य होना आवश्यक है और यह सत्य-साधना दुःसाध्य है। प्रकृति की विस्तृत और दुर्गम निधि से सत्य कल्पना के रत्न चुन लेना और उन्हें काव्य-रूप में इस प्रकार सजाकर प्रस्तुत करना कि वह लोक-हृदय का हार हो जाय कोई साधारण काम नहीं है। पर यहाँ कवि-कल्पना के सत्य का स्थूल अर्थ लेना उचित नहीं है, यह सत्य तो विज्ञान में ही देखा जा सकता है। कविता में सत्यता से अभिप्राय उस निष्कपटता से—उस अन्तर्दृष्टि से है, जो हम अपने मनोभावों या मनोवेगों का अभिव्यंजन करने में उनका हम पर जो प्रभाव पड़ता है, उसे प्रगट करने में तथा उनके कारण हमें जो दुःख सुख, आशा निराशा, भय आशंका आश्चर्य श्रद्धा, भक्ति आदि के भाव उत्पन्न होते हैं, उनकी अभिव्यक्ति में प्रदर्शित करते हैं। कवि अपनी कल्पना के सत्य द्वारा वस्तु का वास्तविक रूप प्रस्तुत नहीं करता वरन् उसकी सुन्दरता उसका रहस्य, उसकी मनोमुग्धकारिता आदि का हम पर जो प्रभाव पड़ता है उसे कविता की दृष्टि से स्पष्ट करके दिखलाता है। यही कविता-द्वारा जीवन की—मानव-जीवन और प्रकृति-जीवन की—कल्पना और मनोवेगों के रूप में व्याख्या है।

काव्यगत सत्य

अनन्त काल से हमारे कवि दार्शनिक वैज्ञानिक तथा अन्य अनेक विद्वान निरन्तर सत्य का अन्वेषण करने का प्रयास करते आ रहे हैं। इन सबके अन्वेषण का उद्देश्य मानव-कल्याण है। वे ऐसे सत्य को प्रत्यक्ष करना चाहते हैं, जो मानव के कल्याण और उत्थान की आधारशिला बनकर मानव-जगत को सदैव उत्थान की ओर अग्रसर करता रहे। दार्शनिक का सत्य मानव में आध्यात्मिक भावनाओं

का विकास करता है, वैज्ञानिक का सत्य हमें भौतिक जगत की उपलब्धियाँ सुलभ करता है, किन्तु कवि का सत्य हमारे भावना-जगत को परिष्कृत और प्रभावित करता है। काव्य कवि की कल्पना की सृष्टि है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसकी यह कल्पना एक मिथ्या जगत की ही सृष्टि करती है। उसकी कल्पना का सत्य भी चिरन्तन सत्य का ही एक रूप होता है। कवि सामान्य जीवन से ऊपर उठकर मानव की विभिन्न प्रवृत्तियों और भावनाओं के सागर का मन्थन कर एक ऐसे सत्य को अपनी कल्पना के सहारे प्रत्यक्ष करना चाहता है, जो उसके अपने जीवन का नहीं पर मानव मात्र के जीवन का सत्य होता है। यह अवश्य है कि इसका यह सत्य सामान्य लौकिक सत्य से भिन्न होता है, इसीलिए वह असाधारण सत्य है। उसका इस सत्य पर आधारित काव्य भी असाधारण होता है, इसीलिए वह जन सामान्य पर असाधारण प्रभाव डालने में समर्थ होता है। डा० श्यामसुन्दर दास ने लिखा है—"काव्य के वाक्य, पद आदि असाधारण रूप में एक विशिष्ट अर्थ ध्वनित करते हैं। इसी असाधारण सामर्थ्य से काव्य एक विशेष प्रकार का आनन्द प्रदान करता है, जिसे संस्कृत के विद्वानों ने अलौकिक आनन्द कहा है।

काव्य का सत्य देश-काल की सीमाओं से आबद्ध नहीं होता उसका एक मात्र आधार मानव का भावना-जगत ही है। कवि इसी सत्य के रूप में मानव भावनाओं की वास्तविक अभिव्यक्ति करता है। उसका यह सत्य प्रकृत सत्य की अपेक्षा अधिक स्थायी चिरन्तन और शाश्वत होता है। दार्शनिकों और वैज्ञानिकों की दृष्टि केवल सत्य के तत्वों तक ही प्रविष्ट करती है किन्तु एक कवि की दृष्टि तत्वों से आगे बढ़कर सत्य के समस्त सौंदर्य तक पहुँच उस सौन्दर्य को अपने काव्य द्वारा प्रत्यक्ष करने को आतुर होता है। कवि अपनी संवेदनशील दृष्टि से एक ही वस्तु में अनेक रूप देखने में समर्थ होता है। उदाहरणार्थ प्रातःकालीन विकसित पुष्पराजि के अंचल में दृश्यमान ओस बिन्दु कवि की संवेदनशील कल्पना के अनुसार मुक्ता भी है, और अश्रु भी। सामान्य दृष्टि से वे केवल ओस-बिन्दु हैं। यही प्रकृत सत्य है किन्तु कवि का सत्य इस सत्य से भिन्न है। वह आनन्द मग्न स्थिति में उनके मुक्ता होने की कल्पना करता है और करुण एवं शोकमग्न स्थिति में वह उनके ओस बिन्दु अथवा मुक्ता न होकर अश्रु होने की कल्पना करता है। इस प्रकार कवि अथवा काव्य का सत्य प्रकृत सत्य से भिन्न होते हुए भी मनोभावना-जगत में एक चिरन्तन सत्य होता है। यही काव्यगत सत्य का स्वरूप है।

काव्य के दोष

संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने काव्य के दोषों पर विशद् प्रकाश डाला है और उनके द्वारा प्रदर्शित दोषों से युक्त काव्य को 'भ्रष्ट काव्य' की संज्ञा दी है।

वैसा ही चित्र उपस्थित करने का प्रयास करता है। रागात्मक तत्व से अभिप्राय उन भावों से है, जिनको कवि या लेखक का काव्यविषय स्वयं उसके हृदय में उत्पन्न करता है और जिनका वह अपनी कृति द्वारा अपने पाठकों के हृदय में संचार करना चाहता है।

मधुमती भूमिका और पर प्रत्यक्ष

मधुमती भूमिका चित्त की वह विशेष अवस्था है, जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती। शब्द अर्थ और ज्ञान तीनों की पृथक प्रतीति वितर्क है। इस पार्थक्यानुभव को अपर प्रत्यक्ष भी कहते हैं। जिस अवस्था में संबंधी और संबंध विलीन हो जाते हैं, केवल वस्तुमात्र का आभास मिलता है, उसे परप्रत्यक्ष या निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं।

रस और समाधिकरण :—

कवि जब मधुमती भूमिका में प्रवेश कर नवीन सृष्टि आरम्भ करता है और अपनी ही सृष्टि पर मुग्ध होकर आप ही रीझता है तब उसकी समस्त वृत्तियाँ एक लय में समाहित हो जाती हैं और उसकी रचना भावों का संगीत बन जाती है। मन को यह स्थिति प्राप्त होने पर ज्ञान का आवरण हट जाता है। इस अवस्था में वह अनुभविता और अनुभाव्य अथवा द्रष्टा और दृश्य दोनों है। इसीलिए निरावरण चित्त को आनन्द स्वरूप का अनुभव करने के लिए किसी दूसरे अनुभविता की आवश्यकता नहीं होती। आत्मा के इसी आनन्दस्वरूप को रस कहते हैं। जब कवि की तरह कोई अन्य सहृदय भी उसी भूमिका का स्पर्श करता है तब उसकी भी वृत्तियाँ उसी प्रकार एक तान—एक लय हो जाती हैं और उसे भी वही संगीत सुनाई देने लगता है। उसे इस अवस्था में पहुँचने की शक्ति कुछ तो कवि की कृति की विशेषता से और कुछ अपने संस्कार से प्राप्त होती है।

काव्य-भेद :—

काव्य को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं —एक तो वह, जिसमें कवि अपनी अंतरात्मा में प्रवेश करके अपने अनुभवों और भावनाओंसे प्रेरित होता तथा अपने प्रतिपाद्य विषय को ढूंढ निकालता है और दूसरा वह अपनी अंतरात्मा से बाहर जाकर सांसारिक कृत्यों और रागों में पैठता है और जो कुछ ढूंढ निकालता है, उसका वर्णन करता है। पहिले विभाग को व्यक्तित्व-प्रधान अथवा आत्माभिव्यंजक कविता और दूसरे को विषयप्रधान अथवा भौतिक कविता कह सकते हैं, यद्यपि इन दोनों विभागों की ठीक सीमा निर्धारित करना कठिन है।

भावात्मक कविता में कवि अपने भावों का अभिव्यंजन करता है, पर वास्तव में वह मानव-जाति की भावाभिव्यक्ति होती है और इस प्रकार उसकी व्यक्तित्व प्रधान कविता प्रतिबिम्बिस्वरूप होती है। ऐसी भावात्मक कविता में भावभौम

प्रवृत्तियों की प्रचुरता रहती है। यदि कवि का यह काव्य हमारे मन में यह भाव उत्पन्न कर सके कि उच्च भावनाओं का व्यंजन स्पष्टता और स्वाभाविकता के साथ किया गया है तथा उसकी कल्पना और भाषा में सुन्दरता एवं विदग्धता है तो कवि-प्रयास सफल कहा जायगा। ऐसी कविता साधारण भावव्यंजना से आगे बढ़कर क्रमशः ऐसे चिन्तन का रूप धारण कर लेती है जिसमें विचारों की बहुलता रहती है

वर्णन-प्रधान कविता की विशेषता यह है कि उसका कवि विचारों और मनोभावों से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। उसके चिन्तन सांसारिक भाव और कार्य होते हैं। कवि अंतरात्मा में प्रवेश न कर बाह्यजगत में स्वयं आ मिलता है और वहीं से प्रेरित अपनी कविता के विषय चुनता है। उसका अनुभव परोक्ष होता है। कवि इस प्रकार की कविता में अंतर्हित रहता है, वह भावात्मक कविता की तरह प्रत्यक्ष नहीं होता।

विषय-प्रधान कविता भी मुख्यतः दो भागों में विभाजित की जा सकती है—खण्डकाव्य और महाकाव्य। खंडकाव्य में किसी प्रसिद्ध या अप्रसिद्ध कथानक खंड को मुख्य कथा बनाकर वर्णन किया जाता है। खंडकाव्य का आधार काल्पनिक भी हो सकता है किन्तु महाकाव्य में किसी महत् उद्देश्य का होना आवश्यक है। रामचरित मानस महाभारत आदि सर्वांगपूर्ण उच्चकोटि के महाकाव्य हैं।

भावाभिव्यंजक काव्य प्रायः गीतिकाव्य में ही होता है। छोटे-छोटे गेय पदों में मधुर भावनापन्न आत्मनिवेदन स्वाभाविक सी जान पड़ता है। ऐसे पदों में शब्द साधना के साथ ही स्वरसाधना भी हो जाती है। उनमें कर्कशता का अभाव और कोमल कान्त पदावली की मधुरता की प्रधानता रहती है। सूरसागर विद्यापति की पदावली आदि हिंदी के ऐसे ही गीतिकाव्य हैं। काव्य का एक प्रकार 'मुक्तक-काव्य' ही है। किसी एक भाव भावना या विचार कम से कम पंक्तियों में प्रकट कर देना ही मुक्तक काव्य है। रहीम बिहारी वृन्द आदि के दोहे, गिरधर की कुण्डलियाँ बैताल के छप्पय आदि इसके उदाहरण हैं। आजकल हिंदी में मुक्तक काव्य की परम्परा एक नये रूप में विकसित होती दिखाई दे रही है। इस वर्तमान कालीन विकास धार में गद्य-गद्य लघु काव्य का प्रभाव दिखाई देता है।

—x—

निर्गुण उपासना का उद्गम और विकास

निर्गुण की भावना :—

हिन्दी के काव्य साहित्य में 'निर्गुण' की भावना भले ही पन्द्रहवीं शताब्दी में दिखाई दी हो किन्तु हमारे देश के लिए यह कोई नई भावना नहीं है। इस देश के मानव ने सदैव से परलोक की साधना में अपने जीवन की सार्थकता स्वीकार की है। भारतीय जीवन में संचरित होनेवाली आध्यात्मिक प्रवृत्ति वैदिककाल से ही एक महाप्रपात से प्रवाहित होनेवाली सरिता की तरह प्रवाहित होती आ रही है। ऋग्वेद के 'नासदीय सूक्त' के अनुसार सृष्टि के जन्म के पूर्व ही सर्वत्र जल ही जल था। उसमें सत् और असत् की कोई स्थिति नहीं थी। इसी स्थिति में एक 'पुरुष' आकर सृष्टि की रचना करता है। 'पुरुष सूक्त' में उस पुरुष को सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक कहकर उसके गुणों का विस्तृत विवेचन किया गया है। इस सृष्टि-निर्माता आदि पुरुष को त्रिगुणमयी सृष्टि से परे त्रिगुणातीत और संसार से निर्लिप्त बतलाया गया है। यही ब्रह्म है, जिसके चिन्तन में वैदिक ऋषि अपना समस्त जीवन व्यतीत कर देते हैं। यही ब्रह्म-चिन्तन की धारा वेदों से उपनिषद्काल तक प्रवाहित होती आती है।

ऋग्वेद-प्रसूत ब्रह्मचिन्तन-धारा उपनिषद् काल में अधिक विकसित हो गई है। सम्भवतः श्वेताश्वतरोपनिषद् में ही सर्वप्रथम 'ब्रह्म' को 'निर्गुण' की संज्ञा दी है और उसे सर्वव्यापी एवं सर्वभूतात्मा में निवास करने वाला कहा है —

> एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
> कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासी साक्षी चेता केवली निर्गुणश्च ॥

श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।११

केनोपनिषद् में इस निर्गुण ब्रह्म को अलभ्य "पुरुष" कहकर उसे नेत्र, मन, वाणी की पहुँच के परे बतलाया है।[1] यह ब्रह्म न स्थूल है न सूक्ष्म न आकारवान्, न वायुवत् न आभायुक्त न अन्धकारपूर्ण[2] फिर भी वह विश्व की समस्त

---

१ केनोपनिषद् १।३
२ बृहदारण्यक उपनिषद् ३।८

वस्तुओं में व्याप्त है। संसार के समस्त जड़-चेतन को इसी के कारण स्थिति[1] है। वह जल में अग्निवत् एक होकर भी समस्त जीवों में भिन्न रूपों में व्याप्त है।[2]

जो 'निरंजन' नाथपंथियों की भावना का मूलाधार है, उसे भी श्वेताश्वतरोपनिषद् ने 'निर्गुण' की संज्ञा दी है :—

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम् ।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ॥

सांख्य के प्रवचन सूत्र में भी प्रकृति को त्रिगुणात्मक जड़ और दृश्यमान तथा ब्रह्म को निर्गुण निर्विकार द्रष्टा और उदासीन कहा है। श्रीमद्भगवद्गीता में यह 'निर्गुन ब्रह्म' की भावना उपनिषदों से भी अधिक विकसित रूप में मिलती है। उसमें कृष्ण अपने को अज, अविनाशी सर्वव्यापी निर्विकार और इन्द्रियातीत कहकर पूर्णतः निर्गुण और परम अक्षर कहते हैं। इस प्रकार जिस निर्गुण ब्रह्म की भावना का आरम्भ ऋग्वेद से हुआ वही क्रमशः विकसित होती हुई पन्द्रहवीं शताब्दी के हिन्दी के सन्त-साहित्य में अवतीर्ण होती दिखाई देती है।

नाथपंथ और निर्गुण भावना :—

पहिले कहा जा चुका है कि नाथपंथियों की साधना का मूलाधार 'निरंजन' है। यह निरंजन' सन्तकवियों के निर्गुण से भिन्न नहीं है। बौद्धधर्म के पतनकाल में वज्रयान शाखा' का जन्म हुआ। भगवान बुद्ध ने जिन पंचमकारों को त्याज्य बतलाया था, वे ही वज्रयानियों के सर्वाधिक प्रिय पदार्थ बन गये। उनके लिए नारी मुक्ति का साधन एवं मुक्ति का उपाय और मदिरा अमृत बन गई। इसी समय नाथपंथ के प्रमुख प्रवर्तक गोरखनाथ का आविर्भाव हुआ। उन्होंने पतंजलि की विचारधारा के आधार पर 'हठयोग' को अपनी साधना का प्रमुख अंग बनाया और वज्रयानियों के वामाचार का खंडन आरम्भ किया। उन्होंने हठयोग के साथ ही बौद्ध सिद्धों के कुछ चमत्कारों को भी स्वीकार कर लिया था। परिणामस्वरूप उनकी हठयोग साधना वज्रयानियों के प्रभाव के कारण पतन की ओर जानेवाली जनता के लिए बड़ी आकर्षक और उपयोगी सिद्ध हुई। उन्होंने उसे इतना आकर्षक बना दिया कि निर्गुणवादी सन्त कबीर तक उससे अप्रभावित न रह सके। उन्होंने "सम" की स्थिति प्राप्त करने के लिए गोरखनाथ की "षट्चक्रभेदन" क्रिया तथा 'सहस्रार' की आवश्यकता स्वीकार की, पर नाथपंथ का पलायनवाद अस्वीकार कर दिया। उन्होंने अपने निर्गुण पंथ' की मूल भावना गोरखनाथ से ही ग्रहण की पर

१ ईशोपनिषद् १।१
२. ब्रह्मबिन्दूपनिषद् १२ वाँ मंत्र।

उसका समाहरण कर एक नये रूप में जनता के सामने प्रस्तुत किया। धर्मध्वजों तथा पंडितों की स्वार्थपरता की प्रवृत्ति का खंडन सिद्धों और नाथपंथियों ने भी किया था। यही कबीर ने भी किया। उन्होंने श्रुति और स्मृति को अपने कानों के आभूषण, शून्य गुफा को अपना आसन, ब्रह्माण्ड और सहज को सिंगी और तृष्णा को अपना बटुआ बना लिया। दोनों काम उनके नाटक बन गये —

सुरति सिम्रिति दुइ कंनी मुंद्रा परमिति बाहरि खिंथा।
सुन गुफा महि आसणु बैसणु कलप बिबरजित पंथा॥
सहज ब्रह्मंड मति सिंगी मेरा बटुआ जगु भस्माधारी।
ताड़ी लागा त्रिपलु पलटी भै छूटे हाई पसारी॥

नाथपंथी साधना में शून्य का बड़ा महत्त्व है। उनके मतानुसार साधक शून्य को आत्मा में और आत्मा को शून्य में स्थित करके निश्चिन्त हो जाता है। (हठयोग प्रदीपिका) वेद और उपनिषद् के अनुसार यही ब्रह्म और आत्मा का समन्वय है। इसी समन्वय को नाथपंथ अखिल आनन्दकोश कहता है। यह शून्य वास्तव में निर्गुण निराकार और निर्विकार ब्रह्म का ही पर्यायवाची है। नाथपंथी इस शून्य की सत्ता वेदान्तियों की तरह सर्वत्र देखते हैं —

अन्तः शून्यो बहिः शून्या, शून्यो कुंभ इवाम्बरे।
अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णो, पूर्णः कुंभ इवार्णवे॥

वेदान्तियों के मतानुसार ब्रह्म में लीन हो जाना ही मोक्ष है। यही भावना उपर्युक्त पंक्तियों में भी व्यक्त हुई है। निर्गुणपंथी सन्त कबीर, दादू आदि भी यही कहते हैं। —

जहाँ नहीं तहाँ कुछ जानि,
जहाँ नाहीं तह लेहु पछानि।
नाही देखि न जइए भागि;
जहाँ नाहिं तहँ रहिए लागि॥
कबीर

नाही तहाँ तें सब किया, फिर नाही ह्वै जाइ।
दादू नाही होइ रहु साहिब सौं ल्यौ लाइ॥
दादू

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों और उपनिषदों का निर्गुण नाथपंथियों और निर्गुणवादी कवियों के काव्य में कहीं निरंजन और कहीं शून्य के रूप में

विद्यमान है। नाथपंथी और निर्गुणवादी सन्तों कबीर, दादू आदि ने इस 'निर्गुण' को अलख नाम से भी संबोधित किया है।

यहाँ यह बतला देना भी अप्रासंगिक न होगा कि नाथपंथ और निर्गुणपंथ दोनों में "गुरु" को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। नाथपंथ की षट्चक्र भेदन की क्रिया सहज साध्य नहीं है। अतः इस क्रिया का ज्ञान किसी सिद्ध पुरुष से प्राप्त करना आवश्यक है इसी लिए नाथपंथी गुरु की आवश्यकता अनिवार्य मानते हैं। निर्गुण पंथियों ने भी गुरु की महत्ता स्वीकार की है। इनका गुरु नाथपंथियों के गुरु से अधिक व्यापक और अधिक शक्तशाली है। नाथपंथियों ने गुरु को एक महान साधक के रूप में स्वीकार कर उसे ईश्वरत्व तक पहुँचा दिया है पर निर्गुण पंथी इससे भी एक कदम आगे हैं। उन्होंने गुरु को ईश्वर से भी बड़ा पद प्रदान किया है। वे ब्रह्म की प्राप्ति ही गुरुकृपा पर अवलंबित मानते हैं इसीलिए उनका गुरु गोविन्द से भी बड़ा है।

इस काल की देश-स्थिति :—

हिन्दी के साहित्य के मूल में केवल वह परंपरा ही नहीं है, जिसका सूत्रपात आदिकालीन सिद्ध-साहित्य नाथसाहित्य अथवा संधिकालीन कवि नामदेव और विद्यापति के द्वारा हुआ वरन् तत्कालीन राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियाँ भी हैं। अतः संत साहित्य की पृष्ठभूमि को पूर्णरूपेण समझ लेने के लिए इन दोनों प्रकार की परिस्थितियों पर विचार कर लेना भी आवश्यक होगा।

राजनीतिक परिस्थिति :—

हिन्दी साहित्य के आदिकाल में जिन वीर गाथाओं का निर्माण हुआ वे तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का परिणाम और उस स्थिति से प्रसूत आवश्यकता की पूर्ति थी। आदिकाल की समाप्ति के पश्चात् भी देश की राजनीतिक अस्थिरता का अंत नहीं हुआ था। मुस्लिम-शासन के इस आतंक में केवल राजनीति का ही नहीं धार्मिक कट्टरता का भी पर्याप्त योग था। इससे साहित्यिक दृष्टिकोण भी बदलता जा रहा था। अब चारणों की वीरगाथाएँ जनता की मनःस्थिति की पुष्टि के लिए असमर्थ सिद्ध हो रही थीं। परिणामस्वरूप ये रचनाएँ राजस्थान की सीमा में ही सीमित होकर रह गई। मध्यदेश में मुसलमानों की शक्ति अनेक हिन्दू राज्यों का अन्त कर रही थी। वहाँ न कोई ऐसा महान शक्तिशाली राजा ही था जो मुस्लिम आतंक से हिन्दू प्रजा की रक्षा करता और न जनता में इतना बल और साहस ही रह गया था कि वह इस परिस्थिति का सामना करती। समस्त उत्तर भारत और दक्षिण भारत के भी कुछ भाग पर अलाउद्दीन खिलजी का आधिपत्य हो गया था। देवगिरि के यादव राजा रामचन्द्र एवं वारंगल, महाराष्ट्र तथा कर्नाटक के

हिन्दू शासकों ने भी उसका लोहा मान लिया था। खिलजी शासन के इस विस्तार से हिन्दुओं का अस्तित्व ही संदिग्ध बना दिया था। विजयनगर सिन्ध आदि के कुछ हिन्दू राज्य अभी भी मुस्लिम-सत्ता से मुक्त अवश्य थे किन्तु वे भी मुस्लिम आक्रमण की आशंका से कम भयभीत न थे।

मुस्लिम-शासक केवल शासन विस्तार के लिए ही नहीं पर धर्म-विस्तार के लिए भी प्रयत्नशील थे। इससे हिन्दुओं की स्थिति बड़ी भयावह हो गई थी। वे न मुसलमानों से लोहा ले सकते थे और न अपने धर्म पर होनेवाले नित्य नए आक्रमणों की उपेक्षा ही कर सकते थे। उनकी इसी स्थिति ने उन्हें ईश्वरभक्ति की ओर प्रवृत्त किया। उनके पास अपनी और अपने धर्म की रक्षा के लिए ईश्वर प्रार्थना ही एकमात्र उपाय था। लौकिक असहायावस्था ने उन्हें ईश्वरोन्मुख बनाकर उनके मानस में पारलौकिक और आध्यात्मिक भावना को जन्म दिया। राजा और प्रजा दोनों की यही स्थिति थी। परिणाम-स्वरूप आदिकालीन वीर रसमयी प्रवृत्ति के स्थान पर भक्ति समन्वित शान्त रस की प्रवृत्ति ने प्रतिष्ठा पाना आरम्भ किया। चारणों के आश्रयदाता राजाधिपति निस्तेज और निर्बल हो गये थे। अब उन्हें अपने राजकवियों-द्वारा अपनी वीरगाथा सुनने अथवा शृङ्गार की अतिरंजित उक्तियों में मन बहलाने का अवकाश न था। इस स्थिति ने चारणों की प्रतिष्ठा का अन्त कर दिया। इसके साथ ही वह डिंगल भाषा का भी अब कोई महत्त्व नहीं रह गया जो चारणों की काव्य-रचना का माध्यम बन कर विकसित हो रही थी।

सामाजिक स्थितिः—

हिन्दू समाज और हिन्दूधर्म देश की राजनैतिक भयावह स्थिति से ही त्रस्त नहीं था तत्कालीन सामाजिक स्थिति भी उनके ह्रास का कारण बन रही थी। जिस वर्णव्यवस्था को कभी समाज के सुगठन और सुसंचालन के उद्देश्य से जन्म दिया गया था वही अब धीरे-धीरे समाज के विघटन में सहायक बन रही थी। जिस वर्ण का आधार गुण कर्म था वह अब अपना मूलाधार त्याग कर जन्मजात बन गई थी। शान्ति मर्यादा और व्यवस्था में सहायक वर्णव्यवस्था ने वैमनस्य और क्रूरता का जन्म धारण कर लिया। कर्मों से वर्ण का निश्चय होने के स्थान में वर्ण से कर्मों का निश्चय होने लगा। मनुष्य के कर्म उसके वर्ण की परिधि में आबद्ध हो गये और उसके विकास एवं प्रगति का द्वार बन्द हो गया। ऊँच-नीच की विनाशमयी भावनाओं ने सामाजिक संगठन को विशृङ्खल कर दिया। वर्णों के अनुसार सामाजिक अधिकारों का भी विभाजन हो गया। समाज की इस विशृङ्खल स्थिति में शूद्रों की अवस्था बड़ी दयनीय थी। वे धर्मशास्त्रों के पठनपाठन से ही नहीं पर, भगवद्भक्ति पूजा उपासना आदि के अधिकारों से भी वंचित हो गये। उनका मंदिर प्रवेश तो

गया पर अंतस्तल भी औचित्य के परे समझा जाने लगा। अनेक शताब्दियों तक इस स्थिति में रहने के कारण वे इस हेय जीवन के अभ्यस्त हो गये पर मुस्लिम संपर्क ने उनकी आत्मविस्मृति का स्वप्न भंग कर दिया। उन्होंने मुस्लिम समाज में वर्णव्यवस्था की विषमता का अभाव देखा और अनुभव किया कि मनुष्य-मनुष्य एक है उनमें किसी के ऊँच और किसी के नीच होने की कल्पना विवेकहीन है। एक समाज और एक धर्म के अनुयायी होने के नाते प्रत्येक को समानाधिकार प्राप्त है।

उनमें नवजागरण के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे। वे अपने सामाजिक अधिकारों के प्रति सजग हो गये। उनका आत्मसम्मान जाग उठा। वे वर्णव्यवस्था के नाम पर लादी गई सामाजिक विषमता के विरुद्ध विद्रोह करने को उद्यत दिखाई देने लगे पर उच्च वर्णों पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा। वे अभी भी पूर्ववत् अत्याचार करने में संलग्न थे। सामान्य व्यक्ति ही नहीं पर भगवद्भक्त भी वर्णव्यवस्था की विषमता के शिकार हो रहे थे। महाराष्ट्र के प्रमुख भक्त नामदेव तक शूद्र वर्ण में जन्म ग्रहण करने के कारण एक देवमन्दिर से निकाल दिये गये थे। उन्होंने अपने इस अपमान का उल्लेख निम्न पंक्तियों में किया है —

हँसत खेलत तेरे देहुरे आया।
भक्ति करत नामा पकरि उठाया॥
हीनड़ी जाति मेरी जादम राया।
छीपे के गर्भम काहे को आया॥

आदिग्रन्थ पृ. ११६

धार्मिक स्थिति :

धर्म का प्रवाह कर्म ज्ञान और भक्ति की त्रिवेणी के रूप में प्रवाहित होता है। इन तीनों के समन्वय का ही नाम धर्म है। इनमें से किसी भी एक की अनुपस्थिति धर्म को पंगु बना देती है। सन्तों ने इन्हीं तीनों को मुक्ति अथवा ईश्वर प्राप्ति का साधन कहा है। वास्तव में इन्हीं तीनों से धर्म की स्थिति है। बिना कर्म के वह गतिहीन बिना ज्ञान में नेत्रहीन और बिना भक्ति के हृदयहीन होकर निष्प्राण बन जाता है। ज्ञान सामान्य जनता की नहीं अपितु विशिष्ट वर्ग के विद्वानों की सम्पत्ति है। सामान्य जनता कर्म और भक्ति के माध्यम से ही अपनी धार्मिक भावना की वृद्धि और विकास कर सकती है। हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में जिन धर्म भावनाओं का उदय हुआ उनमें ज्ञान की प्रधानता और योग का चमत्कार ही प्रमुख रूप से निहित था। सामान्य जनता तत्कालीन सिद्धों और योगियों की वाणियाँ सुनती और उनके चमत्कार देखकर आश्चर्यान्वित हो जाती पर उसमें कोई ऐसी वस्तु न पाती, जिसे वह अपने जीवन में उतार कर अपनी धर्म-पिपासा की तृप्ति कर पाती।

धर्म की जिस भावात्मक अनुभूति का सूत्रपात महाभारतकाल में हुआ और जो पुराण काल में विकसित हुई उसका सिद्धों और योगियों की धर्म प्रणालियों में कोई स्थान न था। कहीं प्रवृत्ति कहीं निवृत्ति और कहीं प्रवृत्ति-निवृत्ति का समन्वय धर्म का स्वरूप धारण कर रहा था। संसार की निस्सारता, लौकिक जीवन की उपेक्षा आदि की भावना जगाती थी। ये सिद्ध और योगी जनता का ध्यान कर्मकाण्ड और लोक कल्याण के पथ में ले जाने के स्थान पर कर्म क्षेत्र से पृथक् करने के लिए ही प्रयत्नशील थे। उनका ब्रह्म घट के भीतर बैठा गुप्त रहस्य और सिद्धि की सृष्टि कर रहा था, पर वह तत्कालीन असहाय, निबल और निस्तेज जनता को बल प्रदान करने तथा आत्मरक्षा अथवा धर्मरक्षा में समर्थ बनाने में असमर्थ था। सिद्धों और योगियों की वाणी सामान्य जनता को भगवद् भक्ति की ओर प्रवृत्त न कर तंत्रों के जाल में ही उलझा रही थी।

निर्गुण पंथ का उदय :—

ऊपर जिस धार्मिक स्थिति का विवेचन किया गया है, उसमें नाथ पंथ के सिद्धों और योगियों का प्रभाव विशेष रूप से परिलक्षित है, किन्तु उनका प्रभाव सामान्य जनता तक ही सीमित था। उनका शास्त्रज्ञ विद्वानों पर कोई प्रभाव न था। वे अभी भी शास्त्रीय सिद्धान्त और वेदान्त की चर्चा में प्रवृत्त थे। इसी समय दक्षिण भारत से भक्ति का प्रवाह उत्तर भारत में आया। इस प्रवाह ने उत्तर भारत की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक स्थिति को अत्यधिक प्रभावित किया। एक ऐसे धर्म की खोज होने लगी जो तत्कालीन स्थिति में हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के लिए समान हितकारी प्रमाणित हो सके। दक्षिण भारत के जिन धर्माचार्यों द्वारा ग्यारहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक उत्तर भारत में विभिन्न धर्म-धाराओं की प्रतिष्ठा हुई, उनकी विचार-धारा से हिन्दू और मुसलमानों के उपयुक्त धर्म की प्रतिष्ठा करने में बड़ी सहायता मिली। श्री रामानुजाचार्य मध्वाचार्य विष्णु स्वामी और निम्बार्काचार्य, चार विभिन्न धर्म-धाराओं के प्रवर्तक थे। इनके द्वारा प्रवर्तित धाराएं क्रमशः श्री सम्प्रदाय ब्रह्म सम्प्रदाय रुद्र सम्प्रदाय और सनकादि सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन सम्प्रदायों का दार्शनिक दृष्टिकोण परस्पर कुछ भिन्न था किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक स्थिति में इनके द्वारा प्रचारित भक्तिमार्ग से उस युग की भारतीय जनता को बहुत बड़ा लाभ हुआ। इन धर्माचार्यों की विचारधाराओं से प्रभावित होकर सामान्य जनता सांसारिक सुख और वैभव से विरत हो पारलौकिक आनन्द की दिशा में प्रवृत्त हुई। हिन्दी के सन्त-साहित्य में हमें इसी आनन्द का मधुर स्रोत अविरल गति से प्रवाहित मिलता है। इस आनन्द में निर्गुण और

सगुण दोनों प्रकार की भक्ति का मार्ग निहित है। इनमें से निर्गुण भक्ति इस काल के 'संत साहित्य' का मूलाधार है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है 'निर्गुण' की भावना हमारे देश में वैदिक काल से चली आ रही थी। मुसलमानों का इस्लाम धर्म भी ब्रह्म की निर्गुण भावना पर ही आधारित है। अतः इस काल की स्थिति के अनुसार 'निर्गुण' भावना पर आधारित भक्ति ही हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों के लिए समान भाव से स्वीकार्य हो सकती थी। इस भक्ति-भावना को लेकर पंद्रहवीं शताब्दी में जिस धर्म-धारा का 'सामान्य धर्म' के रूप में उदय हुआ वही "निर्गुण पंथ' के नाम से प्रसिद्ध है। मुस्लिम शासकों की विजय ने इस देश में जिन दो संस्कृतियों के संघर्ष को जन्म दिया उस संघर्ष से उत्पन्न स्थिति निर्गुण पंथ के उद्गम और विकास में सहायक हुई। शूद्र वर्ग दुहरे अत्याचार का शिकार था। हिन्दू होने के कारण मुस्लिम वर्ग उस पर अत्याचार करते थे और अवर्ण अथवा निम्नवर्ग होने के कारण उच्चवर्णीय हिन्दू भी उस पर कम अत्याचार न करते थे। मुस्लिम सेना द्वारा लड़े जाने वाले युद्ध का उद्देश्य केवल मुस्लिम राज्य-विस्तार ही नहीं, पर मुस्लिम धर्म-विस्तार भी था। इस प्रकार तत्कालीन हिन्दू मुस्लिम युद्ध दो जातियों के बीच लड़े जाने वाले युद्ध नहीं पर दो धर्मों के बीच लड़े जाने वाले युद्ध ही थे। हिन्दू मूर्तिपूजक थे पर मुसलमान मूर्ति-भंजक थे। हिन्दू अनेक देवताओं की उपासना में विश्वास करते थे और मुसलमान एकेश्वरवादी थे। उनके धर्म विश्वास के अनुसार मूर्तिपूजक बहुदेववादी हिन्दू अपराधी और दंडनीय माने जाते थे।

इस स्थिति में भी दोनों सम्प्रदायों में कुछ ऐसे व्यक्ति अवश्य थे जो इस धर्ममूलक भावना को हितावह न समझते थे। वे इस संघर्ष का अन्त कर देश में क्रूर अत्याचारों और हिंसात्मक प्रवृत्ति के स्थान पर ऐक्य सद्भावना और शान्ति स्थापित करने को व्यग्र थे। इस सद्भावना को लेकर अवतीर्ण होनेवाले महापुरुषों में गोरखनाथ प्रथम व्यक्ति थे, उन्होंने काजी को संबोधित करते हुए कहा था —

'मुहम्मद मुहम्मद न कर काजी, मुहम्मद का विषम विचार।
मुहम्मद हाथि करद जे होती, लोहे गढ़ी न सार ॥

मुस्लिम सन्तों में सूफी फकीरों ने सब प्रथम इस धार्मिक विषमताजन्य शत्रुता के स्थान पर हिन्दू-मुस्लिम-सौहार्द स्थापित करने की दिशा में प्रयत्न प्रारम्भ किया। निर्गुण पन्थ के विकास में भी सूफी प्रयत्न से कम सहायता न मिली। हमें कबीर के काव्य में इसी हिन्दू-मुस्लिम सन्तों की विचारधारा का विकास मिलता है। इस परिस्थितिजन्य विचारधारा ने ही निर्गुण पंथ की नींव को जन्म दिया और कबीर, उनके समकालीन अन्य निर्गुणवादी भक्तों तथा सूफी धर्मानुयायी सन्तों ने इस बेलि को पल्लवित और पुष्पित किया।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 'निर्गुण पंथ' वास्तव में कोई सम्प्रदाय नहीं है। इसका जन्म ही वास्तव में हिन्दू और मुसलमानों में धर्म के नाम पर प्रचलित "साम्प्रदायिकता" का अन्त करने के लिए हुआ था। यह एक ऐसा पंथ है जिसमें साम्प्रदायिक भावनाओं का अभाव है और जो मानव को साम्प्रदायिकता के संकीर्ण धरातल से ऊपर उठकर मानवमात्र की प्रगति में सहायक होने का संदेश देता है। इसमें उन तत्वों का समन्वय है जिनसे किसी भी धर्मावलंबी को विरोध नहीं हो सकता और जो धर्म, जाति, वर्ग, वर्ण आदि विषम-विरोधिनी विचारधारा से परे मानव-समाज को एक "सामान्य धर्म" के द्वारा कल्याण की ओर अग्रसर होने में सक्षम बनाता है। हम आज इस धर्म के अनुयायियों में किसी सीमा तक जो साम्प्रदायिकता का आभास पाते हैं, उससे हमें इस पंथ के मूल स्वरूप के प्रति कोई भ्रान्ति न होनी चाहिए।

निर्गुण उपासना का हिन्दी काव्य-साहित्य में विकास

हिन्दी के जिस काव्य-साहित्य में हमें निर्गुण उपासना का विकास मिलता है, वह 'निर्गुण काव्य-धारा' के नाम से प्रसिद्ध है। हिन्दी का समस्त सन्त साहित्य इसी काव्य धारा के अन्तर्गत है। निर्गुण पंथी कवियों की काव्य-साधना में हमें भक्ति और ज्ञान का समन्वय मिलता है। सन्त कबीर इस काव्य धारा के प्रवर्तक हैं। इनके अतिरिक्त रैदास, धर्मदास, गुरु नानक, दादूदयाल, सुन्दरदास, मलूकदास, प्राणनाथ, दीनदरवेश, धरनीदास, दरिया साहब, चरनदास, गरीबदास, तुलसी साहब, अक्षर अनन्य, शिवा जी आदि इस धारा के उल्लेखनीय कवि हैं।

सन्त कबीर ने अपने पूर्ववर्ती नाथपंथी सिद्ध कवियों की इस कल्पना को साकार रूप प्रदान किया। इन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों के धार्मिक सिद्धान्तों का समन्वय कर एक नये पंथ की प्रतिष्ठा की। इन्होंने अपने इस पंथ में एक ऐसे ईश्वर को स्थान दिया, जो निर्गुण और सगुण की सीमित भावना से परे था। उसकी सत्ता कण-कण में व्याप्त थी। कबीर का यही मत 'सन्त मत' के नाम से जाना जाता है। इस पंथ में हिन्दू और इस्लाम धर्म के मूल सिद्धान्त परिष्कृत होकर आये थे। इसमें दोनों सम्प्रदायों में धर्म के नाम पर प्रचलित बाह्याडम्बरों और अन्धविश्वासों का अभाव था। भक्ति और भावना ही सन्तमत की चरम अभिव्यक्ति है। इस मत के सन्त कवियों द्वारा रचित काव्य-साहित्य उच्च-कोटि का नहीं है, पर इसमें संदेह नहीं कि उसमें जिन प्रेरणाओं का स्रोत प्रवाहित होता है, वे निश्चय ही स्वच्छंद और नैसर्गिक हैं। इस काव्य में कवि-कल्पना और अलंकार-योजना की अपेक्षा सरलता, स्वाभाविकता और अकृत्रिम मनोभावना को ही विशेष स्थान मिला है। यही साहित्य 'निर्गुण भक्ति साहित्य' अथवा "ज्ञानाश्रयी साहित्य" कहा गया है। इसमें ईश्वर भक्ति, गुरु-भक्ति, प्रेम, भ्रम, विरह आदि अनेक भावनाओं का समावेश है।

संत साहित्य की दृष्टि से सिक्खों का पूज्य ग्रन्थ 'गुरु ग्रन्थ साहब' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस ग्रंथ में गुरु नानक के पदों के अतिरिक्त नामदेव त्रिलोचन, परमानंद सदन वेनी रामानंद, धना, पीपा, सेन कबीर रैदास सूरदास भीखन फरीद तथा मीरा के पदों का भी संकलन है। ये सभी निर्गुणी के संत कवि हैं।

सन्त कवियों का साहित्य दार्शनिक मीमांसा से पूर्ण है। उन्होंने जो आध्यात्मिक विचार व्यक्त किये हैं वे सभी भारतीय वेदान्त और उपनिषदों की विचारधारा पर आधारित हैं। इन विचारों को व्यक्त करने का उनका अपना ढंग है। उदाहरणार्थ उनके ब्रह्म से सम्बन्धित कुछ विचार देखिये।

एकेश्वर

हिन्दुओं का वेदान्त एकेश्वर' का समर्थक है, फिर भी तत्कालीन हिन्दुओं पर 'बहुदेववादिता का व्यापक प्रभाव देखा जाता था जब कि मुसलमान "एकेश्वर वाद' के प्रबल समर्थक थे। यही परस्पर-विरोधी भावना दोनों के धार्मिक मतभेद की जड़ थी। अतः संत कवियों ने सबसे पहले इसी मतभेद का अन्त करने के लिये हिंदू-मुसलमानों से बार-बार कहा—

एक एक जिनि जाणिया, तिनही सच पाया।
प्रेम प्रीति ल्यौलीन मन, ते बहुरि न आया॥

—कबीर ग्रन्थावली पृ० ,२६

और देवी देवता उपासना अनेक करै,
कंचन की होस कैसे, आकडोरे जात है।
सुन्दर कहत एक रवि प्रकास बिन,
जँगना की जोति कहा, रजनी बिलात है॥

—सुन्दर दास सन्तबानी पृ० १२१

एक जनम के कारणे, कत पूजो देव सहेसा रे।
काहे न पूजो रामजी, जाके भक्त महेसा रे॥

— कबीर

यह सिर नमे त रामकू, नाहीं गिरियो टूट।
आन देव नहि परसिये, यह तन जायो छूट॥

— चरनदास

ब्रह्म की सर्वव्यापकता

एकेश्वरवाद का समर्थन करते हुए संत-कवियों ने ब्रह्म की सर्वव्यापकता का संदेश

किया है और जैसा कि "बृहदारण्यकोपनिषद्' में कहा है इन संत-कवियों ने भी ब्रह्म को पूर्ण विश्व में व्यापक होने पर भी विश्व से परे बतलाया है। १–

पीव सूप में रमि रहा, व्यापक सबही ठौर।

— संतबानी भाग १ पृ ३२

जैसे सीस जैस बसि बसि माही।
सबी सत्र कश्र सू मरप बांधा।
गुरु परसादि राखिले मन कउ
हरि रस नानक झोलि पाया॥

—नानक ग्रन्थ साहब पृ ६ ६"

जँह देखौं तँह एक ही साहब का दीदार।

— संतब नी पृ० ३१

ब्रह्म-जीव की एकता

इन संतों ने ब्रह्म और जीव को एक दूसरे में समाहित स्वीकार किया है। इसी प्रकार वे ब्रह्म को विश्व में और विश्व को ब्रह्म में समाहित देखते हैं —

सुनु सखि पिव महि जिव बसै।
जिव मांह बसै कि पीव।

— कबीर ग्रंथावली प० २६१

खालिक खलक खलक में खालिक सब घट रह्या समाई।

—कबीर ग्रंथावली पृ १०४

१–

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

—२, ५. ११।

उन्होंने हिन्दू-मुसलमानों की मंदिर-मस्जिद में ही अपने ईश्वर और अल्लाह के होने की संकीर्ण भावना की आलोचना करते हुए ब्रह्म को इन दोनों से परे बतलाया है –

तुरक मसीत देहुरै हिन्दू, दुहुंठा राम खुदाई।
जहाँ मसीति देहुरा नाहीं, तह काकी ठकुराई॥

—कबीर ग्रन्थावली पृ० ०६

पूर्ण ब्रह्म

निर्गुण पंथी संतों ने ब्रह्म को पूर्ण मानकर उसमें अविरेचत्व और व्यापकत्व को

कल्पना की है। बुद्धि मूर्त पदार्थ पर ही विचार कर सकती है किंतु ब्रह्म अमूर्त और अगोचर है जिससे वह बुद्धिगम्य है। ब्रह्म का न रूप है, न रंग, वह न बालक है और न वृद्ध, वह हलका है, न भारी इसलिए वह मोल-तोल से परे है। वह माप-प्रमाण से परे वर्णनातीत है —

सोचे सोच न होवई, जो सोचे लखवार।
— नानक

अवरण एक अविनासी घट घट आप रहे।
— कबीर

रूप बरण वाके कछु नाहीं, सहजो रंग न देह।
— सहजो बाई

तोल न मोल माप कछु नाहीं गिने ज्ञान नहिं होई।
ना सो भारी, ना सो हलुआ, ताकी पारिख लखै न कोई॥
— कबीर

संतों का पूर्ण और सर्वव्यापक ब्रह्म सत्, रज तम गुणों से भी परे है। जो इन तीनों गुणों से परे है, वही ब्रह्म को प्राप्त हो सकता है —

राजस तामस सातिग तीन्यूं ये सब तेरी माया।
चौथे पद को जो जन चीन्हें, तिनहिं परम पद पाया॥
—कबीर

निर्गुण काव्य-साहित्य की विशेषताएँ

सभी सन्त कवियों की रचनाएँ धार्मिक भावनाओं से पूर्ण हैं। विषय की दृष्टि से हम इन्हें आध्यात्मिक अथवा भक्ति-प्रधान और उपदेश प्रधान रचनाओं में विभाजित कर सकते हैं।

अधिकांश संत कवियों के काव्य की भाषा ग्रामीण और अपरिष्कृत है। इसका प्रधान कारण यह है कि इन संतकवियों का उद्देश्य काव्य रचना नहीं वरन् अपने मत का प्रचार करना था, जिससे इन्होंने सरल-सरल सुगम लोक भाषा में ही काव्य-रचना की है। दूसरे, अधिकांश कवि अल्प शिक्षित थे। सुन्दरदास के समान बहुत कम ऐसे कवि थे जो भाषा के परिष्कृत रूप से परिचित थे।

अधिकांश संत कवियों की रचना का माध्यम 'साखी और शब्द ही है। इन्होंने साखियों के रूप में दोहों और शब्दों के रूप में पदों में रचना की है। इनके

अतिरिक्त इनमें कुछ कवियों की रचनाएँ पटपद, मनहरण कवित्त प्रभृति चौपाई आदि के रूप में भी मिलती हैं।

रसों की दृष्टि से शांतरस ही इन कवियों की रचनाओं का प्रधान रस है। कुछ रचनाओं में हमें शृंगाररस भी मिलता है, किन्तु इनके इस शृङ्गार का रूप आध्यात्मिक ही है। जहाँ जीव माया, जगत आदि के निरूपण में अद्भुत रस और सांसारिक विषय वासना मोह, मद मत्सर आदि के प्रति घृणा के भाव जागृत करने वाली रचनाओं में कहीं-कहीं वीभत्स रस भी मिल जाता है।

यहाँ हम यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि यद्यपि निर्गुण विचारधारा मूलतः भारतीय दर्शन पर आधारित है तथापि वह इस्लाम धर्म से भी कम प्रभावित नहीं है। वास्तव में संत मत हिन्दूधर्म और इस्लामधर्म की विचारधाराओं का एक मिश्रण है। ऊपर जिन संत कवियों पर प्रकाश डाला गया है उनमें कुछ नये पंथों के प्रवर्तक भी हैं किन्तु किसी के भी पथ में प्रवर्तक की कोई नई बात या नया विचार व्यक्त नहीं हुआ। उनमें जो अन्तर है वह केवल नामिक है। इन सब कवियों की भाषा का रूप परिष्कृत न होने से हिन्दी के विकास में भी कबीर, दादूदयाल, सुन्दरदास के अतिरिक्त अन्यों की रचनाओं से कोई सहायता नहीं मिली। पर इन सब कवियों की वाणियों ने इस्लाम धर्म के आतंक से भयभीत तत्कालीन भारतीय जनता का मार्ग-दर्शन अवश्य किया और समाज को धर्म के नाम पर प्रचलित आडंबरों, अंध-विश्वासों तथा वर्ण-गत वैषम्य से मुक्त होने में बहुत बड़ी सहायता की।

६

कबीर काव्य का साधना पक्ष

कबीर अपने काल के एक कटु आलोचक सन्त कवि थे। हिन्दी के निर्गुण उपासी कवियों में उनका स्थान सर्वश्रेष्ठ है। अन्य सन्त कवियों की तरह वे प्रथम भगवद्भक्त और उसके पश्चात् कवि या उपदेशक थे। हिन्दी साहित्य के इतिहास में वे 'रहस्यवाद' के जन्मदाता समझे जाते हैं। उनका यह रहस्यवाद साधना प्रधान और जीवनानुभूति से युक्त था। उसमें शब्दों का खिलवाड़ अथवा कल्पना का उभार न था। उन्होंने प्राचीन परम्परा का विरोध किया धर्म के नाम पर हिन्दू-मुस्लिमों में प्रचलित आडंबरों और बेबुनियाद-विचारों का खंडन किया तथा राम-रहीम की एकता का उपदेश दे हिन्दू मुस्लिम-ऐक्य का प्रयत्न किया। इस प्रकार वे एक धर्मोपदेशक के साथ ही समाज-सुधारक के रूप में भी अपने युग में उपस्थित हुए किन्तु इन सबके बीच उनकी धार्मिक भावना ही प्रधान थी। उनकी यह भावना चार साधनों में विभक्त है — मन का नियंत्रण २ गुरुभक्ति ३ नामस्मरण और ४ हठयोग।

उनका विश्वास था कि जिस प्रकार आत्मा एक शरीर को त्याग दूसरा शरीर धारण करती और इस प्रकार सूक्ष्मता से स्थूलता की ओर जाती है, उसी प्रकार साधक को भी भौतिकता से अध्यात्म की ओर जाना पड़ता है। यह काम अपने मन के नियंत्रण द्वारा ही किया जा सकता है। मन चंचल है और वह अपनी स्वाभाविक चंचलता के कारण इंद्रियों को चाहे जिस उचित-अनुचित काम की ओर प्रवृत्त करता रहता है, जिससे साधक अपने लक्ष्य की ओर नहीं पहुँच पाता। अतः लक्ष्य प्राप्ति की ओर पहुँचने के लिए सर्वप्रथम मन को नियंत्रित करना अत्यावश्यक है।

'कबीर मन मृतक भया, दुर्बल भया सरीर।
पाछे लागे हरि फिरै, कहै कबीर कबीर॥

जो लोग प्रभु-प्राप्ति के लिए सिर मुंडाकर संन्यासी बनना चाहते हैं, उनकी आलोचना करते हुए वे कहते हैं —

'केसन कहा बिगारिया, जो मूंडो सौ बार।
मन को क्यों ना मूंडिये, जामें भरे विकार॥'

सब बुराइयों की जड़ मन है। अतः प्रभु-प्राप्ति के लिए केश-मुंडन नहीं पर मन का दृढ़ नियंत्रण ही आवश्यक है। उनके मतानुसार काम क्रोध, मद लोभादि मन के ही विकार हैं। अतः उसका नियंत्रण कर उसे इन विकारों से मुक्त करना और क्षमा दया, शील संतोष आदि सद्गुणों से पूर्ण करना आवश्यक है। उनका यह भी मत है

अतिरिक्त इनमें कुछ कवियों की रचनाएँ षट्पद, मनहरण कवित्त पद्धति चौपाई आदि के रूप में भी मिलती हैं।

रसों की दृष्टि से शान्तरस ही इन कवियों की रचनाओं का प्रधान रस है। कुछ रचनाओं में हमें शृंगाररस भी मिलता है, किन्तु इनके इस शृङ्गार का रूप आध्यात्मिक ही है। बाह्य जीव माया, जगत आदि के विषय में अद्भुत रस और सांसारिक विषय वासना मोह मद मत्सर आदि के प्रति घृणा के भाव जागृत करने वाली रचनाओं में कहीं-कहीं बीभत्स रस भी मिल जाता है।

यहाँ हम यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं कि यद्यपि निर्गुण विचारधारा मूलतः भारतीय चिंतन पर आधारित है, तथापि यह इस्लाम धर्म से भी कम प्रभावित नहीं है। वास्तव में संत मत हिन्दूधर्म और इस्लामधर्म की विचारधाराओं का एक मिश्रण है। ऊपर जिन संत कवियों पर प्रकाश डाला गया है उनमें कुछ नये पंथों के प्रवर्तक भी हैं किन्तु किसी के भी पंथ में प्रवर्तक की कोई नई बात या नया विचार व्यक्त नहीं हुआ। उनमें जो अन्तर है वह केवल नामिक है। इन संत कवियों की भाषा का रूप परिष्कृत न होने से हिन्दी के विकास में भी कबीर, दादूदयाल सुन्दरदास के अतिरिक्त अन्यों की रचनाओं से कोई सहायता नहीं मिली। पर इन संत कवियों की वाणियों ने इस्लाम धर्म के आतंक से त्रसित तत्कालीन भारतीय जनता का मार्ग-दर्शन अवश्य किया और समाज को धर्म के नाम पर प्रचलित आडंबरों, अंध-विश्वासों तथा वर्ण-गत वैषम्य से मुक्त होने में बहुत बड़ी सहायता की।

६

कबीर काव्य का साधना पक्ष

कबीर अपने काल के एक कटु आलोचक सन्त कवि थे। हिन्दी के निर्गुणवादी कवियों में उनका स्थान सर्वश्रेष्ठ है। अन्य सन्त कवियों की तरह वे प्रथम भगवद्भक्त और उसके पश्चात् कवि या उपदेशक थे। हिन्दी साहित्य के इतिहास में वे 'रहस्यवाद' के अग्रदूत समझे जाते हैं। उनका यह रहस्यवाद साधना प्रधान और आत्मानुभूति से पूर्ण था। उसमें शब्दों का आडम्बर अथवा कल्पना का प्रभाव न था। उन्होंने प्राचीन परम्परा का विरोध किया धर्म के नाम पर हिन्दू-मुस्लिमों में प्रचलित आडम्बरों और अनुचित आचार-विचारों का खंडन किया तथा राम-रहीम की एकता का उपदेश दे हिन्दू मुस्लिम-ऐक्य का प्रयत्न किया। इस प्रकार वे एक धर्मोपदेशक के साथ ही समाज-सुधारक के रूप में भी अपने युग में उपस्थित हुए, किन्तु इन सबके बीच उनकी धार्मिक साधना ही प्रधान थी। उनकी यह साधना चार साधनों में विभक्त है — मन का नियंत्रण २ गुरुभक्ति ३ नामस्मरण और ४ हठयोग।

उनका विश्वास था कि जिस प्रकार आत्मा एक शरीर को त्याग दूसरा शरीर धारण करती और इस प्रकार सूक्ष्मता से स्थूलता की ओर जाती है, उसी प्रकार साधक को भी भौतिकता से अध्यात्म की ओर जाना पड़ता है। यह कार्य अपने मन के नियंत्रण-द्वारा ही किया जा सकता है। मन चंचल है और वह अपनी स्वाभाविक चंचलता के कारण इंद्रियों को चाहे जिस उचित-अनुचित काम की ओर प्रवृत्त करता रहता है, जिससे साधक अपने लक्ष्य की ओर नहीं पहुँच पाता। अतः लक्ष्य प्राप्ति की ओर पहुँचने के लिए सर्वप्रथम मन को नियंत्रित करना अत्यावश्यक है।

'कबीर मन मृतक भया, दुर्बल भया सरीर।
पाछे लागा हरि फिरै, कहत कबीर कबीर॥

जो लोग प्रभु-प्राप्ति के लिए सिर मुड़ाकर संन्यासी बनना चाहते हैं, उनकी आलोचना करते हुए वे कहते हैं —

'केसन कहा बिगारिया, जो मूड़ो सौ बार।
मन को क्यों ना मूड़िए, जामें भरे बिकार॥'

सब गुणावगुणों की जड़ मन है। अतः प्रभु-प्राप्ति के लिए केश-मुंडन नहीं पर मन का दृढ़ नियंत्रण ही आवश्यक है। उनके मतानुसार काम क्रोध, मद लोभादि मन के ही विकार हैं। अतः उसका नियंत्रण कर उसे इन विकारों से मुक्त करना और क्षमा, दया, शील संतोष आदि सद्गुणों से पूर्ण करना आवश्यक है। उनका यह भी मत है

कि साधना के लिए घर-द्वार त्यागने धूनी रमाने संन्यासी बनने आदि की कोई आवश्यकता नहीं है। इस कार्य के लिए वे शरीर को कष्ट देने की भी आवश्यकता नहीं समझते। वे 'मध्यम मार्ग' को ही श्रेयस्कर मानते हैं।

'कबिरा क्षुधा है कूकरी करत भजन में भंग।
याको टुकड़ा डारि के सुमिरन करो निसंक॥'

भूखा मनुष्य भजन नहीं कर सकता। वह खाये भी और भजन भी करे। उनका मत है कि मनुष्य गृहस्थ होकर भी वैरागी हो सकता है और वैरागी गृहस्थ भी हो सकता है —

'इक बैरागी गेह में, इक घर ही में बैराग'

कबीर भगवद्भक्ति के लिए सत्संग और गुरुभक्ति आवश्यक मानते हैं। बिना सत्संग के अन्तःकरण की वृत्तियाँ साधना की ओर प्रवृत्त नहीं होतीं और बिना गुरुकृपा के भगवद्भक्ति प्राप्त नहीं होती।

'कबीर दरसन साध का, साईं आवै याद।
लेखे में सोई घड़ी, बाकी के दिन बाद॥'

उन्होंने गुरु को भेदी कहा है। इस भेदी के द्वारा ही ब्रह्म का भेद जाना जा सकता है —

'बस्तु कहीं ढूँढ़े कहीं, केहि बिधि आवै हाथ।
कह कबीर तब पाइये, भेदी लीजे साथ॥

कबीर की दृष्टि में गुरु का अत्यधिक महत्त्व है। वे गुरु और गोविंद को समान आसन पर स्थापित करते हैं। इतना ही नहीं पर उन्होंने कहीं-कहीं पर गुरु को गोविन्द से भी उच्च स्थान दिया है —

'गुरु गोविन्द दोउ खड़े, काके लागूँ पाय।
धन्य गुरु जो आपने, गोविंद दियो बताय॥'

ब्रह्म का ज्ञान कराने का श्रेय गुरु को है, अतः वह गोविन्द से भी अधिक माननीय है।

कबीर ते नर अंध हैं, गुरु को कहते और।
हरि रूठे गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहिं ठौर॥

कितनी अधिक श्रद्धा है कबीर की गुरु के प्रति। हरि के रूठने पर गुरु की शरण प्राप्त हो सकती है पर गुरु के रूठने पर फिर कहीं स्थान मिलना संभव नहीं है। गुरु के प्रति पूज्य भावना हमारी प्राचीन परंपरा है। सभी संत कवियों ने गुरुमहत्ता का गान किया और उनकी वन्दना की है।

मन का निग्रह कर उसे सद् प्रवृत्तियों की ओर प्रवृत्त करना और गुरु सत्संग द्वारा साधना के सत्यमार्ग का ज्ञान प्राप्त करना साधक की प्रारंभिक तैयारी है। यह तैयारी

होने पर साधना प्रारंभ होती है। कबीर के मतानुसार 'नामस्मरण' साधना का प्रधान साधन है। तुलसीदास जी ने भी 'राम ते अधिक राम कर नामा' लिखकर नामस्मरण को महत्व प्रदान किया है, किन्तु कबीर का यह राम तुलसी के मर्यादापुरुषोत्तम राम नहीं है 'उनका राम' से तात्पर्य उस राम से है, जो निर्गुण रूप में विश्व के कण कण में व्याप्त है, जो रोम-रोम में रम रहा है —

राम नाम की लूट है, लूटि सके सो लूट।
अन्त समै पछताओगे, प्राण जायेंगे छूट ॥

नामस्मरण अन्तःकरण से होना चाहिए केवल जिह्वा से नहीं

माला फेरत जुग गया, गया न मन का फेर।
करका मनका डार दे, मनका मनका फेर ॥

× × ×

'सुमिरन की सुधि यों करो जैसे कामी काम।
एक पलक बिसरे नहीं, प्रान तजे तिहि ठाम ॥

कबीर के 'नामस्मरण' में निष्काम भावना है। वे किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए नामस्मरण उचित नहीं मानते। 'सुमिरन अजपा जाप को' श्रेष्ठ मानते हैं। बारंबार के नामस्मरण से मन को नामस्मरण की प्राप्ति हो जाती है। फिर जिह्वा हिलाने की आवश्यकता नहीं होती। यही 'अजपा जाप' है। फिर प्रत्येक श्वास के साथ नामोच्चारण अपने आप होने लगता है।

'माला स्वास उसास की, जामें गाँठ न फेर।

इस स्थिति में 'अनहद नाद सुनाई देने लगता है। 'अनहद नाद' वह ध्वनि है, जो बिना किसी चोट के ध्वनित हो। इसके पश्चात् साधक की सुरत (स्मृति) ब्रह्म से लग जाती है और धीरे-धीरे वह ब्रह्म से एकाकार हो अमर पद प्राप्त कर लेता है।

'जाप मरै अजपा मरै, अनहद भी मर जाय।
सुरत समानी शब्द में, ताहि काल नहिं खाय ॥'

यह साधक की अन्तिम अवस्था है। इस अवस्था में सिवाय प्रभुस्मृति के कुछ भी नहीं रह जाता।

कबीर की 'सुरत-साधना' में हठयोग का प्रधान स्थान है। उन्होंने हठयोग का स्पष्टीकरण 'चन्द सूर एकै घर आयो' पंक्ति में कर दिया है। कबीर का हठयोग से तात्पर्य हठपूर्वक भगवान के ध्यान में निमग्न होना है। यह निमग्नता चन्द्र और सूर्य को एक स्थान में स्थिर करने से अर्थात् पिंड और ब्रह्माण्ड की एकता से आती है। योगियों की धारणा के अनुसार शरीर में स्थित ग्रंथियों के एक समूह को 'कमलचक्र' कहते हैं जिसमें दिव्य-शक्ति निहित होने पर वे विश्राम करते हैं। योगी योग-द्वारा इसी शक्ति का उद्दीपन करके ब्रह्म में तल्लीनता प्राप्त करते हैं।

कबीर ने अपनी साधना-प्रणाली के बीच इंगला पिंगला सुखमन शब्द का प्रयोग किया है, जिसका शुद्धरूप इड़ा पिंगला और सुषुम्ना है। सुषुम्ना मध्यनाड़ी है, जिसके बाईं ओर इड़ा और दाहिनी ओर पिंगला नाड़ी है। ये दोनों ब्रह्मरंध्र में मिल जाती हैं। वहाँ योगी 'प्रणव पुरुष' का निवास मानते हैं। इड़ा को सूर्य और सुषुम्ना को अग्नि नाड़ी भी कहते हैं। इड़ा को गंगा, पिंगला को यमुना और सुषुम्ना को सरस्वती भी कहा जाता है। इस प्रकार कबीर ने शरीर में ही प्रयाग और काशी होने की कल्पना की है। वह अपनी साधना द्वारा इन्हीं तीर्थों का सन्देश देते हैं। बाहरी प्रयाग और काशी की यात्रा पर वे विश्वास नहीं करते। कबीर के 'हठयोग' में ही वास्तव में उनका रहस्यवाद है। उन्होंने मस्तिष्क को 'सहस्रदल' कहा है और उसमें परम पुरुष का वास माना है। दोनों भृकुटियों के मध्य 'आज्ञाचक्र' है, जहाँ 'परमहंस' निवास करता है। इसे ही कबीर ने 'भँवरगुफा' कहा है। कंठ कबीर का विशुद्ध चक्र है, जहाँ जीव का निवास है। हृदय उनका 'अनहद चक्र' है जहाँ शिव पार्वती का निवास है और कोई शब्द की ध्वनि होती है। नाभि 'मणिपूर चक्र' कहलाता है, जिसमें (आठदल) अष्टकमल है और उसमें विष्णु निवास करता है। वे जननेन्द्रिय को 'स्वाधिष्ठानचक्र' कहते हैं जिसमें छः दल हैं। ब्रह्मा और सरस्वती इस चक्र के देवता हैं। जननेन्द्रिय और गुदा स्थान के बीच 'मूलाधार चक्र' है, जिसमें चार दल हैं। इसी चक्र में सूर्य की स्थिति है। इसी चक्र के समीप साढ़े तीन चक्कर लगाई सर्प-कुंडली होती है। योगी प्राणायाम-द्वारा इसी कुंडली को जागृत करते हैं। इस कुंडली की जागृति से धीरे-धीरे वह ऊपर की ओर बढ़ती जाती है, अन्य चक्रों की शक्तियाँ भी जागृत होने लगती हैं और सहस्रदल में स्थित चक्र से अमृत झरने लगता है। यही स्थिति साधक को जीवन्मुक्त बनाती है। कबीर की इस भावना का आभास हमको निम्न पंक्तियों से मिलता है—

'मन रे जागत रहिए भाई।
गाफिल होइ बसत मति खोवै, चोर मुसै घर जाई॥
षटचक्र की कनक कोठड़ी, बस्त भाव है सोई।
ताला कूँची कुलफ के लागे, उघड़त बार न होई॥
पंच पहरवा सोइ गये हैं, बसतैं जागण लागी।
जरा मरण व्यापै कछु नाहीं, गगन मंडल लै लागी॥'

कबीर का रहस्यवाद

यहाँ 'रहस्यवाद' से तात्पर्य दार्शनिक रहस्यवाद से है जिसका आधार उपनिषदों का 'ब्रह्मवाद' अथवा 'सर्वात्मवाद' है। यही सर्वात्मवाद सन्तमत अथवा निर्गुणमत की मूल आधार-शिला है। कबीर ने उपनिषदों के 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की ही भावना 'खालिक खलक खलक में खालिक सब घट रह्यौ समाई' पंक्ति में व्यक्त की है। सांख्य

प्रसंग में सृष्टि का विकास बतलाते हुए ब्रह्म को 'पुरुष' और प्रकृति को 'स्त्री' की संज्ञा दी है। सांख्य का यह रूपक कबीर ने भी स्वीकार किया है। आत्मा में विश्वात्मा की अनुभूति ही रहस्यवाद है। यह आत्मा और विश्वात्मा का संयोग 'प्रेम' पर आधारित है जो 'ज्ञान' का नहीं पर 'भाव' का विषय है। इसी भावना से कबीर ने अपने को 'राम की बहुरिया' कहकर अपने और ब्रह्म के बीच 'दाम्पत्य'-सम्बन्ध स्थापित किया है। इसमें कभी अपने परम प्रियतम से मिलने की उत्कट जिज्ञासा व्यक्त की है और कभी उसके विरह की अग्नि में अपने को तपाया है। असीम का ससीम के प्रति कुतूहल, विस्मय भावना, जिज्ञासा, तादात्म्य अनुभव, अनुराग, उन्मत्तता, उन्मयता और विरह रहस्यवाद के आध्यात्मिक संयोग के विविध सोपान हैं। कबीर के काव्य में ये सभी सोपान परिलक्षित हैं।

कबीर अपने प्रियतम को अगम, अगोचर, अकथ, अनीह मानते हैं। वह न देखा जा सकता है और न छिपा ही जा सकता है।[1] वह उससे बहुत दूर गगन में रंगमहल बना कर रहता है जहाँ सत् चित्, आनन्द परम पुरुष विराम के साथ विद्यमान है।[2] वह उसे हेरत-हेरत स्वयं हेरा जाता है।[3] वह उससे जितनी दूर है उतने ही समीप भी है। विश्व की कोई वस्तु उससे रहित नहीं है।[4] वह कभी अपने को उससे दूर समझकर विरह के अश्रु बहाता और कभी उसके रंग में रँगकर मतवाला हो जाता है।

वे सुहागिन बनकर अपने प्रियतम को ढूँढ़ने निकलते हैं[5] और उसे न पाकर अधीर हो जाते हैं। वे प्रियतम के अभाव में अपनी मनःस्थिति बतलाते हुए कहते हैं—

अन्न न भावै, नींद न आवै, गृह बन धरै न धीर रे।
ज्यों कामी को काम पियारा, ज्यों प्यासे को नीर रे।

---

१ छिपा छिपा क्या है नहीं सत्य देखा की बात।

सर फेर उलट [illegible] है,
सुन्न राम निरंतर धाम।
कबीरा सुन्न है [illegible] बिन सुन्न है
जहाँ बसत [illegible] राम।

३ हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराइ।
४ सब घट मेरा साँइया सूनी सेज न कोय।
५ साहिब हो मन [illegible] मोहिं रंग लागा।
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
६ [illegible]

रहस्यवादी अनंत शक्ति को समस्त गुणों और आनन्द का धाम समझते हैं। उपनिषदों में भी अद्वैतावस्था की आनन्द-स्थिति की कल्पना कुछ इसी प्रकार की है। कबीर भी अनहदनाद में अमृत के मोती बरसते देखते और अनहद संगीत का मधुर स्वर सुनते हैं —

> मोतिया बरसे ऊपर बरसया दिन राती।
> मुरली सबद सुनि मन आनन्द भया,
> ज्योति बरै दिन राती॥[1]

कबीर को प्रिय की नगरी के सामने नैहर फीका लगता है। उसकी वह नगरी ऐसी है जहाँ किसी का भी आगमन सम्भव नहीं है। उस नगरी को जानेवाली पग बहुत ऊँची और ऐसी रपटीली है कि उस पर पैर ठहर नहीं पाते।[2] उस स्वप्न में उसके प्रिय के दर्शन होते हैं वह उसके हृदय से बाहर जाता है पर उसका प्रियतम कहीं नैन से निकल न भागे इसलिए वह नैन बन्द किए रखता है।[3] आध्यात्मिक परिणाम का यह मर्मस्पर्शी रूप कबीर के रहस्यवाद की विशेषता है। यह कबीर की तादात्म्यानुभव की स्थिति है। वह इस स्थिति में पहुँच कर अपार सुख प्राप्त करता है।[4]

कबीर के रहस्यवाद में विरह की भी बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति मिलती है। अनेक स्थलों में उनकी विरहावस्था चरम सीमा में पहुँची दिखाई देती है। वे एक स्थान में कहते हैं —

> चूड़ी पटकौं पलंग से चोली लागौं आगि।
> जा कारन यह तन धरा ना सूती गर लागि॥

यहाँ वह अवस्था है जिसमें आत्मा परमात्मा में, प्रेमिका प्रेमी से तादात्म्य प्राप्त करती है।

---

१ नैहरवा हमका नहिं भावै।
साँई की नगरी परम अति सुन्दर, जहाँ कोई जाय न आवै॥

२ ऊँचा गैल राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराय।

३ सुपने में साँई मिले सोवत लिया जगाय।
आँखि न खोलूँ डरपता मति सुपना ह्वै जाय॥

४ हम वासी उस देश के, जहँ बारह मास बिलास।
प्रेम झरै बरसत कमल, तेज पुंज परकास॥

७

सूफीमत का प्रादुर्भाव

सूफी मत की प्राचीनता

'सूफी' शब्द की उत्पत्ति फारसी के सूफ शब्द से हुई है जिसका अर्थ 'श्वेत वस्त्र' अथवा ऊन है। इस अर्थ के अनुसार उन फकीरों को सूफी कहा गया है जो श्वेत वस्त्र धारण करते थे और सादगी से शुद्धाचारयुक्त जीवन व्यतीत करते थे। सादा और सरल जीवन बिताना, स्वेच्छा से निर्धन रहना और एक ईश्वर से प्रेम करना सूफियों की विशेषताएँ थी। सूफीमत का जन्म इस्लाम धर्म से बहुत पहिले हो चुका था। मादनभाव से ब्रह्म की उपासना और उसकी प्राप्ति में संयोग-सुख एवं अभाव में संयोग-वेदना की भावना प्रागैतिहासिक काल से ही चली आ रही थी। इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद के समय भी यह विचारधारा अपने अस्तित्व में थी। समय-समय पर इस विचारधारा पर नास्तिक, मानी, नवअफलातूनी, यहूदी, मसीही, बौद्ध और भारतीय दर्शन का प्रभाव पड़ता रहा और इस प्रकार उसके मूलरूप में परिवर्तन होता रहा।

नास्तिक मत का प्रवर्तक मारकस नामक एक व्यक्ति था जिसका सम्बन्ध शामी मत से बतलाया जाता है। यह विश्वास किया जाता है कि जिस सभ्यता पर शामी मत आधारित है वह भारत से ही पश्चिमी देशों में गई थी। फारसी मतों की एक शाखा मग कहलाती थी। इस शाखा द्वारा जिस नास्तिक मत का प्रचार हुआ वह बौद्धमत पर आधारित था। इन्हीं दिनों मानी मत का भी प्रचार था। इस्लाम इसी मत के अनुयायी थे जिनका सूफी मत के विकास में बहुत योग रहा। इस मत के प्रवर्तक 'मानी' को बौद्ध मत का भी पर्याप्त ज्ञान था। नवअफलातूनी मत सिकन्दरिया में विशेष-प्रचलित था। यह मत यूनानी दर्शन पर आधारित था। राहुल सांकृत्यायन ने इस पाश्चात्य दर्शन और इस्लाम और रहस्यवाद का एक मिश्रण कहा है। भारत के वेदान्त और बौद्ध मत का प्रभाव सूफीमत पर दूसरी-तीसरी-शताब्दी में ही आरम्भ हो गया था। तीसरी शताब्दी तक भारतीय वेदान्त का प्रभाव रोम और यूनान तक पहुँच चुका था। ६ ठी और ७ वीं शताब्दी में ही उपनिषदों द्वारा रहस्यवाद का जन्म हुआ। इस काल के पश्चात् प्रकाश में आने वाले बौद्ध, शैव, वेदान्ती तथा वासुदेवमार्गीय अर्थात् पर इस रहस्यवाद का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। सूफी मत भी इस प्रभाव से अछिन्न न रह सका।

ईसा के जन्म के पूर्व यरूसलम के प्रदेश में यहूदी धर्म का प्रचार था। ईसा से वर्ष तीन सौ वर्ष पूर्व ही अशोक के काल में बौद्ध भिक्षुओं का आना होने लगी थी। ऐसा ज्ञात पड़ता है कि यहूदियों के धर्म में संन्यास भावना का प्रवेश इन्हीं बौद्ध भिक्षुओं

रहस्यवादी अनंत लोक को समस्त सुखों और आनन्द का धाम समझते हैं। उपनिषदों ने भी अद्वैतावस्था की आनन्द स्थिति की कल्पना कुछ इसी प्रकार की है। कबीर भी गगनमण्डल में अमृत के मोती बरसते देखते और अनहद संगीत का मधुर स्वर सुनते हैं —

मानिया बरसै रउर छमछा दिन राती।
मुरली मधुर सुनि मन आनन्द भयो,
ज्योति बरै दिन राती॥[1]

कबीर को प्रिय की नगरी के सामने नैहर फीका लगता है। उसकी वह नगरी ऐसी है जहाँ किसी का भी आगमन सम्भव नहीं है। उस नगरी की जानेवाला पथ बहुत ऊँची और ऐसी रपटीली है कि उस पर पैर ठहर नहीं पाते।[2] उस स्वप्न में उसके प्रिय के दर्शन होते हैं वह उसके रूप से आबद्ध जाता है पर उसका प्रियतम कहीं नैन से निकल न भागे इसलिए वह नैन बन्द किए रहता है।[3] आध्यात्मिक परिणाम का यह समस्पर्शी रूप कबीर के रहस्यवाद की विशेषता है। यह कबीर की तादात्म्यानुभव की स्थिति है। वह इस स्थिति में पहुँच कर अपार-सुख प्राप्त करता है।[4]

कबीर के रहस्यवाद में मिलन की भी बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति मिलती है। अनेक स्थलों में उनकी विरहावस्था चरम सीमा में पहुँचती दिखाई देती है। वे एक स्थान में कहते हैं —

चूड़ो पटकों पलंग से, चोली लायो आगि।
जा कारण यह तन धरा ना सूती गर लागि॥

यहाँ वह अवस्था है जिसमें आत्मा परमात्मा से, प्रमिका प्रमी से तादात्म्य प्राप्त करती है।

---

१ नैहरवा हमका नहिं भावै।
साईं की नगरी परम अति सुन्दर जहाँ कोई जाय न आई।

२ ऊँचा गैल राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराय।

३ सुपने में साईं मिले सोवत लिया जगाय।
आँखि न खोलूँ डरपता मति सुपना ह्वै जाय॥

४ हम वासी उस देश के, जहँ बारह मास विलास।
प्रेम झरै बरसै कमल तेज पुंज परकाश॥

सूफ़ीमत का प्रादुर्भाव

सूफ़ी मत की प्राचीनता

'सूफ़ी' शब्द की उत्पत्ति फारसी के 'सूफ़' शब्द से हुई है जिसका अर्थ 'श्वेत वस्त्र' अथवा 'स्वच्छ' है। इस अर्थ के अनुसार उन फकीरों को सूफ़ी कहा गया है जो श्वेत वस्त्र धारण करते थे और सादगी से शुद्धाचारयुक्त जीवन व्यतीत करते थे। सादा और सरल जीवन बिताना, स्वेच्छा से निर्धन रहना और एक ईश्वर से प्रेम करना सूफ़ियों की विशेषता थी। सूफ़ीमत का जन्म इस्लाम धर्म से बहुत पहिले हो चुका था। मानवमात्र में ब्रह्म की उपासना और उसकी प्राप्ति में संयोग-सुख एवं अभाव में वियोग-वेदना की भावना प्रागैतिहासिक काल से ही चली आ रही थी। इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हज़रत मुहम्मद के समय भी यह विचारधारा अपने अस्तित्व में थी। समय-समय पर इस विचारधारा पर नास्टिक यानी नवअफलातूनी, यहूदी, मसीही, बौद्ध और भारतीय वेदान्त का प्रभाव पड़ता रहा और इस प्रकार उसके मूलरूप में परिवर्तन होता रहा।

नास्टिक मत का प्रवर्तक साइमन मागस [illegible] था जिसका सम्बन्ध शामी मत से बतलाया जाता है। यह विश्वास किया जाता है कि जिस सभ्यता पर शामी मत आधारित है वह भारत से ही पश्चिमी एशिया में गई थी। एस्सेनी आर्यों की एक शाखा था, वह साधी था। इस शाखा द्वारा जिस नास्टिक मत का प्रचार हुआ वह बौद्धमत पर आधारित था। इन्हीं दिनों मानी मत का भी प्रचार था। इस्लाम ऐसा मत के अनुयायी थे जिसका सूफ़ी मत के विकास में बहुत योग रहा। इस मत के प्रवर्तक 'मानी' को बौद्ध मत का भी पर्याप्त ज्ञान था। नवअफलातूनी मत सिकन्दरिया में विशेष-प्रचलित था। यह मत यूनानी दर्शन पर आधारित था। राहुल सांकृत्यायन ने इस पाश्चात्य दर्शन और सत्य वाद और रहस्यवाद का एक मिश्रण माना है। भारत के वेदान्त और बौद्ध मत का प्रभाव सूफ़ीमत पर दूसरी-तीसरी-शताब्दी से ही आरंभ हो गया था। तीसरी शताब्दी तक भारतीय वेदान्त का प्रभाव शाम और यूनान तक पहुँच चुका था। ६ठी और ७वीं शताब्दी में ही उपनिषदों द्वारा रहस्यवाद का जन्म हुआ। इस काल के पश्चात् प्रकाश में आने वाले बौद्ध, शैव, वैष्णवी तथा वासुदेवमार्गीय आदि पर इस रहस्यवाद का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। सूफ़ी मत भी इस प्रभाव से वंचित न रह सका।

ईसा के जन्म के पूर्व [illegible] के प्रदेश में बौद्ध धर्म का प्रचार था। ईसा से दो तीन सौ वर्ष पूर्व ही सीरिया के देश में बौद्ध भिक्षुओं को पाया जाने लगा था। ऐसा जान पड़ता है कि सूफ़ियों के धर्म में संन्यास-भावना का प्रवेश इन्हीं बौद्ध भिक्षुओं

के प्रभाव से हुआ था। संन्यास-युक्त भक्ति की प्रधानता का ईसाई धर्म में प्रवेश भी बौद्ध विचारधारा के प्रभाव का परिणाम है।[1] यहूदी और ईसाई धर्म की इस संन्यास भावना का प्रभाव सूफी मत पर स्पष्ट देखा जाता है। मसीह के गुरु यूहन्ना एसीन सम्प्रदाय के अनुयायी थे। यह सम्प्रदाय यहूदी और बौद्ध धर्म का एक मिश्रण था।

सीरिया और बसरा में भी बौद्ध भिक्षुओं ने वर्षों अपने धर्म का प्रचार किया था जिसका प्रभाव सामी मत पर पड़ा। इस मत से मुहम्मद साहब भी अप्रभावित न रह सके। बहुत सम्भव है कि कुरान में जीव और परमात्मा के संयोग-वियोग (मातम भाव) की भावना का प्रवेश सामी मत पर पड़ने वाले भारतीय प्रभाव का ही परिणाम हो। कुरान में अल्लाह के सर्वव्यापी और अन्तर्यामी होने की जो बात कही गई है, वह उपनिषदों की विचारधारा से भी गृहीत हो सकती है। सूफीमत में भी ईश्वर के सम्बन्ध में ये ही भावनाएँ व्यक्त की गई हैं। इस प्रकार हम सूफीमत पर विभिन्न विचारधाराओं का प्रभाव देखते हैं। इससे स्पष्ट है कि सूफीमत भारतीय वेदान्त यूनानी दर्शन और कुरान मत का एक सम्मिश्र रूप है।

सूफीमत का विकास

चाहे जो हो पर इसमें सन्देह नहीं कि सूफीमत का जन्म धर्म के नाम पर प्रचलित पाखण्ड के विरोध भावना की प्रतिक्रिया के रूप में ही हुआ। इस मत के विकास के हमें तीन सोपान दृष्टिगोचर होते हैं। प्रथम सोपान में सात्विक प्रभाव और रबिया का प्रमुख स्थान है। इनमें रबिया का स्थान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। वह ईश्वर को अपना प्रियतम मान उससे रो-रोकर याचना करती और भावावेश में मूर्छित हो जाती थी। सूफी साहित्य में प्रयुक्त प्रेम का पुट के रूप में सर्वप्रथम प्रयोग रबिया ने ही किया था। इस समय यह केवल अनुभूतिप्रधान मत था।

द्वितीय सोपान में ही सूफी मत पर नास्तिक मत तथा भारतीय वेदान्त और बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ा। इसी काल में इस मत में आत्म-ब्रह्म की एकता संसार की नश्वरता तथा माया के आवरण की व्यापकता के विचारों ने प्रवेश किया। इसी काल में मुहम्मदीय मत का विरोधी 'मंसूर' 'अन-अल-हक' की ध्वनि घोषित करता हुआ सूली पर चढ़ा दिया गया था। इसी समय कर्जी बारामी ने संसार-त्याग, काम-त्याग, ईश्वर-प्रेम और आत्मसमर्पण की भावना का प्रचार किया था। इसके पश्चात् 'जुनैद' ने मोक्ष और प्रलय की भावना का प्रचार किया। मंसूर की तरह कर्जी बारामी और जुनैद भी मुहम्मदीय मत के विरोधी थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न प्रगतिशील मत-धाराओं को ग्रहण कर प्रथम सोपान में जिस सूफी मत ने जन्म ग्रहण किया उसका विकास द्वितीय सोपान में इस्लाम धर्म की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ।

---

१ तिलक, 'गीता रहस्य' पृष्ठ ५८९।

सूफीमत के विकास के तृतीय युग में दो विचार-धाराएँ प्रचलित थीं। एक विचार धारा के सिद्धान्तानुसार यह प्रचार किया जा रहा था कि ईश्वर एक है, वह सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक है, वह स्वतन्त्र और अनुपम है, तथा कल्पनातीत है। यह विचारधारा क्रिया प्रधान कुरानवादी विचारधारा थी। दूसरी विचारधारा सूफियों की थी जिसमें ईश्वर जीव की एकता उसकी सर्वव्यापकता, विश्व में ब्रह्म के सौन्दर्य का दर्शन, आन्तरिक अनुराग, ईश्वर के संयोग-वियोग में विरह मिलन की भावना, आदि का समावेश था। कुरानवादी विचार-धारा एकेश्वरवादी थी और सूफी विचारधारा सर्वात्मवादी थी।

सूफी विचारधारा

सूफियों ने ब्रह्म का निरूपण उसी प्रकार किया है जिस प्रकार हिन्दू-साधना में इसका निरूपण है। इस्लाम धर्म एक अल्लाह के अतिरिक्त और किसी को देवता नहीं मानता किन्तु सूफी उस अल्लाह की सर्वोपरि सत्ता स्वीकार करते हुए भी उसके 'रहीम' (करुणामय) रूप पर ही अधिक श्रद्धा प्रकट करते हैं। इस्लाम का एकदेशीय अल्लाह सूफीमत में निर्गुण निराकार और सर्वान्तर्यामी बन गया है।

इस्लाम ने जीव के सम्बन्ध में कोई विशेष बात न कहकर जीव और आत्मा का सम्बन्ध सेवक-सेव्य के रूप में व्यक्त कर दिया है किन्तु सूफी मत भारतीय वेदान्त की तरह जीव और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं मानता। वेदान्त का 'अहम् ब्रह्मास्मि' सूफी मत में 'अन-अल-हक' हो गया है किन्तु इस सम्बन्ध में सूफी मत के आचार्यों में कुछ मत-भेद है। इस्लाम जीव को सर्वथा ब्रह्म नहीं मानते। कभी यह मानते हैं कि जिस प्रकार प्रेमी और प्रिय देखने में एक-दूसरे से पृथक् हैं उसी प्रकार ब्रह्म और जीव भी देखने के लिए एक-दूसरे से पृथक् हैं किन्तु वास्तव में एक ही हैं। किसी के मतानुसार प्रेमी और प्रिय (जीव-ब्रह्म) एक ही आत्मा के दो रूप हैं, जो दो भिन्न शरीरों में रहते हैं।

सृष्टि के सम्बन्ध में सूफियों का मत वेदान्त से भिन्न है। वे सृष्टि का उपादान कारण 'रूह' को मानते हैं। रूह से तात्पर्य उस अलौकिक शक्ति से है, जो उसमें ब्रह्म को [illegible] है। जिस प्रकार मनुष्य की रूह ब्रह्म के लिए व्याकुल होती है उसी प्रकार यह सृष्टि भी उसके लिए व्याकुल होती है। रूह का सम्बन्ध शरीर से है, वही सृष्टि में भी है। किसी का कथन है कि अल्लाह ने सबसे पहिले परमात्मा सत्ता को रूह का रूप दिया और उसी से सृष्टि, फरिश्तों और मनुष्य की उत्पत्ति हुई। संसार में जो कुछ दृष्टिगोचर होते हैं वह सब अल्लाह का प्रति-बिम्ब है। सृष्टि के दर्पण में अल्लाह का दर्शन होता है। इस दर्पण में अल्लाह का जो प्रतिबिम्ब है, वही इन्सान है।

मोक्ष के सम्बन्ध में सूफियों का विश्वास है कि जब इन्सान 'अहं' का भ्रम त्याग कर सृष्टि के सौन्दर्य को अल्लाह का दर्पण समझने लगता है तब उसका अपने शरीर से मोह दूर जाता है और वह अल्लाह में मिल जाता है।

भारतीय वेदान्त के अनुसार 'माया' ब्रह्म और जीव के बीच एक आवरण डाल देती है। सूफियों के अनुसार यही 'शैतान' है। 'कुरान' में भी शैतान की कल्पना की गई है पर सूफियों की शैतान विषयक भावना कुरान की भावना से भिन्न है। कुरान का शैतान का काम इन्सान को बहकाकर खुदा की राह से दूर करना है। सूफियों का शैतान अल्लाह का भक्त और परमात्मा की आराधना करनेवालों का परीक्षक है। सूफियों के इस शैतान का रूप वही है जो हिन्दुओं के माया का है।

'हम-हमा-अस्त' सूफियों की प्रबल भावना है। वे ब्रह्म और जीव में कोई भेद नहीं करते और यह मानते हैं कि अल्लाह ने इन्सान को अपना आत्मरूप ही दिया है। वह अपने से भिन्न नहीं है। वह इन्सान के द्वारा ही आत्मदर्शन करता है। जब यह 'आत्मदर्शन' 'परमात्मदर्शन' में परिणत हो जाता है तब अल्लाह और इन्सान का भेद मिट जाता है। जब साधक अपनी साधना द्वारा अपने को ब्रह्ममय अनुभव करने लगता है तब उसकी साधना पूर्ण हो जाती और वह ब्रह्म में विलीन हो जाता है।

सूफी साधना

सूफी-साधना के चार अंग हैं। इन्हें साधना-भूमि के चार सोपान भी कहना चाहिए। वे हैं—शरीअत, तरीकत, मारफत और हकीकत।

'शरीअत' सूफी साधना का प्रथम सोपान है। इसमें साधक अपनी भूलों के लिए पश्चात्ताप करता और आगे ऐसी भूलें न करने तथा ईश्वर की आज्ञा में चलने की प्रतिज्ञा करता है।

'तरीकत' की स्थिति में वह सांसारिक कर्मों का त्याग कर मन, वाणी और हृदय से पवित्र बनने का प्रयत्न करता है और ऐसा अभ्यास करता है कि जिससे उसे सर्वदा ईश्वर का ध्यान बना रहे।

'मारफत' की अवस्था में वह सर्वदा ईश्वर का चिन्तन करता रहता, अत्यन्त विह्वल होकर प्रभु के दर्शन की कामना करता और अपने और ईश्वर के बीच के पर्दा को दूर करने का प्रयत्न करता है। जब मारफत की अवस्था पूर्ण सफलतापूर्वक पार हो जाती तब ब्रह्म और जीव का संयोग होता है। इसे ही सूफी 'हक्क-उल-यकीन' कहते हैं। यह सूफी साधक की चतुर्थ अवस्था 'हकीकत' है। सूफी मत की भिन्न-भिन्न विचारधाराओं के अनुसार यह मत चार सम्प्रदायों में विभक्त हुआ : चिश्ती सम्प्रदाय, सोहरावर्दी सम्प्रदाय, कादरी सम्प्रदाय और नक्शबंदी सम्प्रदाय। इन सम्प्रदायों का आधार विचारधारा के साथ ही उपासना प्रणाली की भिन्नता भी था।

भारत में सूफीमत का प्रवेश

सूफी फकीरों का भारत में प्रवेश ८ वीं शताब्दी में ही चुका था और वे सिंध तथा पंजाब में फैल गये थे। मुलतान उनका सबसे बड़ा केन्द्र था किन्तु यहाँ इस मत का

प्रसार मुस्लिम-राज्य की स्थापना और वृद्धि के साथ ही हुआ। लगभग तीन शताब्दियों तक पंजाब और सिंध पर सूफ़ीमत का निरन्तर प्रभाव बना रहा। यह मत पहिले से ही भारतीय वेदान्त, बौद्धमत तथा भारतीय वेदान्त से प्रभावित नव अफ़लातूनी दर्शन से प्रभावित था। पंजाब में वह नाथपंथियों, हीनयानी बौद्ध भिक्षुओं तथा भारतीय वेदान्त के सम्पर्क में आया और सूफ़ी साधक भारतीय विचारधारा से परिचित हुए। इन साधकों का भारतीय उपासना पद्धति से कोई विरोध न था। उनकी वेशभूषा भी यहाँ के सिद्धों और योगियों जैसी ही थी। इससे भारतीयों ने उनकी विचारधारा का कोई विरोध नहीं किया और यह मत धीरे-धीरे लोकप्रियता प्राप्त करता गया।

इस देश में सूफ़ीमत का प्रवेश चार सम्प्रदायों के रूप में हुआ, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। ये सम्प्रदाय तुर्किस्तान, ईरान, ईराक और अफ़ग़ानिस्तान के सूफ़ी साधकों द्वारा यहाँ आए थे। आरम्भ में इनमें से किसी भी सम्प्रदाय को राजाश्रय प्राप्त न था। इन साम्प्रदायिक प्रचारकों को अपनी व्यक्तिगत बुद्धिमत्ता, महत्ता और साधना के बल पर ही अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना पड़ता था। इनके जीवन में शुद्धाचरण और सात्त्विकता की प्रधानता होने के कारण जनता स्वभावतः इनकी ओर झुकती गई। एक ओर सूफ़ियों की यह शान्ति और अहिंसा से युक्त कार्यनीति थी और दूसरी ओर तलवार के बल पर इस्लाम का प्रचार किया जा रहा था।

सूफ़ीमत के चारों सम्प्रदाय धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त उदार थे और मूल सिद्धान्तों में प्रायः समान थे। इनके आचारात्मक दृष्टिकोण ने ही इन्हें विभिन्न रूप दे रखे थे। उदाहरणार्थ चिश्तिया और कादिरी सम्प्रदाय में संगीत का भी स्थान था। इन दोनों सम्प्रदायों के मतानुसार संगीत और नृत्य प्रियतम (ईश्वर) को रिझाने के लिए आवश्यक थे। सुहरावर्दी और नक्शबन्दी सम्प्रदाय इन आचारों के विरोधी थे। इनके सम्प्रदाय में सभी जाति और वर्गों के व्यक्ति स्थान पा सकते थे। एकेश्वरवादी होने के कारण इस्लाम धर्मावलम्बियों का भी इनसे विरोध न था। अतः ये हिन्दू और मुसलमान दोनों में समान प्रिय थे।

चिश्ती सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक ख़्वाजा अबू इसहाक़ शामी चिश्ती थे पर इस सम्प्रदाय को भारत में लाने का श्रेय ख़्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती को है जिन्होंने १२वीं शताब्दी के अंतिम चरण में इस सम्प्रदाय का भारत में प्रचार किया। ये सन् ११९२ ई० में शहाबुद्दीन ग़ोरी के साथ भारत में आए थे। अजमेर इनके सम्प्रदाय का प्रमुख केन्द्र था। भारत में इसी सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या सूफ़ीमतावलम्बियों में सबसे अधिक है। मुग़लकाल में इस सम्प्रदाय को राजाश्रय भी प्राप्त था।

सुहरावर्दी सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय का प्रचार करने के लिए सर्वप्रथम सैयद जलालुद्दीन सुर्खपोश सन् १२४४ ई. में अफगानिस्तान से यहाँ आए थे। सिन्ध, गुजरात और पंजाब इस सम्प्रदाय से विशेष प्रभावित रहे। इस सम्प्रदाय का प्रभाव बिहार और बंगाल तक भी था। राजा और प्रजा सभी इस सम्प्रदाय को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते थे। इस सम्प्रदाय के कुछ सन्तों को राजगुरु तक बनने का सम्मान प्राप्त था।

कादरी सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय को बगदाद के शेख अब्दुल कादिर जीलानी ने सन् १[illegible] ई. के लगभग जन्म दिया था। इस सम्प्रदाय में उत्कट प्रेम और भावुकता की प्रधानता है। भारत में इस सम्प्रदाय का प्रवेश सन् १४८२ ई. में सैयद बन्दगी मुहम्मद गौस द्वारा हुआ था। सिन्ध प्रदेश इसके प्रचार का विशेष क्षेत्र था पर पंजाब और काश्मीर पर भी इसका प्रभाव कम न था।

नक्शबन्दी सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक तुर्किस्तान के ख्वाजा बहाउद्दीन नक्शबन्द थे। इस देश में इस सम्प्रदाय का प्रचार ख्वाजा मुहम्मद बाकी बिल्लाह बैरंग द्वारा १६ वी शताब्दी में हुआ। इस सम्प्रदाय का दृष्टिकोण बुद्धिवादी था जिससे यह सामान्य जन-मानस को अधिक प्रभावित न कर सका।

दाराशिकोह के मतानुसार हिन्दू-वेदान्त-दर्शन और सूफीमत में विशेष अन्तर नहीं है। दोनों अद्वैतवादी हैं। वे एक ही ब्रह्म को मानते हैं जैसे हिन्दू 'परम' और सूफी 'मुतलक' कहते हैं। यह ब्रह्म अनन्त सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी है। इसी ब्रह्म से परिचय प्राप्त कर अद्वैत-भावना के अभ्यास द्वारा जीव ब्रह्म की स्थिति प्राप्त करता है। नासूत मलकूत जबरूत और लाहूत ब्रह्म को प्राप्त करने की चार सीढ़ियाँ हैं। हिन्दू दर्शन में इन्हीं को क्रमशः जाग्रतावस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्ति और तुरीय अवस्था कहा है।

दारा शिकोह के इन विचारों से यह स्पष्ट है कि शाहजहाँ के शासन-काल तक हिन्दू दर्शन और सूफी-दर्शन एक-दूसरे के बहुत समीप आ चुके थे और इन दोनों दर्शनों के प्रति भारतीय हिन्दू मुस्लिम जनता का समान अनुराग था।

सूफियों के मतानुसार ईश्वर प्रेम का भूखा है। उसने सृष्टि के रूप में जो सौन्दर्य अभिव्यक्त कर रखा है, सृष्टि में जो सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है वह उसी एक दिव्य सत्ता का सौन्दर्य है। ब्रह्म प्रेयसी है और जीव प्रेमी। ब्रह्म सौन्दर्यरूप है और जीव प्रेमरूप। ब्रह्म और जीव की एकता ही साधना का ध्येय है। यह साधना सांसारिक वैभव और कर्मों के

त्याग से हो सकती है। सूफी कवियों ने इसी तात्त्विक विचारधारा का प्रचार करने के लिए मसनवी-काव्य की रचना की थी। हम जायसी तथा अन्य प्रेममार्गी कवियों के काव्य में सूफीमत की विचारधारा पूर्णरूपेण मिलती है।

सूफी साधक

मसूदी बक्र (१०४५) मुईनुद्दीन चिश्ती (११४२) कुतुबुद्दीन काकी (११४१) निजामुद्दीन औलिया (१२१५) खुसरो (१२५१) याहिया मुनीरी (१२६१) शेख चिश्ती (१२११) बुरहानुद्दीन गरीब (१३१७) शमी कलंदर (१३४१) आदि प्रसिद्ध सूफी साधक हैं जिन्होंने अपने काल में भारत में सूफी विचारधारा का प्रचार किया। इन सूफी साधकों ने हिन्दी से मिलती-जुलती एक 'हिन्दवी' भाषा को अपने प्रचार का माध्यम बनाया था। भारतीय भक्तों की तरह इनमें भी शिष्य-परम्परा थी। इस परम्परा में प्रसिद्ध सूफियों द्वारा उत्तर तथा दक्षिण भारत में भी अपने मत का प्रचार किया गया था। सूफी मत के भारत में प्रवेश करने के पूर्व से ही इस मत का साहित्य लिखा जाने लगा था। यह साहित्य-रचना का कार्य भारत में भी चलता रहा जिससे सूफी साधकों को अपने प्रचार में बड़ी सहायता मिली।



हिन्दी का सूफी काव्य-साहित्य

सूफी काव्य का जन्म

जब एक जाति का दूसरे देश में प्रवेश होने पर वहाँ की अन्य जातियों से सम्पर्क होता है तब दोनों जाति-समुदायों के आचार विचारों और रीति-नीति का विनिमय शुरू इस प्रकार होने लगता है कि दोनों जातियों की मूल सभ्यता और संस्कृति में भी एक अपूर्व परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगता है। यदि दोनों जातियों की अपनी अपनी सभ्यता और संस्कृति पर्याप्त विकसित हो तो दोनों के एक साथ रहने पर उनमें विशेष परिवर्तन नहीं होता। भारत में मुसलमानों के प्रवेश के पश्चात् वे हिन्दुओं के सम्पर्क में आये। आरम्भ में मुसलमानों में विजय-गर्व ने उन्हें हिन्दुओं से समागम न होने दिया किन्तु यह स्थिति अधिक दिनों तक न रह सकी। एक-दूसरे से दूर रहने के कारण दोनों जातियों की सामाजिक प्रगति सम्भव न थी। मुस्लिम शासक धर्मान्धता के गर्त में डूबे रहे पर सामान्य मुस्लिम जनता हिन्दुओं के समीप आने को व्यग्र हो उठी। हिन्दू मुस्लिम एकता की इस बढ़ती हुई प्रवृत्ति को कबीर की वाणी से प्रोत्साहन मिला। कबीर-द्वारा प्रचारित 'सामान्य धर्म' ने दोनों जातियों को एक मंच पर एकत्र होने का अवसर दिया। कुछ समय के पश्चात् एक ऐसा समूह भारत के क्षितिज पर समुदित हुआ जिसका लक्ष्य व्यावहारिक जीवन की एकता की स्थापना के साथ ही प्रेम पर आधारित भक्ति-मार्ग का प्रचार करना था। यह समुदाय सूफी सन्तों का था।

सूफियों का प्रेम लौकिक नहीं पारलौकिक था किन्तु उनके उत्कृष्ट प्रेम और उदार हृदय भावना के कारण सूफी सम्प्रदाय में भी अव्यक्त परोक्ष-सत्ता को एक सीमा तक व्यक्त स्वरूप प्राप्त हुआ और उन्होंने भारतीय भक्ति-मार्ग से प्रभावित हो ब्रह्म का व्यक्त और अव्यक्त रूप स्वीकार किया। सूफी उस ब्रह्म के उपासक थे जो निर्गुण और निराकार होने के साथ ही अनन्त प्रेम का आधार भी है। उन्होंने ब्रह्म की प्रेमिका के रूप में और साधक की प्रेमी के रूप में कल्पना की। वे एकेश्वरवादी इस्लामी प्रभाव और अपनी परम्परा के कारण अपने उपास्य के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप में कुछ भी कहने में असमर्थ थे अतः उन्होंने अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए प्रेमाख्यानों का आश्रय लिया और इनके माध्यम से ईश्वर प्रेम की अभिव्यंजना की। उन्होंने इन प्रेमाख्यानों की रचना भारतीय कथानकों के आधार पर ही की जिससे भारतीय हिन्दुओं का इन आख्यानों की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक हो गया। इनकी ईश्वर प्रेम की अभिव्यंजना सांकेतिक थी। यही कारण है कि इनकी वाणी

निर्गुण-भक्ति काव्य के प्रणेता सन्त कवियों की वाणी से अधिक व्यवस्थित, शृंखला-बद्ध तथा अधिक प्रांजल भाषा में होने पर भी सामान्य जनता को सन्त वाणी की तरह प्रभावित न कर सकी।

प्रेममार्गी काव्य का प्रवाह

हिन्दी में प्रेममार्गी साहित्य का प्रवाह दो धाराओं में आया है। हम इनमें से एक को 'हिन्दी' और दूसरी को 'दक्खिनी काव्य धारा' कह सकते हैं। हम प्रेममार्गी साहित्य को सर्वप्रथम जिस 'दक्खिनी' में पाते हैं उसका मूल उस 'सामान्य भाषा' में है जिसका निर्माण गुप्त काल (सं. ३७९-५२५ वि.) में उत्तर भारत में प्रचलित शौरसेनी, मागधी, महाराष्ट्री आदि साहित्यिक भाषाओं के सामान्य रूपों को लेकर हुआ था। सातवीं और आठवीं शताब्दी में इस भाषा को राजपूत-गुर्जर शासकों द्वारा विशेष प्रोत्साहन मिला और यह उनके द्वारा शासित जनता की व्यावहारिक भाषा के रूप में व्यवहृत होने लगा। इसमें उनकी अपनी मातृभाषा की कुछ ध्वनियों का भी समावेश हो गया। धीरे-धीरे यह भाषा उत्तर भारत से दक्षिण भारत के कोंकण प्रदेश तक की जनता की परस्पर के व्यवहार की भाषा बन गई। मुस्लिम आगमन के पूर्व तक यह बोलचाल की भाषा बनी रही। इस देश की जनता अरबी-फ़ारसी से अपरिचित थी अतः मुसलमानों ने इसी बोलचाल की भाषा को अपने धर्म-प्रचार के माध्यम के रूप में स्वीकार किया। अब इसमें अरबी-फ़ारसी के कुछ शब्द भी मिलने लगे और इसमें काव्य रचना भी होने लगी।

दक्खिनी का सूफ़ी-साहित्य

'दक्खिनी' में काव्य रचना करनेवाले कवियों को हम तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम श्रेणी में वे कवि हैं जो वास्तव में फ़ारसी में काव्य करते थे। पर कभी-कभी कुछ हिन्दी में भी लिख लेते थे। मसूद और खुसरो ऐसे ही कवियों में से थे। द्वितीय श्रेणी में फ़रीद शकरगंजी जैसे सूफ़ी कवि हैं। तृतीय श्रेणी में वे कवि हैं जिनका उद्देश्य इस्लाम धर्म का प्रचार था। शेख मुहम्मद गैसूदराज ऐसे कवियों में से एक हैं। लाहौर, दिल्ली और मुल्तान इन तीनों श्रेणियों के कवियों के प्रमुख केन्द्र थे। नाथ पंथियों-द्वारा प्रचारित हिन्दी और उनकी हिन्दवी में अधिक अन्तर न था। इनकी हिन्दवी में अरबी-फ़ारसी के शब्दों का भी प्रयोग था जब कि नाथपंथियों की हिन्दवी में इन भाषाओं के शब्दों का प्रयोग नहीं मिलता। इन्होंने भी अपनी रचना में भारतीय परम्परा के अलंकारों और छन्दों का प्रयोग किया है। अरबी-फ़ारसी के शब्द भी तद्भव रूप में ही व्यवहृत हैं। योग, वेदान्त आदि से सम्बन्धित शब्द मूल संस्कृत के हैं। फ़रीद शकरगंजी की कुछ रचनाएँ "आदि ग्रन्थ" में भी संगृहीत हैं। सैयद

महम्मद कैमवराज (सं ११०२ से १४०८) का हिन्दवी में लिखा एक ग्रन्थ 'मेराजुल आशकीन' उपलब्ध है। समय का भी एक कविता-संग्रह (दीवान) बतलाया जाता है पर वह उपलब्ध नहीं है।

इन कवियों न अधिकांश रचनाएँ स्फुट पदों दोहों और मसनवी में ही की है। इन्होंने कुछ मसनवी भी लिखी है पर वे भारतीय परम्परा से प्रभावित नहीं है। मुहम्मद तुगलक की दक्षिण-यात्रा के साथ उत्तर भारत का सूफी-साहित्य दक्षिण में पहुँचा और दक्षिण भारत मे सूफी मत का प्रचार प्रारंभ हुआ। 'कुतुबनाम और 'नूरनामा' हिन्दवी अथवा दक्नी भाषा म लिखे प्रमाख्यान है। यद्यपि इस भाषा का सूफी-साहित्य अधिक लोकप्रिय न हो सका तथापि हिंदी भाषा और साहित्य के विकास की दृष्टि से इस साहित्य का भी महत्त्व कम नहीं है। सम्वत् १६८७ वि तक इस भाषा में जिस साहित्य का निर्माण हुआ वह अधिक धार्मिक है। इस साहित्य की रचना गद्य और पद्य दोनों में हुई है। अमीनुद्दीन आला (स १६४६ से १७१२ वि) इस धार्मिक साहित्य के विशेष उल्लेखनीय रचयिता है। इनके अतिरिक्त शाहमीरान हसनुल उश्शाक शाहबुरहान मुहम्मद कुली कुतुबशाह आदि हिन्दवी के अन्य कवि है।

अवधी का सूफी-साहित्य

अवधी में अनेक महत्त्वपूर्ण प्रमाख्यानों की रचना हुई है। प्रथम सूफी प्रमाख्यान के रचयिता मुल्ला दाऊद है। इन्होंने नूरक और चंदा का प्रमाख्यान स १३७५ वि० के लगभग लिखा था। इनके पश्चात् जिन आनेवाले प्रमाख्यानों में पद्मावत मृगावती मधुमालती प्रमा बती आदि विशेष उल्लेखनीय है। इनमें से पद्मावत मृगावती और मधुमालती ही उपलब्ध है। यद्यपि प्रमाख्यानों की लेखन-परम्परा मुल्ला दाऊद के द्वारा प्रारम्भ हुई थी तथापि इसका विकास जायसी लिखित पद्मावत के साथ ही हुआ। जायसी से प्रोत्साहन पाकर उनके पश्चात् भी कुछ प्रमाख्यान लिखे गये। उसमान की 'चित्रावली' शेख नबी का 'ज्ञान दीपक' कासिम शाह का 'हंस जवाहर' नूर मुहम्मद का 'इन्द्रावती' तथा फाजिलशाह का 'प्रेमरतन' इसी काल के प्रमाख्यान है। इनके अतिरिक्त आलम लिखित 'माधवानल काम कंदला' और निसार लिखित 'यूसुफ जुलेखा' भी सूफी साहित्य की उल्लेखनीय काव्य रचनाएँ है। शैली और भाषा की दृष्टि से इन काव्यों में बहुत साम्य है और ये सभी भारतीय काव्य-परम्परा से प्रभावित है। इनके वस्तु वर्णन सौन्दर्य चित्रण आदि सभी म भारतीय परम्परा का अनुकरण किया गया है। पूर्ण साहित्य प्रेम की तन्मयता से पूर्ण है। इनमें प्रेम के साथ सभी कथा का चित्रण मिल जाता है। यद्यपि हिन्दी का सूफी-साहित्य फारस से विकसित सूफीमत की साहित्य-अभिव्यंजना है तथापि इसका दृष्टिकोण सर्वथा भारतीय है। इन सूफी अथवा प्रममार्गी कवियों ने प्रम का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। उदाहरणार्थ नूर मुहम्मद की ये पंक्तियाँ देखिए—

'जाना अहिक प्रेम महँ हीया।
मरै न कबहूँ सा परजीया॥
प्रेम सेत है यह दुनियाई।
प्रेमी पुरुष करत पावाई॥
जीवन आग प्रेम को कहई।
सोवन साधु ओ प्रेमा चहई॥

यदि हम सूफी-काव्य में निहित अध्यात्म भावना का पक्ष कर दें तो हम उनका प्रेम-निरूपण भारतीय परम्परा से भिन्न पायेंगे। प्रेमिका के सौन्दर्य की कल्पना में ही प्रेमी का मूर्च्छित हो जाना भारतीय परम्परा की बात नहीं है पर सूफीमत के अनुसार साधक अपनी प्रेमिका (ब्रह्म) के सौन्दर्य की कल्पना में भी मूर्च्छित हो सकता है। सूफी साधकों का प्रेम ईश्वरोन्मुख है लौकिक नहीं। उसमें आध्यात्मिक तत्व निहित है। वास्तव में अध्यात्म-भावना ही उनके प्रेम की आत्मा है। उन्होंने नायिका का चिन्मय सत्ता के प्रतीक के रूप में लिया है और प्रेमी (जीव) को उसके विरह की अग्नि में दहन होता बतलाया है।

सूफी प्रेमाख्यान अध्यात्म की भावना और वेदान्त की रहस्यवादिता का लेकर चले थे पर अन्त तक उनका वह रूप न रह सका। मलिक मुहम्मद जायसी के पश्चात् इन प्रेमाख्यानों से आध्यात्मिक रहस्य न्यून होता गया और उसके स्थान में लौकिकता की वृद्धि होती गई। 'पुहुप बरखा' (सं १८७६ वि०) तक आते-आते सूफीमत के प्रतिपादक प्रेमाख्यान केवल प्रेमाख्यान ही रह गये। परिणामस्वरूप उनका महत्व भी घट गया। ये सूफीमत की सीमा से पृथक हो कोरी कथाओं के क्षेत्र में पहुँच गये।

सूफी साधकों का 'विरह' भी उनके प्रेम की तरह ही ईश्वरोन्मुख और व्यापक है। कवि मंझन कहते हैं —

'बिरह अवधि अवगाह अपारा।
कोटि माहिं एक परै न पारा॥
बिरह कि जगत अबिरथा जाई।
बिरह रूप यह सृष्टि सबाई॥
नयन बिरह अंजन जिन सारा।
बिरह रूप दरपन संसारा॥
कोटि माहिं बिरला जग कोई।
जाहि सरीर बिरह दुख होई॥'

कवि-द्वारा चित्रित यह विरह प्रेमी-प्रेमिका अथवा नायक-नायिका का विरह नहीं है, यह ब्रह्म और जीव का विरह है। जब जीव ब्रह्म के विरह में तड़प-तड़प कर प्राण खाइ

देता है तभी वह ब्रह्म को प्राप्त होता है। जायसी के नारी-सौन्दर्य-चित्रण की ये पंक्तियाँ भी दर्शनीय हैं। इसमें कवि ने नारी-सौन्दर्य में परमात्मशक्ति की स्थापना की है—

'जहीं रूप तुम आइ छिपाना।
जहां रूप सब सृष्टि समाना॥
जहीं रूप सकती औ सीऊ।
जहीं रूप त्रिभुवन कर जीऊ॥'

इस धारा के प्रमुख कवि

सूफी कवियों की परम्परा स्पष्ट रूप से कुतबन से प्रारंभ होती है जिन्होंने हिजरी संवत् ९०९ में 'मृगावती' काव्य लिखा था। इसमें चन्द्रनगर के राजकुमार तथा कंचननगर की राजकुमारी मृगावती की प्रेमगाथा है। कुतबन ने प्रेममार्ग के कष्ट तथा त्याग आदि का वर्णन करते हुए भगवान की प्राप्ति की साधना का आख्यान किया है। प्रेमगाथा लिखनेवाले सूफी कवियों में मलिक मुहम्मद जायसी का प्रमुख स्थान है जिनके पद्मावत और अखरावट नामक काव्य-ग्रन्थ उपलब्ध हैं। पद्मावत में मानव-हृदय के उन सामान्य भावों के चित्रण में बड़ी ही उदारता और सहानुभूति का परिचय दिया गया है जिनका देश और जाति की संकीर्णताओं से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में कवि इतना तन्मय हो जाता है कि वह अखिल दृश्य-जगत् को एक निरंजन ज्योति से आभासित पाता और भावातिरेक के कारण उसके साथ तादात्म्य का अनुभव करता है।

जायसी-काव्य का साहित्यिक महत्त्व

जायसी की काव्य-रचना को अनेक दृष्टि से साहित्यिक महत्त्व प्राप्त है। यद्यपि जायसी के पूर्व भी कुछ प्रेम-गाथाओं की रचना हुई थी तथापि हिन्दी में प्रेमगाथा का विकसित रूप सर्वप्रथम जायसी ने ही प्रस्तुत किया। इस दृष्टि से वे हिन्दी प्रेम गाथा के प्रथम आचार्य कहे जा सकते हैं। दूसरे जिस अवधी की काव्य रचना का सूत्रपात अमीर खुसरो ने किया उसका पूर्ण विकास हमें जायसी के काव्य में ही मिलता है जिसके अनुकरण पर आगे चलकर गोस्वामी तुलसीदास ने अपने 'रामचरित मानस' की रचना की। गोस्वामी तुलसीदास केवल भाषा की दृष्टि से ही नहीं पर दोहा-चौपाई की रचना-प्रणाली में भी जायसी के ऋणी हैं। इस प्रकार केवल प्रेमगाथा की ही नहीं पर नवीन काव्य-रचना प्रणाली के उन्नायक के रूप में भी जायसी स्मरण किये जाते रहेंगे। चौपाई-दोहा की रचना प्रणाली आदि काल के कुछ जैन सिद्ध कवियों में भी वर्तमान थी पर उनमें इस प्रणाली का वह विकास नहीं मिलता जो जायसी में मिलता है।

जायसी ने शृंगार के दोनों पक्ष—संयोग और वियोग की जैसी काव्य में जो विशद अभिव्यंजना की है वह भी हिन्दी साहित्य के गौरव की वस्तु है। पद्मावत जायसी की संयोग शृंगार निष्पन्न रचना का उत्कृष्ट प्रमाण है। इस वर्णन में विस्तार और व्यापकता के साथ ही काव्य-सौन्दर्य भी कम दर्शनीय नहीं है। उदाहरणार्थ निम्न पंक्तियाँ देखिये—

पदमिनि गवन हंस गए दूरी। कुंजर लाज मेल सिर धूरी॥
बदन देखि घटि चंद समाना। दसन देखि कै बीजु लजाना॥
खंजन छपे देखि कै नैना। कोकिल छपी सुनत मधु बैना॥
पहुँपहि छपा पपीहा-पौनारी। जाँघ छपा कदली होइ बारी॥

जायसी के वियोग वर्णन में हृदय की गहन वेदना और आत्मसंताप की अनुभूति हमें जिस प्रकार रूप में मिलता है वह सूर के अतिरिक्त हिन्दी के अन्य किसी कवि की रचना में कदाचित् हो मिले। यथा—

आखर उगइ न काहू सूझा।
नख दुख दाधि चला लइ सूझा॥
जेहि पंखी के नियर होइ, कहइ बिरह कै बात।
सोई पंखी जाइ जरि, तरिवर होहिं निपात॥

भावपक्ष और कलापक्ष दोनों के समन्वय का ... है। जायसी के पद्मावत को देखकर यह बात ज्ञात होती है कि कवि ने इस काव्य ग्रन्थ में दोनों पक्षों का बड़ी कुशलता और सफलता के साथ निर्वाह किया है। कवि जायसी की अभिव्यंजना में ही सहृदय उनकी प्रतिभा दृष्टिगोचर होता है। प्रेमाभिव्यंजना पद्मावत का प्रमुख विषय है। जायसी ने इस अभिव्यंजना अपने काव्य के अनेक स्थलों में अनेक माध्यमों से की है। कुछ स्थल ऐसे हैं जहाँ हमें जायसी भाव-अभिव्यंजना की पराकाष्ठा पर पहुँचे दिखाई देते हैं। उदाहरणार्थ ये पंक्तियाँ देखिये—

मुहमद चिनगी प्रेम कै सुनि महि गगन डेराइ।
धनि बिरही औ धनि हिया, जहँ अस अगिनि समाइ।

कलापक्ष की दृष्टि से उपर्युक्त भावों की अभिव्यंजना के लिए चुने हुए उपयुक्त शब्दों का प्रयोग, काव्य-सौन्दर्यवर्धन के लिए उपयुक्त अलंकार-योजना, रसात्मकता के उपयुक्त भावों का संचार और सुसंस्कृत भाषा का प्रयोग जायसी के कलापक्ष की विशेषताएँ हैं। इस प्रकार हम जायसी के काव्य का भाव तथा सौंदर्य, रसाभिव्यंजन, अलंकार-विधान, भाषा आदि सभी दृष्टि से उच्चकोटि का पाते हैं।

सूफी कवियों में जायसी के पश्चात् सबसे अधिक प्रसिद्धि मंझन का प्राप्त है। ये हिन्दी-काव्य-साहित्य में मधुमालती के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हैं। मंझन ने इसकी रचना सं० १६०३ वि० के लगभग की थी। काव्य की दृष्टि से इसकी रचना

मृगावती की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है। आध्यात्मिक प्रेम भावना की व्यंजना के लिए कवि ने इस ग्रंथ में सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों को स्थान दिया है। कवि का विरह-निरूपण प्रशंसनीय है।

मंझन की दार्शनिक भावनाएँ अत्यन्त उच्च हैं। उन्होंने अपने काव्य में नायक को एक योगी की पृष्ठभूमि पर लाकर खड़ा कर दिया है। वह अपने साध्य को पाने के लिए अपार कष्ट सहन करता है। उसकी वियोग भावना की उपमा में विश्व-वियोग समाया-सा दिखाई देता है। इसी प्रकार उनकी इस गाथा की नायिका 'प्रेमा' का चरित्र-चित्रण भी अपूर्व है। वह वास्तव में ही प्रेम की साकार प्रतिमा है।

साहित्य की दृष्टि से भी 'मधुमालती' एक उच्च कोटि की रचना है। यह विषय निरूपण, भाषा सौन्दर्याभिव्यक्ति, भावाभिव्यंजना-शैली, अलंकार-विधान आदि सभी दृष्टि से महान् है। कवि की नख-शिख-वर्णन की कुछ पंक्तियाँ देखिये—

ठेहि पर कच विषधर विष सारा।
छाटहिं सेज सहज सहकारी ॥
निसि झकोर जो पवन देखाएँ।
निसि भँवर जो कच मुकराएँ ॥
कच न होइ विरहा दुख सारा।
भयो जाय मध सीस सिंगारा ॥

इस वर्णन में कवि की दृष्टि कितनी सूक्ष्म और पैनी है। लहराते कृष्ण केशों का श्वेत मुख-मण्डल से संयोग अपूर्व है। रूपक और अपह्नुति के विधान ने इन पंक्तियों में अनुपम सौन्दर्य भर दिया है। चित्रावली उसमान की प्राप्त रचना है जो श्री जगमोहन वर्मा द्वारा सम्पादित हो नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित हुई है। इस प्रेम-गाथा की रचना पूर्णतः जायसी के पद्मावत के अनुकरण पर हुई जान पड़ती है। कवि ने उन सभी विषयों का अपनी गाथा में समावेश किया है, जो पद्मावत के विषय हैं। रचना का कथानक कवि-कल्पित है, जैसा कि उसमें निम्नांकित पंक्तियों में कहा है—

'कथा एक मैं हिये उपाई।
कहत मीठ औ सुनत सोहाई।

कथानक सर्वथा कल्पित है, पर इसमें कवि ने बड़े कौशल से सूफी साधना का आध्यात्मिक स्वरूप रख दिया है। राजकुमार सुजान एक साधक है, जो एक लम्बी और अत्यन्त कष्टप्रद साधना के पश्चात् अपनी अभीष्ट वस्तु चित्रावली को प्राप्त करता है। इसमें उसमान ने नगर, समुद्र, यात्रा, विरह आदि का बड़ा सुन्दर और सजीव चित्रण किया है। काव्य-कला की दृष्टि से 'चित्रावली' का महत्त्व 'पद्मावत' से किसी प्रकार

सो न्यून नहीं है। विरह-वर्णन के अन्तर्गत हमें बड़ा सुन्दर ऋतु-वर्णन मिलता है। वसन्त ऋतु-वर्णन की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"ऋतु वसन्त नौतन बन फूला।
जहँ तहँ भौंर कुसुम-रंग भूला॥
आहि कहाँ सो भँवर हमारा।
जेहि बिनु बसत बसन्त उजारा॥
रात बरन पुनि देखि न जाई।
मानहुँ दवा दहूँ दिसि लाई॥
रतिपति-दुरद ऋतुपति बली।
कानन-देह आइ दलमली॥"

चित्रावली में सूफी भावना

चित्रावली का नायक सुजान योगी है। सूफी साधना में बेहोशी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। चित्रावली का नायक भी नायिका के रूप-दर्शन से मूर्छित हो जाता है। वह अपना चित्र चित्रावली के चित्र के समीप रखते ही निद्रामग्न हो जाता है। सूफियों ने निद्रावस्था को माया का प्रभाव माना है। उन्होंने निद्रा को उतना ही बुरा कहा है जितना बुरा कि कबीर आदि रहस्यवादी कवियों ने माया को कहा है। उसमान कहते हैं—

जो जग माँहि नींद बस होइ।
इहँ साथ मग सरबस खोइ॥

कवि ने निम्न पंक्तियों में बड़ी कुशलता से नायिका-दर्शन के माध्यम से ब्रह्म दर्शन की बात कह दी है—

कहा कहौं कछु कही न जाई।
हिय सौंरत सुधि जाइ हेराई॥
दरसन न पनै कछु मैं देखा।
गूँग क सपन भयो मोर लेखा॥

उसमान ने भी ब्रह्म-दर्शन के लिए कबीर की तरह गुरु का माध्यम आवश्यक माना है। वे कहते हैं—

जा कहँ गुरु न पंथ दिखाया।
सो अंधा चारिहु दिसि धाया॥

उन्होंने ब्रह्म को अगम अगाध और अनूप कह कर बिना उसकी खोज के जीवन को निस्सार बतलाया है—

१

अनुरागन पहिं भारी पथू ।
रहा खोजि पर पाय न भेदू ॥
कौन सो ठाउँ जहाँ सुख नाहीं ।
हम पस खोजि न दरसहिं काहीं ॥
पावै खोज तुम्हारा सो, जहि दिखरावहु पंथ ।
कहा होइ जोगी भय औ बहु पढ़े गरंथ ॥

सूफी साधना में भी प्रेम सर्वोपरि है। उसमान प्रेम की महानता के गान गाते हुए कहते हैं—

ज्ञान ध्यान मद्धिम सबै जप तप संयम नेम ।
"मान" जो उत्तम जगत जम, जो प्रतिपार प्रेम ॥

कवि की दृष्टि में वही विरहिणी धन्य है जो अपनी पीर को बिना प्रकट किये ही सहती रहती है—

"मान" जगत परगट करै, पावक विरह सरीर ।
धन विरहिन औं धन हिया, गुपुत सहै जा पीर ॥

उसमान के पश्चात् नूर मुहम्मद के साहित्य का स्थान है। इन्द्रावती इनकी सं० १८०१ वि० में रचित प्रेम-काव्य कृति है। इसमें कालिंजर के राजकुमार राजकुंवर और आगमपुर की राजकुमारी इन्द्रावती की प्रेम-कहानी है। इनकी द्वितीय कृति 'अनुराग बाँसुरी' है। इसकी भाषा अवधी पर लिपि फारसी है। इसके अनेक स्थानों में संस्कृत के तत्सम शब्द एवं ब्रज-भाषा के शब्द भी मिल जाते हैं।

सूफियों की भारतीयता

प्रेममार्गी सूफियों ने प्रेम का चित्रण जिस रूप में किया है उस पर भारतीय शैली का पर्याप्त प्रभाव है। भारतीय प्रथा के अनुसार नायक की अपेक्षा नायिका अधिक प्रेमोन्मुख होती है पर जायसी ने फारस की परम्परा के अनुसार नायक को ही अधिक प्रेमोन्मुख बतलाया है। इसका एक कारण यह भी है कि इन कवियों का प्रेम ईश्वरोन्मुख था। इन्होंने अपने प्रियतम ईश्वर की कल्पना प्रेमिका के रूप में की है जबकि कुछ भारतीय कवियों ने अपने को नायिका के स्थान में रखकर ईश्वर को अपना प्रियतम माना है। भारतीय परम्परा में अथवा गोपियों के प्रेम का इनपर प्रभाव था इसीलिए आरंभ में इन्होंने नायक को प्रियतमा की प्राप्ति के लिए अत्यधिक प्रयत्नशील दिखाकर उपसंहार में नायिका के प्रेमोत्कर्ष को भी दिखलाया है। भारतीय सूफी कवियों ने इस देश की प्रेम-परम्परा का तिरस्कार किया। उनका प्रेम बहुत कुछ लोक-व्यवहार के परे है, फिर भी असंगत नहीं है। जायसी ने तो पद्मावत में नायिका के सतीत्व

और उत्कट पतिप्रेम दिखाकर अपनी विचारधारा पूर्ण भारतीय होने का ही प्रमाण दिया है। इसके अतिरिक्त प्रेम-वर्णनों में अश्लील दृश्यों से भरसक बचाकर और प्रकृति के सुरम्य रूपों को चित्रित कर इन प्रेममार्गी कवियों ने अपने काव्य को भारतीय वातावरण के बहुत कुछ अनुकूल कर दिया है। सूफी सिद्धान्त के अनुसार अन्त में आत्मा परमात्मा में मिल जाती है। इसलिए इनके काव्य दुःखान्त ही हैं पर आगे चलकर भारतीय परम्परा के प्रभाव से उन्होंने नायक-नायिका के भोग विलास और सुखी जीवन के साथ ही अपने ग्रन्थों की समाप्ति की है।

सूफीकाव्य पर एक प्रकाश

सूफी प्रेममार्गी कवियों के ग्रन्थ अधिकतर प्रबन्ध-शैली में ही लिखे गये हैं अतः उनमें कथानक की रमणीयता और सम्बन्ध-निर्वाह की ओर ध्यान दिया गया है। उन्होंने कथा के भीतर किसी अन्य सत्ता की व्यंजना की है इसीलिए वस्तु ही नहीं पर समस्त कथानक का म। उनकी दृष्टि में वहीं तक मान्य था जहाँ तक उनके उस अन्य के अभिव्यंजन में वह सहायक हो। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में वस्तु की रमणीयता नहीं आ पाई। जहाँ कथा-प्रसंग के बीच में त्याग कष्ट और ईश्वरीय विरह-मिलन आदि के संकेत हैं वहाँ वस्तुओं का वर्णन भी रोचक कर दिया गया है।

दूसरी बात भाव-व्यंजना की है। भारतीय काव्य-समीक्षा में रति शोक उत्साह क्रोध आदि नौ स्थायी भाव माने गये हैं और इन्हें पुष्ट करनेवाले असूया गर्व व्रीड़ा आदि संचारी भावों की कल्पना की गई है। कवि की दृष्टि जितनी व्यापक होगी वह उतनी ही अधिक विस्तारता तथा उत्कर्षपूर्ण ढंग से भावों की व्यंजना करेगा। सूफी कवियों की दृष्टि बहुत व्यापक और तीव्र थी। कहीं-कहीं वे बहुत ही सूक्ष्म भावों तक अपनी पहुँच दिखाते हैं। उनके रति शोक आदि भावों के वर्णन बहुत ही भावपूर्ण हुए हैं। पर जीवन को व्यापक रीति से देखकर विविध भावों का सन्निवेश करने में कवि उतने सफल नहीं हुए, जितने [illegible] सूर, तुलसी आदि हुए। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि इनकी भाव-व्यंजना उच्च स्थान की अधिकारिणी है।

यद्यपि सूफी लोग अपने मत का सम्बन्ध कुरान से ही लगाते थे पर उसका प्रचलन मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात् दूसरी या तीसरी शताब्दी में हुआ था। इस मत के विकास में बाह्य प्रभाव सहायक हुए उनमें भारतीय अद्वैतवाद भी एक प्रमुख था। आरम्भ में यह मत इस्लाम धर्म की एक साधारण शाखामात्र थी पर कुछ समय के पश्चात् इसमें चिन्तनशीलता बढ़ी और इसके अनुयायी ईश्वर के सम्बन्ध में तरह का अनुसंधान करने लगे। वे मुसलमानी एकेश्वरवाद से ऊँचे उठे और जीवन तथा जगत् को भी ईश्वर या ब्रह्म ही समझने लगे। आत्मा और परमात्मा का अभेद प्रतिपादित हुआ। कट्टर मुसलमानों ने इसे "कुफ्र" कहा और सूफी मंसूर "अनलहक़" की आवाज लगाता हुआ शूली पर चढ़ गया। मुसलमानों का खुदा सर्वशक्तिमान् होता हुआ भी निराकार ही बना

रहा। सूफियों के नवीन सम्प्रदाय में प्रेम की इतनी प्रधानता हुई कि सृष्टि के रोम रोम में प्रभु आनन्द की झलक दिखाई देने लगी।

यह सूफीमत पहिले-पहल सिन्ध में फैला फिर क्रमश: देश के अन्य भागों में भी इसका प्रचार हो गया। जब इस देश में वैष्णव धर्म की लहर चली तब सूफियों पर भी उसका प्रभाव पड़ा। प्रमुख वैष्णव धर्म शाक्तों और शैवों के विरुद्ध था और उसका अहिंसा पर अधिक जोर था। सूफियों ने भी वैष्णव धर्म से शिक्षा ग्रहण की और वे भी अहिंसावादी बन गये। उन्होंने उपनिषदों के भी कुछ वाद स्वीकार किए थे। प्रतिबिम्बवाद के अनुसार नाम-रूपात्मक जगत् ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। ब्रह्म बिम्ब है और जगत् उसका प्रतिबिम्ब है। जायसी ने पद्मावत के कई स्थानों पर प्रतिबिम्बवाद से अपना मतसाम्य दिखलाया है। भारतीय पंचभूतों में से भी सूफियों ने चार भूत मान्य किये हैं। पतंजलि के द्वारा निरूपित भाव को क्रियाओं को हठयोगियों ने जो अपने मतानुसार विकसित किया था उन्हें भी सूफियों ने ग्रहण किया है। इस प्रकार सूफीमत की उत्पत्ति अनेक प्रकार के सिद्धान्तों के मिश्रण से हुई है। उन्होंने अनेक सम्प्रदायों की अनेक बातें ग्रहण की और उनसे अपने प्रेममार्ग की पुष्टि की।

छन्द अलंकार

सूफी कवियों के छन्द दोहे और चौपाई तक ही सीमित हैं और अलंकार कहीं भी भार या आडंबर नहीं बने। इन्होंने चौपाई में चार के स्थान पर दो ही पद स्वीकार किए हैं और दोहों के बीच में चौपाइयों की संख्या सम नहीं है। इन्होंने अर्थालंकारों को ही अपने काव्य में स्थान दिया है। सादृश्यमूलक उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि इनके प्रमुख अलंकार हैं। जायसी को हेतूत्प्रेक्षा सबसे अधिक प्रिय है।

भाषा

इनकी भाषा अवधी है। सूफियों ने भाषा में जैसा सुन्दर सुधार किया वैसा पहिले कभी नहीं हुआ था। जायसी ने बड़ी परिमार्जित भाषा का प्रयोग किया है। यद्यपि कहीं कहीं अरबी-फारसी के शब्द भी आये हैं और अवधी भाषा में तोड़-मरोड़ भी है पर अधिकांश कवियों ने शुद्ध अवधी का ही प्रयोग किया है और उसमें लोकभाषा का माधुर्य है। अत: सूफियों की भाषा को बोलचाल की परिमार्जित अवधी भाषा ही कहना चाहिए।

प्रेममार्गी साहित्य की विशेषतायें

प्रेममार्गी साहित्य की निम्नांकित दो विशेषताएँ हैं —

१ प्रेममार्गी कवियों की प्रेम-गाथाएँ भारतीय चरित-शैली में न होकर फारसी की मसनवियों के ढंग की हैं। इनकी गाथाओं का आरंभ ईश्वर-वन्दना, पैगम्बर-स्तुति अथवा बादशाह की प्रशंसा से होता है।

२ ये गाथाएँ प्राय: हिन्दू-जीवन से सम्बन्धित हैं और इनमें भौतिक प्रेम के द्वारा ईश्वरीय प्रेम का प्रतिपादन किया गया है।

जायसी का पद्मावत

राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों के कारण हमारे साहित्य के प्रारम्भिक काल में वीरगाथाओं तथा मध्यकाल में भक्ति-प्रधान धार्मिक साहित्य की प्रचुरता रही। इस माध्यमिक काल में ही हमारा साहित्य परिपक्व हुआ और इसी काल में आख्यानक काव्य भी प्रौढ़ता को पहुँचा। 'पद्मावत' प्रेममार्गी सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी का अमर आख्यानक काव्य-ग्रन्थ है। ऐसा जान पड़ता है कि इस देश में प्रचलित लोक-गाथाओं के आधार पर प्राचीन काल से ही आख्यानों का सृजन आरम्भ हो गया था, पर हमें १५ वीं शताब्दी के पूर्व का कोई प्रमाणबद्ध आख्यान प्राप्त नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि १५ वीं शताब्दी से २० वीं शताब्दी तक हमारे यहाँ निरन्तर आख्यान लिखे गए हैं। 'पद्मावत' हिन्दी का प्रथम प्रौढ़ ग्रन्थ है, जो पद्यबद्ध है। इसके पश्चात् गद्य में ही अधिक आख्यान लिखे गये हैं जिन्हें हम आज उपन्यास कहते हैं।

आख्यान लिखनेवाले कवि हिन्दू और मुसलमान दोनों थे। दोनों के लक्ष्य भी भिन्न-भिन्न थे। हिन्दू लेखकों का उद्देश्य मनोरंजन था, पर मुसलमान लेखकों का उद्देश्य अपने मत का प्रचार था। मुसलमान लेखक प्रायः सूफी मतानुयायी थे। उनका उद्देश्य कथाओं द्वारा अपने आध्यात्मिक भावों को हिन्दुओं में प्रचारित करना था। उनके आख्यानों का आधार हिन्दू कथाएँ था, पर उनमें निहित प्रेम-भावना का स्वरूप उनका अपना था। दूसरे हिन्दू लेखकों की भाषा साहित्यिक और परिमार्जित होती थी पर मुसलमानों की भाषा अपरिमार्जित और बोलचाल की भाषा थी। प्रचार की दृष्टि से उनका बोलचाल की भाषा अपनाना आवश्यक भी था। हिन्दू लेखकों को संस्कृत ग्रन्थों का ज्ञान था पर मुसलमान लेखक हिन्दी के ग्रन्थों से अधिक परिचित न थे। जिससे वे दोहा-चौपाई जैसे प्रचलित छन्दों का प्रयोग करते थे। मुसलमान कवियों का सबसे उत्तम-शैली में लिखे गए आख्यानों में गिने गए, पर वे जनता में अधिक प्रचलित हुए और स्थायी हिन्दी-साहित्य में उन्हें स्थान मिला।

मुसलमान लेखकों के आख्यानों की भाषा 'अवधी' थी जिसको फ़ारसी-साहित्य में प्रचुरता था, पर हिन्दू-लेखकों का आदर्श "काव्य महाकाव्य" था। वे इस आदर्श पर अधिक सफल न हो सके। दूसरे हिन्दी-साहित्य की उसी समय उन्नति हुई तथा से हिन्दुओं का पराजित होना भी आरम्भ हो गया। जब यहाँ मुसलमानी शासन आरम्भ हुआ तब हिन्दुओं के सामने "धर्म-संकट" उपस्थित हो गया। इस स्थिति में उत्थान या लिखा गया धार्मिक भावों का प्रचार करने और उनकी रक्षा के लिए हो। इस

स्थिति में 'पृथ्वीराज रासो' के पश्चात् हिन्दू लेखकों-द्वारा "रामचरितमानस" ही एक मात्र महाकाव्य लिखा जा सका। वैसे केशव की 'रामचन्द्रिका' भी है पर वह महाकाव्य की कसौटी पर पूर्णरूपेण खरी नहीं उतरती। सूर का "सूरसागर" विस्तृत ग्रन्थ है, पर वह महाकाव्य नहीं समझा जा सकता। इसके पश्चात् हिन्दी कवि नायिका भेद के चक्कर में पड़ गये और उनकी प्रवृत्ति शृंगार की ओर झुक गई।

जिन मुसलमान कवियों ने हिन्दी में 'आख्यान काव्य' लिखे उनमें जायसी का स्थान सर्वोच्च है। जायसी के पूर्व स्वप्नावती, मुग्धावती, मृगावती, मधुमालती और प्रेमावती नामक आख्यानों के पद्यबद्ध-लिखे जाने का पता लगता है पर इनमें से केवल मृगावती और मधुमालती ही प्राप्त हैं। जायसी के पश्चात् [illegible], उसमान, शेख नबी, कासिम, नूर मुहम्मद, फाजिलशाह आदि ने भी जायसी के अनुकरण पर आख्यान-काव्य लिखे। इनमें से उसमान की "चित्रावली" और नूरमुहम्मद की "इन्द्रावती" अधिक प्रसिद्ध हैं।

जायसी की जानकारी

डा. ग्रियर्सन के मतानुसार जायसी ने जायस में आकर वहाँ के पंडितों से संस्कृत भाषा सीखी थी पर उनके काव्य से यह कथन सत्य नहीं जान पड़ता। यदि वे संस्कृत जानते होते तो कुछ संस्कृत शब्दों का प्रयोग तो उनकी रचना में अवश्य होता। दूसरे उन्होंने "चक्र" को स्त्रीलिंग लिखा है जो संस्कृत का ज्ञाता नहीं लिख सकता। तीसरे यदि उन्हें संस्कृत का ज्ञान होता तो उनका शब्द-भंडार इतना सीमित न होता जितना हम उनके काव्य में देखते हैं। इतना अवश्य है कि उन्होंने सत्संग से अपना शब्द भंडार अपने काम के योग्य बना लिया था वे बहुश्रुत थे और उन्होंने किसी मात्रा में हिंदी भाषा की काव्य-परम्परा का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उनकी रचना से स्पष्ट है कि उन्हें छंदशास्त्र और नख-शिख आदि का साधारण ज्ञान था। उनकी भाषा अवधी है और संभवतः इसीलिए उन्होंने उसमें अधिक प्रचलित दोहा और चौपाई छन्दों को अपनाया हो पर छंदशास्त्र की दृष्टि से इनमें भी कई स्थानों पर भूलें हैं। मात्राओं की न्यूनाधिकता अनेक स्थानों में देखी जा सकती है। उन्हें हिन्दू पौराणिक कथाओं का भी ज्ञान था पर वह अपूर्ण था। जैसे उन्होंने 'कैलास' शब्द का उपयोग 'स्वर्ग' के अर्थ में किया है। वे मानसरोवर उत्तर में न मानकर सिंहल द्वीप के पास मानते हैं। सात समुद्रों में उन्होंने मानसरोवर और किलकिला मिला दिए हैं, आदि। वे रामायण और महाभारत के पात्रों के कुल-शील से अवश्य परिचित थे।

जायसी को भारत के भिन्न-भिन्न मार्गों का अच्छा ज्ञान था जैसा कि हम "पद्मावत" के देखने से मालूम होता है। रत्नसेन की सिंहल-यात्रा का वर्णन भौगोलिक

दृष्टि से ठीक है। पद्मावत में हमें कहीं-कहीं कुरान का प्रभाव भी मिलता है जिससे उन्हें कुरान का ज्ञान होना प्रकट होता है। इतना ही, उन्हें ज्योतिष का भी अच्छा ज्ञान था। संक्षिप्त में कवि मलिक मुहम्मद-जायसी अधिक पढ़े-लिखे न थे पर उन्हें अनेक विषयों का अच्छा ज्ञान था। वे भावुक थे, बहुश्रुत थे और प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। उन्हें प्रेम की पीर ने पद्मावत जैसा सुन्दर ग्रन्थ रचने को प्रेरित किया था।

पद्मावत का निर्माणकाल

इसके निर्माण-काल के विषय में बहुत मतभेद है पर नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'पद्मावत' में जायसी ने लिखा है —

✓ "सन नव सै सैंतालिस अहा। कथा अरंभ बैन कवि कहा।

इससे पद्मावत का रचनाकाल हिजरी संवत् ९४७ अर्थात् वि० संवत् १५९७ स्पष्ट है। यही सही भी जान पड़ता है क्योंकि इसमें शेरशाह सूरी की प्रशंसा का गई है जो उस समय दिल्ली का सुल्तान था। कुछ विद्वान् इसका रचनाकाल हिजरी संवत् ९२७ मानते हैं। उस समय इब्राहीम लोदी का शासन था जिसकी कोई चर्चा जायसी ने नहीं की जिससे यह समय प्रामाणिक नहीं जान पड़ता।

पद्मावत के कथानक की ऐतिहासिकता

सिंहल एक अति सुंदर देश है। गन्धर्वसेन वहाँ का राजा है। पद्मावती उसकी एकमात्र पुत्री है। तरुण होने पर भी गन्धर्वसेन उसका विवाह नहीं करता तब वह अपनी मनोव्यथा अपने हीरामन तोते से प्रकट करती है। वह कहता है कि यदि आप आज्ञा दें तो मैं देश विदेश में जाकर आपके योग्य वर ढूँढ़ें। एक सुननेवाले व्यक्ति ने यह बात राजा से कह दी। उन्होंने क्रोध में आकर हीरामन तोते को मार डालने की आज्ञा दे दी पर पद्मावती ने किसी प्रकार अनुनय-विनय करके उसे बचाया। एक दिन जब पद्मावती मानसरोवर में स्नान करने गई तब हीरामन को बिल्ली ने घेर लिया। वह प्राण बचाकर भागा पर एक चिड़ीमार ने उसे पकड़ लिया और चित्तौड़ के एक व्यापारी ब्राह्मण को बेच दिया।

चित्तौड़ आने पर हीरामन तोते की प्रशंसा सुनकर वहाँ के राजा रत्नसेन ने उसे खरीद लिया। एक दिन रत्नसेन की रानी नागमती ने शृंगार कर तोते से पूछा कि क्या तुमने मेरा जैसा रूप कहीं देखा है? शुक ने कहा तुम सिंहल की स्त्रियों की बात क्या पूछती हो? सुनकर यह बड़ी क्रुद्ध हुई और उसने उसे मार डालने की आज्ञा दे दी पर धाय ने उसे छिपा लिया। रत्नसेन ने आखेट से लौटने पर शुक को न देख नागमती से कहा कि 'वह मेरा साथ साथ था स्वयं प्राण जाने दे।' रानी बड़ी घबराई। धाय ने शुक को ला दिया। राजा के पूछने पर शुक ने पद्मावती के रूप-गुण की बड़ी प्रशंसा

की। रत्नसेन ने उससे विवाह करना निश्चित कर लिया और वह हीरामन के साथ योगी बनकर सिंहल जा पहुँचा। वहाँ शिवजी के मंदिर में ठहर गया। वहीं बसंत पंचमी को उसने पद्मावती को देखा। वह उसे देखते ही मूर्च्छित हो गया। सुधि आने पर वह पद्मावती के लिए बड़ा पश्चात्ताप करने लगा और प्राण देने को तैयार हो गया। पार्वती द्वारा उसके प्रेम की परीक्षा लेने के पश्चात् महादेव जी ने उसे सिद्धि गुटिका देकर सिंहल गढ़ में प्रवेश करने की आज्ञा दी। राजा गन्धर्वसेन को यह ज्ञात होने पर कि वे योगी पद्मावती को चाहते हैं, उसने उन्हें कैद करा लिया। रत्नसेन को सूली देने की आज्ञा हुई।

महादेव जी एक भाट के रूप में गन्धर्वसेन से मिले और उससे पद्मावती का विवाह योगी वेशधारी राजा रत्नसेन से करने का आग्रह किया पर वह न माना। अंत में युद्ध प्रारम्भ हो गया। योगियों की ओर से देवगण युद्ध करने आये। उनकी शंखध्वनि सुन गन्धर्वसेन घबरा गया और महादेव जी से क्षमा प्रार्थना कर पद्मावती का रत्नसेन से विवाह कर दिया। वे कुछ दिन तक सिंहल में ही रहे पर एक पक्षी द्वारा नागमती के शोकाकुल होने का समाचार पाकर वे पद्मावती को लेकर चित्तौर चल पड़े। लौटते समय एक राक्षस के उत्पात से उनकी नाव टूट गई और वे अलग बह गये। पद्मावती की समुद्रपुत्री लक्ष्मी ने और रत्नसेन की ब्राह्मण के वेश में समुद्र ने रक्षा की। समुद्र की कृपा से रत्नसेन की पद्मावती से भेंट हो गई और उनके बहे हुए साथी भी आ मिले। नागमती से नागसेन और पद्मावती से कमलसेन का जन्म हुआ।

चित्तौर में राघव चेतन नामक एक पंडित रहता था। उसे असत् विधि बताने पर रत्नसेन ने निर्वासित कर दिया। उसने दिल्ली में जाकर अलाउद्दीन से पद्मावती के सौन्दर्य की प्रशंसा की। उसने पद्मावती को पाने के लिए चित्तौर पर चढ़ाई कर दी पर आठ वर्ष तक युद्ध करते रहने पर भी वह रत्नसेन को पराजित न कर सका। तब उसने सन्धि कर ली और राजमहल में उसका सम्मान होने लगा। एक दिन उसने चौपड़ खेलते हुए एक दर्पण में पद्मावती का प्रतिबिम्ब देख लिया। वह उसे पाने को आतुर हो उठा। उसने राजा से विदा माँगी। रत्नसेन उसे बाहर तक पहुँचाने गया पर गढ़ के बाहर होते ही अलाउद्दीन ने उसे कैद कर लिया और उसे दिल्ली भेज दिया।

अन्त में गोरा-बादल ने पद्मावती की सहायता की। उसके साथ सोलह-सौ पालकियों में चढ़कर सिपाही दिल्ली गये और बादशाह से कहा कि पद्मावती आई है, वह रत्नसेन से भेंट करने के पश्चात् शाही महल में रहने को तैयार है। अलाउद्दीन ने बन्दीगृह का द्वार खुलवा दिया। रत्नसेन की बेड़ी काट दी गई और सब सिपाही लड़ भिड़कर उसे चित्तौर ले आए। चित्तौर आने पर रत्नसेन को ज्ञात हुआ कि देवपाल ने पद्मावती को बहकाने के लिए दूती भेजी थी। वह क्रोध से लाल हो गया। उसने देवपाल पर चढ़ाई कर दी।

युद्ध में देवपाल तो मारा गया पर रत्नसेन को भी मर्माहत चोट पहुँची। उसकी मृत्यु होने पर दोनों रानियाँ सती हो गईं। अलाउद्दीन की सेना चित्तौड़ पहुँची पर पद्मावती के सती होने का समाचार पाकर वह हाथ मल कर रह गया।

इस कथानक का मूल आधार तो ऐतिहासिक घटना अवश्य है, पर पूर्णांश में नहीं। चित्तौड़ के राजा की रानी पद्मावती के रूपवती होने और अलाउद्दीन के उसे पाने का प्रयत्न करने तथा राजा के मरने पर पद्मावती के सती होने की घटना ही ऐतिहासिक है। कथा में कुछ तो एक दंतकथा पर आधारित है और कवि कल्पित। इतिहास में चित्तौड़ के राजा का नाम भीमसिंह है रत्नसेन नहीं। दूसरे प्राचीन काल से हीरामन तोता और पद्मावती की कहानी सुनी जाती है। यह कहानी ही जायसी के पद्मावत का मूल आधार मान पड़ता है। अलाउद्दीन के चित्तौड़ लेते समय पद्मावती का ऊपर से झाँकना और दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ना भी ऐतिहासिक नहीं है। इतिहास में यह लिखा है कि अलाउद्दीन के प्रतिबिम्ब देखने पर लौट जाने की बात कहने पर ही उसे प्रतिबिम्ब दिखाया गया था। ऐतिहासिक कथानक के अनुसार भीमसिंह को छुड़ाकर चित्तौड़ भेजने पर होनेवाले युद्ध में गोरा की मृत्यु बतलाई है पर 'पद्मावत' काव्य में रत्नसेन का गोरा-बादल को मृत्यु के समय चित्तौड़ का राज्य सौंपना बतलाया है। पद्मावती का सिंहल की राजकुमारी होना भी ऐतिहासिक नहीं है। वह सम्भवतः चित्तौड़ से ४० मील पूर्व में स्थित सिंगाली के सरदार की कन्या हो जिसे जायसी ने सिंहल बना दिया और सम्भवतः कथानक की गौरव-वृद्धि के लिए उत्तर के मानसरोवर को सिंहल के समीप रख दिया। पुनः रत्नसेन का सिंहल में महादेव के मन्दिर में रुकना, महादेव-द्वारा उसकी सहायता, उसका गन्धर्वसेन से युद्ध, देवताओं का उसकी ओर से लड़ने को उद्यत होना, विभीषण जैसे राक्षस का समुद्री उत्पात, रत्नसेन और पद्मावती का समुद्र में बहना और लक्ष्मी का समुद्र द्वारा उबारा रखना आदि कवि-कल्पित ही हैं। इन घटनाओं में किंचित् भी ऐतिहासिक सत्य नहीं है।

जायसी की भाषा

जायसी के पद्मावत की भाषा अवधी है पर वह रामचरित मानस की तरह साहित्यिक नहीं, वरन् बोलचाल की भाषा है। अवधी के दो प्रकार हैं पूर्वी अवधी और पश्चिमी अवधी। पूर्वी अवधी गोंडा और अयोध्या फैजाबाद तथा पश्चिमी अवधी लखनऊ से कन्नौज तक बोली जाती है। जायसी की भाषा पूर्वी अवधी है। इनका अधिकांश काल जायस में बीता है जो पूर्वी अवधी के क्षेत्र में है। पहिले गंगा और यमुना-सम परम्परा में मागधी और शौरसेनी भाषा बोली जाती थी। इस पूर्वी भाग में मागधी और पश्चिमी भाग में शौरसेनी का प्रचार था। इन दोनों भाषा के बीच जो भाषा

प्रचलित थी वह अर्धमागधी कहलाती थी। अवधी भाषा का जन्म इसी अर्धमागधी भाषा से हुआ है। जायसी की भाषा प्राचीन अवधी का उदाहरण है।

जायसी ने मुख्यतः पूर्वी अवधी का ही प्रयोग किया है पर 'पद्मावत' पर कहीं कहीं अन्य पश्चिमवर्ती प्रयोगों का भी प्रभाव देखा जाता है। यथा अवधी की क्रिया म पुरुष वचन और लिंग भेद कर्ता के अनुसार होता है। पश्चिमी हिंदी में भूतकालिक सकर्मक क्रिया में पुरुष भेद नहीं होता। जायसी ने कई स्थानों में हिन्दी के इस व्याकरणिक नियम का ही अनुसरण किया है। जैसे—"तिन्ह पावा उत्तम कैलासू, तुम सिरजा यह समुद अपारा" आदि।

जायसी ने कुछ स्थानों में सकर्मक भूतकालिक क्रिया म लिंग वचन पश्चिमी हिन्दी की भाँति रखे हैं। जैसे—बसिठन्ह आइ कही अस बाता?

कहीं-कहीं साधारण क्रिया का रूप अवधी की भाँति 'ब' कारान्त न होकर नकारान्त मिलता है। यथा—जिन आवन पुनि अपने हाथा।

कहीं-कहीं कारक-चिह्न न लगने पर भी पश्चिमी हिन्दी की तरह संज्ञा में बहुवचन का रूप दिखाई देता है। यथा—जोबन लाख हिलोरें लेई।

जायसी ने कुछ ऐसे शब्दों का भी प्रयोग किया है जो ठेठ अवधी के हैं। यथा—राध महक तहुँ आदि।

अपभ्रंश और प्राकृत काल में सम्बन्ध कारक की विभक्ति 'हि' या "ह सभी कारकों की विभक्ति का काम देती थी। कुछ समय के पश्चात् केवल कर्म और सम्प्रदान कारक विभक्ति के रूप में ही उसका प्रयोग किया जाने लगा। जायसी ने पूर्व परिपाटी के अनुसार अनेक कारकों के लिए इस विभक्ति का प्रयोग किया है। यथा—"राजै कहा सत्त कहु सूआ" में जायसी ने "हि" विभक्ति का स्थानापन्न 'ऐ' का प्रयोग 'ने' के व्यक्त किया है।

छन्द

जायसी ने दोहा-चौपाई छन्दों का ही प्रयोग किया है पर इसमें भी एक विशेषता है। जायसी के पूर्व के कवियों ने पाँच चौपाइयों के पश्चात् दोहा लिखा है और गोस्वामी तुलसीदास जी ने आठ चौपाइयों के पश्चात् दोहा लिखा है, पर जायसी ने सात चौपाइयों के पश्चात् दोहा लिखा है। "चौपाई" शब्द के अर्थ के अनुसार तुलसी की आठ चौपाइयाँ वास्तव में चार ही चौपाइयाँ हुईं। ऐसा जान पड़ता है कि भारतीय छन्दशास्त्र का ज्ञान न होने से ही मुसलमान कवियों ने आधी चौपाई को ही पूर्ण चौपाई मान लिया और पाँच अथवा सात का क्रम रखा जो वास्तव में ढाई और साढ़े तीन चौपाई ही हुईं।

पद्मावत में सूफीमत

प्रायः सभी मुसलमान आख्यान-लेखक सूफीमत के माननेवाले थे। सूफीमत के अनुसार ईश्वर की कल्पना "प्रियतम" के रूप में की जाती है। वे अपने ईश्वर (प्रियतम) को अनन्त सौन्दर्य, अनन्त शक्ति और अनन्त गुणों का आधार मानते हैं। यह मत "भारतीय अद्वैतवाद" से बहुत मिलता है। प्रोफेसर ब्राउन के मतानुसार यह 'भारतीय वेदान्त' का रूपान्तर है। सूफीधर्म वास्तव में इस्लाम का धार्मिक दर्शन है। इस्लाम धर्म सांसारिक पदार्थों के उपभोग में ही आनन्द मानता है और स्वर्ग में भी वह ये ही वस्तुएँ चाहता है। मन शुद्धि ही सूफियों के मोक्ष का प्रमुख साधन है। वे तृष्णा और मोह का दमन भी आवश्यक मानते हैं। वे ईश्वर का सुन्दर रूप संसार के समस्त सुन्दर पदार्थों में देखते हैं। वे सारे संसार को ईश्वर के प्रेम की पीर से व्यथित देखते हैं। प्रेम के आनन्द में मग्न होना सौन्दर्य और श्रृंगार की मदिरा पीकर मस्त होना सूफियों की परमोपासना है।

जायसी भी सूफी सम्प्रदाय के थे और वे ही बातें मानते थे जो ऊपर बतलाई गई हैं। यदि हम "पद्मावत" को ध्यानपूर्वक पढ़ें तो हम उसमें इन सूफी विचारों की अभिव्यंजना देख सकते हैं। उन्होंने जहाँ कहीं भी प्रेम का वर्णन किया है वहाँ उसे लौकिक पक्ष से उठाकर अलौकिक की ओर ले गए हैं। वास्तव में जायसी ने पूरी कथा अन्योक्ति की भावना से लिखी है। वे स्वयं अन्त में कहते हैं —

"तन चितउर मन राजा कीन्हा।
हिय सिंघल बुधि पद्मिनि चीन्हा॥
गुरू सुआ जेहि पंथ दिखावा।
बिनु गुरु जगत को निर्गुन पावा॥
नागमती दुनिया कर धंधा।
बाँचा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोइ सैतानू।
माया अलाउदी सुलतानू॥

इस पद्मावत में स्थान-स्थान पर आध्यात्मिक प्रेम के दर्शन होते हैं। प्राकृतिक वर्णन करते हुए भी कवि संसार को परमेश्वर के प्रेम की पीर से व्यथित अनुभव करता हुआ सा है। जायसी ने सूफीमत के एक सच्चे अनुयायी की भाँति पद्मावत में विश्वव्यापी विरह की व्यंजना की है। विरह के आगे सूर जरि काँपा। रातउ दिवस जरै ओहि तापा। पंक्तियों में भी उसकी यही भावना व्यक्त हुई है।

मे समता चाहते थे, इसीलिए उन्होंने सामाजिक विषमता का विरोध किया। सगुणवादी परम्परागत समाज में उदार दृष्टि स्थापित कर उसमें सुधार करना चाहते थे। उपासना के क्षेत्र में "शून्यवाद" निर्गुणवादियों का मूलाधार था। सगुणवादियों ने भी शून्य की सत्ता स्वीकार की है पर वे अपने रूप में ही यह स्वीकार करते हैं। समाज को इस शून्य के सगुण स्वरूप का ही दर्शन कराने का ध्येय है। दोनों के दृष्टिकोण में यह अन्तर अवश्य था पर दोनों के चिन्तन में यह समन्वय था। सगुणवादियों की उपासना और चिन्तन का आधार उनका एकमात्र आराध्य ही है उसमें तर्क की गुंजाइश नहीं है पर निर्गुणवादी अपने आराध्य की सत्ता और महत्ता पर विश्वास करने के साथ ही उसे तर्क की कसौटी पर परखने को भी तत्पर हैं। सगुण उपासना का आधार भक्ति और निर्गुण उपासकों का आधार ज्ञान है।

सगुणधारा का आविर्भाव

भारतीय भक्तिमार्ग का प्रारम्भ वैदिककाल से होता है। मानव ने विश्व की विविधता और प्रकृति की विविध लीलाओं को देखकर इन सबके मूल में किसी अज्ञात और अदृश्य सत्ता के होने की कल्पना की और उसे परमसत्ता ब्रह्म आदि की संज्ञा से सम्बोधित किया। उसने उस परमसत्ता या ब्रह्म की प्रसन्नता में ही अपना कल्याण देखा और वह उसे प्रसन्न करने के साधन की खोज में रत हो गया। उसकी खोज ने उसे जो साधन प्रदान किया वही भक्ति अथवा उपासना के नाम से हमारे सामने आया। वेद हमारे प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। ऋग्वेद ने 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' कहकर उसी परम सत्ता की ओर संकेत किया है।

मानव ने प्रकृति की विविध शक्तियों के विविध कार्य करते देखा और उन शक्तियों के कार्य में नियमितता एक निश्चित व्यवस्था और कार्य-शृंखला देखकर उनके उसी परमसत्ता-निर्देशित और अनुशासित होने की कल्पना की। उसकी इसी कल्पना ने सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, रुद्र आदि देवों की सृष्टि की। वह उस परमात्मा के साथ ही इनकी शक्ति देवताओं की भी उपासना करने लगा और इस तरह के ब्रह्म के साथ ही बहुदेवोपासना भी आरम्भ हो गई। इन शक्ति-देवताओं में से किसी ने किसी को और किसी ने किसी को सर्वाधिक शक्तिशाली समझा और इस मानव-भावना के अनुसार इन देवताओं का महत्त्व न्यूनाधिक होता गया। इसके पश्चात् मानव ने समस्त प्राकृतिक व्यापारों के तीन अधिष्ठाता मान लिए। उसकी इसी मान्यता ने ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र की प्रतिष्ठा की किन्तु ये भी ब्रह्म की तरह अदृश्य, अगोचर और अगम होने के कारण मानव-मन को अधिक समय तक आकर्षित न कर सके। अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि ऐसी शक्तियाँ थे जिनका प्रत्यक्ष दर्शन किया जा सकता था। अतः भारतीय उपासना अब दो भागों में विभक्त हो गई। एक वर्ग अग्नि को अमूर्त, अगोचर ब्रह्म का प्रतिनिधि मान

मन्त्र-द्वारा रुद्रोपासना करने लगा और दूसरा वर्ग शक्तियों की उपासना करने लगा। इन शक्तियों में सूर्य सर्वाधिक शक्तिशाली समझा गया और उसकी उपासना का महत्त्व बढ़ गया।

कुछ समय के पश्चात् अग्नि में रुद्र का और सूर्य में विष्णु का तादात्म्य हो गया और इस प्रकार रुद्र तथा विष्णु की उपासना का सूत्रपात हुआ। अब एक ओर रुद्रोपासना के साथ यज्ञक्रिया भी चलती रही और दूसरी ओर सूर्योपासना के साथ विष्णूपासना भी विकसित होती रही। इसी समय शकों ने इस देश में प्रवेश किया। वे शक्ति-सिद्धान्त के समर्थक थे। उन्होंने भारत की रुद्रोपासना से प्रभावित हो साकार शक्ति की कल्पना की और उपासना के विधि-विधानों एवं मन्त्र-तन्त्रादि की सृष्टि की। शकों की इस सृष्टि ने भारतीयों को भी प्रभावित किया और परिणाम-स्वरूप उनकी उपासना पद्धति में परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा।

इसके पश्चात् पुराण-साहित्य का सृजन हुआ। पुराण-साहित्य के निर्माताओं ने देवों देवताओं और उनके क्रिया-कलापों का रूप तो वैदिक साहित्य से ही ग्रहण किया किन्तु उन्हें उपस्थित करने की कल्पना उनकी अपनी थी। उन्होंने वैदिक देवताओं के कार्यों के आधार पर उनके रूप, वाहन, आयुध आदि की कल्पना की और इस कल्पना के आधार पर अपने ढंग से उनका चरित्र-चित्रण किया। इस प्रकार इन्होंने अगम अगोचर ब्रह्म और उसकी विभिन्न शक्तियों को साकार और बुद्धिगम्य बनाकर उपासना का मार्ग सुगम कर दिया। अदृष्ट परम सत्ता रूप ब्रह्मा, सूर्य, देवी, शिव और विष्णु के रूप में व्यक्त हुआ। प्रत्येक देवता की उपासना और पूजा-विधि निश्चित हुई और तदनुसार इन देवों की उपासना प्रारम्भ हो गई। शक-प्रचारित आगम-साहित्य में उनके तन्त्र-विधान के अन्तर्गत देवी और रुद्र का स्थान था ही, उन्हें भी यह पौराणिक उपासना-पद्धति स्वीकार करने में कोई आपत्ति न हुई। अतः पौराणिक विचारधारा सर्वमान्य होकर विकसित होने लगी।

उपर्युक्त देवों में से शिव (रुद्र) और देवी का महत्त्व वैदिककाल में भी कम न था। यजुर्वेद की "रुद्राष्टाध्यायी" और "सहस्रनामाभिमन्या" ऋचा इसका प्रमाण है। किन्तु किसी भी देवता की उपासना या उस देवता के महत्त्व पर उद्भूत विचारधारा तब तक स्थायी नहीं रह सकती जब तक उस विचारधारा को स्थायित्व प्रदान करनेवाला अथवा उसका अनुगमन करनेवाला कोई महापुरुष न हो। जब बार देवी की शक्ति सर्वाधिक स्वीकार कर उसकी कल्पना "विश्व जननी" और "विश्व-संहारकारिणी" के रूप में की गई पर शक्तिशाली नेतृत्व के अभाव में रुद्रोपासना की प्रबलता से उसका महत्त्व कम

कर दिया। शैव सम्प्रदाय इसी रुद्रोपासना पर आधारित है। आर्यों के यज्ञ-पूजन और अनार्यों की समाधि-शिला-पूजन के समन्वय ने "महादेव-पूजन" को जन्म दिया। इस महादेव-पूजन अथवा शिवोपासना का विकास फिर शैव सम्प्रदाय, कालमुख सम्प्रदाय, काश्मीरी शैव सम्प्रदाय, पाशुपत सम्प्रदाय आदि के रूप में हुआ और भारत का एक वृहत् भाग रुद्रोपासना की विविध प्रणालियों से प्रभावित हो गया। इस रुद्रोपासना की प्रबलता के युग में भी विष्णूपासना कम ही रही थी। भगवान् कृष्ण के आविर्भाव ने इस उपासना को नवजीवन और नवशक्ति प्रदान की।

"कृष्ण" कवि-कल्पना की वस्तु नहीं पर एक ऐतिहासिक सत्य है। ऋग्वेद संहिता में कुछ सूक्तों के रचयिता के रूप में कृष्ण के नाम का उल्लेख है। यजुर्वेद संहिता में केशी नामक राक्षस का वध करनेवाले कृष्ण की कथा मिलती है। छान्दोग्योपनिषद् में भी कृष्ण को घोर आंगिरस ऋषि का शिष्य बतलाया गया है। पाणिनि और पतञ्जलि ने भी अपने ग्रन्थों में "वासुदेव" और 'कंस विजय वासुदेव' आदि शब्दों का प्रयोग किया है जिससे कृष्ण का उनके पूर्व होना प्रमाणित होता है। इस प्रकार अनेक प्राचीन ग्रन्थों और शिलालेखों तक में हम कृष्ण का नाम पाते हैं। कृष्ण के आविर्भाव काल के सम्बन्ध में भले ही मतभेद हो पर उन्हें ऐतिहासिक महापुरुष स्वीकार करने में मतभेद का कोई स्थान नहीं हो सकता।

"श्रीमद्भगवद्गीता" भगवान् कृष्ण की महान् कृति है। इसमें उन्होंने वैष्णव धर्म के सिद्धान्तों की विशद व्याख्या करते हुए एक नवीन दृष्टिकोण व्यक्त किया है। ऐसा जान पड़ता है कि अपने काल में प्रचलित विविध विचारधाराओं और उनके प्रभावों को देखते हुए भगवान् कृष्ण ने वैष्णव धर्म के तत्कालीन स्वरूप में सामयिक परिवर्तन करना आवश्यक समझा और उसे नये रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने गीता-द्वारा कर्म और भक्ति की अपेक्षा ज्ञान का ही अधिक महत्त्व प्रतिपादित किया है पर न कर्म और भक्ति की उपेक्षा की और न अन्य देवी-देवताओं की ही निन्दा की। उन्होंने अन्य देवी-देवताओं में भी अपना ही (ब्रह्म का) प्रसार बतलाया और विभिन्न उपास्यों की उपासना करने वालों को तीन प्रकार के भक्तों में विभाजित कर दिया। उन्होंने एक ब्रह्म की उपासना का समर्थन करते हुए भी विविध देवों की उपासना को व्यर्थ नहीं कहा। उनका यह समन्वयवादी दृष्टिकोण ही वैष्णव धर्म का मूलाधार बन गया। कृष्ण-द्वारा संशोधित यह वैष्णव धर्म उनके पश्चात् भी युगानुरूप से विकसित होता हुआ भारतीय जनता का पथ-प्रदर्शक और कल्याण का कारण बना रहा। वैदिक काल-परिचालित जो वैष्णव धर्म मध्यकाल में आकर मरणासन्न हो रहा था उसे नई चेतना मिली और वह जन-मन की शान्ति और मंगल में समर्थ हुआ।

सगुण उपासना का विकास—

वैष्णव धर्म के प्रमुख आचार्य रामानुजाचार्य मध्वाचार्य विष्णुस्वामी निम्बार्काचार्य एवं रामानन्द चैतन्य वल्लभाचार्य आदि के द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों से यह स्पष्ट है कि भारतीय भक्ति-मार्ग के दार्शनिक सिद्धान्तों में प्रथम चारों आचार्यों के मतों में विशेष अन्तर नहीं है। जो अन्तर है वह केवल उनके दृष्टिकोण का ही अन्तर है। रामानुजाचार्य ने केवल विष्णु या नारायण की भक्ति पर बल दिया पर मध्वाचार्य विष्णु स्वामी और निम्बार्क ने विष्णुस्वरूप भगवान् कृष्ण की भक्ति का ही आदर्श उपस्थित किया। श्री रामानुजाचार्य ने भक्ति का जो स्वरूप उपस्थित किया उसी का समर्थन उनसे बहुत समय पहले श्रीमद्भागवद्गीता तथा पुराणादि में हुआ है। श्रीरामानुजाचार्य के भक्ति-विषयक दृष्टिकोण में चिन्तन और ज्ञान को विशेष स्थान प्राप्त है। श्री रामानन्द ने रामानुजाचार्य के मत के आधार पर ही अपने सम्प्रदाय की उपासना में विष्णु और नारायण के स्थान में राम की प्रतिष्ठा की और उन्हीं की भक्ति पर विशेष बल दिया। रामानंद की यही "राम प्रतिष्ठा" चौदहवीं शताब्दी और उसके पश्चात् विकसित होनेवाली 'रामभक्ति' का कारण बनी। रामानंद ने राम के निर्गुण और सगुण दोनों रूप स्वीकार किए हैं। उनके निर्गुण राम की भक्ति का प्रकाश हमें कबीर काव्य में और सगुण राम की भक्ति का विकास तुलसी-काव्य में मिलता है। अन्य तीनों आचार्यों की भक्ति का आधार श्रीमद्भागवत है। इनके द्वारा निरूपित भक्तिभाव में ज्ञान को वह महत्व प्राप्त नहीं है, जो प्रेम को प्राप्त है। इनके द्वारा प्रचारित भक्ति में आत्मचिंतन या आत्म-दर्शन की अपेक्षा आत्मसमर्पण ही अधिक आवश्यक है। इन तीनों आचार्यों ने भगवान् कृष्ण की भक्ति को ही अपनी उपासना का अवलंब बनाया है। इनके पश्चात् चैतन्य महाप्रभु और वल्लभाचार्य ने इन आचार्यों के अनुसरण पर भगवान् कृष्ण की भक्ति को ही विशेष महत्व दिया पर साथ ही आदिपुरुष-रूप कृष्ण के साथ आदिशक्ति-रूपा राधा जी को भी अपनी उपासना का केन्द्र-बिन्दु बना लिया। चैतन्य और वल्लभाचार्य के राधाकृष्ण की भक्ति का विकास हम सूर-काव्य में मिलता है। यहाँ यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि भगवान् कृष्ण ने वैष्णव भक्ति का जो रूप गीता में प्रतिपादित किया है उसमें अवतारवाद की भावना निहित है। उनकी —

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
> धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

पंक्तियाँ अवतारवाद की ही समर्थक हैं। गीता ब्रह्म और कृष्ण में भिन्नता नहीं मानती —

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

उपासना के क्षेत्र में अवतारवाद का प्रवेश होने पर सगुण भक्ति-धारा का जन्म हुआ। हमें इसी धारा का प्रतिपादन गीता, महाभारत, भागवत तथा कुछ पुराणादि में भी मिलता है। अतः सगुणभक्ति-धारा का आरंभ कृष्ण-काल से ही माना जाना चाहिए। हिन्दी-साहित्य में हम यह धारा कृष्ण-काव्य और राम काव्य के रूप में मिलती है।

कृष्ण काव्य का सूत्रपात

पहिले ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद संहिता, छान्दोग्योपनिषद् तथा वैयाकरण पाणिनि एवं पतंजलि के ग्रन्थों में 'कृष्ण' के नाम का उल्लेख होने की बात कही जा चुकी है। इनमें से ऋग्वेद संहिता और यजुर्वेद संहिता में जिस कृष्ण का उल्लेख है, उनके वसुदेव-पुत्र कृष्ण होने में विद्वानों को संदेह है। सम्भव है ये कोई दूसरे कृष्ण रहे हों पर छान्दोग्योपनिषद् में कृष्ण स्पष्टतः देवकी-पुत्र के रूप में उपस्थित हैं। प्रमाणार्थ ये पंक्तियाँ देखिए—

तद्धैतद् घोर आंगिरसः कृष्णाय देवकी पुत्रायोक्त्वा
वाचाऽपिपास एव स बभूव।
सोऽन्तवेलायामेतत्त्रय प्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि
प्राणसंशितमसीति॥

प्रकरण ३ खंड १७

इसके पश्चात् 'महाभारत' में कृष्ण का उल्लेख है। वे यहाँ जिस रूप में उपस्थित किए गए हैं, उनके उस रूप में हमें 'देवत्व' की स्पष्ट प्रतिष्ठा मिलती है। सभा-पर्व में भीष्म ने उन्हें अव्यक्त प्रकृति और सनातन कहकर ब्रह्म अथवा विष्णु के रूप में स्वीकार किया है—

एषा प्रकृतिरव्यक्ता कर्ता चैव सनातनः।
परश्च सर्वभूतेभ्यः तस्मात्पूज्यतमो ह्यच्युतः॥

महाभारत २८।२५

इतना ही नहीं पर वे उन्हें परब्रह्म तक कहकर सम्बोधित करते हैं—

एतत्परमकं ब्रह्म, एतत्परमकं यशः।
एतदक्षरमव्यक्तं एतत् वै शाश्वतं महः॥

महा० ११

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि महाभारतकाल (सन् ईसवी से २०० वर्ष) पूर्व से कृष्ण को विष्णु के अवतार के रूप में स्वीकार कर लिया गया था और उस काल के भीष्म जैसे आचार्यों की दृष्टि में वे सनातन अव्यक्त परब्रह्म के समान ही पूज्य थे। श्रीमद्भगवद्गीता में भी कृष्ण भगवान् को अवतार ही नहीं पर परब्रह्म के रूप में भी उपस्थित किया है। प्रमाणस्वरूप गीता के चौथे और सातवें अध्याय के कुछ श्लोक देखे जा सकते हैं। "नारायणीय" में ब्रह्म की अभिव्यक्ति चतुर्व्यूह के रूप में की गई है। वासुदेव संकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध चार व्यूह बतलाए गए हैं। वासुदेव रूप में वे आदि ब्रह्म संकर्षण रूप में प्रकृति प्रद्युम्न रूप में मानस और अनिरुद्ध रूप में अहंकार हैं। वे अपने इन्हीं चारों रूपों में संसार में जन्म ग्रहण करते हैं। "नारायणीय' में उनके कंस-वध के लिए वासुदेव रूप में अवतरित होने का भी उल्लेख है।

हरिवंश पुराण की रचना तीसरी शताब्दी की मानी जाती है। इसमें उनका गोपाल कृष्ण के रूप में उल्लेख किया गया है। इससे यह कहा जा सकता है कि उनकी कथा इस ग्रन्थ की रचना के पूर्व भी प्रचलित थी। इसके अतिरिक्त वायु पुराण वाराह पुराण अग्नि पुराण भागवत पुराण नृसिंह पुराण आदि में भी कृष्ण का अवतार रूप में निर्देश हुआ है। हरिवंश पुराण तथा भागवत पुराण में कृष्ण की कुछ लीलाओं का भी उल्लेख है। मेगस्थनीज ने ईसा के ३०० वर्ष पूर्व मथुरा और कृष्णपुर में कृष्ण की पूजा होने का उल्लेख किया है। इन सब प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि सन् ईसवी के कुछ शताब्दियों पूर्व से ही कृष्ण को ब्रह्म अथवा विष्णु के रूप में स्वीकार कर विभिन्न ग्रन्थकारों ने उनके जीवन तथा जीवन-लीलाओं का काव्यमय चित्रण किया है। भागवत पुराण के अनन्तर जिन पुराणों की रचना हुई उनमें कृष्ण के साथ राधा का भी उल्लेख मिलता है। 'गोपालतापनी उपनिषद्' ऐसे ग्रन्थों में से एक है, जिसमें राधा का चरित्र-चित्रण कृष्ण की प्रेयसी के रूप में हुआ है। मध्वाचार्य ने अपने सम्प्रदाय की उपासना में राधा को कोई महत्त्व नहीं दिया किन्तु उनके पश्चात् विष्णु स्वामी और निम्बार्क की उपासना में राधा को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इससे "गोपालतापनी उपनिषद्" की रचना मध्वाचार्य के पश्चात् और विष्णु स्वामी के आविर्भाव के पूर्व हुई जान पड़ती है। इसी काल से कृष्ण-काव्य में राधा का स्थान समझा जाना चाहिए। विष्णु स्वामी के अनुकरण पर वल्लभाचार्य ने और निम्बार्क के अनुकरण पर जयदेव ने अपनी रचना में राधायुक्त कृष्ण-काव्य को स्थान दिया। इन्हीं दोनों के काव्य का विकास हमें सूरदास और विद्यापति की काव्य-रचना में मिलता है। हिन्दी में कृष्ण-काव्य का प्रारंभ विद्यापति से होता है जिन्होंने जयदेव के "गीत-गोविन्द' से प्रभावित होकर राधाकृष्ण-सम्बन्धी पदों की रचना की थी यद्यपि जयदेव का अमरकृति गीतगोविन्द की रचना संस्कृत भाषा में हुई है तथापि उनकी कुछ

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

उपासना के क्षेत्र में अवतारवाद का प्रवेश होने पर सगुण भक्ति-धारा का जन्म हुआ। हमें इसी धारा का प्रतिपादन गीता, महाभारत, भागवत तथा कुछ पुराणादि में भी मिलता है। अतः सगुणभक्ति-धारा का प्रारंभ कृष्ण-काल से ही माना जाना चाहिए। हिन्दी-साहित्य में हमें यह धारा कृष्ण-काव्य और राम-काव्य के रूप में मिलती है।

कृष्ण-काव्य का सूत्रपात

पहिले ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद संहिता, छान्दोग्योपनिषद् तथा वैयाकरण पाणिनि एवं पतंजलि के ग्रन्थों में 'कृष्ण' के नाम का उल्लेख होने की बात कही जा चुकी है। इनमें से ऋग्वेद संहिता और यजुर्वेद संहिता में जिस कृष्ण का उल्लेख है उनके वसुदेव-पुत्र कृष्ण होने में विद्वानों को सन्देह है। सम्भव है वे कोई दूसरे कृष्ण रहे हों पर छान्दोग्योपनिषद् में कृष्ण स्पष्टतया देवकी-पुत्र के रूप में उपस्थित हैं। प्रमाणार्थ ये पंक्तियाँ देखिए—

तद्धैतद् घोर आंगिरसः कृष्णाय देवकी पुत्रायोक्त्वा
उवाचाऽपिपास एव स बभूव।
सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि
प्राणसंशितमसीति॥

प्रकरण ३ खंड १७

इसके पश्चात् 'महाभारत' में कृष्ण का उल्लेख है। वे यहाँ जिस रूप में उपस्थित किए गए हैं उनके उस रूप में हमें 'देवत्व' की स्पष्ट प्रतिष्ठा मिलती है। सभा-पर्व में भीष्म ने उन्हें अव्यक्त प्रकृति और सनातन कहकर ब्रह्म अथवा विष्णु के रूप में स्वीकार किया है—

एष प्रकृतिरव्यक्ता कर्ता चैव सनातनः।
परश्च सर्वभूतेभ्यः तस्मात्पूज्यतमो ऽच्युतः॥

महाभारत २८।२४

इतना ही नहीं पर वे उन्हें परब्रह्म तक कहकर सम्बोधित करते हैं—

एतत्परमकं ब्रह्म, एतत्परमकं यशः।
एतदक्षरमव्यक्तं एतत् वै शाश्वतं महः॥

महा० ६६।६

पर उनकी अधिकांश रचनाएँ संगीतमय पदों में ही उपलब्ध हैं। सूरदास तथा अष्टछाप के अन्य समस्त कवियों ने पदों में ही काव्य-रचना की है। मीरा का काव्य भी पद-बद्ध ही है। इनके अतिरिक्त हित हरिवंश गदाधर भट्ट हरिदास भट्ट आदि ने भी सुन्दर पदों की रचना की है।

अलंकार

कृष्ण-काव्य में अलंकारों का सबसे अधिक प्रयोग सूरदास की रचना में हुआ है। इनके पश्चात् नन्ददास की रचना का क्रम है। कृष्ण-काव्य के अन्य कवियों की रचना में हमें उपमा रूपक और अनुप्रास अलंकार का ही प्रयोग अधिक मिलता है। कृष्ण-काव्य के रचयिता पहिले भक्त और फिर कवि थे। अतः उनके लिए अपने काव्य को सुन्दर अलंकारों से सुसज्जित करना आवश्यक न था। वे भाव-जगत् के सम्राट् थे। जो भाव हृदय में आये अपनी रचना में उतार दिये। इस भावाभिव्यक्ति में जो अलंकार अपने आप आ गये वे आ गये।

भाषा

कृष्ण-काव्य की एकमात्र भाषा ब्रज भाषा" है। यह भाषा स्वाभाविक ही मधुर है जो कृष्ण के लावण्य रूप-माधुर्य और उनकी मधुर लीलाओं से समन्वित हो कृष्ण काव्य के कवियों के काव्य में और भी अधिक मधुर हो गई है। कृष्ण-काव्य में प्रयुक्त ब्रजभाषा के रूप में कुछ अन्तर अवश्य है। महाकवि सूर की भाषा में अनेक स्थलों पर संस्कृत शब्दावली का प्रयोग मिलता है। नंददास की ब्रजभाषा में संस्कृत के तद्भव शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है। मीरा की भाषा राजस्थानी-प्रभावित ब्रज है।

रस

कृष्ण-काव्य भक्ति-प्रधान काव्य है, इसलिये उसमें शान्त रस का प्रवाह स्वाभाविक है, पर राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं के चित्रण में शृंगार रस का ही प्राधान्य है। इस चित्रण में शृंगार रस के दोनों रूप वर्तमान हैं। इस रस का इतना अधिक प्रन बरत प्रवाह कृष्ण-काव्य-रचना के पूर्व कभी नहीं देखा गया। शृंगार की सभी स्थितियाँ कृष्ण-काव्य में उपस्थित हैं। इस रस के उभार में कृष्ण-काव्य का शान्त रस जैसे दब-सा गया है। इनके अतिरिक्त अद्भुत हास्य करुण और वीर रस को भी इस काव्य में स्थान मिला है पर इनका स्थान गौण और नगण्य-सा ही है। सूर के अतिरिक्त और किसी के काव्य में इन रसों का प्रयोग नहीं मिलता।

राम-काव्य धारा

हम सर्वप्रथम "वाल्मीकि रामायण में रामचरित पाते हैं। इसमें राम का चरित्र जिस रूप में चित्रित हुआ है वह एक महापुरुष का चरित्र है, विष्णु के अवतार

रचनाएँ हिन्दी में भी उपलब्ध हैं। ये रचनाएँ गीतगोविन्द की रचना से सर्वथा भिन्न हैं। इनका गुरुग्रन्थ साहब में संगृहीत एक हिन्दी पद इस प्रकार है —

चन्द सत भेदिया नाद सत पूरिया, सूर सत खोड़ सा दतु कीया।
अबल बलु तोड़िया अचल चलु थापिया, अघड़ु घड़िया तहा अमिउ पीया॥
मन आदि गुण आदि बखानिया, तेरी दुबिधा दृष्टि समानिया ॥
अरधि को अरधिया सरधि को सरधिया, सलिल को सललि संमानि आइया।
बदति जयदेव जयदेव को रंमिया, ब्रह्म निर्वाण लवलीन पाइया ॥

जयदेव की इस प्रकार की रचनाओं से हिन्दी के कृष्ण-काव्य को कोई आधार नहीं मिला किन्तु उनके गीतगोविन्द ने निश्चित ही हिन्दी-कवियों का ध्यान कृष्ण-काव्य की रचना की ओर आकर्षित किया है। जयदेव का समय सं० १०८२ और ११ ७ के मध्य माना जाता है। अतः गीतगोविन्द की रचना का समय भी यही माना जायगा। जयदेव के पश्चात् विद्यापति ही सर्वप्रथम कृष्ण-काव्य लेकर हिन्दी-संसार के समक्ष उपस्थित होते हैं। सूरदास इस काव्यधारा के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं।

कृष्ण-काव्य पर विहंगम दृष्टि

कृष्ण-काव्य के रचयिताओं का मुख्य वर्ण्य विषय कृष्ण की विविध लीलाओं का चित्रण ही रहा है। इन लीलाओं में शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का समावेश है। इनके इस चरित्र अथवा लीला-चित्रण का प्रमुख आधार श्रीमद्भागवत का दशम स्कन्ध है। इस काव्य में रास और भ्रमरगीतों को विशेष स्थान प्राप्त है। केवल मीराबाई ही एक ऐसी थीं जिन्होंने अपनी रचना में इन लीलाओं को स्थान न दे कृष्ण के प्रेममय स्वरूप का ही चित्रण किया है। सम्पूर्ण कृष्ण-काव्य भक्ति-रस से परिप्लावित और सौन्दर्य से अभिभूत है। 'पुष्टिमार्ग' कृष्ण-काव्य का मूल स्रोत है जो विभिन्न कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य में विभिन्न रूपों में प्रवाहित हुआ है। राधा और कृष्ण के रूप-लावण्य-चित्रण में नख-शिख-वर्णन और ऋतु-वर्णन को भी स्थान मिल गया। इसे ही रीति-काल की पूर्वपीठिका कहना चाहिए। जयदेव के अनुकरण पर विद्यापति ने अपनी रचना में 'नख-शिख' को स्थान दिया जिसका विकास हमें सूरदास की रचना में मिलता है। सूर के अनुकरण पर उनके कुछ परवर्ती कवियों ने भी अपने काव्य में 'नख-शिख' और 'ऋतु-वर्णन' को स्थान दिया है। इसी का अधिक विकास हमें 'रीति-काल' में मिलता है।

छन्द

कृष्ण-काव्य की अधिकांश रचना ग्रन्थ-बद्ध नहीं पर पद-बद्ध है। कृष्ण-काव्य-कवियों ने दोहा, चौपाई, रोला, छप्पय, कवित्त और सवैया में भी काव्य रचना की है,

पर उनकी अधिकांश रचनाएँ संगीतमय पदों में ही उपलब्ध हैं। सूरदास तथा अष्टछाप के अन्य समस्त कवियों ने पदों में ही काव्य-रचना की है। मीरा का काव्य भी पद-बद्ध ही है। इनके अतिरिक्त हित हरिवंश गदाधर भट्ट हरिदास भट्ट आदि ने भी सुन्दर पदों की रचना की है।

अलंकार

कृष्ण-काव्य में अलंकारों का सबसे अधिक प्रयोग सूरदास की रचना में हुआ है। इनके पश्चात् नन्ददास की रचना का क्रम है। कृष्ण-काव्य के अन्य कवियों की रचना में हमें उपमा रूपक और अनुप्रास अलंकार का ही प्रयोग अधिक मिलता है। कृष्ण काव्य के रचयिता पहिले भक्त और फिर कवि थे। अतः उनके लिए अपने काव्य को सुन्दर अलंकारों से सुसज्जित करना आवश्यक न था। वे भाव जगत् के सम्राट् थे। जो भाव हृदय में आये अपनी रचना में उतार दिये। इस भावाभिव्यक्ति में जो अलंकार अपने आप आ गये वे आ गये।

भाषा

कृष्ण-काव्य की एकमात्र भाषा 'ब्रज भाषा'' है। यह भाषा स्वाभाविक ही मधुर है जो कृष्ण के लावण्य रूप-माधुर्य और उनकी मधुर लीलाओं से समन्वित हो कृष्ण काव्य के कवियों के काव्य में और भी अधिक मधुर हो गई है। कृष्ण-काव्य में प्रयुक्त ब्रजभाषा के रूप में कुछ अन्तर अवश्य है। महाकवि सूर की भाषा में अनेक स्थलों पर संस्कृत शब्दावली का प्रयोग मिलता है। नंददास की ब्रजभाषा में संस्कृत के तद्भव शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है। मीरा की भाषा राजस्थानी प्रभावित ब्रज है।

रस

कृष्ण-काव्य भक्ति-प्रधान काव्य है, इसलिये उसमें शान्त रस का प्रवाह स्वाभाविक है पर राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं के चित्रण में शृंगार रस का ही प्राधान्य है। इन चित्रण में शृंगार रस के दोनों रूप वर्तमान हैं। इस रस का इतना अधिक मन मग्न प्रवाह कृष्ण-काव्य रचना के पूर्व कभी नहीं देखा गया। शृंगार की सभी स्थितियाँ कृष्ण-काव्य में उपस्थित हैं। इस रस के उभार में कृष्ण-काव्य का शान्त रस दब-सा गया है। इनके अतिरिक्त अद्भुत हास्य करुण और वीर रस को भी इस काव्य में स्थान मिला है, पर इनका स्थान गौण और नगण्य-सा ही है। सूर के अतिरिक्त और किसी के काव्य में इन रसों का प्रयोग नहीं मिलता।

राम-काव्य-धारा

हम सर्वप्रथम "वाल्मीकि रामायण' में रामचरित पाते हैं। इसमें राम का चरित्र जिस रूप में चित्रित हुआ है वह एक महापुरुष का चरित्र है, विष्णु के अवतार

रचनाएं हिन्दी में भी उपलब्ध हैं। ये रचनाएं गीतगोविन्द की रचना से सर्वथा भिन्न हैं। इनका गुरुग्रन्थ साहब में संगृहीत एक हिन्दी पद इस प्रकार है —

चन्द सत भेदिया नाद सत पूरिया, सूर सत खोड़स दत्तु कीया।
अबलबलु तोड़िया अचल चलु थापिया, अघड़ु घड़िया तहा अमिउ पीया॥
मन आदि गुण आदि बखानिया, तेरी दुबिधा दृष्टि समानिय॥
अरधि कौ अरधिया सरधि कौ सरधिया, सलिल कौ सललि समानि आइया।
बदति जयदेव जयदेव कौ रमिया, ब्रह्म निर्वाण लवलीन पाइया॥

जयदेव की इस प्रकार की रचनाओं से हिन्दी के कृष्ण-काव्य को कोई आधार नहीं मिला किन्तु उनके गीतगोविन्द ने निश्चित ही हिन्दी-कवियों का ध्यान कृष्ण-काव्य की रचना की ओर आकर्षित किया है। जयदेव का समय सं० १ ८२ और ११ ७ के मध्य माना जाता है। अतः गीतगोविन्द की रचना का समय भी यही माना जायगा। जयदेव के पश्चात् विद्यापति ही सर्वप्रथम कृष्ण-काव्य लेकर हिन्दी-संसार के समक्ष उपस्थित होते हैं। सूरदास इस काव्यधारा के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं।

कृष्ण-काव्य पर विहंगम दृष्टि

कृष्ण-काव्य के रचयिताओं का मुख्य वर्ण्य विषय कृष्ण की विविध लीलाओं का चित्रण ही रहा है। इन लीलाओं में शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का समावेश है। इनके इस चरित्र अथवा लीला-चित्रण का प्रमुख आधार श्रीमद्भागवत का दशम स्कन्ध है। इस काव्य में रास और भ्रमरगीतों को विशेष स्थान प्राप्त है। केवल मीराबाई ही एक ऐसी थीं जिन्होंने अपनी रचना में इन लीलाओं को स्थान न दे कृष्ण के प्रेममय स्वरूप का ही चित्रण किया है। सम्पूर्ण कृष्ण-काव्य भक्ति-रस से परिप्लावित और सौन्दर्य से अभिभूत है। 'पुष्टिमार्ग' कृष्ण-काव्य का मूल स्रोत है जो विभिन्न कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य में विभिन्न रूपों में प्रवाहित हुआ है। राधा और कृष्ण के रूप-लावण्य-चित्रण में नख-शिख-वर्णन और ऋतु-वर्णन को भी स्थान मिल गया। इसे ही रीति-काल की पूर्वपीठिका कहना चाहिए। जयदेव के अनुकरण पर विद्यापति ने अपनी रचना में 'नख-शिख' को स्थान दिया जिसका विकास हमें सूरदास की रचना में मिलता है। सूर के अनुकरण पर उनके कुछ परवर्ती कवियों ने भी अपने काव्य में 'नख-शिख' और 'ऋतु-वर्णन' को स्थान दिया है। इसी का अधिक विकास हमें 'रीति-काल' में मिलता है।

छन्द

कृष्ण-काव्य की अधिकांश रचना छन्द-बद्ध नहीं पर पद-बद्ध है। कृष्ण-काव्य-कवियों ने दोहा, चौपाई, रोला, छप्पय, कवित्त और सवैया में भी काव्य रचना की है,

पर उनकी अधिकांश रचनाएँ संगीतमय पदों में ही उपलब्ध हैं। सूरदास तथा अष्टछाप के अन्य समस्त कवियों ने पदों में ही काव्य-रचना की है। मीरा का काव्य भी पद-बद्ध ही है। इनके अतिरिक्त हित हरिवंश गदाधर भट्ट हरिदास भट्ट आदि ने भी सुन्दर पदों की रचना की है।

अलंकार

कृष्ण-काव्य में अलंकारों का सबसे अधिक प्रयोग सूरदास की रचना में हुआ है। इनके पश्चात् नन्ददास की रचना का क्रम है। कृष्ण-काव्य के अन्य कवियों की रचना में हमें उपमा रूपक और अनुप्रास अलंकार का ही प्रयोग अधिक मिलता है। कृष्ण काव्य के रचयिता पहिले भक्त और फिर कवि थे। अतः उनके लिए अपने काव्य को सुन्दर अलंकारों से सुसज्जित करना आवश्यक न था। वे भाव-जगत् के सम्राट् थे। जो भाव हृदय में आये अपनी रचना में उतार दिये। इस भावाभिव्यक्ति में जो अलंकार अपने आप आ गये वे आ गये।

भाषा

कृष्ण-काव्य की एकमात्र भाषा 'ब्रज भाषा' है। यह भाषा स्वाभाविक ही मधुर है, जो कृष्ण के लावण्य रूप-माधुर्य और उनकी मधुर लीलाओं से समन्वित हो कृष्ण काव्य के कवियों के काव्य में और भी अधिक मधुर हो गई है। कृष्ण-काव्य में प्रयुक्त ब्रजभाषा के रूप में कुछ अन्तर अवश्य है। महाकवि सूर की भाषा में अनेक स्थलों पर संस्कृत शब्दावली का प्रयोग मिलता है। नंददास की ब्रजभाषा में संस्कृत के तद्भव शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है। मीरा की भाषा राजस्थानी-प्रभावित ब्रज है।

रस

कृष्ण-काव्य भक्ति-प्रधान काव्य है इसलिये उसमें शान्त रस का प्रवाह स्वाभाविक है पर राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं के चित्रण में शृंगार रस का ही प्राधान्य है। इस चित्रण में शृंगार रस के दोनों रूप वर्तमान हैं। इस रस का इतना अधिक अनवरत प्रवाह कृष्ण-काव्य-रचना के पूर्व कभी नहीं देखा गया। शृंगार की सभी स्थितियाँ कृष्ण-काव्य में उपस्थित हैं। इस रस के उभार में कृष्ण-काव्य का शान्त रस जैसे दब-सा गया है। इनके अतिरिक्त अद्भुत हास्य करुण और वीर रस को भी इस काव्य में स्थान मिला है, पर इनका स्थान गौण और नगण्य-सा ही है। सूर के अतिरिक्त और किसी के काव्य में इन रसों का प्रधान नहीं मिलता।

राम-काव्य-धारा

हम सर्वप्रथम "वाल्मीकि रामायण" में रामचरित पाते हैं। इसमें राम का चरित्र जिस रूप में चित्रित हुआ है वह एक महापुरुष का चरित्र है, विष्णु के अवतार

राम का चरित्र नहीं है। इस चरित्र-चित्रण में कवि का दृष्टिकोण सर्वथा लौकिक वाल्मीकि रामायण का रचनाकाल सन् ईसवी के २०० वर्ष और ४०० वर्ष पूर्व के माना जाता है। इसके पश्चात् हमें सन् ई० के कोई २०० वर्ष पूर्व महाभारत "अनुगीता" के अन्तर्गत विष्णु के अवतारों का उल्लेख मिलता है जिसमें राम भी अवतार है। इससे ऐसा जान पड़ता है कि राम को इसके पूर्व देवत्व की प्रतिष्ठा प्र न थी। राम में देवत्व की भावना का पूर्ण विकास हमें सन् ईसवी के ४० वर्ष पश्चात् निर्मित विष्णु पुराण में मिलता है। ईसा की छठवीं शताब्दी में "राम-पूर्वताप उपनिषद्' और 'राम उत्तरतापनी उपनिषद् की रचना के साथ राम को रूप से ब्रह्म का अवतार स्वीकार कर लिया गया। इसके पश्चात् "अगस्त्य-सुतीक्ष संवाद संहिता' में राम में अनेक अलौकिक गुणों का समावेश कर उन्हें विशेष मह दिया गया। आगे चलकर "अध्यात्म रामायण' में राम सर्वोच्च आसन पर प्रति कर दिए गए। इसके अनंतर ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में रचित "भाग पुराण' में राम का विस्तृत उल्लेख मिलता है। इस प्रकार हम ईसा-पूर्व छठवीं शत ब्दी से ११ वीं शताब्दी तक राम के रूप का क्रमिक विकास देखते हैं पर इनकी भ का प्रतिपादन संभवतः सर्वप्रथम रामानन्द ने ही किया। रामानन्द की यही सगु रामोपासना की धारा हिन्दी-साहित्य में अपने विकसित रूप में तुलसीदास के 'रा चरित मानस' में प्रवाहित हुई। गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी इस अमर रचना बड़े भक्ति-भाव से राम का चरित्र-चित्रण करते हुए रामानन्द के दार्शनिक सिद्धा एवं भक्ति के तत्वों का भी बड़े सुन्दर ढंग से समावेश किया है। तुलसीदास के पू हमें अपभ्रंश-कालीन कवि स्वयंभू-द्वारा रचित 'पउमचरिउ' में भी रामचरित्र मिलता किन्तु वहाँ कवि का दृष्टिकोण गोस्वामी तुलसीदास से सर्वथा भिन्न है। अतः हम गोस्वा जी को ही सगुण भक्ति-धारा के राम-काव्य का प्रथम स्रष्टा मानना चाहिए। धारा के अन्य कवियों में केशवदास अग्रदास नाभादास कृपानिवास हृदयराम प्राण दास रामप्रियाशरण कलानिधि विश्वनाथसिंह, मधुसूदनदास जानकीरसिक आदि हैं

राम-काव्य का सिंहावलोकन

राम-काव्य के कवियों ने राम को परब्रह्म अथवा विष्णु के अवतार के रूप स्वीकार कर उनकी भक्ति को अपने काव्य का आधार बनाया और राम की जीवन कथा का अपने-अपने ढंग से अनेक रूपों में निरूपण किया है। इस राम-काव्य को कथा का स्वरूप वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण के आधार पर स्थिर किया गया है। रामानन्द ने 'विशिष्टाद्वैत' के समर्थन में विशाल भक्ति को जन्म दिया। इसी उसी का विकास राम-काव्य के कवियों की रचनाओं में मिलता है। सर्वप्रथम गोस्वामी तुलसीदास ने राम काव्य-धारा का नेतृत्व ग्रहण किया और उनके परवर्ती कवियों ने उन्हीं के पथ-प्रदर्शन में अपने काव्य की रचना की। तुलसी के राम लोक रंजक लोक

कल्याण और लोक-संग्रह के प्रतीक हैं। उन्हें एक अमर-सम्पन्न राजवंश में अवतरित होने का सौभाग्य प्राप्त था पर वे लोकनायक थे और उन्हें लोकहित की चिरंतन दृष्टि प्राप्त थी। अतः उनका आरंभ से अंत तक का जीवन सामान्य जनता के बीच ही व्यतीत हुआ और वे उसी में घुल मिल कर रहे। तुलसी के द्वारा प्रस्तुत राम का यह रूप सर्वप्रिय बन गया। तुलसी-काव्य की यही विशेषता उसकी सर्वप्रियता का कारण है।

राम-कथा का विस्तृत रूप सर्वप्रथम तुलसीदास जी के द्वारा ही जन भाषा में जनता के सामने आया और उसने अगम अगोचर समझे जाने वाले ब्रह्म के दर्शन तुलसी के काव्य में किये। गोस्वामी जी के समन्वयवादी दृष्टिकोण से राम-काव्य को तत्कालीन सभी जाति धर्म और सम्प्रदायों ने आदर की दृष्टि से देखा। परिणाम-स्वरूप उनके द्वारा एक ऐसे काव्य की परम्परा आरंभ हो गई जिसका निर्वाह उनके पश्चात् के अनेक कवियों-द्वारा लगातार दो शताब्दियों तक होता रहा।

यहाँ यह स्मरणीय है कि राम काव्य और कृष्ण-काव्य की धाराएँ एक साथ ही प्रवाहित हो रही थीं और दोनों धाराओं का परस्पर प्रभाव भी पड़ता जा रहा था। ये दोनों काव्य-धाराएँ समान रूप से लोकप्रिय थीं। कृष्ण-काव्य में जो लीला लालित्य और माधुर्य था वह रसिकजनों की दृष्टि में राम काव्य में नहीं था। कृष्ण-काव्य की इस विशेषता ने रामानन्द सम्प्रदाय के कुछ रामभक्त कवियों को प्रभावित किया और उन्होंने कृष्ण-काव्य शैली के आधार पर राम और सीता की विविध लीलाओं का चित्रण करना आरंभ किया। इनमें से कुछ कवियों का सीता राम का चरित्र-चित्रण पर्याय में राधा-कृष्ण चरित्र बन गया। अयोध्या के कुछ कवियों का यह चित्रण अश्लीलता की सीमा तक भी पहुँच गया है।

छंद

राम-काव्य की अधिक रचना जायसी की पद्धति पर दोहा चौपाइयों में ही हुई है। राम-काव्य की प्रबंधात्मक कथा के विकास के लिए यही शैली उपयुक्त थी पर राम काव्य में दोहा चौपाई के अतिरिक्त सोरठा, गाथा, उल्लाला, हरिगीतिका, कुंडलिया, छप्पय, तोमर, त्रिभंगी, सवैया, घनाक्षरी आदि का प्रयोग भी पर्याप्त परिमाण में हुआ है।

भाषा

गोस्वामी तुलसीदास के रामचरित-मानस की भाषा अवधी है जो उनके समकालीन तथा परवर्ती अधिकांश कवियों की काव्य रचना की भाषा बन गई। केशव दास ने अपनी "रामचंद्रिका" ब्रजभाषा में लिखी है। कुछ कवियों ने इनके अनुकरण पर ब्रजभाषा में भी राम-काव्य की रचना की। इन दोनों भाषाओं के साथ यत्र-तत्र बुंदेली

भोजपुरी एवं अरबी-फारसी के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। संस्कृत के अनेक तत्सम शब्द भी अर्ध-तत्सम और तद्भव रूपों में परिवर्तित होकर राम-काव्य में व्यवहृत हुए हैं। इन भारतीय और अभारतीय भाषाओं के शब्दों और संस्कृत शब्दों के रूपों के प्रयोग से अवधी और ब्रजभाषा के विकास में बहुत सहायता मिली है।

रस

राम-काव्य में सभी रसों का प्रयोग हुआ है। राम के जीवन की विविधता को देखते हुए यह स्वाभाविक ही था। रामचरित-मानस एक महाकाव्य है, अतः महाकाव्य के स्वभाव के अनुसार इसमें भी रसों का समावेश आश्चर्य की बात नहीं है। केशव की राम चन्द्रिका में भी सभी रसों को स्थान मिला है। अन्य कवियों की रचना में हमें प्रधानरूप से शान्त रस के दर्शन होने के साथ ही कुछ अन्य रसों का भी प्रभाव मिलता है जिसमें रामभक्ति की माधुर्य भावना के कारण शृंगार रस को अधिक स्थान प्राप्त है।

अलंकार

तुलसी-काव्य के अलंकारों पर पहिले प्रकाश डाला जा चुका है। वे ही अलंकार मुख्यतः राम-काव्य के अलंकार हैं पर केशव के अतिरिक्त राम-काव्य के अन्य कवि उन सभी अलंकारों का प्रयोग न कर सके।

— • —

११

विद्यापति का काव्य-वैभव

विद्यापति का साहित्य

विद्यापति की रचनाएँ तीन भागों में विभाजित की जा सकती है- संस्कृत की रचनाएँ, अवहट्ट की रचनाएँ और मैथिली की रचनाएं।

इनकी संस्कृत की रचनाओं में शैव सर्वस्वसार प्रमाणभूत पुराण संग्रह, भूपरिक्रमा पुरुष परीक्षा, गंगा वाक्यावली दान वाक्यावली विभाग सार वर्षकृत्य पत्तक और दुर्गाभक्ति-तरंगिणी मुख्य हैं। अवहट्ट की रचनाओं में कीर्तिलता और कीर्तिपताका का नामोल्लेख किया जाता है। हिन्दी के कुछ विद्वान इन दोनों रचनाओं को प्राचीन-हिन्दी की ही रचनाएं मानते हैं। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ऐसे ही विद्वानों में से एक हैं। इनमें से 'कीर्तिलता' महाराज कीर्तिसिंह के समय लिखी गई थी। इसमें विद्यापति ने उनकी दानशीलता और वीरता का बखान किया है। यह उनकी २० वर्ष की अवस्था में रचित रचना कही जाती है। इसका महाराज कीर्तिसिंह और वीरसिंह की युद्ध-यात्रा का वर्णन बड़ा करुण और हृदयस्पर्शी है। भाषा की दृष्टि से यह पुस्तक बड़ी महत्वपूर्ण समझी जाती है। यद्यपि इस पर प्राकृत का पर्याप्त प्रभाव देखा जाता है, पर इसे पूर्वी अपभ्रंश की ही रचना कहा जाना चाहिए।

"कीर्तिपताका' की रचना महाराज कीर्तिसिंह के पुत्र शिवसिंह के समय हुई थी। महाराज शिवसिंह की कीर्ति का गुणगान ही इस पुस्तक का मूल विषय है। इसमें गद्य के अतिरिक्त पद्य भी मिलता है जो पूर्वी अपभ्रंश के तत्कालीन रूप को समझने की दृष्टि से बहुत उपयोगी है।

विद्यापति अपनी जिस काव्य रचना के कारण हिन्दी जगत में 'मैथिल कोकिल' के नाम से जाने जाते हैं, उनकी वह कृति 'पदावली' है। इसमें कवि-द्वारा अपने जीवन काल में समय-समय पर रचित पदों का संकलन है। इन्होंने इन पदों की रचना जयदेव की पदावली के अनुकरण पर की है। सभी पद संगीतमय और माधुर्यपूर्ण हैं। "मैथिली वैसे ही एक कोमल प्रकृति की भाषा है जो विद्यापति के हाथों अपने परिष्कृत रूप में अधिक कोमल मधुर और प्रभावमयी हो गई है। इनके ये पद इनकी संगीत-कला-निपुणता के प्रमाण हैं। ये पद किसी निश्चित शृंखला से आबद्ध नहीं पर कवि के भावोद्रेक के ही प्रतीक हैं। इनके पदों में बाल वयस्क वृद्ध नवोढ़ा प्रौढ़ा मस्त अमस्त रसिक विरक्त सभी को अपनी रुचि की वस्तु मिल जाती है इसीलिए

मे सर्वप्रिय है और इनकी अलौकिक प्रसिद्धि है। इनकी काव्य-माधुरी पर मुग्ध होकर का ने लिखा है

Even when the sun of Hindu religion is set when belief and faith in Krishna and in that medicine of disease of existence the hymns of Krishna's love is extinc still the love born for songs of Vidyapati in which the tells of Krishna and Radha will never diminish

इस प्रकार हम देखते हैं कि राधाकृष्ण के प्रेम ने विद्यापति को और विद्यापति के पदों ने राधा कृष्ण को सदैव के लिए अमर बना दिया। न केवल मिथिला में वरन् ब्रजभूमि और बंगाल में भी विद्यापति के पद कृष्ण भक्तों की वाणी के भूषण बने हुए हैं। विद्यापति के ये पद विषय की दृष्टि से तीन भागों में विभाजित किए जा सकते हैं–भक्ति-रसात्मक शृङ्गारयुक्त और स्फुट। भक्ति-रसात्मक पदों के अन्तर्गत शिव की नचारियाँ एवं गंगा गौरी और दुर्गा की स्तुतियों से पूर्ण पदों का स्थान है। शृंगारिक पदों में राधा-कृष्ण के प्रेम अथवा नायक-नायिकाओं की विभिन्न प्रेम भावनाएँ व्यक्त करनेवाले पद हैं। राधाकृष्ण से संबंधित कुछ पद ऐसे भी हैं जो भक्ति-रसात्मक कहे जा सकते हैं किन्तु इनमें भी विद्यापति अपनी शृंगार भावना को पृथक् न रख सके अतः इन पदों को भी इसी विभाजन में स्थान देना उचित होगा। स्फुट पदों में पुरुष शिवसिंह के राज्यारोहण तथा वीरता-विषयक पदों के अतिरिक्त कुछ दृष्टिकूट पद और प्रहेलिकाएँ हैं।

काव्य मीमांसा

विद्यापति 'गीतगोविन्द' के रचयिता कवि जयदेव अथवा महाकवि सूरदास की तरह भक्ति-काव्य के प्रणेता नहीं कहे जा सकते वे प्रमुख रूप से शृंगार रस के ही कवि थे। इन्होंने कीर्तिलता के प्रारंभ में शिव और सरस्वती की तथा 'पदावली' में भगवान् कृष्ण की वन्दना की है किन्तु इन वन्दनाओं में निहित कवि का दृष्टिकोण उनका अपना है। उन्होंने शिव की वन्दना अपने उपास्य के रूप में और सरस्वती की वन्दना विद्या की अधिष्ठात्री के रूप में की है, किन्तु कृष्ण-वन्दना में भक्ति भावना नहीं है कृष्ण के प्रसिद्ध स्वरूप का ही चित्रण किया है, जो कवि की शृंगारिक भावना का प्रतीक है। विद्यापति का कृष्ण-वन्दना का पद इस प्रकार है।

नंद के नन्दन कदम्ब के तरु तर,
धीरे धीरे मुरली बजाव।
समय संकेत निकेतन बइसल
बेरि बेरि बोलि पठाव॥

सामरि, तोरा लगि
अनुखन बिकल मुरारि ।
जमुना के तिर उपवन उदवेगल
फिरि फिरि ततहि निहारि ॥
गोरस बेचए आबइत जाइत
जन जन पुछ बनवारि ।
तोहे मतिमान, सुमति, मधुसूदन,
वचन सुनह किछु मोरा ।
भनइ विद्यापति सुन बरजौवति,
वन्दह नन्दकिसोरा ॥

इन पदावली की अधिकांश रचनाओं में शृंगार के ही वर्णन होते हैं। उनके इन पदों में नायक-नायिका के भाव अनुभाव आलंबन विभाव उद्दीपन विभाव संचारी भाव आदि शृंगार के विविध अंग चित्रित हैं। उन्होंने राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का चित्रण बहुत खुलकर किया है। इसे देखकर ऐसा लगता है कि कवि ने राधा-कृष्ण का नाम लेकर एक उच्छृंखल युवती और युवक का ही चरित्र-चित्रण किया है। जहाँ वैष्णव भक्त कवियों ने राधा को जगज्जननी और अपनी उपास्या के रूप में चित्रित किया है, वहाँ विद्यापति ने उनका चरित्र-चित्रण कहीं-कहीं अश्लीलता की सीमा तक पहुँचा दिया है। उदाहरणार्थ ये पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

हरतहि हृदय हलए पचबान ।
कामिनी करए मनान ॥
अधर मगइते अओंघ कर माथ ।
सहए न पार पयोधर हाथ ॥

विद्यापति ने अपने लिए एक पृथक् ही सृष्टि बना रखी था। उनकी सृष्टि में बसन्त के अतिरिक्त अन्य कोई ऋतु कभी प्रवेश करने का साहस ही नहीं कर पाती। उनके वन निकुंज में हरित पल्लवित द्रुम-लतिकाएँ सदैव ही सुरभित पुष्पों और सुमधुर फलों से भरे रहते शाखिकाएँ नाच करती और भ्रमर-पुंज गुंजार करते रहते थे। पारिजात अनुपम सुगन्ध के साथ झूमता रहता निर्झरों में सदा उद्वेलित रहता और सरिताएँ यौवन का उन्माद और मादकता लिए प्रवाहित होती थीं। उनकी उस सृष्टि में प्रेम और आनन्द के अतिरिक्त और कुछ न था। उसका प्रेम दो धाराओं में प्रतिभात था एक पुरुष और दूसरी स्त्री। इन दोनों धाराओं के मिलन में ही प्रेम की पूर्णता थी। काम के बाण चलते रहते वासना की लकीर उठती रहती और रस की पिचकारी उनके जीवन को आनन्द-विभोर करती रहती थी। इस सृष्टि में आत्म-विस्मृत कवि राधा-कृष्ण के प्रेम मिलन और विविध रस-क्रीड़ा का चित्रण करते हुए कहते हैं—

माधव, की कहब सुन्दरि रूपे ।
कतेक जतन विहि आनि समारल देखल नयन सरूपे ॥
पल्लव-राज चरन-जुग सोभित,
गति गजराज क भाने ॥
कनक कदलि पर सिंह समारल,
ता पर मेरु समाने ॥
मेरु ऊपर दुइ कमल फुलायल
नाल बिना रुचि पाइ ।
मनिमय हार धार बहु सुरसरि
तओ नहिं कमल सुखाई ॥
अधर बिंब सन, दसन दाड़िम बिजु,
रवि ससि उगथिक पासे ।
राहु दूर बस नियरो न आबथि,
तें नहिं करथि गरासे ॥
सारंग नयन बयन पुनि सारंग सारंग तसु समधाने ।
सारंग ऊपर उगल दस सारंग,
केलि करथि मधु पाने ॥

विद्यापति के इस नख-शिख-वर्णन में रूपकातिशयोक्ति और यमक की छटा दर्शनी है। कवि ने राधा के वर्णन इस प्रकार किया है—

जाँघ सार सबे मुख घटना कए,
लोचन चकित चकोरे ।
अमिय धोय आँचर धनि पोछलि,
दह दिसि भेल उजोरे ॥

विद्यापति ने नायक-नायिका की चेष्टाओं का भी सजीव चित्रण किया है। यौवन के सोपान पर अग्रसर होते हुए कृष्ण के सुन्दर और सुगठित शरीर को देखकर राधा कहती है—

"ए सखि पेखलि एक अपरूप,
सुनइत मानबि सपन सरूप ।
कमल जुगल पर चाँद क माला,
तापर उपजल तरुन तमाला ।
तापर बेढ़लि बिजुरी लता,
कालिन्दी-तट धीरे चलि जाता ।

साखा-सिखर सुधाकर पाँति,
ताहि नव पल्लव अरुनक भाँति।
विमल बिंबफल जुगल विकास,
तापर कीर थीर करु बास।
तापर चंचल खंजन-जोर,
तापर साँपिनि झाँपल मोर।
ए सखि रंगिनि कहल निसान;
हेरइत पुनि मोर हरल गिआन।
कवि विद्यापति एहि रस भान,
सुपुरुख मरम तुहु भल जान।

नवयौवना के मानस में उठनेवाली भाव-लहरियों और काम-वासनाओं का व्यक्तीकरण कवि की निम्न पंक्तियों में देखिए—

सैसव जौवन दुहु मिलि गेल,
स्रवन क पथ दुहु लोचन लेल।
वचन क चातुरि लहुलहु हास
धरनिए चाँद कएल परगास॥
मुकुर लई अब करइ सिंगार,
सखि पूछइ कइसे सुरत बिहार।
निरजन उरज हेरइ कत बेरि
हसइ से अपन पयोधर हेरि॥
पहिल बदरि-सम पुन नवरंग,
दिन दिन अनग अगोरल अंग।
माधव पेखल अपुरुब बाला,
सैसव जौवन दुहि एक मेला।
विद्यापति कह तुहु अगेआनि,
दुहु एक जोग इहके कह सयानि।

विद्यापति का जीवन इतना शृङ्गारिक हो गया था कि वे ऋतु-वर्णन में भी अपने को इससे न बचा सके। उनका वर्षा और वसन्त ऋतु-वर्णन हिन्दी के अन्य कवियों के ऋतु-वर्णन से सर्वथा पृथक् है। उनके वसन्त-वर्णन की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

चले देखए जाऊ रितु वसन्त,
जहाँ कुन्द कुसुम केतकि हसन्त।
जहाँ चन्दा निरमल भमर कार;

जहाँ रयनि उजागर दिन अँधार।
जहाँ मुगुधनि मानिनि करए मान
परिपंथिहि पेखए पचबान।
मनह सरस कवि-कंठ-हार,
मधुसूदन राधा बन बिहार।

विद्यापति के शृंगार-पक्ष के काव्य के पश्चात् भक्ति-पक्ष के काव्य पर भी विहंगम दृष्टि डाल लेना उचित होगा। वे शैव मतावलंबी थे। उनका राधा कृष्ण-काव्य जितना शृङ्गारमय है शिव से सम्बन्धित काव्य उतना ही भक्ति-पूर्ण है। शृङ्गार और भक्ति ही विद्यापति के काव्य के दो पक्ष हैं। कृष्ण-काव्य-रचना में वे परम शृङ्गारी तथा शिव काव्य रचना में परम भक्त हैं। उनके शिव भक्ति-विषयक पद शिव भक्त स्त्री-पुरुषों की निधि हैं। उनका एक पद इस प्रकार है—

हरि जनि बिसरब मो ममिता
हम नर अधम परम पतिता।
तुअ सन अधम उधार न दोसर,
हम सन जग नहिं पतिता।
जम के द्वार जबाब कओन देब
जखन बुझत निज गुनकर बतिया।
जब जम किंकर कोपि पठाएत
तखन के होत धरहरिया।
भन विद्यापति सुकवि पुनित मति,
संकर विपरीत बानी।
असरन-सरन-चरन सिर नाओल
दया कर दिअ सूलपानी।

विद्यापति ने शिव के अतिरिक्त अन्य देवी-देवताओं के प्रति भी श्रद्धा व्यक्त की है और उनकी वन्दना के पद गाए हैं। उनके निम्नांकित पद में 'हरि-हर' का समन्वय देखिए—

—भल हर भल हरि भल तुअ कला।
खन पित बसन खनहि बघछला।
खन पंचानन खन भुज चारि,
खन शंकर खन देव मुरारि।
खन गोकुल भए चराइअ गाय
खन भिखि माँगिए डमरू बजाय।

आन गोविन्द मुए शिव महादान
  मनहि भसम मन फाँक बे कान।
एक सरोर लेल दुइ बास
  आन बैकुण्ठ मनहि कैलास
भनइ विद्यापति विपरीत बानि
  ओ नारायण ओ सूलपानि॥

विद्यापति ने कुछ बहुत सुन्दर प्रतिकूट पद भी लिखे हैं। उदाहरणार्थ उनका एक पद इस प्रकार है—

माधव याग कुम्भल सुख माजे।
पथ दुन दह, दह गुण सप गुन
  से दलइ कान काज।
चालिस चारि काटि चौठाई
  स इमेस विथा भाग।
से निरमल मुख पेखन चौदिस
  कहम सनम क भारा।
मानिहु मह दह बिंदु विचरवित
  क ने महूस उरहास।
इम अबला अब पहुक दामनैं
  दुइ बिन्दु करन गगासे।
नव गुदा इम नयप याम कए
  स सन हमर परान।
कपटी बालमु हरि न हरए
  कारन के नहि आने।
भनइ विद्यापति सुनु वर जौवति
  ताहि करथि के बाधा।
आपन आप सुय परक मुकाइय
  नासि कमल दुइ आधा।

अलंकार-योजना

विद्यापति ने अनेक प्रकार के अलंकारों का प्रयोग किया है किन्तु उनके इस प्रयास का उद्देश्य कहीं भावाभिव्यंजना कहीं रूप-चित्रण की स्पष्टता और कहीं गुणाभिव्यक्ति की तीव्रता का सृजन है। उन्होंने कहीं भी अलंकारों का बलात्पूर्वक प्रयोग नहीं किया है। यही विद्यापति के अलंकार-प्रयोग की विशेषता है। उनके द्वारा प्रयुक्त अलंकारों

में सुप्राप्त कृति अतिशयोक्ति हेतुत्प्रेक्षा, विभावना, रूपक, उपमा और पर्यायोक्ति ऐसे अलंकार हैं जिनका प्रयोग उन्होंने प्राय भावाभिव्यंजना के लिए ही किया है। रूप-चित्रण में रूपकातिशयोक्ति अतिशयोक्ति और विरहणा अलंकार का विशेष प्रयोग मिलता है। इनके अतिरिक्त उत्प्रेक्षा का प्रयोग भी रूप-चित्रण में हुआ है। नायक-नायिका के भावों की तीव्रता दिखाने के लिए ललित उपमा रूपक व्यतिरेक संदेह भ्रम और तुल्ययोगिता अलंकारों का प्रयोग अधिक हुआ है। यहां सभी अलंकारों के उदाहरण देना सम्भव नहीं है। उनके पहले दिए गए आमुख की कहन सुन्दरी छन्दें पद में रूपक उपमा समक और रूपकातिशयोक्ति अलंकारों की छटा एक साथ ही देखी जा सकती है। निम्नांकित पंक्तियों में परावृत्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है—

नहि मारा जटामार चिकुर क बनी
कुरस र नहि मारा कुम्भक सेनी।

मापा

विद्यापति की 'पदावली' की भाषा मैथिली है। उन्होंने 'कीर्तिलता' की प्रस्तावना में कहा है—

देसिल बयना सब जन मिट्ठा।
ते तैसन जम्पओ अवहट्ठा॥

विद्यापति ने इसी सबको मधुर लगनेवाली 'देसिल बयना' (देशीभाषा) में पदावली की रचना की है। मिथिला बंगाल का सीमावर्ती भाग है, अत उस पर बंगाल का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है किन्तु 'मैथिली' की प्रकृति हिन्दी (पूर्वी हिन्दी) से अधिक साम्य रखती है। गेल गेल लेल लिल उत्पन्न आदि पूर्वी आदि हिन्दी के सामान्य भूतकालीन लकारांत के प्रयोग अनेक पदों में मिलते हैं। इन क्रियाओं का प्रत्यय 'ल' संस्कृत से 'गत' रूप का विकास 'ल' में परिवर्तित हो गया है जिसका रूपान्तर 'ल' में हुआ है। पूर्वी हिन्दी के वर्तमान काल का 'अहै' मैथिली में 'अए' हो गया है जैसा कि हम विद्यापति के द्वारा प्रयुक्त मिलाअए, सुनए, जाअए आदि शब्दों में देखते हैं। 'अहै' अपने मूल रूप में भी व्यवहृत हुआ है। यथा करह पूछह, हेरह आदि। पूर्वी हिन्दी का हेतुक क्रिया रूप 'अए' विद्यापति के कुछ पदों में अपने मूल रूप में ही विद्यमान है। 'गौरव लेबए प्रकृत आयत'। इसी प्रकार पूर्वी हिन्दी के विधिक्रिया के रूप देखि जनहु, सुनहु एव आदि भी विद्यापति के पदों में अपने मूलरूप में ही व्यवहृत हैं।

यहां यह कह देना आवश्यक है कि विद्यापति-द्वारा रचित पदों की संख्या आज भी अज्ञात है। श्री नगेन्द्रनाथ गुप्त के संग्रह में हम ९४५ पद मिलते हैं। बाबू व्रजनंदन-द्वारा संगृहीत पदों की संख्या इससे कम है। श्री बेनीपुरी का संग्रह इन दोनों

अवसरों में भी पृथक् हैं। मिथिला की स्त्रियाँ विभिन्न सामाजिक धार्मिक और सांस्कृतिक समारम्भों के अवसर पर विद्यापति के कहे जाने वाले जो पद गाती हैं उनमें कई पद ऐसे हैं जो संग्रह में उपलब्ध नहीं हैं। बहुत सम्भव है कि विद्यापति के अनेक पद अभी भी अनुपलब्ध हों। ऐसी स्थिति में हमारा यह कहना अनुचित न होगा कि विद्यापति के पद गेय होने के कारण उनकी मूल भाषा में परिवर्तन होता रहा हो। दूसरे इन पदों की रचना आज से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व हुई थी। अतः इस दीर्घावधि में भी विद्यापति द्वारा प्रयुक्त 'मैथिली' का रूप एक बड़ी सीमा तक अवश्य देख सकते हैं। विद्यापति ने जिस भाषा का प्रयोग किया है वह भावों के स्पष्टीकरण में पूर्ण सहायक और शृंगार रस की अभिव्यंजना के अनुकूल है। कवि ने अपनी भाषा में मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग भी खुलकर किया है। नौंद पुरस रविचोर जिव काँप लोलुप वचन भिरा आदि ऐसे ही मुहावरे हैं। विद्यापति द्वारा प्रयुक्त कुछ लोकोक्तियाँ इस प्रकार हैं —

हाथक काँगन आरसी काज।
भमरा मर माँजरि न माँग।
कूप न आवए पथिक के पास।
दूध क मारल दूधा भख।
भेक न पियए कुसुम मकरन्द।
वानर कंठे की मोतिय हार।

गीतिकाव्य के जनक

भारतीय साहित्य में गीतिकाव्य की परम्परा वैदिक काल से चली आ रही है। 'ऋग्वेद' इस काल का प्रथम गीतिकाव्य-ग्रन्थ है। इसके पश्चात् सामवेद की रचना भी गीतिकाव्य के ही रूप में ही हुई। वर्षों से यह वैदिक समवेत-गान लोकगीतों से प्रेरणा ली थी जो इनकी रचना के पूर्व तत्कालीन जनभाषा में प्रचलित थे। कुछ समय के पश्चात् ये गीत कुछ जन-समुदायों की ही सम्पत्ति बन गए और इनके गाने वाले जन-समूह — मागध सूत आदि कहलाने लगे। यह वैदिककाल से आरम्भ होनेवाली गीतिकाव्य-परम्परा कब तक अक्षुण्ण रही प्रमाणों के अभाव में कहना कठिन है। हमें इसके स्पष्ट दर्शन एक दीर्घावधि के पश्चात् जयदेव की रचना में ही होते हैं। इस दृष्टि से जयदेव के गीत गोविन्द का अत्यधिक महत्त्व है। जयदेव संस्कृत के प्रथम कवि हैं जिन्होंने मुक्तकों में राधा-कृष्ण की शृंगारिक लीलाओं का मुक्तकंठ से गान किया। ये गीत संगीतशास्त्र के स्वरों पर सधे हुए हैं और आज भी इनमें वही लोच है जो इनके रचना-काल में था।

हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में हमें बीसलदेव रासो आल्हखण्ड आदि प्रबन्धात्मक गीतों के रूप में मिलते हैं किन्तु ये जयदेव के मुक्तक गीतों से सर्वथा भिन्न हैं। जयदेव के पश्चात् विद्यापति ही एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने मुक्तक गीतों में काव्य-रचना की है। इस दृष्टि से विद्यापति हिन्दी के प्रथम गीतकार तथा हिन्दी-साहित्य में गीतिकाव्य की परम्परा को जन्म देनेवाले कहे जा सकते हैं। कृष्णकाव्य के गायक महाकवि सूरदास इसी परम्परा के द्वितीय चिरस्मरणीय गीतकार हैं।

१२

सूर का भक्ति मार्ग

महाभारत के शांति पर्व में बतलाया गया है कि सर्वप्रथम भगवान् ने नारद को भक्तिमार्ग का उपदेश दिया था। इसके पश्चात् इस मार्ग का रहस्य विवस्वान् ने मनु को बतलाया और मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को बतलाया। इसके बहुत समय के पश्चात् भगवान् कृष्ण ने अपने सखा अर्जुन को इस भक्तिमार्ग या उपासना-धर्म का उपदेश दिया जो श्रीमद्भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय में देखा जा सकता है। भगवद्गीता में ब्रह्म के जिस स्वरूप का वर्णन है, वह पूर्वापेक्षा बहुत व्यापक है। वह ऐसा स्वरूप है जिसमें लोक-संग्रह और लोक-रक्षण की सामर्थ्य है और शक्ति शील सौन्दर्य ऐश्वर्य आदि से विभूषित है। भागवत में वर्णित ब्रह्म का भी यही स्वरूप है।

महाकवि सूरदास का 'सूरसागर' भागवत के आधार पर लिखा हुआ ग्रंथ है। इसलिए महाकवि सूरदास ने भी ब्रह्म का यही स्वरूप ग्रहण किया और भगवान् कृष्ण को अपनी उपासना का केन्द्र बनाकर वैष्णव सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन किया है। वास्तव में वेदों की ऋचाओं में वर्णित सिद्धान्त ही वैदिक धर्म के प्रकाण्ड आचार्यों द्वारा प्रचारित हुए हैं। काल और स्थिति के अनुसार धार्मिक सिद्धान्तों में भी परिवर्तन होना आवश्यक है। सर्वप्रथम दृष्टि से भगवान् कृष्ण ने वैदिक सिद्धान्तों में कुछ परिवर्तन कर सूरकालीन वैष्णव धर्म का शिलान्यास किया। अतः भगवान् कृष्ण को ही वैष्णव धर्म का सर्वप्रथम आचार्य कहना अनुचित न होगा। धार्मिक और ऐतिहासिक अनुसंधानों के अनुसार वेदों और संहिताओं की रचना भिन्न-भिन्न काल में हुई। उदाहरणार्थ-यजुर्वेदसंहिता में कंसी नामक राक्षस का कृष्ण द्वारा वध होने का उल्लेख है। इससे इस संहिता का कृष्ण जन्म के पश्चात् लिखा जाना प्रमाणित होता है।

श्रीमद्भगवद्गीता भगवान् कृष्ण की चिरस्मरणीय और अनुपम रचना है जिसमें उन्होंने निष्काम साधना को ही विशेष महत्त्व दिया है। उनकी दृष्टि में मुक्ति प्राप्त करने के लिए कर्मयोग निरर्थक वस्तु है। किसी भी वर्ग का व्यक्ति साधना और ज्ञान-यज्ञ के द्वारा मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। उन्होंने अनासक्ति पर जोर देकर अलौकिक सम्पत्ति की प्राप्ति को ही प्रधानता दी है। ये ही सभी बातें हैं जिससे हम भगवान् कृष्ण को वैष्णव धर्म का प्रथम आचार्य कहते हैं। सूर के भक्ति मार्ग में भी इसी बात का उल्लेख है। उदाहरणार्थ निम्नांकित पंक्तियाँ देखिये—

काहू के कुल तन न विचारत।
अविगत की गति कहि न परत, व्याध अजामिल तारत।

कौन भाँ जाति अरु पाँति बिदुर की, ताके गृह पग धारत,
भोजन करत तुष्ट घर उनके राजमान भंग टारत।
ऐसे जनम करम के ओछे, ओछे ही अनुसारत
यह स्वभाव सूर के प्रभु को, भक्त बछल प्रन पारत॥

इस प्रकार निराकार ब्रह्म को साकार का रूप देकर उसकी उपासना का उपदेश देना भक्ति-मार्ग का मुख्य उद्देश्य हो गया। यद्यपि वैदिक साहित्य में वैष्णव धर्म का ऐकान्तिक निरूपण ही किया गया है, तथापि पुराणों और महाभारत की रचना के पश्चात् वैष्णव धर्म का स्वरूप बदल गया और वह अनेक शाखाओं में विभाजित हो गया जैसा कि पद्मपुराण के निम्नांकित श्लोक से मालूम होता है—

रामानुजं श्री स्वचक्रे मध्वाचार्य चतुर्मुखः।
श्री विष्णुस्वामिनं रुद्रो निम्बादित्यं चतुस्सनः।

इस श्लोक के अनुसार रामानुज मध्वाचार्य विष्णुस्वामी निम्बार्क वैष्णव धर्म के आचार्य हैं। ग्यारहवीं शताब्दी में रामानुजाचार्य ने जिस धर्म का प्रचार दक्षिण भारत में किया उसी धर्म के सिद्धान्तों को किंचित् परिवर्तन के साथ वैष्णव धर्म के अन्य आचार्य मध्वाचार्य विष्णुस्वामी और निम्बार्काचार्य ने स्वीकार कर प्रचार किया। इनमें से निम्बार्काचार्य और विष्णु स्वामी ने भगवान् कृष्ण की उपासना पर ही विशेष बल दिया और उत्तर भारत में इसका प्रचार किया। वल्लभाचार्य विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। महाकवि सूरदास जी भी इन्हीं के अनुयायी थे। यही कारण है जो उन्होंने वल्लभाचार्य के द्वारा सिद्धान्तों और उपदेशों को अपनी रचना का आधार बनाया। इससे स्पष्ट है कि स्वामी रामानन्द का भक्तिमार्ग ही सूर का भक्ति-मार्ग था।

वैष्णव धर्म की जो परम्परा हमारे देश में प्रचलित रही उसमें ज्ञान और भक्ति के पृथक्-पृथक् स्थान रहे। इसीलिये हमारे यहाँ धर्म के क्षेत्र में ज्ञानी और भक्त भी पृथक्-पृथक् रहे। गीता के शब्दों में तत्व से ब्रह्म को जानने का प्रयत्न करने वाले ज्ञानी और हृदय-पक्ष को लेकर भगवान् की उपासना, ध्यान भजन करने वाले भक्त कहलाये। रामानुज विष्णु स्वामी निम्बार्काचार्य रामानन्द आदि आचार्य भले ही ज्ञानी रहे हों पर उनके अनुयायी तुलसी सूर कबीर आदि भक्त ही थे। इन्होंने ब्रह्मज्ञान के किसी रहस्य का भी उद्घाटन नहीं किया इन्होंने सर्वत्र प्रेम अथवा भक्ति के द्वारा ब्रह्म के मूर्त उपास्य-स्वरूप का ही साक्षात्कार करने

का प्रयत्न किया। भक्त को इसी भक्ति के द्वारा भगवान् का स्वरूप अधिकाधिक स्पष्ट होता है। जब वह इस स्थिति को पहुँच जाता है तब वह 'भक्त' से 'ज्ञानी भक्त' हो जाता है। भक्तिमार्ग के क्रम में ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ माना गया है। इसका कारण यह है कि ज्ञानी भगवान् के स्वरूप का ज्ञान तो प्राप्त करता है पर वह उस ज्ञान से तन्मय रहता है और ज्ञानी भक्त ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट करनेवाली एक-एक बात पर मुग्ध होता हुआ भाव बढ़ता जाता है और अंत में उसके स्वरूप में ही आत्मसात् हो जाता है। अपनी सम्पूर्ण सत्ता को उसी में डुबा देता है। यही भक्त की सर्वोच्च अवस्था है।

भारतीय भक्तिमार्ग केवल प्रेममार्ग है इसमें किसी अलौकिकता या रहस्य का स्थान नहीं। भागवतकार ने भक्ति के जो विधान बतलाये हैं—

श्रवण, कीर्तन विष्णो, स्मरण, पादसेवनम्
अर्चन, वन्दन, दास्य सख्य, आत्मनिवेदनम्।

भारतीय भक्तिमार्ग के कवि सूर तुलसी आदि की भक्ति में भी हम ये ही विधान पाते हैं। संक्षेप में भारतीय भक्ति-मार्ग का साधना का आधार मनुष्य की सहज रागात्मिका वृत्ति है और इसकी पद्धति सहज प्रेम-पद्धति है।

सूरकालीन भक्ति-मार्ग की दो शाखाएँ थीं। भारतीय समाज का एक भाग भक्ति के प्राचीन लोक-धर्मोचित स्वरूप को मानता था और सगुण उपासना का समर्थक था और दूसरा भाग भक्ति के लोक-धर्मोचित स्वरूप से बिल्कुल उदासीन और तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति के प्रतिफल एक नया मार्ग खोज रहा था। यह भक्ति-मार्ग का द्वितीय विभाग शास्त्राश्रित तो नहीं था, पर मुसलमानों के विशेष सम्पर्क में पनपा था। यही कारण है कि यह विभाग मुस्लिम भक्ति-मार्ग के आगे बढ़ने में असमर्थ रहा। मुस्लिम भक्ति-मार्ग से प्रभावित होने के कारण इसके उपदेशक भी जनता को ब्रह्म के उस स्वरूप से परिचित न करा सके जो शक्ति साहस और प्राण में प्राण प्राप्त था तथा जो अत्याचारियों के दमन में समर्थ था।

प्रथम शाखा के भक्तिमार्गी निराकार ब्रह्म की उपासना से संतुष्ट होनेवाले न थे। उनकी भक्ति का आधार बिना हाथ पैर, मुँह और आँख वाला ईश्वर नहीं वरन् ईश्वर का वह स्वरूप था जो जन-रक्षा, धर्म-रक्षा और लोक-रंजन के लिए, विश्व में अवतीर्ण हुआ था। उस समय की सामाजिक स्थिति ही ऐसी थी जिसमें निराकार ब्रह्म और वैराग्य की चर्चा करना निराशा और शक्तिक्षीण भारतीय समाज को और भी अधिक निराश करना था। विश्व को निस्सार और जीवन को पानी का बुलबुला

बतलाकर वैराग्य भावना द्वारा समाज को निरुत्साह, अकर्मण्य और पुंस्त्वहीन बनाने वाले प्राणी आज भी सड़कों-सड़कों घूमते दृष्टिगोचर होंगे पर इस प्रकार के विनाशकारी उपदेशों की न उस समय आवश्यकता थी और न आज आवश्यकता है। सूरदास जी ने भी इस वैराग्यमूलक भक्ति-मार्ग पर दृष्टिपात न कर प्रथम शाखा के भक्ति मार्ग को ही अपनाया और अपने भक्तिपूर्ण काव्य-ज्ञान द्वारा प्रभावित भारतीय समाज को हरा-भरा पुष्पित और पल्लवित करने का प्रयत्न किया।

सूर द्वारा प्रतिपादित और प्रचारित भक्ति-मार्ग इस देश के लिए कोई नया न था। सामवेद में अनेकों मंत्र इस मार्ग की प्रशंसा में लिखे मिलते हैं। बौद्ध धर्म की महायान शाखा भी इसी भक्ति-मार्ग का अनुकरण करती है। जैन धर्म प्रचारकों ने भी तीर्थंकरों की भक्ति को प्रधानता दी है।

मुसलमानों के लगातार संपर्क के कारण हिन्दुओं और मुसलमानों की भक्ति का प्रवाह कुछ समय के पश्चात् गंगा और यमुना के संगम की तरह मिल गया। हजरत मोहम्मद ने जिस एकेश्वरवाद का प्रचार किया वह ईरान के सुप्रसिद्ध मुस्लिम संत इब्राहम के प्रयत्न से सूफी धर्म में परिवर्तित हो गया। सूफी धर्म के सिद्धान्त के अनुसार तप-द्वारा आत्मा की शुद्धि हो जाने पर तपस्वी के शरीर में ईश्वर की आत्मा प्रवेश करती है और उसके समस्त काम ईश्वर की तरह ही होने लगते हैं। इस अवस्था में भक्त और भगवान् की भिन्नता मिट जाती है।

यह सूफी धर्म मुसलमानों के साथ भारत में आया। यद्यपि भारतीय इतिहास के पृष्ठ मुसलमानों के अत्याचारों से भरे पड़े हैं तथापि सभी मुसलमानों को अत्याचारी समझना अनुचित होगा। जिस कुरान में तलवार के बल पर धर्म-प्रचार करने की आज्ञा है उसी में विश्व-मैत्री का भी आदर्श है। स्पेन के मुसलमानों 'मूरों' का इतिहास हमारे सामने इस्लाम धर्म के त्याग विश्व प्रेम और विश्व-बन्धुत्व का आदर्श उपस्थित करता है। इन मूरों ने ही यूरोपीय इतिहास में अन्धकार-युग में उस महादेश के कोने से जाति भेद की विनाशकारी भावना का नाश कर ज्ञान का आलोक फैलाया था।

तेरहवीं शताब्दी में मुसलमान शासकों ने हिन्दुओं पर अत्याचार करने में कुछ उठा न रखा। पर इसके पश्चात् ही उन्हें मालूम हो गया कि भारत की प्राचीनतम सभ्यता आदर्श और धर्म को मिटा देना उनकी शक्ति के परे है। अतएव उन्होंने अत्याचार बंद कर हिन्दुओं से स्नेह-संबंध स्थापित करने में ही अपनी सफलता समझी। इस प्रकार १६ वीं शताब्दी के अंत तक मुस्लिम अत्याचारों का अंत हो गया और उसके पश्चात् भी औरंगजेबी शासनकाल के अतिरिक्त हमें और कभी भी हिन्दू

मुस्लिम दुर्भावना दिखाई न दी। इन दोनों जातियों में धीरे-धीरे इतना स्नेह बढ़ गया कि उन्होंने अपनी भाषा, सभ्यता आदि में विनिमय प्रारंभ कर दिया। दो सभ्यताओं के संपर्क में तत्कालीन सभ्यता एक नये रूप में परिवर्तित होने लगती है। यही बात १५ वीं शताब्दी के पश्चात् भी हुई। हिन्दुओं में एकेश्वरवाद और मुसलमानों में सूफी धर्म की प्रधानता दृष्टिगोचर होने पर भी वे लोक रक्षा और लोक-रंजन के आदर्शों को श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे और न्याययुक्त राजसत्ता वीरता और लोकानुरंजनकारी ऐश्वर्य में वे ईश्वर की लोक रक्षिणी शक्ति को देखते और इस रूप में ईश्वर की स्तुति भी करते थे।

वल्लभाचार्य, रामानन्द, चैतन्य महाप्रभु आदि धर्मोपदेशकों ने सूरदास के बहुत पहिले ही शांति-पूर्ण और हिंसाहीन वैष्णव धर्म के प्रभाव से समस्त देश को प्रभावित करने का प्रयत्न किया था तथापि अब शाक्त और वाम मार्गी उसके विरोधी थे। विद्वानों की दृष्टि में शाक्त और वाममार्गी विहित हिंसाश्रित तन्त्र-मन्त्र आदि धर्म विरुद्ध और त्याज्य थे।

मुसलमानों पर इस प्रेम-भक्ति प्रधान वैष्णव धर्म का कम प्रभाव न था, वरन् यों कहना चाहिए कि उनका सूफी धर्म एक प्रकार से वैराग्य और भक्तिभाव का मिश्रण ही था। सूफी धर्म में साकार उपासना की ही प्रधानता थी। वे ईश्वर को अनंत शक्तिशाली और असंख्य गुणों का आगार मानते थे। एक समय था जब समस्त इस्लाम संसार में सूफी धर्म का ही बोल-बाला था। सूफी धर्म का कट्टर अनुयायी मंसूर इस्लामी शूली पर चढ़ा दिया गया पर 'अनलहक' की ध्वनि पूर्ववत् ही निनादित होती रही।

पैगंबरी एकेश्वरवाद (मोनोथीज्म) और सूफियों के अद्वैतवाद "मोनीज्म" में बहुत कम अंतर था। हम दूसरे शब्दों में एकेश्वरवाद को स्पष्ट द्वैतवाद और अद्वैतवाद को सूक्ष्म द्वैतवाद कह सकते हैं। और जो सरल शब्दों में कहा जा सकता है कि सृष्टि को उत्पन्न करने, पालन करने और लय करने की शक्ति रखने वाले परमेश्वर को मानना एकेश्वरवाद और सृष्टि विशेष के कण-कण में उसके सूक्ष्म रूप का दृष्टिगोचर करना अद्वैतवाद है। इसी धारणा के अनुसार सूफियों की मनोवृत्ति निर्गुण निराकार ब्रह्म की ओर प्रवृत्त न होकर उसके व्यक्त आभास की ओर प्रवृत्त हुई। एकेश्वरवाद के अनुयायी लोग ईश्वर और प्रकृति को पृथक्-पृथक् मानते हैं पर अद्वैतवादी सूक्ष्म शुद्ध आत्म-तत्त्व के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मानते। उनकी दृष्टि में आत्मा और ईश्वर में भी कोई विशेष अंतर नहीं है। इसलिये वे स्वर्ग प्राप्ति में एकेश्वरवादियों की तरह किसी पैगम्बर की मध्यस्थता आवश्यक नहीं मानते थे। यही

कारण है कि कट्टर मुसलमानों की दृष्टि में एक सूफी और एक काफिर में कोई अंतर नहीं था। इसी सूफी धर्म ने भारतीय भक्ति-मार्ग पर भी बहुत प्रभाव डाला बल्कि यों कहना चाहिए कि उसने भारतीय भक्तिमार्ग को भारतीय और प्राचीन धर्म-ग्रन्थों के आधार पर आधारित रखते हुए अपने रंग में रँग कर एक नए रूप में परिवर्तित कर दिया। यही रूप सूरकालीन भक्तिमार्ग के नाम से प्रसिद्ध है।

वार्डनिग जैसे कुछ पाश्चात्य तत्ववेत्ताओं की धारणा है कि भक्तिमार्ग का जन्म सर्वप्रथम ईसाई धर्म में ही हुआ था और भागवत सम्प्रदाय की प्राचीनता प्रमाणित हो जाने पर भी कुछ लोग अभी तक इसी प्रकार की हठधर्मी कर रहे हैं पर सत्य तो यह है कि भक्तिमार्ग भारतीय आर्य-धर्म का देन है और यहीं से उसका प्रवाह अन्य अन्य देशों में प्रवाहित हुआ। पर भक्तिमार्ग की आविर्भूत होने पर भी मानव-समाज के पारस्परिक व्यवहार में अभिव्यक्त होनेवाली तथा लोक रक्षण और लोक रंजन का सामर्थ्य रखने वाली शक्ति की ओर किसी का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ। सूफी धर्म के प्रभाव ने निराकार निर्गुण ब्रह्म की उपासना को साकार ब्रह्म की उपासना के रूप में परिवर्तित कर दिया और इस तरह मुसलमान सन्तों के द्वारा भी भक्तिमार्ग का प्रचार आरम्भ हुआ।

सूफी साधक अपनी चार अवस्था मानते हैं—शरीयत, तरीकत, मारफत और हकीकत। इनको हम भारतीय भक्तिमार्ग की दृष्टि से कर्मकाण्ड, उपासना काण्ड, ज्ञान काण्ड और सिद्धावस्था कह सकते हैं। इस तरह सूरकालीन भारत में सूफी धर्म और भारतीय भक्तिमार्ग दोनों का प्रवाह गंगा यमुना की तरह प्रवाहित हो रहा था।

अब देखेंगे कि भक्ति क्या है, उसके मुख्य भेद कौन-कौन से हैं और सूर की भक्ति किस प्रकार की भक्ति समझी जानी चाहिए।

'भक्तिः परानुरक्तिरीश्वरे' के अनुसार ईश्वर में उत्कृष्ट अनुराग को भक्ति कहते हैं। यहाँ ईश्वर का मतलब आराध्य समझना चाहिए चाहे फिर वह साकार हो या निराकार। रामचरित-मानस में गोस्वामी तुलसीदास जी ने नवधा भक्ति का उल्लेख किया है जो भक्ति के दो मुख्य प्रकार वैधी और रागानुगा में अन्तर्गत आ जाती है। वैधी भक्ति शास्त्रीय विधि निषेध का अनुकरण करती है किन्तु रागानुगा प्रेम का अनुसरण करती है। महाप्रभु चैतन्य के अनुयायियों ने वैधी भक्ति को मर्यादित रूप, रागानुगा को प्रेम के प्रवाह में स्वतंत्रतापूर्वक प्रवाहित होनेवाली निर्बंध भक्ति कहा है।

महाकवि सूरदास जी रागानुगा भक्ति के अनुयायी थे यही कारण है जो हम उन्हें उपास्य के रंग में रँगकर भावना की बाढ़ में निर्बाध प्रवाहित होते देखते हैं।

जिस प्रकार भक्ति की सर्वोत्कृष्टता पर पहुँचने के पहले भक्त, फिर साधक और इसके पश्चात् सिद्ध होना पड़ता है उसी प्रकार वैधी भक्ति के सीमित क्षेत्र में बद्ध होने के पश्चात् ही कोई रागानुगा भक्ति में प्रवाहित होने में समर्थ हो सकता है।

शास्त्रकारों ने रागानुगा भक्ति के भी दो प्रकार बतलाये हैं। प्रथम कामरूपा और द्वितीय सम्बन्धरूपा। व्रज बालाओं की भगवान् कृष्ण के प्रति जो भक्ति थी वह कामरूपा भक्ति थी किन्तु 'सूर' की भगवान् में जो भक्ति थी या भक्त की अपने उपास्य के प्रति जो भक्ति रहती है वह सम्बन्धरूपा भक्ति है। कुछ आचार्यों के मतानुसार वैधी भक्ति प्रेम का मर्यादित स्वरूप और रागानुगा उसका अमर्यादित स्वरूप है।

भक्ति की दो अवस्थाएं होती हैं—प्रथम भाव और द्वितीय प्रेम, पर दोनों अवस्थाओं का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। घनिष्ठ सम्बन्ध ही नहीं वरन् द्वितीय अवस्था का जन्म ही प्रथम अवस्था से होता है। जिस प्रकार प्रकाश के लिए सूर्य का होना आवश्यक है उसी प्रकार प्रेमोत्पत्ति के लिए भाव का होना आवश्यक है। जब भाव की निरंतरता प्रगाढ़ हो जाती है तब वही प्रेम के रूप में बदल जाती है। सूरदास जी इससे सहमत नहीं हैं। वे प्रेम को भाव से उत्पन्न नहीं वरन् प्रेम ही से उत्पन्न मानते हैं, जैसा कि उनकी निम्नांकित पंक्तियों से प्रकट होता है

'प्रेम प्रेम सों होय, प्रेम सों पारहि जैय,
प्रेम बँध्यो संसार, प्रेम परमारथ पैय।
एकै निश्चय प्रेम को, जीवन मुक्ति रसाल,
साँचो निश्चय प्रेम को, जिहि तें मिलैं गोपाल।'

श्री वल्लभाचार्य ने जिस भक्ति-मार्ग का सूत्रपात किया वह पुष्टिमार्ग के नाम से प्रसिद्ध है। उनका 'पुष्टिमार्ग' से तात्पर्य प्रेममार्ग से ही था। वे शुद्ध प्रेम को ही 'शुद्ध पुष्टि' मानते हैं जैसा कि उन्होंने 'पुष्टि प्रवाह मर्यादा' की निम्नांकित पंक्तियों में व्यक्त किया है—

'पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रियारताः।
मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धाः प्रेम्णाति दुर्लभाः॥'

इससे स्पष्ट है कि श्री वल्लभाचार्य के अनुसार उपास्य के प्रति शुद्ध प्रेमाभिव्यक्ति ही पुष्टिमार्गीय भक्ति अथवा उपासना का साधक है। वे गोपियों को शुद्ध प्रेमाभिव्यक्ति का प्रतीक मानते हैं इसलिए उन्होंने गोपियों को पुष्टि का अगुवी मानकर उनकी प्रेमात्मक भावना को ही पुष्टिमार्गीय

भक्ति का साधन कहा है।[1] यही पुष्टिमार्ग महाकवि सूर का भक्ति-मार्ग है। विशुद्ध प्रेम भाव-स्वरूप होता है और इस भाव को प्राप्त करने का साधन क्रियात्मक चिंतन है। श्री वल्लभाचार्य ने भी गोपियों को तीन श्रेणियों में विभाजित कर पुष्टि के तीन प्रकार बतलाए हैं। उनके मतानुसार कुछ गोपियाँ ऐसी हैं जिन्होंने लोक-मर्यादा का त्याग कर अनन्य भाव से कृष्ण की भक्ति की है वे 'गोपांगना' हैं। इनके भक्ति-मार्ग को उन्होंने "पुष्टिमार्ग" कहा है। यह स्वकीया भाव की सेवा है। सूर ने इस कोटि की भक्ति का वर्णन इस प्रकार किया है —

"भजि सखि भाव भाविक देव।
कोटि साधन करो कोऊ तऊ न पावे सेव॥
धूमकेतु कुमार माँग्यो कौन मारग प्रीत।
पुरुष तें त्रिय भाव उपज्यो सबै उलटी रीति॥
बसन भूषन पलटि पहरे भाव सों संजोय।
उलटि मुद्रा दई अंकन बरन सूधे होय॥
वेद विधि को नेम नहिं जहाँ प्रेम की पहचान।
व्रजवधू बस किए मोहन सूर चतुर सुजान॥"

श्री आचार्य ने परकीया भाव से भक्ति करनेवाली गोपियों को दूसरी अथवा कुमारिका कहा है और इनकी भक्ति को 'पुष्ट मर्यादा' कहा है। इस श्रेणी की भक्ति पर सूर का यह पद देखिए—

'पलक ओट नहिं होत कन्हाई।
घर गुरुजन बहुतै विधि त्रासत लाज करावत लाज न आई॥
नैन जहाँ दरसन हरि अटके स्रवन थके सुनि बचन सुहाई।
रसना और कछू नहिं भाषत, स्याम स्याम रट इहै लगाई॥
चित चंचल संग नहिं डोलत, लोक लाज मरजाद मिटाई।
मन हरि लियो सूर प्रभु तब ही, तन बपुरे की कहा बसाई॥'

तीसरे प्रकार की गोपियाँ वे हैं, जिन्होंने दास-भाव से कृष्ण की उपासना की है। इन्हें वल्लभाचार्य ने 'व्रजांगना' कह उन्हें 'पुष्टि प्रवाह' रूप माना है। इन भक्तों की दास्य भाव की भक्ति का वर्णन सूर की निम्नांकित पंक्तियों में देखिए—

1 "गोपिका प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत्।" (संन्यास निर्णय)

"धनी सहज यह लूट हरि केलि गोपिन के सपुने यह कृपा कमला न पावै।
निगम निधार त्रिपुरारिहु बिचारि रह्यो पच रह्यो सेस नहिं पार पावै॥
किन्नरी बहुर असुर गंधर्वनी, पन्नगनी चितवन नहीं माँगु पावै।
देति करतार लै लाल गोपाल सों, पकरि ब्रज बाल कपि ज्यों नचावै।
कोउ कहै ललन लैना मोर कैसे नचैं, कोउ कहै भ्रमर कैसे गुंजारैं।
कोउ कहै पौरि लगी दौरि आवहु लाल रीझि मोतिन के हार वारैं॥
जो कछु कहैं ब्रजवधू सोई साँई करत, तोतरे वचन बोलत सुहावै।
रोय परत बस्तु जब भारी न उठै सब चूक सुत जननी उर सों लगावै॥'

भक्त को अपने उपास्य की प्रत्येक वस्तु और लीला मधुर जान पड़ती है। श्री वल्लभाचार्य ने अपने 'मधुराष्टक' में लिखा है

'अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरम्।
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्।'"

अपने उपास्य की इस सर्वव्यापी और सर्वांगीण मधुरता पर सूर के द्वारा लिखे पद हमें सूरसागर के स्थान-स्थान पर मिलते हैं। सूर ने यह माधुर्य-भक्ति कहीं दास्य भाव से, कहीं सख्य भाव से, कहीं वात्सल्य भाव से और कहीं प्रेम भाव से व्यक्त की है। उदाहरण में ये पद देखिए

दास्य भाव—

अपना भक्ति दे भगवान
कोटि लालच जो दिखावहु नाहिनै रुचि आन।
जा दिना ते जनमु पायो, यहै मेरी रीति,
विषय विष हठि खात, नाहीं डरत करत अनीति।
थके किंकर जूथ जम के, टारे टरत न नेक,
नरक कूपनि जाइ जमपुर, पर्यो बार अनेक।
महा माचल मारिबे को, सकुच नाहिन मोहिं,
परयो हौं पन किए द्वार, लाज पन की तोहिं।
नाहिंन काँचौ कृपानिधि, करौ कहा रिसाइ,
सूर तबहुँ न द्वार छाँड़ै, डारिहौ कढ़राइ॥१॥

सख्य भाव —

आजु हौं एक एक करि टरिहौं।
कै हमहीं कै तुमहीं माधव, अपुन भरोसे लरिहौं।

हौं तो पतित सात पीढ़िन को पतितै ह्वै निस्तरिहौं।
अब हौं उघरि नचन चाहत हौं, तुम्हें बिरद बिनु करिहौं॥२॥

वात्सल्य भाव —

कहन लागे मोहन मैया मैया।
पिता नंद सों बाबा अरु हलधर सों भैया॥
ऊँचे चढ़ि चढ़ि कहति जसोदा लै लै नाम कन्हैया।
दूर कहूँ जनि जाहु लला रे, मारैगी काहू की गैया॥
गोपी ग्वाल करत कौतूहल घर घर लेत बलैया।
मनि खम्भन प्रतिबिम्ब बिलोकत, नचत कुँवर निज पैया॥
नंद जसोदा जी के उर तें यह छवि अनत न जैया।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस को चरनन की बलि जइया॥३॥

सामान्यतया भक्ति में उपर्युक्त तीनों भावों की प्रधानता रहती है पर जब संसार के सम्बन्ध में वैराग्य उत्पन्न होकर एकमात्र आराध्य की महानता में भक्त अपने आप को भुला देता है तब शान्त रस का जन्म होता है जो अनन्य भक्ति का एकमात्र प्रतीक है। उसी शान्त रस में सराबोर होकर 'भक्ति रसामृत सिंधु' का प्रणेता कहता है—

कदा शैल द्रोण्यां पृथुल विटपी कोटरवसति—
र्वसानः कौपीनं रचित फल-कन्दाशन-रुचिः।
हृदि ध्यायं ध्यायं मुहुरिह मुकुन्दाभिध महः
चिदानन्दज्योतिः क्षणमिव हि नेष्यामि रजनीः।

अर्थात् हम पर्वत की कन्दरा से किसी वृक्ष की कोटर में बैठकर कौपीन धारणकर कन्दमूल-फल का भोजन कर अपने हृदय में उस मुकुन्द की चिदानन्द ज्योति का ध्यान करते हुए रात्रि को क्षण की तरह व्यतीत कर देंगे।

जब मानव-हृदय विश्व की उलझनों से त्रस्त हो जाता और अपने हृदय की शान्ति के लिए विश्व में कोई उपकरण अथवा आधार नहीं देखता तब वह उस महान् शक्तिशाली परमेश्वर को अपने जीवन का एकमात्र आधार बना लेता है और बार-बार अपने द्वारा किए गए अपराधों और पापों के लिए पश्चात्ताप न कर उससे क्षमा-याचना करता है। यही भक्त के भगवान् के समीप पहुँचने और उसके स्वरूप के दर्शन की प्रथमावस्था है। बार-बार इस प्रकार प्रार्थना करने पर उसे पापों और दुष्कर्मों से घृणा होने लगती है और उसका हृदय पश्चात्ताप की अग्नि में तप कर

विमुक्त हो जाता है। महाकवि सूर ने अनेक पद इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर लिखे हैं और उन्हें अपनी वीणा पर गाकर आराध्य को रिझाने का बार-बार प्रयत्न किया है। सूर की दृष्टि में निर्गुण की उपासना दुःसाध्य है और इसीलिए वे सगुण ब्रह्म की उपासना करना निश्चित करते हैं—

"अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै॥
परम स्वाद सबही जु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन बानी को अगम अगोचर सो जाने जो पावै॥
रूप रेख गुन जाति जुगुति बिनु निरालम्ब मन चकृत धावै।
सब बिधि अगम बिचारहिं ताते सूर सगुन लीला पद गावै॥"

'नारद भक्ति-सूत्र' के अनुसार भक्ति के ग्यारह प्रकार—गुण माहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और परम विरहासक्ति हैं। हनुमत्संहिता में शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृंगार भक्ति के प्रकार बताए हैं। इन सूर-साहित्य में भक्ति के स्थान वात्सल्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, आत्म-निवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति और विरहासक्ति के रूप में होते हैं। पुष्टिमार्ग में दास्यासक्ति का स्थान नहीं है, पर सूर ने आत्मनिवेदन के रूप में जो पद लिखे हैं, उनमें अधिकांश दास्यासक्ति के रूप में ही दिखाई देते हैं। यद्यपि सूर ने कहीं भी किसी उपासना पद्धति का उल्लेख नहीं किया है, पर उनके साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि श्री वल्लभाचार्य-द्वारा निर्दिष्ट उपासना-पद्धति ही उनकी उपासना-पद्धति है। उन्होंने कहा है कि मनुष्य में काम, क्रोध, मद, लोभ, मत्सर आदि का होना स्वाभाविक है। इन प्रवृत्तियों पर अधिकार पाना मनुष्य की शक्ति के परे है। अतः केवल भगवान् का अनुग्रह होते ही ये प्रवृत्तियाँ ईश्वरोन्मुख हो उनकी भक्ति की बाधक न होकर साधक बन जाती हैं।"

ऊपर सूर-साहित्य में प्रयुक्त भावनाओं की जिन आसक्तियों का उल्लेख किया गया है, इनके अतिरिक्त हम सूर के काव्य में रूपासक्ति भी देखते हैं। अनेक राधाकृष्ण के रूप वर्णन के पदों में सूर की गोपियाँ और राधा भी कृष्ण के रूप पर ही आसक्त हैं। इसी प्रकार नन्द यशोदा के प्रेम में वात्सल्यासक्ति, गोचारण और ग्वाल-बालों के स्नेह-संगम में सख्यासक्ति, गोवर्धन-धारण में पूजासक्ति और कुछ विनय के पदों में सूरदास की गुण-माहात्म्यासक्ति मिलती है, पर उनका सर्वाधिक प्रिय विषय कान्तासक्ति ही

है। सूरसागर में अन्य विषयों की दृष्टि से कोई कम भले ही न हो पर भक्ति की दृष्टि से हम उसमें एक क्रमबद्धता अवश्य देखते हैं। ऊपर हमने 'नारद भक्ति-सूत्र' के अनुसार भक्ति के जो ग्यारह प्रकार बतलाये हैं वे वास्तव में भक्ति-पथ की विभिन्न सीढ़ियाँ ही हैं। वैसे तो उनमें से किसी भी एक सीढ़ी पर परम विकास में भक्त भगवान् को प्राप्त कर सकता है पर इन सीढ़ियों से क्रमशः आगे बढ़कर भी भक्त भगवान तक पहुँच सकता है। भक्त गुणमाहात्म्य स्मरण आत्म-निवेदन तन्मयता आदि सोपानों से बढ़ता हुआ परम विरहासक्ति की अवस्था को पहुँचता है। सूरसागर में इन्हीं सोपानों से सूरदास भी आगे बढ़े हैं और अन्त में वे गोपियों की परम विरहासक्ति से तादात्म्य स्थापित कर अपना अस्तित्व ब्रह्म में विलीन कर देते हैं। यही भक्त का चरम लक्ष्य है।

कबीर की भक्ति-प्रणाली में संयम आवश्यक था और तुलसी की राम भक्ति में गुरुता और दास्य भावना आवश्यक थी पर सूर की उपासना-प्रणाली की कोई भी शर्त नहीं है। उनकी उपासना-पद्धति में नीच पतित कामी कुराही वासनासक्त स्वयं अस्पृश्य सभी स्थान पा सकते हैं। उनके भक्ति-मार्ग का द्वार सभी के लिए खुला है आगन्तुक में भक्ति की जिज्ञासा मात्र होनी चाहिए। सूर अपने उपास्य की कभी विनती करते कभी मैत्रीभाव प्रदर्शित करते कभी उनकी रूपमाधुरी का पान करते कभी उनकी मुरलीधुन पर तन-मन वारते कभी उनके द्वारा अपनी उपेक्षा देखकर खीज जाते और कभी गोपियों की विरह-कातरता से प्रभावित होकर अपने उपास्य को खरी-खोटी भी सुनाने लगते हैं पर रहते हैं सदा उनकी ही ओर खिंचे हुए। यही भक्त की अनन्यता है। सूर की उपासना-पद्धति की इसी विशेषता ने बहुजन समाज को अपनी ओर आकर्षित कर लिया था।

सूर-द्वारा निरूपित भक्ति आनन्दमयी भक्ति है। उसके अंतराल से नित्य रस का मधुर प्रवाह प्रवाहित होता है। इसका यही प्रवाह बहुमुखी जनता का आकर्षण बन गया। इस उपासना-पद्धति में लंगोटी लगाकर वन में जाने धूनी रमाने योगाभ्यास करने इन्द्रिय-दमन की कठोरता दिखाने अथवा किसी प्रकार की रूक्षता लाने की आवश्यकता नहीं है। सूर के भक्ति-सागर से प्रवाहित करने वाला मनुष्य ज्यों-ज्यों भीतर प्रवेश करता जाता, त्यों-त्यों अधिक माधुर्य प्राप्त करता जाता है और ज्यों-ज्यों उसमें डूबता जाता त्यों-त्यों वह अपने को अपने उपास्य के अधिक निकट अनुभव करता जाता है।

जैसा कि हम पहिले लिख चुके हैं सूर का भक्ति-मार्ग श्री वल्लभाचार्य द्वारा

स्थापित पुष्टिमार्ग पर आधारित है जो प्रेम से ओत प्रोत है, प्रेम की सिद्धि का मार्ग विरह है। यही कारण है कि भक्ति के श्रवण, कीर्तन स्मरण आदि सभी साधन विरहात्मक हैं। जब भगवान भक्त को अपने विरह में तड़पता देखते हैं तभी उसे दर्शन देते हैं। बिना विरह-वेदना के संयोग सुख सम्भव नहीं है। सूर के ये भाव इस पद में देखिए—

"बिरह बिन नाहिन प्रीति की लाज।
लगे बिनु कहो कस आव, इन अँखियन में रोज ?
जबतें दूर भयो नन्द-नन्दन बैरी भयो मनोज।
सूरदास प्रभु निसक जे जन, ते हैं राजा भोज॥"

पुष्टि भक्ति की तीन अवस्थाएँ कही गई हैं स्वरूपासक्ति लीलासक्ति और भावासक्ति। ये तीनों अवस्थाएँ सूर के पदों में देखिए—

स्वरूपासक्ति

"कहु देख्यो माई, श्री गोकुल की वासी ?
सनिक सी बाँसुरी बजाइ साँझ की लै गया प्रान निकासी॥
देख्यो होय तौ दिखाउ सजनी, अँखियाँ रूप की प्यासी।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन बिनु, मेरो मरन जग हाँसी॥

लीलासक्ति

"चकई री चलि चरन सरोवर, जहाँ नहिं प्रेम वियोग।
जहाँ भ्रम निसा होत नहिं, सो सागर सुख योग॥
सनक से हंस, मीन सिव मुनिजन, नख रवि प्रभा प्रकास।
प्रफुलित कमल निमिष नहिं ससि डर, गुंजत निगम सुवास॥
जिहिं सर सुभग मुक्ति मुक्ताफल, विमल सुकृत जल पीजै।
सो सर छाँड़ि क्यों कुबुद्धि विहंगम इहाँ रहे कहा कीजै॥
लछमी सहित नित्य क्रीड़त सोभित सूरदास।
अब न सुहाय विषय रस छिल्लर, वा समुद्र की आस॥

भावासक्ति:—

"भाव बिनु भाव नफा नहिं पावै।
भाव भाव भक्तन को सर्वस भावहिं हिरदे ध्यावै॥
भाव भक्ति सदा सुमिरन करि पुष्टि पथ में धावै।
सूर भाव सबहीं को कारन, भावहिं में हरि आवै॥"

वे भक्त थे, पर भक्ति के बाह्याडंबरों में विश्वास न करते थे। उनकी दृष्टि में जाति भेद और वर्ग-भेद का भी भक्ति से कोई सम्बंध नहीं था। उदाहरणार्थ निम्नांकित पंक्तियाँ देखिए—

राम भक्त-वत्सल निज बानो।
जाति गोत कुल नाम गनत नहिं रंक होय के रानो॥
ब्रह्मादिक सिव कौन जाति प्रभु हौं अजान नहिं जानो।
हेता जहाँ, तहाँ प्रभु नाहीं, त्यों हेता क्यों मानो।"

सत्संगति भी भक्ति का ही एक अंग है इसलिए सूर ने सत्संगति की बड़ी प्रशंसा की है, पर उनका यह भी मत है कि स्वाभाविक मूल उपदेश अथवा सत्संगति से भी नहीं सुधर सकता जैसा कि इन पंक्तियों में प्रकट है —

'तजो मन हरि विमुखन को संग।
जाके संग कुबुद्धि उपजत, परत भजन में भंग॥
कहा होत पय पान कराये, विष नहिं तजत भुजंग।
कागहिं कहा कपूर चुगाये स्वान नहाए गंग॥'

सूर अपने आराध्य में ईश्वरवाची उन समस्त नामों को अन्तर्हित पाते हैं जिनका भिन्न-भिन्न उपासक अपने विश्वास और सीमित दृष्टिकोण से स्मरण करते हैं। वे गोस्वामी तुलसीदासजी की तरह 'तुमसा मस्तक तब नवै जब धनुष बाण लो हाथ' कहकर जिद नहीं करते वरन् सभी नामों को अपने उपास्य के ही पर्यायवाची समझते हैं। उदाहरणार्थ ये पंक्तियाँ देखिए—

"जय माधव गोविन्द हरि कृपा सिन्धु कल्याण कंस अरि।
प्रणतपाल केसव कमलापति कृष्ण कमल लोचन अनन्य गति॥
श्री रामचन्द्र राजीव नैन पर, सरण साधु श्रीपति सारंगधर।
खर दूषण त्रिशिरा सिर खंडन चरण चिन्ह दंडक भुज मंडन॥
रघुपति प्रबल पिनाक विभंजन जगहित जनक-सुता मनरंजन।
गोकुल पति गिरिधर गुनसागर गोपीरमन रास रति नागर।
करुणामय कपि कुल हितकारी बालि विरोध कपट मृगहारी।"

तात्पर्य यह कि सूर का भक्तिमार्ग व्यापक दृष्टिकोण से पूर्ण था। नाम की विभिन्नता का उनकी दृष्टि में कोई महत्व न था। अपने आराध्य की निष्कपट भाव से अनन्य आराधना करना ही उनका उद्देश्य था और यह कहा जा सकता है कि इस उद्देश्य-पूर्ति में वे पूर्णरूपेण सफल भी हुए हैं।

सूर-साहित्य में सौन्दर्य-भावना

सूर-साहित्य में सौन्दर्य भावना का वर्णन करने के पूर्व सौन्दर्य की परिभाषा स्वरूप तथा उसका साहित्य के विभिन्न अंगों से संबंध जान लेना अनुपयुक्त न होगा। गार्टेन सौन्दर्य-शास्त्र के जनक माने जाते हैं। उनके मतानुसार तार्किक ज्ञान का लक्ष्य सत्य है और रागात्मक ज्ञान का लक्ष्य सौन्दर्य है। सल्जर मीसि आदि के मत गार्टेन के मत के प्रतिकूल हैं। वे कला का लक्ष्य सौंदर्य नहीं पर शिव मानते हैं और इसलिए वे उसी वस्तु में सौंदर्य मानते हैं जो शिव-समन्वित हो। उनके मतानुसार मानव-जीवन का लक्ष्य समाज-कल्याण है जिसकी प्राप्ति नैतिक भावनाओं के संस्कार से ही संभव है। सौंदर्य इसी भावना को जागृत और संस्कृत करने का कार्य करता है। इनका दृष्टिकोण सुन्दर शरीर में सुंदर आत्मा Beautiful soul in beautiful body के सिद्धान्त का समर्थक है। विंकिलमेन समस्त कला का विधान और लक्ष्य केवल सौंदर्य को मानते और सौंदर्य को रूप-सौंदर्य विचार-सौंदर्य तथा अभिव्यक्ति-सौंदर्य के रूप में विभाजित करते हैं। जर्मन विद्वानों ने सौन्दर्य को एक ऐसी वस्तु समझा जो निर्विकल्प रूप से स्थित है, और न्यूनाधिक प्रमाण में शिव-युक्त है। होम सौंदर्य उसे मानते हैं जो सुखद हो अतः सौंदर्य की परिभाषा रुचि के अधीन है। फ्रेंच विद्वानों का भी यही मत है। इस लेखक [illegible] के अनुसार सौन्दर्य वह है, जो अत्यधिक सुन्दर हो और वही वस्तु अत्यधिक सुखदायी होती है, जो अल्पतम समय में अधिक प्रसाद देने की क्षमता रखती हो। काण्ट के मतानुसार सौन्दर्य वह है जो बिना किसी तर्क या व्यावहारिक लाभ के सदैव निरपेक्ष रूप से आनंद प्रदान करता है। हीगल के अनुसार ईश्वर अपने को प्रकृति में व्यक्त करता है और सौंदर्य के रूप में कला में अवतरित होता है। वे सत्य और सौंदर्य को अभिन्न मानते हैं। हार्टमैन सौन्दर्य बाह्य संसार में नहीं पर कलाकार की प्रतीति में मानते हैं। संतायन वस्तुओं के इन्द्रियातीत गुण को सौन्दर्य समझते हैं। हेन के अनुसार सौंदर्य किसी महत्वपूर्ण विचार के अनिवार्य सघन एवं पूर्णतम प्रकाशन है।

इस प्रकार "सौन्दर्य" के संबंध में पाश्चात्य विद्वानों के विविध मत हैं। सौन्दर्य की परिभाषा के अनुसार उसके रूप-विभाजन में भी पाश्चात्य विद्वान् एकमत नहीं हैं। विंकिलमन का विभाजन हम ऊपर बता चुके हैं। दूसरे विद्वानों में से कोई स्वर्गीय सौंदर्य प्राकृतिक सौन्दर्य और कृत्रिम सौंदर्य तथा कोई वस्तु-सौन्दर्य कला-सौंदर्य और भाव-सौन्दर्य के रूप में सौंदर्य का विभाजन करते हैं। कुछ विद्वान् बाह्य सौंदर्य और

भौतिक सौंदर्य के रूप में उसका विभाजन करती है। इस संबंध में भारतीय दृष्टिकोण पर हम आगे प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। हमारा अभिप्राय यहाँ सौंदर्य-शास्त्र के विविध पक्षों की मीमांसा करना नहीं बल्कि सौंदर्य-स्वरूप को समझ कर उसका साहित्य से संबंध जानना ही है।

सौन्दर्य का स्वरूप

काव्य का रसास्वादन ही काव्यानन्द है, किन्तु जब तक सौंदर्यानुभूति न हो तब तक शुद्ध रसास्वादन में कोई आनंद नहीं है। सौंदर्यानुभूति की स्थिति जानने के पूर्व हमारा सौन्दर्य के स्वरूप पर विचार कर लेना आवश्यक होगा। सौंदर्य शास्त्रियों के मतानुसार सौंदर्य भोग रूप और अभिव्यक्ति का समन्वय है। जिस तत्त्व से वस्तु के कलेवर का निर्माण होता है, वह सौंदर्य-शास्त्रियों के शब्दों में "भोग" तत्त्व है। यथा जल में नीलिमा चन्द्र में ज्योत्स्ना आदि। जिस तत्त्व के द्वारा वहाँ आने वाली वस्तु को आकार प्राप्त होता है, "रूप" तत्त्व कहलाता है। जो तत्त्व सुन्दर वस्तु के बाह्य कलेवर और दृष्टि-प्रभावक होने वाले उसके आकार को विविध अनुभूतियों का स्रोत बना देता है वही अभिव्यक्ति तत्त्व है। यह अभिव्यक्ति जितनी अधिक गंभीर और आध्यात्मिक स्वरूप की होती है, उतनी ही अधिक उसमें सौंदर्य की उच्चता होती है।

एक सुन्दर चित्र देखने अथवा मधुर संगीत सुनने पर उसकी संवेदना अपने नेत्रों तथा श्रवणेन्द्रियों की शिराओं के द्वारा हमारे मस्तिष्क तक पहुँचती है। उसका प्रभाव हमारे शरीर के विभिन्न अवयवों पर पड़ता है और उसमें विकार उत्पन्न होता है। इसी विकार को मानस-शास्त्रियों ने भावना की संज्ञा दी है। पहिले विकार होता है फिर तदनुकूल भावना होती है। इससे यह स्पष्ट है कि "भावना" मानव-मन में सुप्तावस्था अथवा प्रबोधावस्था में रहने वाली वस्तु नहीं है, वरन् उसका जन्म हम प्रतिदिन होनेवाले ज्ञान से होता है। सौंदर्यानुभूति अथवा काव्यानन्द भी इसी प्रकार का एक मानव-मन में उत्पन्न होने वाला विकार है।

सौंदर्य का प्रथमाधार "भोग" तत्त्व है। मानव-मन इस तत्त्व के आस्वादन द्वारा ही सौंदर्यानुभूति प्राप्त करता है। मनुष्य स्वभावतः सौन्दर्य-प्रिय होता है, क्योंकि उसमें सौन्दर्य चेतना भी स्वाभाविक ही होती है। वह इसी चेतना के द्वारा भोग-तत्त्व ग्रहण करता है और रसानुभूति प्राप्त करता है। ध्वनि वर्ण गंध स्पर्श और स्वयं अपने प्रभाव से आनंद की सृष्टि करने में समर्थ होते हैं। साहित्यकार इनके सामंजस्य द्वारा साहित्य का सर्जन करता है इसीलिए साहित्य भी आनन्ददायक होता है। वह अनेक ध्वनियों को वर्णों की शृंखला में पिरोकर उन्हें न केवल माधुर्य वरन् विविध अर्थों के व्यक्तीकरण की सामर्थ्य भी प्रदान करता है। इस प्रकार वह निर्जीव ध्वनियों को सजीवता प्रदान

कर एक ऐसी सृष्टि की रचना करता है, जिसमें हम अनेक दिव्य वर्णों दिव्य स्पर्शों दिव्य गंधों और दिव्य रसों की प्रवाहमयी क्रीड़ा देखते और कुछ क्षणों तक उसमें खो जाते हैं—आत्म-विस्मृत हो जाते हैं। यह आत्म-विस्मृति ही काव्यानन्द अथवा सौन्दर्यानुभूति का चरम विकास है। योगी समाधि-अवस्था में यही स्थिति प्राप्त करता है, किन्तु समाधिस्थ योगी का ज्ञान अथवा मन निर्विकल्पक होता है, जब कि काव्य-सौन्दर्यानुभूति सविकल्पक होती है। योगी की अनुभूति में प्रकाश और आनन्द के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं होता जब कि काव्य-सौन्दर्यानुभूति में उससे संबंधित अनेक वस्तुएँ होती हैं यथा शृंगार रस में रति-भावना तथा नायक-नायिका-आलंबन उद्यान चन्द्रोदयादि उद्दीपन और कटाक्ष स्मित रोमांच आदि अनुभाव होते हैं। इसीलिए शास्त्रकारों ने इसे सविकल्पक कहा है।

"रूप" से तात्पर्य संगठन संयोजन अथवा विन्यास से है। ध्वनियों के संयोजन से गीत को रूप प्राप्त होता है पर स्वयं ध्वनियाँ भी अरूप नहीं होतीं। यदि वे अरूप होतीं तो उनके संयोजन से निर्मित गीत भी अरूप ही होता। अपने मतलब का अर्थ न निकलने के कारण हम कुछ ध्वनियों को निरर्थक भले ही समझें, पर वास्तव में कोई भी ध्वनि निरर्थक नहीं होती। ध्वनियों के अनेकत्व का संयोजन ही वास्तव में एक गीत पद अथवा वाक्य है। उसमें अनेकत्व का संयोजन होने के कारण ही हम अपनी बुद्धि के प्रयोग से उसमें अनेक अर्थ पाते हैं। गति भी सरूप है, इसलिए उससे नृत्य की अनुभूति होती है। विविध व्यष्टियों के संयोजन से जिस समष्टि का निर्माण होता है वही जीवन है। यदि "व्यष्टि" जिनके संयोजन से समष्टि का निर्माण हुआ है, अपने पृथक अस्तित्व में भी सुंदर हैं तो उनका संयोजित स्वरूप "समष्टि" भी सुंदर होगा। जीवन का निर्माण अनेक सुंदर और आनंददायक अवयवों से हुआ है, यही कारण है कि हम उसमें भी पर्याप्त सौंदर्य और आनन्द पाते हैं।

हमें जिस वस्तु के दर्शन से सुखानुभव होता है उसे हम "सुरूप" और जिस वस्तु के दर्शन से हमें दुःखानुभव होता है उसे हम "कुरूप" कहते हैं किन्तु ये सुख या दुःख उन वस्तुओं के गुण नहीं हैं जिनके दर्शन से उनका अनुभव होता है। किसी वस्तु को देखकर हमें सुख या दुःख का अनुभव होना हमारी अनुभूतात्मा के गुण पर अवलंबित है। सामान्यतः आह्लादकारी उपकरणों से निर्मित वस्तु से आह्लाद और इसके विपरीत उपकरणों से निर्मित वस्तु-दर्शन विपरीत प्रभाव डालता होता है, यथा उदारता मृदुता माधुर्य शीलता आदि गुणों से समन्वित व्यक्ति को देखकर हम हर्ष और कुरता निष्ठुरता कृतघ्नता दुःशीलता आदि अवगुणों से युक्त व्यक्ति को देखकर हमें घृणा अथवा ग्लानि का अनुभव होता है। इसमें सौंदर्य दो प्रकार के रहते हैं—बाह्य सौंदर्य और अन्तःसौंदर्य। दूसरे शब्दों में हम बाह्य सौंदर्य को रूप-सौंदर्य और अंतःसौंदर्य को भावसौंदर्य कह सकते हैं। सूर साहित्य में हमें ये दोनों प्रकार के सौन्दर्य मिलते हैं। राधा और कृष्ण के रूप-चित्रण में "रूप सौन्दर्य" और भावना-पूर्ण पदों में "भाव सौंदर्य" की प्रधानता है।

सूर-द्वारा अभिव्यक्त भगवान् कृष्ण का जीवन परमोदात्त सौन्दर्य की उत्कृष्ट कल्पना है। उनके अनुपम रूप में प्रेम लावण्य नृत्य संगीत औदार्य शौर्य विनम्रता सख्य वत्सलता दया करुणाशीलता आदि का अद्भुत सामंजस्य है। इसीलिए भागवतकार ने इन्हें भगवान् का सोलह कलापूर्ण अवतार स्वीकार किया है और उनमें लोकरक्षा के दर्शन किए हैं। जहाँ वह सौन्दर्य का आगार है, वहाँ उसके हृदय में प्रेम का सुविशाल सागर भी लहरा रहा है। एक ओर वह इतना कोमल और निर्बल है कि वह अपनी पूर्णशक्ति लगाने पर भी माता यशोदा के बन्धन से मुक्ति पाने में समर्थ नहीं हो पाता और दूसरी ओर इतना शक्तिशाली है कि अपनी करांगुलि पर ही पूर्ण गोवर्धन पर्वत को धारण कर समस्त ब्रजवासियों की देवाधिदेव इन्द्र के प्रकोप से रक्षा कर लेता है। उनके सौन्दर्य में 'उदात्त' का अलौकिक योग दिखाई देता है। पाषाण-हृदय को भी रुला देनेवाली गोपियों की विरह-कातरता और मधुवन का अवसाद भी उन्हें विचलित न कर सका। उनके इसी परमोदात्त सौन्दर्य का हमारे देश के विभिन्न भाषा-भाषी कवियों कलाकारों और दार्शनिकों ने विविध माध्यमों द्वारा रसास्वादन करने का प्रयास किया है।

सौन्दर्य के दो रूप हैं—पार्थिव और आध्यात्मिक किन्तु ये दोनों रूप इतने संश्लिष्ट हैं कि एक के अभाव में दूसरे की सत्ता अपने आप ही विलीन हो जाती है। सौन्दर्यानुभूति में सौन्दर्य के इन दोनों रूपों का घनिष्ठ और परस्परावलम्बित सम्बन्ध है। एक यदि उसका व्यक्त शरीर है तो दूसरा उसकी चेतन आत्मा है। जिस प्रकार चेतन आत्मा के अभाव में शरीर का कोई मूल्य नहीं और शरीर के अभाव में आत्मा की स्थिति नहीं उसी प्रकार सौन्दर्य के आध्यात्मिक स्वरूप बिना उसका पार्थिव रूप व्यर्थ और उसके पार्थिव रूप के अभाव में आध्यात्मिक रूप अस्तित्वहीन है। उसका पार्थिव रूप एक सुन्दर पुष्प है और आध्यात्मिक रूप उस पुष्प का सौरभ है। यह देखते हुए सूर के सौन्दर्य-निरूपण का विभाजन निश्चित सीमा-रेखाओं द्वारा सम्भव नहीं है। अतः हम यहाँ स्पष्टता की दृष्टि से सौन्दर्य के दोनों रूप पार्थिव और आध्यात्मिक के आधार पर सूर-साहित्य की सौन्दर्य-भावना का विभाजन भी 'रूप-सौन्दर्य' और 'भाव-सौन्दर्य'' अथवा आध्यात्मिक सौन्दर्य' के रूप में ही करेंगे।

रूप-सौन्दर्य

'सूर सागर' सौन्दर्य का पारावार है। उसके अधिकांश पदों में सौन्दर्य कूट कूट कर भरा हुआ है। रूप-सौन्दर्य वास्तव में पार्थिव सौन्दर्य है। राधाकृष्ण के रूप-चित्रण में सौन्दर्य का पार्थिव रूप अधिक प्रस्फुटित हुआ है। बालकृष्ण-छवि का चित्रण करते हुए महाकवि सूर कहते हैं—

"लालन हौं या छबि ऊपर वारी।
बाल गोपाल लागौ इन नयननि, रोग बलाइ तुम्हारी॥
लट लटकनि, मोहन मसि-बिंदुका-तिलक भाल सुखकारी।
मनौ कमल दल सावक पेखत, उड़त मधुप छबि न्यारी॥
लोचन ललित, कपोलनि काजर, छबि उपजति अधिकारी।
सुख में सुख औरै बाढ़त, जब हँसत देत किलकारी॥
अलप दसन कलबल करि बोलनि, बुधि नहिं परत बिचारी।
बिकसित ज्योति अधर-बिच मानौ, बिधु-मधि बिज्जु उज्यारी॥
सुन्दरता को पार न पावति, रूप देखि महतारी।
"सूर" सिंधु की बूँद भई मिलि, मति गति दृष्टि हमारी॥

बालकृष्ण की यह छवि निरख उसपर कौन बलिहार न जाएगा? कवि इस रूप सौन्दर्य चित्रण में अपने आपको असमर्थ पा 'सौन्दर्य' के सागर में एक बूँद बन जाना कहकर मौन हो जाता है।

इसी प्रकार सूर-द्वारा 'खेलत नन्द आगन गोविन्द' तथा 'सोभित कर नवनीत लिए' पद में चित्रित रूप-सौन्दर्य भी दर्शनीय है। निम्नांकित पंक्तियों पर दृष्टिपात कीजिए और देखिए इनमें सूर की सौन्दर्य भावना कितनी मनोवैज्ञानिक हो गई है—

"निरखि निरखि अपनो प्रतिबिम्ब,
हँसत किलकत औ—
पाछे चितै फरि फरि मैया बोले।
ज्यों अलिगन सहित विमल जलज—
जलहिं धाइ रहे,
कुटिल अलक बदन की छवि, अवनी परि लोले॥"

बालकृष्ण अपना प्रतिबिम्ब देखकर हँसते किलकते और पीछे फिर-फिर कर 'मैया-मैया' कहते हैं। यह देखकर कमल के भ्रमर सहित जल में प्रवाहित होने और उसका प्रतिबिम्ब जल में पड़ने की कवि कल्पना कितनी सुन्दर है। इसी प्रकार सूर के "गोद लिए जसुदा नंदनंदहिं" और "कहाँ लौं बरनौं सुन्दरताई" पद भी रूप-सौन्दर्य के सुन्दर उदाहरण हैं। कृष्ण की बाललीलाओं से संबंधित सूर-साहित्य के प्रायः सभी पदों में रूप सौन्दर्य-भावना बड़ी सफलता के साथ अभिव्यक्त हुई है।

कृष्ण के रूप-लावण्य में कितना माधुर्य कितना आकर्षण और कितना प्रभाव है। उनके रूप-सौन्दर्य ने गोपियों को पागल बना दिया है। एक गोपी कहती है।

"जब तैं आँगन खेलत देख्यौ, मैं जसुदा को पूत री।
तब तैं गृह सौं नातो टूट्यो, जैसे काँचो सूत री॥

सूर की सौन्दय-भावना बड़ी व्यापक है। पृथ्वी से आकाश तक मनुष्य से पशु-पक्षी और कीट-पतंगों तक और जड़ से चैतन्य तक उसका विस्तार है। अवस्था स्थिति और काल का भेद भी सूर की सौन्दर्य भावना को रोक न सका। हमें सूर-साहित्य में सर्वत्र इसकी सत्ता समान रूप से परिलक्षित मिलती है। यद्यपि सौन्दय शृंगार रस की विशेषता है, तथापि हम सूर-साहित्य के अन्य रसों में भी सौन्दय-भावना का अभाव नहीं पाते। यशोदा माता ग्वालिनियों से कृष्ण की ढिठाई और चतुरता की बार-बार शिकायतें सुनकर तंग हो जाती है। वे क्रोध में आकर ग्वालिनियों से कहती है—

"ऐसी रिस मैं जो धरि पाऊं।
कैसे हाल करौं धरि हरि के, तुमकौं प्रगट दिखाऊं॥
साँटिया लिए हाथ नंदरानी, थरथरात रिस गात।
मारे बिना आजु जो छाड़ौं, लागे मेरे गात॥"

यशोदा माता के इस क्रोध में भी कितना सौन्दर्य है। क्रोध में उनका शरीर काँप रहा है और वे हाथ में छोटी लिए कृष्ण का रास्ता देख रही हैं। इसी समय एक ग्वालिन कृष्ण को पकड़े यशोदा जी के पास आती है और उनसे कहती है—

"भली महरि सूधौ सुत जायौ, चोली हार बनावति।"

अब क्या था यशोदा की क्रोधाग्नि में घृत पड़ जाता है। वे क्रोध से लाल होकर कृष्ण की ओर देखती हैं और वे हिचकी ले-लेकर रोने लगते हैं। उनके रुदन में भी कम सौन्दर्य नहीं है—

"देखौ माइ कान्ह हिलकियनि रोवै।
इतनक मुख माखन लपटायो, डरत अँसुवनि धोवै।"

यह है करुण रस-परिपूरित सूर की सौन्दय-भावना। अब सूर की हास्यरस की कुछ पंक्तियाँ देखिए। आप इनमें भी वही सौन्दर्य का सागर उमड़ता पाएँगे—

मुरली शब्द सुनि ब्रजनारि।
करत अंग सिंगार भूलीं, काम गयो तनु मारि॥
चरन सौं कसि हार बांध्यौ, नैन देखत नाहिं।
कंचुकी कटि साजि,लहँगा धरति हिरदय माहिं॥"

कितना सुन्दर चित्र है काम-बावरी गोपियों का। कृष्ण के रूप-सौन्दय ने उनकी बुद्धि हर ली है। वे शृंगार कर रही हैं, पर यह भी नहीं देख पातीं कि कौन-सी वस्तु कहाँ पहिनी जाय। वे कंठ में धारण करने का हार पैर में बाँध लेतीं अब पर धारण करने की कंचुकी कमर से बाँध लेतीं और कमर में पहिनने का लहँगा वक्षस्थल पर धारण कर लेती है।

भाव-सौन्दर्य

हमने 'रूप-सौन्दर्य' के उदाहरण-स्वरूप सूर-साहित्य के जो पद उद्धृत किए हैं उनमें भी भाव-सौन्दर्य की न्यूनता नहीं है। अब यहाँ हम सूर की उन रचनाओं पर विशेष रूप से प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे जिनमें रूप-सौन्दर्य होते हुए भी "भाव-सौन्दर्य" की प्रधानता है।

काव्य का वास्तविक सौन्दर्य उसके "रूप" में नहीं वरन् व्यञ्जना में ही है। किसी शब्द का साधारण अर्थ उसका "वाच्यार्थ" कहलाता है। जिस शक्ति के द्वारा शब्दों का वाच्यार्थ व्यक्त होता है उसे काव्य शास्त्रियों ने 'अभिधा' की संज्ञा दी है। चन्द्र का वाच्यार्थ आकाश में चमकनेवाली एक वस्तु है किन्तु चन्द्र के इस अर्थ का काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं है। यदि हम इस वाच्यार्थ पर ही रुक जाएँ तो हम न उसके सौरभ का आस्वादन ही कर सकेंगे और न कवि ने 'चन्द्र' शब्द का प्रयोग अपने काव्य में जिस सौन्दर्यानुभूति से प्रेरित होकर किया है, उसे ही समझ सकेंगे। कवि कवि है वह कोई व्याकरणाचार्य नहीं है, इस लिए वह काव्य में अपने भाव को सांकेतिक रूप में ही रखता है। उसके द्वारा प्रयुक्त शब्द ही भावों के द्योतक होते हैं अतः जब तक हम शब्दों के वाच्यार्थ से ऊपर उठकर उन शब्दों-द्वारा व्यक्त कवि के संकेत को समझने का प्रयत्न नहीं करेंगे तबतक हम काव्य की रसानुभूति से वंचित ही रहेंगे। काव्य का रसास्वादन करने और उसका आनन्द लेने के लिए हमें शब्द के वाच्यार्थ से ऊपर उठकर उसके चेतन और प्रकाश लोक में प्रवेश करना पड़ेगा। वहीं हमारा उस शब्द की आत्मा से साक्षात्कार होगा और हम उस शब्द के सौन्दर्य दर्शन में सफल हो सकेंगे।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि काव्य का सौन्दर्य रस और आनन्द कवि के कल्पना प्रचुर भाव-जगत् में बसते हैं। काव्य-प्रेमिक अपनी भावना और कल्पना के सहारे कवि के उस भाव-लोक में पहुँचकर काव्य प्रयुक्त शब्दों का व्यञ्जनार्थ ग्रहण करता और काव्यानन्द प्राप्त कर लेने में समर्थ होता है।

सूर भाव और कल्पना जगत् का उत्कृष्ट कलाकार है। उसका सौन्दर्य-चित्रण अत्यन्त भावना-पूर्ण और अनूठा है। साहित्यिक सौन्दर्य दो माध्यमों-द्वारा व्यक्त होता है मुख्य और अमुख्य-द्वारा। 'शब्द' साहित्यिक सौन्दर्य का मुख्य माध्यम और अर्थ उसका अमुख्य माध्यम है। उत्तम साहित्य में इन दोनों माध्यमों का सामंजस्य होता है। मुख्य माध्यम अमुख्य को रूप प्रदान करता है और अमुख्य माध्यम मुख्य की सौन्दर्य वृद्धि करता है। सूर-साहित्य में सौन्दर्य के इन माध्यमों का सामंजस्य बड़ी सफलता के साथ हुआ है। उदाहरणार्थ एक पद देखिए—

सखि, इन नैनन तें घन हारे।
बिनही रितु बरसत निसि बासर, सदा मलिन दोउ तारे।।
ऊरध स्वास समीर तेज अति, सुख अनेक द्रुम डारे।
बदन सदन करि बसे बचन-खग, दुख पावस के मारे।।
दुरि दुरि बूंद परति कंचुकि पर, मिलि अंजन सौं कारे।
मानौ परनकुटी सिव कीन्हीं, बिधि मूरति धरि न्यारे।।
घुमरि घुमरि बरसत जल छाँड़त, डर लागत अँधियारे।
बूड़त ब्रजहिं सूर को राखै, बिनु गिरधरधर प्यारे।।

इस पद में नेत्रों को दी गई घन की उपमा कितनी भावपूर्ण है। कहाँ घन और कहाँ विरह-विताड़ित गोपियों के नैन। घन ऋतु काल पर ही बरसते हैं, पर इन नैनों के बरसने की कोई ऋतु नहीं है, ये बिना ऋतु के ही रात-दिन बरसते रहते हैं। घनाच्छादन से आकाश के तारे मलिन पड़ जाते हैं। गोपियों के नयनाकाश में अश्रुधारा रित घनों से नेत्र-तारिकाएँ मलिन पड़ गई हैं।

नयनों के मेघ होने की कल्पना कर लेने पर सूर की सौन्दर्य-दृष्टि के सामने मेघागमन-काल का समस्त वातावरण और प्राकृतिक जगत् उपस्थित हो जाता है। गोपियों के ऊर्ध्व निश्वास ने तीव्र गति से प्रवाहित होनेवाले समीर का रूप धारण कर लिया जिसकी झकझोर से सुख के वृक्ष भूमिशायी हो गए हैं। मुँह से शब्द नहीं निकल पाते वे पावस के त्रास से पक्षियों की तरह शरीर रूपी घोंसले में छिपे बैठे हैं। शब्दों को खगों की दी जानेवाली कवि की उपमा उसकी उत्कृष्ट कल्पना शक्ति की द्योतक है। उसके इस कल्पना-प्रसूत भाव में कितना सौष्ठव है। 'नैन' और 'घन' साधारण से शब्द हैं। उनका बाह्यार्थ कोई भी सरलता से समझ सकता है, किन्तु उनके अन्तराल में छिपा भाव कितना सौन्दर्यपूर्ण है। इसी प्रकार पद की अन्तिम पंक्तियों में गोपियों के अश्रु-प्रवाह में ब्रज के डूबने और बिना 'गिरिधरधर' के डूबते ब्रज की रक्षा न होने की कल्पना भी कितनी महान् और सुन्दर है। पद की प्रत्येक पंक्ति में भाव और मधुर शब्द और अर्थ का अनूठा सामंजस्य है। सूर के 'निसि दिन बरसत नैन हमारे' 'लोचन चातक क्यों हैं चाहत' आदि पद भी इसी प्रकार की सौन्दर्य-भावना से पूर्ण हैं।

अब सूर के कुछ आध्यात्मिक भावना से पूर्ण पदों पर दृष्टिपात कीजिए। इन पदों में सूर की सौन्दर्य-भावना भी दर्शनीय है। उनका यह पद देखिए—

"जनम साहिबी करत गयौ।
काया नगर बड़ी गुंजाइस, नाहिंन कछू बढ़्यौ।

हरि को नाम, दाम खोटे लौं, झनि झनि डारि दयो।
विषया गाँव अमल को टोटो, हँसि-हँसि के उमयो॥
नैन अमीन अधर्मिनि के बस, जहँ को तहाँ छयो।
दगाबाज कुतवार कामरिपु, सरबस लूटि लयो॥
पाप उजीर कह्यो सोइ मान्यो, धर्म सुधन लुटयो।
चरणोदक कौं छाँड़ि सुधा रस, सुरा पान अचयो।
कुबुधि कमान चढ़ाइ कोप करि, बुधि तरकस रितयो।
सदा सिकार करत मृग मन को, रहत मगन सुरयो॥
घेर्‌यो आइ कुटुम लसकर मैं, जम अहदी पठयो।
सूर नगर चौरासी भ्रमि भ्रमि, घर घर को जु भयो॥"

कवि ने "काया-नगरी" की शासन-व्यवस्था का चित्र चित्रित करते हुए एक सुन्दर रूपक की सृष्टि की है। उन्होंने इस रूपक के निर्माण में अपनी आध्यात्मिक भावना व्यक्त करने के लिए जिस सुन्दर कल्पना से काम लिया है, वह सर्वथा श्लाघ्य है।

सूर के विनय और भक्ति-सम्बन्धी पदों में निहित भाव-सौन्दर्य भी आस्वादन-योग्य है। उनका राम-नाम की महिमा पर रचित एक पद इस प्रकार है—

"अद्भुत राम नाम के अंक।
धर्म अंकुर के पावन द्वै दल, मुक्ति वधू ताटंक॥
मुनि मन-हंस पच्छ जुग जाके, जल उड़ि उरध जात।
जनम-मरन काटन को कर्तरि तीछन बहु विख्यात॥
अंधकार अज्ञान हरन कौं, रवि-ससि जुगल प्रकास।
बासर निसि दोउ करैं प्रकासित, महा कुमग अनयास॥
दुहूँ लोक सुख करन, हरन दुख, बेद पुरानि साखि।
भक्ति ज्ञान के पथ सूर ये, प्रेम निरंतर भाखि॥"

"राम" नाम के दोनों वर्णों के धर्म अंकुर के दो पवित्र दल और मुक्ति-वधू के दोनों ताटंक होने की कल्पना कितनी अनूठी है। आगे की पंक्तियों में राम नाम का प्रभाव प्रकट करनेवाली उनकी भावना भी उनके हृदय के सौन्दर्य की द्योतक है।

सूर का आध्यात्मिक सौन्दर्य से पूर्ण एक पद और देखिए—

प्रभुजी यों कीन्ही हम खेती।
बंजर भूमि, गाउँ हर जोते, अरु जेती की तेती॥
काम क्रोध दोउ बैल बली मिलि, रज तामस सब कीन्हों॥
अति कुबुद्धि मन हाँकन हारे, माया जूआ दीन्हों॥

इन्द्रिय मूल किसान महातृन, अघम बीज बई।
जन्म जन्म की विषय वासना, उपजत लता नई॥
पंच प्रजा अति प्रबल बली मिलि, मन विधान जो कीनो।
अधिकारी जम लेखा माँगे, तातें हौं आधीनो॥

कितनी अनूठी है सूर-द्वारा की जानेवाली खेती। पद में व्यक्त भावों की उच्चता और सौन्दर्य दर्शनीय है। सूर के विनय-सम्बन्धी पदों में भी उनके भक्त हृदय की दीनता-भावना बड़ी गम्भीरता के साथ प्रकट हुई है। उदाहरणार्थ उनके—

"अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल' 'मेरी तो गति पति तुम अनतहिं दुख पाऊँ' 'मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै' 'जानि हौं अब बाने की बात' आदि पद देखे जा सकते हैं।

— • —

सूर-काव्य-सौष्ठव

हिन्दी-साहित्य का भक्तिकाल "स्वर्णकाल" के नाम से प्रसिद्ध है। इस काल का हिन्दी-साहित्य विश्व-साहित्य का एक ऐसा धन है जो किसी भी भाषा के साहित्यकार को बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लेगा। इस काल के साहित्य के रूप में सूर और तुलसी के समान महान् साधकों ने स्वर्ग की सुषमा को भूलोक में उतारने का प्रयत्न किया है। संसार का कोई ऐसा साहित्य नहीं जिसमें आध्यात्मिक जीवन का इतनी सुन्दरता से मानव-जीवन में समन्वय किया गया हो। इस युग के साहित्य ने कला साहित्य और भक्ति की त्रिवेणी हिन्दी-काव्य-जगत् में प्रवाहित कर इस देश के जन जन का हृदय पूत कर दिया। इस साहित्य में आध्यात्मिक जीवन की दिव्यानुभूति की अभिव्यक्ति इतने सुन्दर और स्वाभाविक ढंग से हुई है कि कोई भी उसकी महत्ता और पावनता के सामने नतमस्तक हुए बिना नहीं रह सकता। इस साहित्य के सृजन में महाकवि सूर का स्थान सर्वोपरि है। इन्होंने इस भक्तिकालीन साहित्य में प्रेम सौन्दर्य और अध्यात्म की ऐसी त्रिवेणी प्रवाहित की है, जिसकी पवित्रता से अभिषिक्त हो विश्व-वेदना-वह्नि में झुलसा हृदय अपने को शान्ति की गोद में अनुभव कर सकता है। उन्होंने अपने इष्टदेव राधाकृष्ण की विविध लीलाओं का विशुद्ध भक्ति-भावना से वर्णन कर निराकार, अगोचर ब्रह्म की शुष्क साधना को प्रेम—पीयूष से सिक्त कर हरित-पुष्पित उद्यान की तरह आकर्षणमय बना दिया। उनके इस लीला-चित्रण में शृंगार का प्राधान्य है पर शृंगार-वर्णन में भी वे यह न भूल सके कि वे जिनकी प्रेम-लीलाओं का वर्णन कर रहे हैं वे उनके आराध्य हैं। यह महाकवि सूर की एक ऐसी विशेषता है, जिससे हम उन्हें एक सच्चे कवि भक्त और वंदनीय कलाकार के साथ भक्ति के उन्माद में झूमता हुआ पाते हैं। उनके गीत वास्तव मानस-लहरी पर थिरकने वाला एक संगीत है जो सदैव एक तान और एक लय में अविरल गति से प्रवाहित होता हुआ हमें मन्त्रमुग्ध कर देता है। उनकी भक्ति-भागीरथी उनके अन्तर्जगत् से प्रस्फुटित हो बाह्य जगत् को अपने माधुर्य से परिप्लावित करती है। यही कारण है कि राधा-कृष्ण आज भी भक्त-भावुक भारतीयों के कंठ से गुणगान करते सुने जाते हैं। मानव-हृदय की कोई ऐसी शाश्वत भावना नहीं जो सूर के पदों में मुखरित न हुई हो। उनके विश्व-मानव-मानस से उद्भूत वे मुक्ता हैं जिनकी चमक शताब्दियों के क्रम से भी फीकी नहीं पड़ सकती। वे चिर सौन्दर्यमय और चिर मनोमुग्धकारी हैं।

सूर-साहित्य

सूर द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न बतलाई है। यह ग्रन्थ-संख्या बढ़ती-बढ़ती २५ तक पहुँच गई है। इनमें से सूर-सारावली और साहित्य लहरी के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ सूरसागर के ही अन्तर्गत आ जाते हैं। अतएव सूरसागर, सूरसारावली और साहित्य-लहरी ही निश्चित रूप से सूर की कृतियाँ कही जा सकती हैं। इनके द्वारा रचित बतलाए गये हरिवंश एकादशी माहात्म्य नल-दमयन्ती और रामजन्म को उनकी रचना कहना भ्रमपूर्ण है।

सूरसागर

सूरसागर सूरदास की सबसे बड़ी और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रचना है। इस ग्रन्थ का आधार श्रीमद्भागवत है। पूरा ग्रन्थ बारह स्कंधों में विभाजित है। प्रथम नौ स्कंध बहुत छोटे हैं। दसवाँ स्कंध सबसे बड़ा है। यह श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध पर आधारित है। किन्तु श्रीमद्भागवत के इस स्कंध और सूरसागर के स्कंध में कुछ अन्तर है। श्रीमद्भागवत में दार्शनिक विचारों की प्रधानता है, पर सूरसागर भक्ति-प्रधान ग्रंथ है। सूरसागर के यमलार्जुन-शापमुक्ति कालियदमन गोवर्धन-लीला रासलीला उद्धव-गोपी-संवाद आदि ऐसी कथाएं अवश्य हैं जो पूर्णतः भागवत पर आधारित हैं किन्तु इनमें भी सूरदास की मौलिकता का अभाव नहीं है। सूरसागर में वर्णित राधा कृष्ण-मिलन दानलीला राधाकृष्ण-विहार हिंडोला फाग आदि अनेक ऐसे चित्रण हैं जो सूरदास के अपने हैं। श्रीमद्भागवत में राधा का कोई स्थान नहीं है अतः कहा जा सकता है कि सूरसागर की राधा सूरदास की ही सृष्टि है। सर्वप्रथम राधा का नाम "गोपाल तापनी उपनिषद्" में मिलता है। वैष्णव धर्म के आचार्यों—रामानुजाचार्य मध्वाचार्य विष्णुस्वामी और निम्बार्क में से विष्णुस्वामी ने सबसे पहले राधा-महत्त्व स्वीकार कर उसे अपनी उपासना-पद्धति में स्थान दिया है। वल्लभाचार्य से ही सूरदास ने दीक्षा ग्रहण की थी। उन्होंने विष्णुस्वामी की राधा को अपनी उपासना में स्थान दिया है, किन्तु सूरदास ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों में राधा को जो महत्त्व प्रदान किया वह वल्लभाचार्य ने कभी स्वीकार नहीं किया। संक्षेप में सूरसागर श्रीमद्भागवत पर आधारित होते हुए भी सूरदास की मौलिक रचना ही कही जा सकती है।

सूरसागर में एक लाख पद कहे जाते हैं किन्तु अभी तक लगभग अड़तालीस हजार से अधिक पद सूरसागर की किसी भी प्रति में नहीं देखे जा सके।

सूर-सारावली

जैसा कि रचना के नाम से ही स्पष्ट है यह सूरसागर की अनुक्रमणिका ही कही जा सकती है। इसका लेखन-क्रम सूरसागर से नहीं मिलता और इसमें कही गई एक

मात्र पद की बात भी विश्वसनीय नहीं है पर भाषा-शैली और विषय-निरूपण की दृष्टि से यह निश्चित ही सूरदास के सूरसागर से भिन्न एक स्वतंत्र कृति जान पड़ती है। इसकी रचना सं० १६०२ वि० के लगभग हुई थी जब कि सूरदास जी अपने मृत्यु-काल सं० १६४० तक पद-रचना करते रहे। अतः इसे पूर्ण सूरसागर का सार अथवा अनुक्रमणिका नहीं कहा जा सकता।

साहित्य-लहरी

यह सूर के ११८ दृष्टिकूट पदों का संग्रह है। इसकी दो टीकाएँ भी उपलब्ध हैं। सरदार कवि कृत टीका में १८१ पद और बाबू रामदीनसिंह की टीका में १२८ पद हैं। इसके १०९ वें पद में ग्रंथ रचना-काल और ११८ वें पद में वंशावली दी गई है। शेष पदों में भगवान् कृष्ण की विविध लीलाओं का सरस चित्रण है। जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है इसका वंशावली वाला ११८ वाँ पद प्रक्षिप्त माना जाता है। डा० व्रजेश्वर वर्मा इसे विशेष साहित्यिक और शृंगारपूर्ण होने के कारण सूरदास की कृति नहीं मानते किन्तु अन्य विद्वान् डा० वर्मा के मत से सहमत नहीं हैं। वे साहित्य-लहरी के शृंगारिक पदों को भी पर्याय से भगवान् कृष्ण की भक्ति के पद मानते हैं।

काव्य-सौष्ठव

हिन्दी-साहित्य में कृष्ण-काव्य का आरंभ विद्यापति से होता है। सूर-साहित्य भी पूर्णरूपेण कृष्ण-काव्य है, पर सूर का दृष्टिकोण विद्यापति से सर्वथा भिन्न है। सूर के कृष्ण पूर्णब्रह्म परमेश्वर और राधा जगत् जननी हैं। सूरदास ने इसी भावना से प्रेरित होकर सूरसागर की रचना की है। सूर की राधा बड़ी विवेकशील गम्भीर और चारु-चरिता है वह विद्यापति की राधा की तरह केवल रस-रंगिणी नहीं है। राधा के इस स्वरूप का जितना विकास सूर-साहित्य में मिलता है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। सूर ने कृष्ण का चरित्र-चित्रण भी बड़े मर्यादित रूप में किया है। जहाँ उन्होंने कृष्ण-कामिनी गोपियों की दशा पर द्रवित हो कृष्ण पर व्यंग बाणों की वर्षा की है वहाँ भी वे यह नहीं भूल पाये कि कृष्ण उनके उपास्य देव हैं। सूरसागर के अन्य चरित्रों के चित्रण में भी सूर बहुत सतर्क हैं। अपने चरित्रों के स्वभाव-चित्रण में सूरदास ने बड़ी निपुणता दिखाई है।

सूरसागर के दो प्रसंग—कृष्ण का बाललीला और भ्रमर गीत ऐसे हैं जिनमें हमें कवि की काव्य-प्रतिभा का विकास चरम सीमा पर पहुँचा जान पड़ता है। इन्हीं दो प्रसंगों ने सूर को महाकवियों के सर्वोच्च आसन पर आसीन कर हिन्दी-काव्य-साहित्य में अमर बना दिया है। कृष्ण की बाललीला का चित्रण वास्तव में अनुपम है। बालकृष्ण का घुटनों के बल चलना, रेंगना उठना गिरना विविध वस्तुओं की आकांक्षा करना

साधारण चोटी न बढ़ने का कारण-निर्देशन मित्रों की शिकायत दधि-गोरस की चोरी गोपियों का उलाहना बालकृष्ण की हाजिरजवाबी आदि सभी का चित्रण कवि ने बड़ी स्वाभाविकता से किया है। सूर के इस विविध चित्रण को पढ़कर वात्सल्य की उन लीलाओं का एक सजीव चित्र ही हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। कवि के इसी विशद वर्णन ने नौ रसों के पश्चात् 'वात्सल्य' को दसवाँ रस बना दिया है। वात्सल्य रस का ऐसा सजीव और सुन्दर प्रवाह विश्व-साहित्य में दुर्लभ है।

"भ्रमरगीत' सूरसागर की एक अत्यन्त मूल्यवान् निधि है। श्रीमद्भागवत में भी भ्रमरगीत का प्रसंग है पर सूर का भ्रमरगीत अनूठा है। भागवत के भ्रमरगीत में न इतना विकास है और न इतना आकर्षण है। सूर के भ्रमरगीत को पढ़ते समय ऐसा लगता है मानों करुणा की एक महान् वेगवती सरिता ही अबाध धारा से हमारे सामने प्रवाहित हो रही है और हम गोपियों की वेदना से अभिषिक्त हो उस सरिता में प्रवाहित हो रहे हैं। सूर का भ्रमरगीत विप्रलंभ शृंगार के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। भ्रमरगीत की गोपियाँ कृष्ण-प्रेम में इतनी निमग्न हैं कि उन्हें न अपने-पराये का कोई ध्यान है, न लोक-मर्यादा की सीमाएँ ही उन्हें बाँध पाती हैं। उद्धव बार-बार साकार कृष्ण को भूलकर उनके रूप-सौन्दर्य की ओर से अपनी आँखें मूँद अमित सौन्दर्य-राशि निर्गुण ब्रह्म की ओर उनका ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न करते हैं, पर गोपियों पर उद्धव की शुष्क निर्गुण-मीमांसा का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे द्विगुण उत्साह से कृष्ण की रूप-माधुरी पर मुग्ध हो जाने के लिए आतुर होती हैं। अन्त में उद्धव की ज्ञान-गरिमा गोपियों की माधुर्य-युक्त साकार भक्ति के सामने नतमस्तक हो जाती और निराकार ब्रह्म की उपासना पर अटल विश्वास रखने वाले उद्धव कृष्ण-रूप साकार ब्रह्म के उपासक होकर ब्रज से मथुरा लौटते हैं। भ्रमर गीत का एक पद देखिए—

मधुकर हम अजान मति भोरी।
जाने कोई योग की बातें, जो हैं नवल किशोरी॥
कंचन को मृग कबने देख्यो, किन बाँध्यो गहि डोरी।
बिनही भीत चित्र किन कीनो, किन नभ हठकरि पास्यो मोरी॥
कहि धौं मधुप बारि मथि माखन काढ़ि को भरी कमोरी॥
कहो कौन पै कढ़ो आइ कन बहुत सराह पछोरी॥
अपने ऊधो ज्ञान तुम्हारो, हम अहिरी मति भोरी।
सूरज कृष्णचन्द्र को चाहत, अंखियाँ तृषित चकोरी॥

सूर रूप-सौन्दर्य-वर्णन के मानो आचार्य ही हैं। सूर के कृष्ण का रूप-सौन्दर्य सूर साहित्य की इन पंक्तियों में देखिए—

कहाँ लौं बरनौं सुन्दरताइ।
खेलत कुँवर कनक आँगन में नैन निरखि छवि छाइ॥
कुलहि लसति सिर स्याम सुभग अति, बहुविधि सुरंग बनाइ।
मानौं नवघन ऊपर राजत, मघवा धनुष चढ़ाइ॥
अति सुदेस मृदु हरत चिकुर मन, मोहन-मुख बगराइ।
मानौं प्रगट कंज पर मंजुल अलि अवली फिरि आइ॥
नील स्वेत पर पीत लाल मनि, लटकनि भाल रुनाइ।
सनि, गुरु असुर, देव-गुरु मिलि मनु, भौम सहित समुदाइ॥
दूध-दंत दुति कहि न जाति अति, अद्भुत इक उपमाइ।
किलकत हँसत दुरत प्रगटत मनु घन में बिज्जु छपाइ।
खंडित बचन देत पूरनसुख, अलप अलप जलपाइ।
घुटुरुन चलत रेनु तन मंडित, सूरदास बलि जाइ॥

महाकवि सूरदास ने 'सूरसागर' में प्रत्येक विषय का इतना विस्तृत वर्णन किया है कि मानों के अन्य कवियों के लिए कुछ छोड़ ही नहीं देना चाहते थे। केवल मुरली पर ही उन्होंने चालीस पदों की रचना की है। संभवतः सूर के इसी वर्णन विस्तार को देखकर निम्नांकित पंक्तियाँ कहा गई हैं—

"तत्व-तत्व सूरा कही तुलसी कही अनूठि।
बची खुची कबिरा कही, और कही सब झूठि॥"

सूरदास का मुरली-विषयक एक पद इस प्रकार है—

मुरली तऊ गोपालहिं भावति।
सुनि री सखी, जदपि नंद-नंदहिं नाना भाँति नचावति॥
राखति एक पाय ठाढ़ो करि अति अधिकार जनावति।
कोमल अंग आपु आज्ञा गुरु, कटि टेढ़ी ह्वै आवति।
अति आधीन सुजान कनौड़े गिरिधर नारि नवावति।
आपुन पौढ़ि अधर-सेज्या पर कर सों पद पलुटावति॥
भृकुटी कुटिल फरक नासापुट हम पै कोपि कुपावति।
"सूर" प्रसन्न जानि एकौ छिन, अधर सुसीस डुलावति॥

सूर के काव्य का आधार भक्तिभाव है जिसमें काव्य के दोनों पक्षों—भावपक्ष और कलापक्ष—का समन्वय है। इन्हें हम दूसरे शब्दों में अनुभूतिपक्ष और अभिव्यक्ति-पक्ष कह सकते हैं। सूर ने अपने काव्य में इन दोनों पक्षों का बड़ी सुन्दरता और सफलता के साथ निर्वाह किया है। सूरदास की कविता में संगीत तथा गेयता भरपूर है।

उनके विनय-सम्बन्धी गीतों के अतिरिक्त वात्सल्य और प्रेमरस से सम्बन्धित गीत भी भक्ति से ही सम्बन्धित हैं। उनके प्रार्थना-विषयक गीत शान्तरस बाल क्रीड़ाओं से सम्बन्धित गीत वात्सल्यरस और प्रेम-सम्बन्धी गीत शृंगार रस के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। हिन्दी-काव्य-साहित्य में सूर के अवतीर्ण होने के पूर्व वात्सल्य रस को कोई स्वतन्त्र स्थान प्राप्त न था वह शान्तरस के अन्तर्गत ही मान लिया जाता था, किन्तु सूर ने इस रस को अपने काव्य में इतना व्यापक और विस्तृत रूप प्रदान किया है कि काव्य-शास्त्रियों को उसे एक स्वतंत्र रस ही मानने को बाध्य होना पड़ा।

सूर के पूर्व भी प्रेमकाव्य का अभाव न था। मलिक मुहम्मद जायसी जैसे कवियों ने प्रेम-रस के निरूपण की पराकाष्ठा कर दी थी पर महाकवि सूर ने प्रेम के दोनों पक्षों को लेकर प्रेमकाव्य को इतना विस्तृत और व्यापक रूप प्रदान किया, कि वे वात्सल्य की तरह शृंगार के भी श्रेष्ठ कवि हो गये। हमारा यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि शृंगार रस को वास्तव में सूर के काव्य में ही 'रसराजत्व' प्राप्त हुआ है। उन्होंने शृंगार विषय में अनेक मनोभावनाओं को लेकर जिस सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि और व्यापक मानवीय दृष्टि का परिचय दिया वह अवश्य श्लाघ्य और और अनुपमेय है। सूर-साहित्य के शृंगार अथवा प्रेम-प्रधान होने के दो कारण हैं। एक तो सूर को गीति-काव्य की परम्परा जयदेव और विद्यापति से प्राप्त हुई थी जिनकी रचना का आधार ही प्रेम था और दूसरे उन्होंने वल्लभाचार्य से उपासना का जो स्वरूप प्राप्त किया था वह भी प्रेम पर ही आधारित था। सूर-द्वारा निरूपित प्रेम हम तीन रूपों में मिलता है— भगवत्-प्रेम बाल-प्रेम, और दाम्पत्य प्रेम। इनमें से भगवद्-प्रेम-विषयक पदों में भी शृंगार के नाम पर वासना के दर्शन करना विवेक-पूर्ण न होगा। सूर के वे पद भी उच्छृंखल न होने के कारण भगवद्-भक्ति के ही द्योतक हैं। सूर प्रेमी और भक्त एक साथ ही हैं, पर वे पहले भक्त हैं फिर प्रेमी। दूसरे शब्दों में हम उन्हें प्रेमी भक्त कह सकते हैं। कि उन्होंने विस्तृत प्रेम विवेचन करते हुए भी बिना भजन के मनुष्य को कूकर-सूकर-जैसा माना है। इससे हम उनकी काव्य-रचना का उद्देश्य एकमात्र भगवद् भक्ति ही जान पड़ता है।

भाव—

काव्य के तीन प्रधान अंग हैं—भाव कल्पना और भाषा। इन तीनों अंगों में भाव को ही काव्य का प्राण कहना चाहिए। यदि काव्य में कल्पना की उड़ान खूब ऊंची है और भाषा के शब्दों का चयन भी सुन्दरता से किया गया है, पर यदि उसमें उन्नत भावों का समावेश नहीं है तो वह काव्य निष्प्राण है। भाव कल्पना के स्फूर्ति करण का साधन है। बाबू श्यामसुन्दर दास जी के शब्दों में— 'जिस प्रकार निरुपम

के लिए प्रमाण की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार प्रवृत्ति या निवृत्ति के लिए भी कुछ विषयों का बाह्य या मानस प्रत्यक्ष अपेक्षित होता है। ये ही साहित्य में भाव के नाम से संबोधित किए जाते हैं। अतः भाव को काव्य का प्रधान तथा शेष कल्पना और भाषा को सहायक अंग ही कह सकते हैं। काव्य-रचना में कवि को काव्य के इन्हीं अंगों का आश्रय लेना पड़ता है। हम देखते हैं कि भाव प्रदर्शन पर सूर को अप्रतिम अधिकार प्राप्त है। उदाहरणार्थ निम्नांकित पंक्तियाँ देखिए—

जिन नैनन, कमल नयन मोहन मुख हेर्यो,
मधुप ते नैन कहत कौन ज्ञान तेरो।
तातें सुन मधुकर हम कहा लेन जाहीं
जानें प्रिय प्राणनाथ नन्दनंदन माहीं॥
मीठो कथा कटुक सी लागति, उपजत है अपयश खटाई,
उघटि ध्याउ सूर के प्रभु को वह आय मांगत उधराई॥

कल्पना

जब कवि का हृदय विश्व में दृष्टिगोचर होनेवाली वस्तुओं से तृप्त नहीं होता तब वह गोचर विश्व के गुण सौंदर्य से अधिक उत्कृष्ट गुण और सौन्दर्य की कल्पना करता है। पर वह कल्पना वहाँ तक उचित है जहाँ तक इसमें खींचतान न दीख पड़े, कल्पना सर्वथा अप्रकृत न प्रतीत हो। आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने ऐसी दुरारूढ़ कल्पना के ही प्रति व्यंग्य करते हुए लिखा है— "जब किसी भाव के सहारे वेदना की तरी पर सवार होकर अनन्त और अन्धकार के बीच असीम की यात्रा असीम की ओर होगी, सामने अलौकिक ज्योति फूटती दिखाई देगी, लोक-लोकान्तर और कल्प-कल्पान्तर के समावृत महाकाश में ससीम असीम के मिलन पर विश्व-हृदय की तंत्री के तार झंकारोन्मत्त करने लगेंगे, आज ही प्यार का नाटक का दृश्य छूने पर अट्टहास होने लगेगा तब सहृदयता और भावुकता का कोई और ठिकाना ढूँढ़ेगी।" यद्यपि यह व्यंग्य स्वर्गीय आचार्य ने कल्पना-गगन में उड़ने और अगम उड़ान भरने वाले छायावादी कवियों के प्रति किया था, तथापि इस कथन से यह स्पष्ट है कि कवि ऐसी कल्पना न करे, जिससे वह हास्यास्पद हो जाय। 'बिम्ब लगि बाढ़िबे उरोजन को देखो' जैसी कल्पना में असम्भवता और भौंडापन है। ऐसी सूरदास की कल्पना में असंगति और कृत्रिमता न मिलेगी। सूर की कल्पना इस पद में देखिए—

यमुना जल क्रीड़त हैं नन्दनन्दन।
गोपाल रमनोहर चहुँदिसि मध्य अरिष्ट निकन्दन।
पकर पानि परस्पर छिरकत शिथिल सलिल भुजबंधन।
१

नहीं रहा पर यह शैली विद्यापति के काव्य में जितनी दृष्टिगोचर होती है उतनी निखरी हुई जायसी के काव्य में नहीं है। गोस्वामी तुलसीदास के कुछ पद भी इसी शैली में लिखे गये हैं किन्तु इस शैली का सर्वाधिक परिमार्जित रूप हमें सूर-साहित्य में ही दिखाई देता है। सूर की यही विशेषता है कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों से जो कुछ ग्रहण किया उसे उन्होंने अधिक परिमार्जित रूप में अपने व्यक्तित्व की छाप के साथ प्रस्तुत किया। उनकी दृष्टिकूट पद शैली में भी हम उनकी यह विशेषता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है उनकी इस शैली में हमें चमत्कार के साथ रचनात्मक सौन्दर्य-दर्शन भी होता है जैसा कि हम उनके द्वारा चित्रित गोपबालाओं की विविध भंगिमाओं मुद्राओं और रतिक्रीड़ाओं में देखते हैं। इस प्रकार के पदों में श्लेष यमक और अलंकारि-ध्वनित चमत्कारों का अधिक प्रयोग हुआ है।

वर्णनात्मक शैली

सूर-द्वारा गृहीत तृतीय शैली वर्णनात्मक शैली है। उन्होंने इस शैली का प्रयोग विशेष कथात्मक प्रसंगों में ही किया है। ये प्रसंग श्रीमद्भागवत की कथाओं पर ही आधारित हैं। इनके अतिरिक्त सूरदास जी ने कुछ उत्सवों संस्कारों तथा दृश्यों के चित्रण में भी वर्णनात्मक शैली से काम लिया है किन्तु हमें यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इस शैली की काव्य रचना में साहित्यिक सौष्ठव की बहुत न्यूनता है।

वर्णनात्मक शैली सूर की अपनी है। उन्होंने जिन विषयों का वर्णन किया, वे स्वाभाविक विस्तृत और रोचक हैं। छोटी-छोटी वस्तुओं के वर्णन में दोहा पद लिख देना सूर के समान महाकवि का ही काम था। बालकृष्ण के चित्र तो मनोवैज्ञानिक विशदता से ही पूर्ण हैं। उनके 'मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी' 'मैया मैं चन्द खिलौना लैहौं' ... 'तू मोहीं को मारन सीखी' आदि पदों में स्वाभाविक बाल सुलभ चेष्टाओं और प्रतिक्रिया का चित्रण देखकर मन मुग्ध हो जाता है। सूर प्रेम-निरूपण में अद्वितीय हैं। उनके इस निरूपण में रूपलिप्सा-सहवास का स्थान अवश्य है पर उसमें प्रेम विकृत होकर कहीं भी हमें वासना के रूप में परिवर्तित हुआ दिखाई नहीं देता। इसमें स्वाभाविकता गंभीरता और पवित्रता के ही अधिक दर्शन होते हैं।

कृष्ण प्रथम बार यमुना-तट पर खेलती बालिका राधा को सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित चन्द्र-किरणों की तरह झलकते देखते हैं। वे सूर के शब्दों में 'बूझत स्याम कौन तू गोरी'। सुनकर राधा मुस्करा देती है और स्नेहपूर्ण उलाहना देती हुई कहती है —

> "काहे को हम ब्रजतन आवति खेलति रहति आपनी पोरी।
> सुनति रहति स्रवननि नंद ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी।

राधा ने चोट करारी की, पर कृष्ण भी एक ही हैं। वे बड़ी चतुराई से राधा को मिला लेते हैं। वे कहते हैं—

तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं ? खेलन चलौ संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, बातन भुरइ राधिका भोरी।"

सूर की प्रेम व्यंजक तथा अन्य रचनाओं के आधार पर आज तक अनेक कवियों ने अपने काव्य का सृजन किया है किन्तु भाव अथवा काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से कोई भी उन्हें न पा सका। सूर की रचना के आधार राधाकृष्ण हैं। राधा कृष्ण ने तो उन्हें अमर बना ही दिया पर स्वयं वे भी कवि की सुमधुर अमर रचना के विषय बनकर अमर हो गए।

अलंकार-योजना

भावना के व्यक्तीकरण में अलंकारों से बहुत बड़ी सहायता मिलती है। सूर ने भी अपनी काव्य रचना में स्थान-स्थान पर अलंकारों का प्रयोग किया है। अलंकारों का विधान प्रायः सादृश्य के आधार पर किया जाता है। इस सादृश्यमूलक योजना के दो उद्देश्य रहते हैं—१ स्वरूप की उत्कृष्टता और २ भावोत्कृष्टता। कवि प्रायः भावोत्कृष्टता की दृष्टि से ही इनका अधिक प्रयोग करते हैं पर काव्य के कुछ स्थल ऐसे भी होते हैं, जहाँ काव्य में बाह्य स्वरूप के अगोचर तथ्यों को स्पष्ट करने के लिए ही सादृश्यमूलक योजना का आश्रय लेना पड़ता है। सूर ने दोनों दृष्टियों से सादृश्य की योजना की है। इसका एक कारण यह भी है कि सूर का साहित्य भक्ति प्रधान साहित्य है और ऐसे साहित्य के निर्माण में भावों की उत्कृष्टता ही प्रधान रहती है पर भावोत्कृष्टता के कारण ही कवि को अन्य ऐसी वस्तुओं की भी कल्पना करनी पड़ती है जो स्वरूप की दृष्टि से हृदयगत भावों की संभाव्यता रखती हो। इस प्रकार भावोत्कृष्टता और स्वरूप की स्पष्टता, दोनों दृष्टियों से कवि-सादृश्य की कल्पना में भावोत्तेजक शक्ति का समावेश होने के कारण स्वरूप की भी प्रतिष्ठा हो जाती है और स्वरूप की प्रतिष्ठा होते ही उनके अगोचर आध्यात्मिक तथ्यों का स्पष्टीकरण इतना सरल हो जाता है कि भावुक हृदय सहज ही उनका अनुभव कर लेता है।

प्रस्तुत वस्तु की कल्पना में प्रस्तुत वस्तु के कारण व्यापार, प्रभाव आदि का अप्रस्तुत वस्तु के गुण व्यापार और प्रभावादि के समान होना आवश्यक है क्योंकि कवि की सादृश्य-योजना का उद्देश्य अपने पाठकों को किसी विशिष्ट भाव और रसात्मक अनुभूति कराना रहता है जो बिना व्यापार और प्रभावादि के सादृश्य के सम्भव नहीं है। हिन्दी में कुछ ऐसी ही परम्परागत उपमाओं का प्रयोग होता आ रहा है जो स्वरूप की दृष्टि से भले ही उपयुक्त हों पर योग्य

से उनका कोई महत्व नहीं। जैसे, एक सुन्दर नायिका की कटि को सिंह की कटि की उपमा अथवा उसके उरोजों को कंदुक की उपमा देना सौंदर्य की दृष्टि से बिलकुल अनुपयुक्त जान पड़ता है। इस प्रकार की उपमाओं से प्रस्तुत वस्तु के स्वरूप का किसी सीमा तक अवश्य बोध हो जाता है पर उसमें साम्य के सजीव प्रभ का अनुभवनीय सौन्दर्य दृष्टि भी नहीं मिलता। अतः उपमेय को सामने रखकर उपमान की कल्पना करते समय केवल स्वरूप ही नहीं वरन् गुण व्यापार, सौन्दर्य प्रभाव आदि का भी ध्यान रखना आवश्यक है। महाकवि सूर ने इन दोषों से अपने काव्य की रक्षा करने में बहुत बड़ी सीमा तक सफलता प्राप्त की है। उदाहरणार्थ ये पंक्तियाँ देखिए—

गोरे भाल बिन्द सेंदुर पर, टीका धर्यो जराऊ,
बदन चन्द्र पर रवि तारागण, मानो उदित सुभाऊ।

इन पंक्तियों में गोरा भाल प्रस्तुत वस्तु उपमेय है जिसे देखकर कवि ने चन्द्र उपमान की कल्पना की है जो गुण व्यापार सौन्दर्य, माधुर्य और प्रभाव में भी उपमेय का सादृश्य रखता है। इस भाल पर शोभा देनेवाला रत्नजटित टीका देखकर रवि तारागण के स्वाभाविक उदय होने की कल्पना करना सादृश्यमूलक योजना का सुन्दर उदाहरण है।

सूर की कविता-कामिनी नवरत्न-जटित अलंकारों से सुशोभित हो कभी कमनीय कुंज में कभी रमणीय वनस्थली में कभी कालिन्दी-कलित कूल पर और कभी कदम्ब की डाल पर कोकिल सी कूकती दृष्टिगोचर होती है। वैसे तो सूर-साहित्य में अनेक अलंकारों के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं, पर उपमा रूपक उत्प्रेक्षा और अनुप्रास उनके सबसे प्रिय अलंकार हैं। उन्होंने कहीं-कहीं तो एक ही पद में अनेक अलंकारों का हार गूँथ रखा है। उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

मोहन, बदन बिलोकत अखियन उपजत है अनुराग,
तरनि ताप तापित चकोर गति, पियत पीयूष पराग।
लोचन नलिन भए राजत रति, पूरन मधुकर भाग
मानहुँ, अलि आनन्द मिले, मकरन्द पियत रति फाग।
भँवरि भाग भाये पर कुंकुम, चन्दन बिन्दु विभाग,
चातक साम शशधर घन में, निरखत मनु बैराग।
कुंचित कस, मयूर चन्द्रिका, मंडल सुभग, सुयाग,
मानहु मदन धनुष सर लीन्हें, बरसत है बनराग

अधर छबि बिहँसात मनोहर मोहन मुरली राग,
मानहु सुधा पयोधि घेरि घन, ब्रज पर बरसन लाग।
कुंडल मकर कपोलनि झलकत श्रम-सीकर के दाग,
मानहु मीन मकर मिलि क्रीड़त, शोभित शरद तड़ाग।

मोहन का मुख देखते ही नेत्रों में प्रेम उमड़ पड़ता है। जो नेत्र भूख के ताप से चकोर की तरह व्याकुल थे वे अब अमृत रस का पान कर रहे हैं। विशाल नैन रूपी कमल में नया प्रेम विकसित है। भ्रमर के भाग्य गुंजन करते जान पड़ते हैं। ऐसा मालूम होता है मानों भ्रमर आनंदित होकर प्रेम पराग का रसपान कर रहा हो। यहाँ कृष्ण के मुख को कमल की और उसके नेत्रों को भ्रमर की उपमा दी है। भ्रमर कितना भाग्यशाली है! ललाट पर कुंकुम और चंदन का टीका लगा है। यह कुंकुम और चंदन युक्त ललाट ऐसा मालूम होता है मानो चन्द्र और इन्द्रधनुष मलिन बादल में चातक वैराग्य अनुभव कर रहा हो। कवि के कहने का तात्पर्य यह है कि इन्द्रधनुष युक्त जिस बादल में चातक को स्वाति का जल पीने को लालायित होना चाहिए, उसमें अत्यधिक सुन्दरता देखकर वह इस प्रकार आनन्द-विभोर हो जाता है कि अपनी इच्छित वस्तु (स्वाती जल) को भी भूल जाता है। भगवान् कृष्ण के घुंघराले बालों में युक्त सिर पर पगड़ी है जो मयूर चन्द्रिका से सुसज्जित है। यह देखकर ऐसा जान पड़ता है मानों कामदेव धनुष बाण लिए उपस्थित है और सघन प्रेम की वर्षा हो रही है। बिम्बाफल की तरह लाल अधरों पर सुन्दर मुस्कान है और मन-मोहक रागों को बिखेरने वाली मुरली। यह देखकर ऐसा मालूम होता है मानो अमृत के समुद्र से उत्पन्न बादल ब्रज पर घिरकर बरसना चाहते हों। कानों में मकराकृत कुंडल हैं। और ललाट पर पसीने की बूँदें चमक रही हैं। यह ऐसा जान पड़ता है मानों शरद् ऋतु के निर्मल सरोवर में मगर और मछली मिलकर क्रीड़ा कर रहे हों।

एक ही पद में अनेक उत्प्रेक्षा और अनुप्रास का प्रयोग सूरदास ने बड़ी सुन्दरता से किया है। उत्प्रेक्षा निरूपण में जो कल्पना की गई है वह वास्तव में कवि की महान् प्रतिभा और सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति की द्योतक है। भावप्रधान व्यंजना और उत्प्रेक्षा की महत्ता से जो एक रूपक बाँधा गया है वह कवि की सूक्ष्म दृष्टि की खोज है।

रस निरूपण

रसों के प्रयोग में सूरदास सिद्धहस्त हैं। उन्होंने सूरसागर के स्थल-स्थल पर जो विभिन्न रस प्रवाहित किए हैं उनकी सफलता उनकी रस-निरूपण क्षमता की द्योतक है। 'सूरसागर' में प्रायः सभी रसों को स्थान प्राप्त है किन्तु इन काव्यग्रन्थ

में वात्सल्य शान्त और शृङ्गार रस का विकास चरम सीमा को पहुँचा जान पड़ता है।

छन्द विधान

काव्य-रचना में छन्दों का विशेष महत्व है। प्राचीन आचार्यों की दृष्टि से वह रचना काव्य नहीं समझी जा सकती जो छन्दबद्ध न हो। श्री सीताधर गुप्त के मतानुसार 'छन्द प्रवाह की प्रवृत्ति को उत्तेजित करके शब्दों का एक-दूसरे से सम्बन्ध घनिष्ट कर देता है। छन्द विस्मय-द्वारा चेतना का आभास करके मोहक निद्रा-सी ले आता है और पुनरावृत्ति सुचारुता और स्पन्दन-शीघ्रता की वृद्धि करता है। छन्द अपनी गति और ध्वनि से अर्थ प्रकाशन करता है। यदि भावावेग अति तीव्र हो, तो छन्द उसकी तीव्रता कम कर देता है और यदि भावावेग अतिमन्द हो तो छन्द उसको तीव्र कर देता है। छन्द कविता का वातावरण उपस्थित कर देता है, काव्यात्मक अनुभवों को छन्द साधारण जीवन के रागों से पृथक् कर देता है। छन्द काव्यात्मक अनुभव की अभिव्यक्ति को स्थिर और परिमार्जित कर देता है। छन्द कल्पना को प्रभावित कर कवि को ऐसी दृश्यमान और आकार प्रतिमाएँ प्रदान करता है जिनसे उसके अनुभव की अभिव्यक्ति स्पष्ट और प्रकट हो जाती है।'

इस उद्धरण से काव्य में छन्दों का महत्व स्पष्ट है। आज हम हिन्दी में जितने छन्द देखते हैं वे या तो संस्कृत से प्राकृत और अपभ्रंश-द्वारा हमें प्राप्त हुए हैं या उनके आधार पर बने हैं। सूर साहित्य में संगीत को जो महत्व प्राप्त है वह छन्दों को नहीं है फिर भी यदि हम छन्द-विधान की दृष्टि से सूरसागर का अध्ययन करें तो हमें उसमें कुछ छन्दों का प्रयोग अवश्य मिल सकता है। यद्यपि सूर ने प्रत्येक छन्द को भी राग रागिनियों में ही गूँथ दिया है। श्री व्रजेश्वर वर्मा ने सूरदास द्वारा चौपई चौपाई दोहा रोला तथा उनके आधार पर निर्मित अन्य छन्दों का भी प्रयोग होना बतलाया है। इनके सिवाय राधिका उपमान हीर तोमर शोभन रूपमाला विष्णुपद हरिपद, मरहठी, सार, लावनी वीर, समान सवैया मत्तगयन्द सवैया हंसाल हरिप्रिया आदि छन्दों का भी प्रयोग मिलता है।

भाषा

भाव और कल्पना के पश्चात् भाषा की दृष्टि से सूर-साहित्य पर विचार करना आवश्यक है। सूर साहित्य की भाषा सदैव भावों के अनुरूप रही है और उसके स्वाभाविक माधुर्य के कारण सूर का काव्य अत्यन्त आकर्षक और प्रभावशाली बन गया है। व्रजभाषा की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जिनके कारण इस भाषा में रचित काव्य अपने आप ही मधुर और प्रभावशाली बन जाता है। यही कारण है कि आज खड़ी-

बोली के विकास-काल में भी हम ब्रजभाषा का लोभ संवरण नहीं कर पाते और आज भी ब्रजभाषा-काव्य में हम आधुनिक काव्य से अधिक रसानुभूति प्राप्त करते हैं। काव्य-रचना करते समय कवि भावानुरूप भाषा का ही प्रयोग करता है। वह अपने भावों की अभिव्यंजना करते समय एक प्रमुख भाषा का आश्रय ग्रहण करते हुए भी कभी समीपस्थ लोकभाषाओं के शब्दों का प्रयोग करता, कभी भाषा के मृत शब्दों को पुनर्जीवित करता और कभी विभाषी शब्दों को अपनाता है। कभी-कभी उसे मूल शब्दों को कुछ तोड़-मरोड़कर भी उन्हें अपने भावों के चौखटे में बिठाना होता है। सूर की भाषा में हम ये ही सब बातें पाते हैं। उन्होंने मुख्य रूप से ब्रजभाषा का ही आश्रय लिया है, पर प्रौढ़ रूप से स्थानीय और ग्रामीण शब्द तक ग्रहण किए हैं। तत्कालीन राजभाषा के प्रभाव-स्वरूप फारसी के अनेक शब्द भी उनके काव्य में आ गये हैं। इस प्रकार सूर ने भाषा की दृष्टि से बड़ी उदारता से काम लिया है

तुलसी काव्य विमर्श

साहित्य

बाबा बेणीमाधवदास ने 'मूल गोसाई चरित' में गोस्वामी जी के तेरह ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इन ग्रन्थों में 'कवितावली' का उल्लेख नहीं है। इसे मिलाकर गोस्वामीजी की रचनाओं की संख्या १४ होती है। शिवसिंह सेंगर की संख्या और कुछ ग्रन्थ भी इससे भिन्न हैं। ग्रियर्सन ने इनके ग्रन्थों की संख्या २१ लिखी है। इनमें संकट मोचन, रामशलाका, कुंडलिया रामायण, करखा रामायण, झूलना रामायण और छप्पय रामायण के भी नाम हैं। पर उन्होंने उनमें से बारह ग्रन्थ ही प्रामाणिक माने हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल जी उनके बारह ग्रन्थ—रामचरित मानस, दोहावली, कवित्त रामायण, गीतावली, विनयपत्रिका, रामलला नहछू, पार्वतीमंगल, जानकीमंगल, बरवै रामायण, वैराग्य-संदीपनी और रामाज्ञा प्रश्नावली को ही प्रामाणिक मानते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास की ये सभी रचनाएँ हिन्दी-काव्य-साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं। इनमें से 'रामचरित मानस' तो ऐसी अमर कृति है कि ज्यों-ज्यों समय बढ़ता जा रहा है, उसका महत्व भी उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है और न केवल हिन्दी-भाषी विद्वानों वरन् अन्य भारतीय एवं विदेशी भाषा-भाषियों का भी उसके प्रति आकर्षण बढ़ता जा रहा है। अब मराठी, गुजराती, बंगला आदि भारतीय भाषाओं तथा अंग्रेजी, रशियन आदि विदेशी भाषाओं में भी इस ग्रन्थ के काव्यानुवाद उपलब्ध हैं।

अन्य ग्रन्थों में से 'रामगीतावली' में गोस्वामी जी ने राम की बाल्य-लीलाओं का तथा सीताजी के नख-शिख-सौन्दर्य का अनोखा व्यकारी चित्रण किया है। 'कृष्ण गीतावली' में गोपाल की चातुर्यमयी लीलाओं का चित्रण अत्यन्त स्वाभाविक और हृदयहारी है। यह गोस्वामी जी की विशुद्ध ब्रजभाषा में रचित कृति है। 'गीतावली' के सुन्दर और भक्तिपरक पद पढ़ कर सूर के पदों का स्मरण हो आता है। "दोहावली" नीतिपरक और भक्तिपरक दोहों का मूल्यवान् संग्रह है। भक्ति-भावना की दृष्टि से तुलसीदास की 'विनयपत्रिका' एक अनुपम कृति है। इसके पदों में भगवद्भक्ति की जो तन्मयता, समर्पण-भावना, आत्मग्लानि, भक्त-हृदय की विह्वलता, अधीरता, कातरता और दीनता वर्णित है, वह 'रामचरित मानस' में भी दुर्लभ है।

रचना-शैली

गोस्वामी जी के रचना-काल में हिन्दी में मुख्यतः दो प्रकार का साहित्य उपलब्ध था। एक तो अवधी भाषा में सूफी-कवियों की रचना और दूसरा ब्रज भाषा में सूर का कृष्ण काव्य। तुलसी का इन दोनों भाषाओं पर समान अधिकार प्राप्त पड़ता है। इनकी अधिकांश रचनाएँ अवधी में हैं पर ब्रजभाषा में रचित कृष्णगीतावली और और गीतावली भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

शैलियों की दृष्टि से इनके समय चारण-काव्य की छप्पय शैली, विद्यापति और सूरदास की पद रचना शैली, कबीर की दोहा शैली, गंग आदि की कवित्त-सवैया शैली, जायसी की दोहा चौपाई शैली आदि प्रचलित थी। तुलसीदास जी ने अपनी रचना में इन सभी शैलियों का सफल प्रयोग किया है।

उपर्युक्त शैलियों में से छप्पय शैली में उनकी बहुत कम रचनाएँ प्राप्त हैं पर जितनी प्राप्त हैं वे बहुत सुन्दर हैं। उदाहरणार्थ एक छप्पय लीजिए—

डिगति उर्वि अति गुर्वि, सर्व पब्बै समुद्र सर।
व्याल बधिर तेहि काल विकल दिकपाल चराचर।
दिग्गयंद लरखरत परत दसकंठ मुक्ख भर।
सुर विमान हिम भानु भानु संघटित परस्पर।
चौंकि विरंचि संकर सहित कोल कमठ अहि कलमल्यो।
ब्रह्मांड खण्ड किया चण्ड धुनि, जबहिं राम शिव धनु दल्यो॥

विद्यापति और सूरदास की पद रचना-शैली में तुलसी की विनयपत्रिका, गीतावली तथा कृष्ण गीतावली के पद देखे जा सकते हैं। कवित्त सवैयों की शैली में रचित कवितावली गोस्वामी जी की इस शैली की श्रेष्ठता का प्रमाण है। जायसी की दोहा-चौपाई शैली में पूरा 'रामचरितमानस' ही प्रस्तुत है।

गोस्वामी तुलसीदास जी के काव्य का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे एक उच्च कोटि के कवि और कलाकार थे। इन्होंने अपनी काव्य रचना में जिस बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया है, वह सर्वथा अनुकरणीय है। हिन्दी-साहित्य के पूर्व मध्यकाल में सूर और तुलसी दो ऐसे महान् साधक और कवि हुए जिन्होंने हिन्दी-काव्य की दो प्रमुख काव्य धाराओं का सूत्रपात कर नए युग को जन्म दिया। सूर की तरह तुलसी की रचना में भी हमें काव्य के वे समस्त गुण मिलते हैं जो एक महाकवि में अपेक्षित हैं। भावपक्ष और कलापक्ष दोनों के स्पष्टीकरण में तुलसी-साहित्य अद्वितीय है। इनका स्वभाव-चित्रण, प्रकृति-सौन्दर्य-चित्रण, अनुभूतिगत सभी सुन्दर और उत्कृष्ट काव्य-रचना के द्योतक हैं। स्पष्ट भावाभिव्यंजना

भावानुकूल भाषा का प्रयोग, अलंकारों का उपयुक्त प्रयोग और विभिन्न रसों का सौन्दर्यपूर्ण व सरस प्रवाह तुलसी-काव्य की विशेषताएँ हैं।

भावपक्ष—

तुलसी भाव-जगत के सम्राट् हैं। भावाभिव्यंजना पर उनका अप्रतिम अधिकार है। धार्मिक, सामाजिक और दार्शनिक भावाभिव्यंजनों के अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी इन्होंने बड़े सुन्दर और सरस अनुभवपूर्ण भाव प्रदर्शित किए हैं। इनकी कल्पना के "रामराज्य" का चित्र देखिए—

बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥
बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद-पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुख, नहिं भय सोक न रोग॥

वनवासिनी सीता भोले सौन्दर्य की प्रतीक हैं। उस लावण्यमयी सुकुमारी को वन के बीहड़ मार्ग से जाती देख ग्रामीण नारियों को उस पर दया आना स्वाभाविक है। उसे देखते ही उनका हृदय दया से द्रवीभूत हो जाता है। वे कह उठती हैं—

'पायन तो पनही न, पयादेहि क्यों चलिहैं सकुचात हियो है।"

जब उन्हें यह मालूम होता है कि राम-लक्ष्मण और सीता कैकयी के कारण वन में आये हैं तब बड़ा आश्चर्य होता है। वे कहती हैं—

रानी मैं जानी अजानी महा, पबि पाहनहू ते कठोर हियो है।
राजहु काज अकाज न जान्यो, कह्यो तिय को जिन कान कियो है॥

तुलसी ने कितने कौशल से इन पंक्तियों में भगवान् राम के शील की रक्षा की है—

सुनि सुचि सरल सनेह सुहावने ग्रामबधुन्ह के बैन।
तुलसी प्रभु तरु तर बिलोकि, किय प्रेम कनौड़े नैन॥

शील और मर्यादा का निर्वाह तुलसी की विशेषता है। शील-साधना की उच्च भाव-भूमि पर स्थित उनका यह पद दर्शनीय है—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा ते, संत सुभाव गहौंगो॥

लोक और भक्ति के समन्वय से पूर्ण तुलसी के भाव कितने सुन्दर हैं—

"मन करिहौं हठि आजु तें, राम द्वार पर्यो हौं।
'तू मेरो' यह बिनु कहे उठिहौं न जनम भरि प्रभु की सौं करि निबर्यो हौं॥

प्रकट कहत जो सकुचिये अपराध भर्यो हौं ।
तो मन में अपनाइए तुलसिहि कृपा करि कलि विलोकि हहर्यो हौं ॥

शील ही सदाचार की प्रेरणाप्रद शक्ति है इसीलिए तुलसीदास जी ने बार-बार शील-गुण पर बल दिया है। वे ऐसी भक्ति को भी भक्ति नहीं मानते जो शील-संयुत न हो —

प्रीति रामसों, नीति पथ, चलिय राग रिसि जीति ।
तुलसी सन्तन के मते इहै भगति की रीति ॥

चित्रकूट में राम भरत-मिलाप पर तुलसीदास जी ने लिखा है

राम सास सब चित्रप विलोके । उर अनुराग रहत नहिं रोके ॥

कितनी भावुकता है कवि के हृदय में। कवि प्रत्येक मानव-स्थिति में अपने को उपस्थित कर उस स्थिति में पड़े मानव के हृदयगत भावों का स्वयं अनुभव करता है। अपनी इसी विशेषता के कारण मानस का कवि वास्तविक भाव चित्रण में पूर्ण सफल हुआ है। तुलसी-सी सर्वांगपूर्ण भावुकता हिन्दी के बहुत कम कवियों में देखी जाती है। सीताहरण पर राम के हृदय की व्यथा के स्पष्टीकरण में तुलसीदास पूर्णरूपेण उनका प्रतिबिम्बित करते देखे जाते हैं—

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी । तुम देखी सीता मृगनैनी ।
खंजन सुक कपोत मृग मीना । मधुप निकर कोकिला प्रवीना ॥
कुंद कली दाड़िम दामिनी । कमल सरद ससि अहिभामिनी ॥
सुन जानकी तोहि बिनु आजू । हरषे सकल पाइ जनु राजू ॥
किमि सहि जात अनख तोहि माहीं । प्रिया बेगि प्रगटसि कस नाहीं ॥

कितना करुण चित्र है राम की वेदना का। दशरथ की मृत्यु पर शोक की काली घटा छा गई उसका वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है —

लागति अवध भयावनि भारी । मानहु कालराति अँधियारी ।
घोर जंतु सम पुर नर नारी । डरपहिं एकहि एक निहारी ।
घर मसान परिजन जनु भूता । सुत हित मीत मनहुँ जमदूता ।

कवि रसज्ञता और चित्रण अद्वितीय दर्शनीय है। तुलसीदास ने लक्ष्मण की शक्ति लगने पर राम का जो विलाप-चित्रण किया है उसमें कितनी स्वाभाविकता और भावुकता है यह इन पंक्तियों में देखिए—

जथा पंख बिनु खग अति दीना । मनि बिनु फनि करिबर कर हीना ॥
अस मम जिवन बंधु बिनु तोही । जौं जड़ दैव जिआवै मोही ॥
जैहउँ अवध कौन मुँह लाई । नारि हेतु प्रिय बंधु गँवाई ॥

अपह्नुति—

रवि निज उदय व्याज रघुराया। प्रभु प्रताप सब नृपन दिखाया।

अनुप्रास

गौर सरीर भूति भलि भ्राजा। भाल बिसाल त्रिपुण्ड बिराजा॥

पर्यायोक्ति—

सीता-हरन तात जनि कहेहु पिता सन जाइ।
जौ मैं राम तौ कुल सहित, कहिहि दसानन आइ॥

विभावना—

बिनु पग चलै, सुनै बिनु काना।
कर बिनु कर्म करै बिधि नाना॥

सन्देह—

की मैनाक कि खगपति होई। मम बल जान सहित पति सोई।

असंगति—

पाइ सजीवन जागि कहत यों, प्रेम पुलकि बिसराय सरीरै।

व्याजनिन्दा—

धन्य कीस जे निज प्रभु काजा। जहँ तहँ नाचहिं परिहरि लाजा॥

अतिशयोक्ति—

यदि बिधि उपमा कहिय जग, सुन्दरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कवि, कहहिं साय सम तूल॥

व्यतिरेक—

सिय मुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाइ।
निसि मलीन वह, निसि दिन यह बिगसाइ॥

उत्प्रेक्षा—

सिरसि सिखंड सुमन दल, मंजुल बाल सुभाय बनाय।
काम अंकु तनु रत पक बाजु, प्रगटत चरित पुराय॥

विषाद —

कहौं सत असज्जन बरना। दुख-प्रद उभय, बीच कछु बरना॥
बिछुरत एक प्रान हरि लेही। मिलत एक दुख दारुन देही॥

?ठ—

सिय तुव अंग-रंग मिलि अधिक उदोत।
हार बलि पहिरावौं चम्पक होत॥

। —

१६

रीतिकालीन हिन्दी-साहित्य की पृष्ठभूमि

रीति-साहित्य की परम्परा

लगभग संवत् १७०० से हिन्दी-साहित्य में "रीतिकाल' का आरम्भ होता है। इस काल में अनेक रीति-ग्रन्थों की रचना हुई, इसीलिए हिन्दी-साहित्य का यह "उत्तर मध्य-काल' रीतिकाल के नाम से प्रसिद्ध है। इसके पूर्व पूर्व-मध्यकाल के अन्तिम चरण में केशवदास 'कविप्रिया' और "रसिकप्रिया' की, कृपाराम 'हित-तरंगिणी' की, नंददास "रस-मंजरी' की और कवि सुन्दर "सुन्दर शृंगार' की रचना कर चुके थे। ये सब रीति-ग्रन्थ ही थे। संस्कृत-साहित्य के लिए 'रीति-ग्रन्थ की रचना' कोई नई वस्तु न थी। हिन्दी-साहित्य के आविर्भाव काल से ही संस्कृत में इस प्रकार के ग्रन्थों की रचना हो रही थी। पंडितराज जगन्नाथ ने "रसगंगाधर' की रचना शाहजहाँ के शासन-काल में उस समय की जब हिन्दी में राम-काव्य और कृष्ण-काव्य की गंगा-यमुना प्रवाहित हो रही थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के कवि संस्कृत की पूर्व परम्परा तथा समकालीन रीतिग्रन्थ-रचनाओं से भी प्रभावित हो रहे थे। केशवदास, नन्ददास, कृपाराम तथा कवि सुन्दर आदि ने जो रीति-ग्रन्थ लिखे उन पर संस्कृत-रीति-ग्रन्थों का स्पष्ट प्रभाव मिलता है। केशव की दोनों कृतियाँ हमें भामह और उद्भट के रीति-ग्रन्थों पर आधारित मिलती हैं। उनकी विवेचन प्रणाली भी संस्कृत के रीतिग्रन्थों की ही है। भामह और उद्भट ने रस, रीति, अलंकार सभी के लिए 'अलंकार' शब्द का प्रयोग किया है। उनके ग्रन्थों में अलंकार और अलंकार्य में कोई अन्तर नहीं मिलता। यही स्थिति केशव की "कविप्रिया' की भी है। 'हित-तरंगिणी' और "सुन्दर शृंगार' रस-सम्बन्धी ही रचनाएँ हैं। इन्हीं दिनों शृंगार रस पर लिखा चरखारी के मोहनलाल मिश्र का 'शृंगार सागर' ग्रन्थ भी मिलता है। यहाँ कवि 'करनेस' की रीति-विषयक—कर्णाभरण, श्रुतिभूषण और भूपभूषण—कृतियों का उल्लेख भी इस प्रसंग में किया जा सकता है। रहीम-रचित 'बरवै नायिका-भेद' भी उल्लेख्य है। इन भक्तिकालीन पूर्व कवियों की कृतियों को देखने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दी के कवियों को भक्तिकाल में ही रीति-ग्रन्थों की आवश्यकता का अनुभव होने लगा था और उनमें से कुछ ने इस दिशा में प्रयत्न भी आरम्भ कर दिया था। हिन्दी के उपर्युक्त रीति-ग्रन्थ उनके इसी प्रयत्न के परिणाम हैं।

अकबर के शासन के पूर्व हिन्दी के कवियों को राजसम्मान प्राप्त न था। कुछ राजाओं ने चारणों को अवश्य ही आश्रय दे रखा था पर उनका काव्य-कौशल अपने आश्रयदाता के गुण-गान तक ही सीमित था। सर्वप्रथम अकबर ने ही कुछ कवियों को अपने दरबार में स्थान दिया। इनमें वैतनिक और अवैतनिक सभी प्रकार के कवि थे। करनेस, होलराय, कुम्भन दास, व्यास, चंद्रभान, चतुर्भुज दास, सूरदास मदनमोहन, मनोहर कवि, गुरु हरि, तानसेन, गंग आदि के अतिरिक्त राजा टोडरमल, राजा बीरबल और अब्दुर्रहीम खानखाना के समान प्रतिष्ठित हिन्दी कवि भी अकबर से सम्मान प्राप्त करते थे। इनमें से कुछ कवियों ने चारणों की तरह अकबर के गुणगान भी किए हैं पर इन्हें व्यक्तिगत स्वतंत्रता भी कम प्राप्त न थी। कुछ अन्य राज-दरबारों में भी हिन्दी कवियों को सम्मान प्राप्त था। ऐसे आश्रयदाता राजाओं में रीवां-नरेश महाराज रामचन्द्र तथा महाराजा मानसिंह, राजा अमरसिंह आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। स्वयं राजा बीरबल हिन्दी कवियों के बहुत बड़े आश्रयदाता और प्रोत्साहनदाता थे। अब्दुर्रहीम खानखाना से भी कवियों को बहुत प्रोत्साहन मिलता रहा। ओरछा-राज्य बहुत पहिले से कवियों को आश्रय देने की परम्परा का निर्वाह करता आ रहा था। इन विभिन्न राज्यों के शासकों के आश्रय और प्रोत्साहन ने हिन्दी-कवियों को अपनी प्रतिभा का पूर्ण विकास करने का अवसर दिया। कृष्ण-काव्य में शृंगार को विशिष्ट स्थान प्राप्त था ही। राधाकृष्ण की लीलाओं के चित्रण में शृंगार का जो विकास हुआ वह राज-दरबारों में पहुँचकर विलास-वर्धित हो गया और विभिन्न प्रकार की नायिकाओं का चित्रण राधाकृष्ण भक्ति का आधार छोड़कर 'राज-विलास' पर आधारित हो गया। राजाश्रित कवियों ने अपने आश्रयदाताओं के मनोरंजन के लिए भी 'नायिका भेद' की रचना आरंभ कर दी। कवियों की इस प्रवृत्ति से भी रीति-ग्रन्थों की रचना को प्रोत्साहन मिला। किसी ने अपनी प्रेयसी के लिए और किसी ने अपने आश्रयदाता के लिए रीति-ग्रन्थों की रचना की। कहते हैं केशवदास ने 'कविप्रिया' की रचना अपनी एक प्रेयसी के लिए ही की थी। चतुर्भुज दास ने 'रस मंजरी' की रचना अकबर की आज्ञा से की थी। इन भक्ति-कवियों की रीति-विषयक रचनाओं ने 'रीतिकाल' की पृष्ठभूमि का निर्माण किया और १८ वीं शताब्दी आरंभ होते-होते हिन्दी में रीति-ग्रन्थों का निर्माण भी एक बड़े परिमाण में आरंभ हो गया।

भक्तिकाल में जिन कवियों ने रीति-ग्रन्थों की रचना की थी उनमें केशवदास प्रमुख हैं। इनके रीतिग्रन्थ भले ही भामह और उद्भट जैसे प्राचीन रीतिग्रन्थकारों की रचनाओं पर आधारित होने के कारण अपूर्ण से लगते हों किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने 'कविप्रिया' और "रसिक प्रिया" की रचना कर अपने परवर्ती कवियों का

मार्ग प्रशस्त किया और संस्कृत के ज्ञान से रससम्पन्न कवि-समाज को काव्य के विविध अंगों से परिचित किया। केशव ने रीतिग्रन्थों की जो परम्परा आरम्भ की वह उसके पश्चात् लगभग पचास वर्ष तक सुप्तावस्था में पड़ी रही और इसके पश्चात् ही चिन्तामणि ने इस परम्परा को जागृत कर इतना शक्तिशाली बनाया कि वह उनके समकालीन एवं परवर्ती कवियों के लिए भी अनुकरणीय हो गई। यहाँ यह स्मरणीय है कि चिन्तामणि-द्वारा प्रस्थापित रीति-ग्रन्थ-रचना की परंपरा भामह और उद्भट के ग्रन्थों पर आधारित केशवदास की परम्परा पर आधारित नहीं वरन् संस्कृत के इन रीति आचार्यों के परवर्ती काव्याचार्यों की कृतियों—चन्द्रालोक, कुवलयानन्द, काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण पर ही आधारित है।

रीतिकाल के साहित्य-निर्माण में उस काल की राजनीतिक और सामाजिक स्थिति का भी कम हाथ नहीं है। अतः इन पर यहाँ संक्षिप्त रूप में विचार कर लेना भी समीचीन होगा।

राजनीतिक स्थिति

भारत अनेक राज्यों में विभाजित था पर सभी राज्यों में एकतन्त्रीय शासन का बोलबाला था। राजा सर्वाधिकारी होता था। वह प्रसन्न होने पर बड़ा-से-बड़ा अपराध क्षमा कर देता और सहस्रों रुपये, जागीर आदि पुरस्कार में दे देता था और अप्रसन्न होने पर चाहे जैसा मनमाना दंड दे—वह उसका हो जाता था। अतः केवल राजा को प्रसन्न कर लेने से ही भाग्य पलट सकता था। राजा को प्रसन्न करने के जो अनेक उपाय थे उनमें से एक अपनी चमत्कारमयी काव्य-प्रतिभा का प्रदर्शन भी था। राजा जिस रुचि का होता कवि-जन उसी रुचि के अनुकूल काव्य-रचना कर उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न करता था। इस प्रवृत्ति के कारण किसी गंभीर अथवा लोकोपकारी काव्य का सृजन सम्भव न था। कवि रूप-सौन्दर्य, प्रकृति-सौन्दर्य, आलंकारिक चमत्कार, उक्ति-वैचित्र्य आदि के द्वारा अपने आश्रयदाता को प्रसन्न कर लेते थे। राजाओं में विलासिता बढ़ती जा रही थी, अतः विलासिता-परिवेष्टित—शृंगार-साहित्य उनकी रुचि के अनुकूल था। यही कारण है कि रीतिकाल में जितने शृंगार-साहित्य की रचना हुई उतना अन्य किसी काल में नहीं हुई।

वातावरण शान्तिपूर्ण और राज्य सुसंगठित एवं सुरक्षित न थे। कौन कब राजा से पथचारी और हस्तिगामी से पदगामी हो जायगा यह समझना कठिन था। इस अवस्था और असमंजस्य की स्थिति में मनुष्य या तो विरक्त-भीरु होता है या उच्छृंखल कामुक। साधारणतया प्रथम स्थिति की अपेक्षा द्वितीय स्थिति को अपनाना सरल होने से ही अधिक मादक होता है। इस राजनीतिक स्थिति ने भी शृंगार-काव्य की रचना में बड़ी सहायता दी।

सामाजिक स्थिति

तत्कालीन समाज की स्थिति बड़ी दयनीय थी। एक राजा होता था और उसके अनेक सामन्त होते थे। समस्त राज्याधिकार इन सामंतों में विभाजित थे। प्रत्येक सामन्त अपने-अपने क्षेत्र का शासक होता था। ये सामन्त और समाज के कुछ-उच्च शासकीय सेवा प्राप्त व्यक्ति ही सुखी थे, सामान्य जन शोषित मानवों का जीवन व्यतीत कर रहे थे। सामन्तों और अमीरों को सभी प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त थीं और अधिकार भी कम न थे जिनका उपयोग वे अपने विलास और वैभवपूर्ण जीवन के साधन जुटाने में करते थे। इस प्रकार मानव-समाज दो कोटियों में विभाजित था। एक कोटि में थे राजा सामन्त और अमीर थे और दूसरी कोटि में शोषित जनता थी। प्रथम कोटि में कोई ऐसा न होता था जिसके महल में उनकी विलासिता की पूर्ति के साधन के रूप में एक से अधिक स्त्रियाँ न रहती हों। इनका कार्य अपने को मूल्यवान् वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर अपने विलासी स्वामियों को प्रसन्न करना ही था। इस प्रकार भीतर-बाहर विलासिता का साम्राज्य था। यह देखकर प्रत्येक सुशिक्षित और प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति केन्द्रीय राजाओं केन्द्रीय सामन्तों अथवा स्थानीय अमीरों को किसी-न-किसी प्रकार प्रसन्न कर उच्च शासकीय सेवा या सम्मान प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता था। काव्य-कौशल संगीत नृत्य आदि भी इस प्रकार के प्रयत्नों के साधन थे। इस सामाजिक स्थिति में नायक-नायिकाओं की विविध विलासमयी लीलाओं को चित्रित करने वाले शृंगार-साहित्य तथा विभिन्न प्रकार की नायिकाओं के लक्षण और भाव भंगिमा व्यक्त करनेवाले रीति-साहित्य का निर्माण स्वाभाविक ही था।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि जहाँ उत्तर-मध्यकालीन कवि रीति-ग्रन्थों के सृजन को यशस्कर तथा प्रसन्न करते थे वहाँ देश की राजनीतिक और सामाजिक स्थिति भी इसी प्रकार के साहित्य के अनुकूल थी।

नैतिक स्थिति

राजनीतिक और सामाजिक पतन की स्थिति में नैतिकता का ह्रास स्वाभाविक हो जाता है। हिन्दू सदाचार पथ-भ्रष्ट होते जा रहे थे और मुसलमान धार्मिक तथा बाह्य संघर्षों के कारण नैतिक बल खो चुके थे। दोनों जातियों में विलासिता बढ़ रही थी। राजकर्मचारियों की विलासिता ने उनका ध्यान धन्य विषय था जिसकी पूर्ति के लिए रिश्वत आवश्यक हो गई थी। यह प्रवृत्ति उच्च-अधिकारियों से निम्न-कर्मचारियों तक समान रूप से देखी जाती थी। बादशाह पद विक्रय-द्वारा धन अर्जित कर रहे थे। उच्च पदों का प्रलोभन देना भी हिन्दुओं को मुसलमान बनाने का एक साधन बन गया था। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् दिल्ली के तख्त पर जितने शासक बैठे वे प्रायः सभी निर्बल थे। उनकी निर्बलता ने विदेशियों को भारत पर आक्रमण

करने को प्रेरित किया। ये शासक उनसे लोहा लेने में असमर्थ थे। अतः वे उन आक्रमणकारियों को मुँह माँगी धनराशि देकर ही अपने राज्य की रक्षा करने में समर्थ हुए। शाही परिवार ईर्ष्या, द्वेष, छल-कपट और षड्यन्त्रों के गढ़ बने हुए थे। मुगल शाहजादों ने राज्याधिकार प्राप्त करने के लिए जिस नृशंसता और नीचता का परिचय दिया वह तत्कालीन उच्चवर्गों के नैतिक पतन का प्रमाण है। इनके इस दुराचार और नृशंसताओं का सामान्य जनता पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इस प्रभाव से उनकी सत्प्रवृत्तियाँ, कर्तव्य-परायणता तथा राजभक्ति का ह्रास हो गया और उनमें भी स्वार्थ एवं दुराचरण की प्रवृत्ति जागृत हो गई।

बादशाहों और राजाओं की विलासिता ने उनकी प्रेमपात्राओं की शक्ति बढ़ा दी। मुगल बादशाह जहाँदारशाह की प्रेमपात्रा लाल कुँवर तथा मारवाड़ के राजा विजयसिंह की प्रेमिका पासवानों के लिए राजदरबारियों तथा स्वयं अपने स्वामियों तक का अपमान करना एक साधारण-सा कार्य था। शाहजादों, राजकुमारों तथा धनिक-पुत्रों का लालन-पोषण एवं शिक्षा जिस कलुषित वातावरण में होती थी उससे उनका विलासी और दुराचारी होना स्वाभाविक था। सौन्दर्यमयी रमणियों की प्रतिष्ठा पर सदा उच्चवर्गीय दुराचारियों की तलवार लटकती रहती थी।

धार्मिक स्थिति

इस समय इस धार्मिक दृष्टि से समस्त जनता तीन श्रेणियों में विभक्त थी। प्रथम श्रेणी में वे हिन्दू धर्मावलंबी विद्वान् और मुस्लिम मौलवी थे जो परम्परागत धर्मग्रन्थों के अध्ययन, मनन और अनुसरण में प्रवृत्त थे। ये पूर्णरूपेण कट्टरपन्थी थे। इनके लिए प्रबल धर्मकर्मों का पालन, ईश्वरपूजा और शास्त्रीय आचार-विचार गतानुगतिक-ग्रस्त थे। हिन्दूधर्म के अन्तर्गत वैष्णवधर्म की विविध शाखाओं का प्राधान्य था जिनमें कृष्णभक्ति शाखा सर्वाधिक प्रभावशाली और व्यापक थी। यह शाखा भी अनेक उपशाखाओं में विभाजित थी। देश में स्थान-स्थान पर इन शाखा-उपशाखाओं के आचार्यों और मठाधीशों की गद्दियाँ थीं। इधर वल्लभ-सम्प्रदाय के परम भक्त विट्ठलनाथ जी के सात पुत्रों ने गोकुल, कामवन, कांकरौली, नाथद्वारा, सूरत, बम्बई और काशी में अपनी गद्दियाँ स्थापित कर रखी थीं किन्तु इनमें गोकुलनाथ के अतिरिक्त किसी के भी द्वारा कोई महत्त्वपूर्ण कार्य न हो सका। कालान्तर में इनका प्रभाव और सम्मान बढ़ गया। बड़े-बड़े राजा-महाराजा इनके शिष्य बन गये और इन्हें अमित धनराशि भेंट करने लगे। इससे इनमें भी वैभव और विलास की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। धीरे धीरे भक्ति के तात्त्विक स्वरूप के स्थान पर बाह्याचार की प्रतिष्ठा होने लगी।

कुछ समय के पश्चात् इन धर्माचार्यों का वैभव इतना अधिक बढ़ गया कि उनके सामने बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं और नवाबों का वैभव भी फीका दिखाई देने लगा। निम्बार्काचार्य चैतन्य, राधावल्लभीय आदि सम्प्रदायों की भी यही स्थिति थी। जिन सम्प्रदायों का जन्म सामान्य जनता में धर्म की जागृति के लिए हुआ था उन्हीं के आचार्य अब वैभवशाली गद्दियों के अधिकारी बन जनता से दूर हो गये। उनकी साम्प्रदायिक धर्म-धारा देश के विशाल क्षेत्र से सिमटकर उनकी गद्दियों की सीमा में ही निबद्ध हो गई। राधा और कृष्ण की भक्ति में विकृति आ गई। उनकी भक्ति की भावना और उपासना का स्थान शृंगारिकता ने ग्रहण कर लिया और उत्तर भारत के समस्त मठ और मन्दिर कामिनियों की पायल की झनकार और देवदासियों के नूपुरों से गूँजने लगे।

दूसरी श्रेणी उन सामान्य जनों की थी जो स्वभावतः धर्मविश्वासी और धर्मभीरु थे। इनका तीर्थयात्रा व्रत, मूर्तिपूजा आदि बाह्याडम्बरों पर अटल विश्वास था। साधुओं और फकीरों की सेवा-भावना ने इस वर्ग को देव-पूजा से मनुष्य पूजक बना दिया था। रामलीला रासलीला कीर्तन भजन आदि इस श्रेणी के हिन्दुओं के तथा उर्स, मजलिस कव्वाली आदि का गान मुस्लिमों की धर्म-भावना के अंग थे। इस प्रकार इस सामान्य जनता की धर्म भावना भी मनोरंजन की ओर प्रवृत्त होती जा रही थी।

तृतीय श्रेणी में वे साधक थे जो कबीर नानक दादू आदि के अनुयायियों के रूप में हिन्दू-मुसलमानों को बाह्य धर्माडम्बरों से पराङ्मुख कर निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश दे रहे थे। ये एकेश्वरवाद की पृष्ठभूमि पर हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के समर्थक थे। ये वास्तव में प्रेममार्गी उपासक थे। इस विचारधारा के अन्तर्गत अनेक सम्प्रदाय थे। सतनामी लालदासी नारायणी आदि सत्रहवीं शताब्दी के प्रमुख सम्प्रदाय हैं। इनके अतिरिक्त कबीरपंथी दादूपंथी नानकपंथी आदि भी थे ही। अठारहवीं शताब्दी में धरनीदास प्राणनाथ आदि की विचारधारा का प्राबल्य रहा। इनकी विचारधारा के प्रचारकों में जगजीवनदास बुल्ला साहब चरनदास दयाबाई सहजोबाई आदि प्रमुख हैं। इनके पश्चात् भीखादास दूलनदास पलटूदास आदि ने उन्नीसवीं शताब्दी तक निर्गुण भक्ति का प्रचार किया। इनमें सामाजिक मिथ्याचार और भेद भाव का अभाव था। कुछ समय के पश्चात् धनिकों का ध्यान भी इनकी ओर आकर्षित हुआ और उनका शिष्यत्व स्वीकार करने पर इन निर्गुणवादियों की भी गद्दियाँ स्थापित हो गईं और उनमें भी वैभव की भावना घर करने लगी।

इन निर्गुण धाराओं से हिन्दू-मुस्लिम दोनों प्रभावित थे पर इनके अतिरिक्त मुसलमानों में कुछ सूफी सम्प्रदाय भी क्रियाशील थे जिनमें चिश्ती नक्शबन्द सम्प्रदाय

कान्ही सम्प्रदाय, श्रृंगार सम्प्रदाय आदि हैं। इनमें किसी सम्प्रदाय का अधिक प्रभाव था।

बौद्धिक पतन

ऊपर जिन राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक और धार्मिक स्थितियों का संक्षिप्त रूप में विवेचन किया गया है, उस स्थिति में बौद्धिक पतन स्वाभाविक था। शासकों की दासता और दमन ने हिन्दुओं को निष्प्राण और निर्वीर्य बना दिया था। वे नैतिक बल के साथ ही बौद्धिक क्षमता भी खो चुके थे। संस्कृत साहित्य का ह्रास हो गया था, पर हिन्दी-साहित्य की दिशा में भी बड़ा भारी परिवर्तन होता जा रहा था। भक्ति का स्थान श्रृंगार ने ले लिया था और कृष्ण-काव्य के नाम पर श्रृंगार-काव्य का सृजन प्रारंभ हो गया था। राम-चरित्र में श्रृंगार भावना का अभाव था, पर बौद्धिक पतन ने उनका उज्ज्वल चरित्र भी कवियों के लिए श्रृंगार का विषय बना दिया था। [illegible] जैसे मठाधीश भी रामगुण-गान छोड़कर "बरवै-नख पंचाशिका" की रचना करने में गौरवानुभव कर रहे थे। इस प्रकार हिन्दी के काव्य-साहित्य में शृंगार रस की धारा प्रबल वेग से प्रवेश करती दिखाई दे रही थी।

मुसलमानों की स्थिति भी हिन्दुओं से भिन्न न थी। औरंगजेब की धर्मान्धता ने मुसलमानों का मस्तिष्क विकृत कर दिया था। अकबर के शासनकाल में मुसलमानों में भारत के प्रति जिस आत्मीयता का उदय हुआ था, उसका औरंगजेब के शासनकाल में अस्त हो गया। मुसलमानों के लिए अरब ही उनका देश बन गया और अरब तथा फारस की संस्कृति ही उनकी संस्कृति बन गई। वे भारत और भारतीयता से विरक्त हो गये और उनमें यही भाव बस गया। हिन्दी की ओर प्रवृत्त होते मुस्लिम कवि भी अब फारसी में ही काव्य-रचना करने लगे थे। उन्हें जनता की ओर अपनी देश-स्थिति का ध्यान न रहा और वे भी अपने आश्रयदाताओं एवं दरबारियों की तरह शृंगार में लिप्त होने लगे। देश की इसी स्थिति ने हिंदी में रीति-साहित्य और शृंगार-साहित्य को जन्म दिया।

रीति-प्रथा का आधार

हिन्दी के रीति-ग्रन्थ अनेक रचयिताओं के अपने मस्तिष्क की उपज नहीं हैं। इस प्रथा के रचयिताओं ने इनकी रचना में अपनी प्रतिभा का उपयोग अवश्य किया है, पर वे वास्तव में हिन्दी-साहित्य की रीति-परम्परा की [illegible] रूप में संस्कृत साहित्य के ऋणी हैं। भामह का "काव्यालंकार", उद्भट का 'अलंकार सार-संग्रह', भरत का 'नाट्यशास्त्र', दण्डी का 'काव्यादर्श', [illegible] का [illegible], केशव मिश्र का 'अलंकार शेखर', अप्पय दीक्षित का 'कुवलयानन्द'' मम्मट का 'काव्य-प्रकाश', जयदेव का 'चन्द्रालोक', आनन्दवर्धन का 'ध्वन्यालोक', विश्वनाथ का

'साहित्यदर्पण' भानुदत्त की 'रस मंजरी' और 'रस-तरंगिणी' आदि संस्कृत ग्रन्थ हिन्दी के रीति-ग्रन्थों के आधार हैं। हिन्दी-साहित्य के उत्तर मध्यकाल में विभिन्न कवियों द्वारा संस्कृत के इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर रीति-ग्रंथों की रचना हुई। ऐसा जान पड़ता है कि किसी ने स्वयं पढ़कर और किसी ने अन्यों से सुनकर इनमें से अपने काम के ग्रन्थों का परिचय प्राप्त किया था। अपने इस परिचय और ज्ञान का उपयोग उन्होंने अपनी काव्य-प्रतिभा के सहारे अपने ग्रन्थों के निर्माण में किया। केवल अलंकार पर लिखनेवाले कवियों ने 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' से, ध्वनि पर लिखनेवालों ने 'काव्यप्रकाश' से, रस पर ग्रंथ रचना करनेवालों ने 'रसमंजरी', ''रस-तरंगिणी' 'साहित्यदर्पण' और ''नाट्यशास्त्र' से सहायता प्राप्त की है। सत्रहवीं शताब्दी में रचित पण्डितराज जगन्नाथ के 'रस-गंगाधर' से भी रसों पर लिखने में कम सहायता नहीं मिली। रीतिकालीन रचना-परम्परा को देखकर ऐसा लगता है कि इस काल में रीतिविषयक ग्रन्थों की रचना विपुल परिमाण में हुई होगी पर प्रकाशन एवं सुरक्षा के अभाव में न जाने कितने ग्रंथ काल-कवलित हो गये। बहुत सम्भव है कि आज उस युग के जितने ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनके अतिरिक्त कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थ अनुसन्धान करने पर अभी भी प्राप्त हो जायें।

रीतिकालीन साहित्य

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है हिन्दी में रीतिकाव्य के प्रवर्तक केशवदास थे किन्तु इस साहित्य की वास्तविक परम्परा केशव के लगभग पचास वर्ष पश्चात् चिन्तामणि से प्रारंभ होती है। चिन्तामणि के समकालीन तथा उनके पश्चात् के जो कवियों ने इन्हीं की रचना-प्रणाली का अनुसरण किया। केशव की रचना-प्रणाली का नहीं। चिन्तामणि शृंगार-मंजरी रस-मंजरी और कविकुल कल्पतरु इनके प्रमुख रीति-ग्रंथ हैं। इनके पश्चात् के रीति-ग्रंथकारों में भूषण और मतिराम का स्थान है। "शिवराज भूषण' भूषण की कृति है और "ललित ललाम' मतिराम की कृति है। अन्य रीति ग्रंथ-रचयिताओं में कुलपति मिश्र, सुखदेव, देव, कालिदास, सूरति मिश्र, श्रीपति, सोमनाथ, रघुनाथ, दूलह, ग्वाल, प्रताप साहि, भिखारीदास, बिहारी, पद्माकर आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन कवियों के द्वारा जिन अनेक रीति-ग्रंथों की रचना हुई उनसे हिन्दी-काव्य-साहित्य के एक महत्वपूर्ण अंग की पूर्ति ही नहीं हुई वरन् उनसे हिन्दी-काव्य के कलात्मक पक्ष के विकास में भी मूल्यवान योग प्राप्त हुआ।

रीति-काव्य की प्रवृत्तियाँ —

रीति-काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ निम्नांकित हैं—

१—रीति विवेचन

रीतिकाल के कवियों ने मम्मट के 'काव्यप्रकाश' जयदेव के "चन्द्रालोक" विश्वनाथ के "साहित्यदर्पण" पंडितराज जगन्नाथ के "रस-गंगाधर" एवं भामह आदि के ग्रंथों के आधार पर हिन्दी में रीति-ग्रंथों की रचना की और हिन्दी के पाठकों को काव्य के विविध अंगों से परिचित किया।

२—शृंगार-व्यंजना

रीति-कालीन कवियों के काव्य में शृंगार के आध्यात्मिक पक्ष को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। इन्होंने इसके लौकिक पक्ष की सूक्ष्मताओं का विस्तृत विवेचन किया। इनके इस शृंगार-विवेचन पर जयदेव विद्यापति सूरदास आदि की रचनाओं के अतिरिक्त संस्कृत के "सप्तशती-साहित्य" और कामशास्त्र का भी प्रभाव है। इन्होंने आलंबन के भीतर नायिका की विभिन्न चेष्टाओं और अनुभूतियों तथा प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं का सूक्ष्म चित्रण किया है।

३—प्रकृति-उद्दीपन

रीति-काव्य में प्रकृति के विविध उपकरणों का अवलंबन उद्दीपन की दृष्टि से ही किया गया है जिससे आलंबन के रूप में प्रकृति-चित्रण का विकास न हो सका।

४—कलापक्ष का चरम विकास

इस काल के कवियों की दृष्टि काव्य के रस अथवा भावानुभूति की अपेक्षा काव्य के कलापक्ष पर ही अधिक रही है। इससे इस काल की रचनाओं में हमें जितना उक्ति वैचित्र्य, चमत्कार-विधान और शाब्दिक खिलवाड़ मिलता है उतना काव्य के भाव-पक्ष का विकास नहीं मिलता।

५—सीमित छन्द-प्रयोग

रीति-काव्य में कवित्त और सवैया छंदों का ही अधिक प्रयोग हुआ है। इनके पश्चात् "दोहा" छंद का क्रम है।

६—भक्ति और वैराग्य का मिश्रण

इस रीति-काव्य में शृंगार-निरूपण के साथ ही भक्ति और वैराग्य की भावनाओं का समावेश भी मिलता है यद्यपि ये भावनाएँ शृंगार के भार से दबी हुई हैं।

७—प्रेम का दृष्टि

रीतिकालीन कवियों ने राधा और कृष्ण के प्रेम का भी निरूपण किया है किन्तु उनका यह निरूपण प्रेम की पवित्रता और उच्चता से दूर हटकर वासना-युक्त शृंगार के रूप में ही चित्रित हुआ है।

८—आश्रयदाताओं की प्रशंसा

इस काल में अधिकांश काव्य का निर्माण राजाओं, सामन्तों, जागीरदारों आदि के आश्रय में ही हुआ है जिससे स्वभावतः आश्रयदाताओं की प्रशंसा मिलती है। कुछ कवियों ने अपने ग्रन्थों के नाम के साथ अपने आश्रयदाताओं के नाम जोड़ दिये और कुछ ने आश्रयदाताओं के चरित्र पर आधारित स्वतंत्र काव्य, प्रबन्ध काव्य आदि की रचना की। भवानी-विलास, जयसिंह-विनोद आदि प्रथम प्रकार के और जहाँगीर-जस-चन्द्रिका, हिम्मतबहादुर-विरुदावली आदि दूसरे प्रकार के ग्रंथ हैं।

९—मुक्तक-काव्य-रचना

इस काल के अधिकांश कवियों ने मुक्तक काव्य शैली में ही काव्य-रचना की। नरहरि, रहीम, गंग, बेनी, गिरधर, टोडरमल, ब्रह्म, बिहारी आदि इन कवियों में प्रमुख हैं।

१०—वीर-काव्य

इस काल में शृंगारिक रचनाओं के अतिरिक्त भूषण, लाल, सूदन, पद्माकर, चन्द्रशेखर आदि ने वीर काव्य की रचना भी की।

११—ब्रजभाषा का प्रयोग

रीतिकाल तक ब्रजभाषा का काव्य-क्षेत्र में पर्याप्त विकास हो चुका था। रीतिकालीन कवियों ने भी अपनी काव्य-रचना में प्रमुखता से इसी भाषा का प्रयोग किया। परिणामस्वरूप इस भाषा का विकास इन कवियों के हाथों चरम सीमा को पहुँच गया।

रीतिकाल की न्यूनताएँ

बाबू गुलाबराय ने रीति-काव्य की निम्नांकित न्यूनताएँ बतलाई हैं—

१. काव्यांगों के विवेचन के साथ शब्दशक्ति का यथोचित विवेचन न हो सका।
२. हिन्दी में नाटक के लक्षण-ग्रन्थ नहीं हैं जिससे रीति काल में नाट्यशास्त्र के विवेचन का भी अभाव रहा।
३. इस काल में विविध विषयों पर काव्य-रचना न हो सकी। जो काव्य-रचना हुई उसमें विषयों की संख्या सीमित रही।
४. इस काल के कवि एक परम्परा में साथ प्रवाहित हो गये जिससे कवि की वैयक्तिक प्रतिभा का प्रकाशन न हो सका।
५. इस काल के कवि यद्यपि मानव-जीवन की अनेकरूपता को अपने काव्य में स्थान न दे सके, तथापि इन्होंने शृंगार के संकुचित क्षेत्र में पारिवारिक जीवन को आधार कर उसमें सौन्दर्य-वर्णन का प्रयास अवश्य किया।

बिहारी की काव्य-साधना

बिहारी रीतिकाल के प्रमुख कवि हैं। ये केवल सात सौ दोहे लिखकर ही हिन्दी काव्य साहित्य में अमर हो गये यही इनकी काव्य-कुशलता का प्रमाण है। इनके द्वारा रचित दोहों में अधिकांश 'मुक्तक' हैं। मुक्तक वह रचना कहलाता है जो प्रसंग पूर्ण अर्थ व्यक्त करने में स्वयं समर्थ हो। या किसी दूसरे छन्द पर निर्भर न रहकर अनुबन्धहीन स्वतन्त्र पर स्वयं प्रयोजन की क्षमता रखती हो। मुक्तक की रचना निरपेक्ष भाव से की जाती है पर यदि उसमें जीवन का चित्र विशेष अवसर पर रखकर ही कुछ कहा जाय तो वह अत्यंत प्रभावशाली हो जाती है। जैसे बिहारी ने राजा जयसिंह को एक दोहा "नहिं पराग नहिं मधुर मधु ... आगे कौन हवाल" लिखकर ही शृंगार के दलदल से पृथक कर दिया। बिहारी ने प्रभावोत्पादकता के लिए इस दोहे में प्रकृति से एक संश्लिष्ट लेकर उसकी रचना कर दी।

दूसरे मुक्तक में अनुभूति का निर्वाचन इतना स्पष्ट होना चाहिए कि पाठक उसकी गहराई में सरलता से प्रवेश कर सके और उससे मनोरंजन प्राप्त कर सके। हिन्दी में सूरदास का 'सूरसागर' और तुलसीदास की 'कवितावली' भी मुक्तक के अन्तर्गत ही रखी जा सकती हैं क्योंकि उनके प्रत्येक पद निरपेक्ष और स्वयंपूर्ण हैं। उनमें प्रबन्ध काव्य-सी रसानुभूति इसलिए है कि उनका आधार जीवन के वह चित्र हैं जिनमें मर्मस्थल पर सीधा प्रभाव डालने की शक्ति है। सूक्तियाँ भी स्वयंपूर्ण और हृदय पर प्रभाव डालनेवाली होती हैं पर उन्हें मुक्तक नहीं कहा जा सकता। सूक्तियाँ किसी रस या भाव की व्यंजना या उद्रेक नहीं करतीं वे केवल चमत्कार विधायिका होती हैं। दृष्टान्त आदि की भावना से उनमें आलंकारिक चमत्कार या ज्ञान से कुछ लाभ उन्हें मन हो मुक्तक सदृश मान लें पर काव्य की कसौटी पर वे खरी नहीं उतर सकतीं। मुक्तक और सूक्ति में अन्तर जानने के लिए बिहारी के इन दोनों निम्नांकित दोहों पर दृष्टिपात कीजिए—

"सटपटाति-सी ससिमुखी, मुख घूँघट-पटु ढाँकि।
पावक झर सी झमकि कै, गई झरोखा झाँकि॥"

"कनक कनक तें सौगुनी, मादकता अधिकाय।
इहिं खाये बौराइ इहिं, पायें ही बौराइ॥"

प्रथम दोहे में नायिका की अभिलाष-दशा का चित्रण है। वह झपककर झरोखे से नायक को झाँकि देख जाती है और कोई उसे देख न ले इसीलिए वह छटपटाती है। इसमें रस के उपकरण स्पष्ट हैं। अनुभावों की सम्यक् योजना है संचारी-भाव व्रीड़ा उत्सुकता आदि भी प्रत्यक्ष हैं। इस प्रकार इसमें पूर्ण रस-व्यंजना है, अतः यह निश्चित रूप से मुक्तक है।

दूसरे दोहे में कवि स्वर्ण-प्राप्ति से होनेवाली मदान्धता बतलाता है और उस मादकता की व्यंजना वह एक युक्ति के द्वारा करता है। पर इस युक्ति में कोई विशेष भाव नहीं है और न रस की व्यंजना ही है, एक तथ्य की चतुराई के साथ व्यंजना मात्र है। इसलिए यह सूक्ति है मुक्तक नहीं।

बिहारी की अधिकांश मुक्तक रचनाएँ प्रेम से पूर्ण हैं, पर इन्होंने कुछ बँधे हुए प्रसंगों को लेकर ही अपनी काव्य-कला प्रदर्शित की है। इन बँधे हुए प्रसंगों के भीतर इन्होंने जैसे सरस संकेतों की व्यंजना की है, वह इनकी प्रतिभा और कला की द्योतक है। इन्होंने रीतिकाल की परिपाटी का अधिक आश्रय न ले प्राचीन काव्य-परम्परा को ही ग्रहण किया है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि ये रीतिकाल की प्रवृत्तियों से सर्वथा अछूते ही रहे। नायिका-भेद और नारी-हाव-भावों का विश्लेषण रीतिकाल के कवियों का व्यसन ही हो गया था इसीलिए बिहारी को भी उसके अनुकूल चलना पड़ा है। मुक्तकों के अधिक प्रचार का एक कारण तत्कालीन राज-दरबारों की प्रवृत्ति भी थी। लोग अल्प-काल के लिए रस-मग्न तथा चमत्कृत होने में काव्य की पूर्णता मान लेते थे। यही कारण है कि उन दिनों प्रबन्ध-काव्यों की ओर कवियों का ध्यान न जा सका। पर मुक्तक को काव्य का चरम लक्ष्य नहीं कहा जा सकता। काव्य की पूर्णता तो प्रबन्ध-काव्य से ही संभव है। प्रबन्ध एक मनोरम वनस्थली है, तो मुक्तक एक सुवासित गुलदस्ता। जो कवि प्रबन्ध-रचना में सफल हो वही रससिद्ध समझा जा सकता है। यह दूसरी बात है कि सूर, तुलसी जैसे कोई-कोई महान् प्रतिभाशाली कवि मुक्तकों में भी रससिद्धता प्राप्त कर लें।

इन सब बातों को दृष्टि में रखकर बिहारी के मुक्तकों पर विचार किया जाय, तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनकी काव्य दृष्टि बड़ी पैनी थी और उसकी पहुँच बहुत दूर तक थी। अर्थ-विधान की दृष्टि से नायिका भेद के ही वृत्त में सीमित रीतिकालीन कवियों की अपेक्षा इनका काव्य अधिक सौन्दर्य-सम्पन्न और मूल्यवान् है।

अलंकार-योजना और अप्रस्तुत विधान

काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि के लिए चमत्कार आवश्यक है पर उसे काव्य का मुख्य धर्म नहीं कहा जा सकता। श्रेष्ठ और प्रतिभा-सम्पन्न कवि की रचना बिना अलंकार

योजना के भी आकर्षक और प्रभावोत्पादक हो सकती है। अलंकार शरीर के आभूषणों की तरह काव्य का बाह्य सौंदर्य बढ़ाने में ही सहायक हो सकते हैं, वे काव्य में भाव या रस उत्पन्न नहीं कर सकते पर फिर भी अलंकारों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। कवि अलंकार-योजना के द्वारा ही काव्य में चमत्कार लाने का प्रयत्न करता है और इसलिए उन्हें काव्य-सौन्दर्य के साथ ही काव्य-चमत्कार उत्पन्न करने के लिए भी आवश्यक ही मानना चाहिए। अलंकार भावों को स्पष्ट करने में सहायक होते हैं। अलंकार-योजना का काव्य के कलापक्ष में प्रमुख स्थान है और कलापक्ष काव्य के लिए अनिवार्य नहीं, तो आवश्यक अवश्य है।

अलंकार के दो मुख्य भेद हैं—शब्दालंकार और अर्थालंकार। शब्दालंकार की अपेक्षा अर्थालंकार काव्य के लिए अधिक सहायक हैं। सम्भवतः इसीलिए महर्षि वेदव्यास ने अग्निपुराण में "अर्थालंकाररहिता विधवेव सरस्वती" कहा है। पर यह भी आवश्यक है कि काव्य में अलंकार इतने न भर दिए जायें कि उनके भार से रस भाव ही दब जाय। अब हम इस दृष्टि से महाकवि बिहारीलाल की अलंकार-योजना पर विचार करें। उनका यह दोहा देखिए—

"तो पर वारौं उरबसी, सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी, ह्वै उरबसी समान॥"

इसमें 'उरबसी' में कवि ने यमक अलंकार की योजना की है पर दोहे के चारों चरणों में 'उरबसी' शब्द के प्रयोग से अलंकार-शास्त्र की दृष्टि से यह अलंकार-योजना भले ही पूरी हो गई है। दूसरे अलंकार से काव्य का सौंदर्य तो कुछ थोड़ा बढ़ गया है पर मूल राधिका का सौन्दर्य-वर्णन फीका पड़ गया है। एक उदाहरण और देखिए—

"पर जाति सर मैन के, ऐन सुमैं न।
हरिनी के नैनानु तैं, हरि नीके ए नैन॥"

यहाँ भी ऐसा लगता है कि भावों के सौन्दर्य और प्रभाव के स्पष्टीकरण की ओर कवि का ध्यान उतना नहीं है जितना कि अलंकार-प्रयोग की ओर। अब बिहारी के शब्द-श्लेष पर दृष्टिपात कीजिए—

"चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि, ए वृषभानुजा, वे हलधर के बीर॥"

यहाँ "वृषभानुजा" और "हलधर" शब्द में श्लेष है। इस श्लेष-योजना से यह व्यंग्य-हास्य का सुन्दर उदाहरण बन गया है। अब बिहारी की अनुप्रास योजना देखिए—

"रस सिंगार मजनु किए, कजनु भजनु दैन।
अजनु रंजनु हूँ बिना खजनु गजनु नैन॥"

इसमें बिहारी ने वृत्त्यानुप्रास की सुन्दर छटा बिकीर्ण की है। बिहारी के कुछ दोहे ऐसे हैं जिनमें इन्होंने एक साथ तीन-तीन अलंकारों को स्थान दिया है, पर फिर भी दोहे का स्वरूप विकृत नहीं हो पाया। उदाहरणार्थ यह दोहा देखिए—

'रनित भृंग घंटावली झरित दान मधु नीरु।
मंद-मंद आवत चल्यौ कुंजरु-कुंज समीरु॥'

इसमें एक साथ ही अनुप्रास यमक और श्लेष आदि शब्दालंकार हैं। हाथी के मस्तानी चाल से आने और कुंज-समीर के बहने की झंकार की आवाज दोहे को पढ़ते ही सुनाई देने लगती है। अब कवि के तद्गुण चमत्कार की सुन्दर योजना देखिए—

"अधर धरत हरि कै परत ओठ डीठि पट जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी इन्द्रधनुष रंग होति॥"

चमत्कार-योजना से बाँसुरी का चित्र स्पष्ट रूप में उपस्थित हो गया है।

अब बिहारी के अप्रस्तुत-विधान पर दृष्टिपात कीजिए। किसी प्रस्तुत या उपमेय के लिए जो अप्रस्तुत या उपमान का विधान किया जाता है, उसमें कभी सादृश्य और कभी तात्पर्य मात्र रहता है पर उत्कृष्ट अप्रस्तुत विधान वही समझा जाता है, जिसमें सादृश्य और साधर्म्य दोनों हों। यह अप्रस्तुत विधान-योजना अर्थालंकारों में साम्यमूलक अलंकारों के द्वारा होती है। इनमें उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा मुख्य हैं। उपमा और रूपक में स्फुट और समन्वित रूपों में अप्रस्तुत योजना होती है, पर उत्प्रेक्षा में अधिकांश समन्वित रूप में ही यह योजना की जाती है।। इस योजना में वही कवि सफल होता है जिसकी कल्पना-शक्ति तीव्र हो। बिहारी इस योजना में पूर्ण सफल दिखाई देते हैं। उदाहरणार्थ बिहारी का निम्नांकित दोहा देखिए—

'सोहत ओढ़े पीतु पटु, स्याम सलोने गात।
मनौ नीलमनि सैल पर आतपु पर्यौ प्रभात॥"

यहाँ दूसरी पंक्ति में वस्तूत्प्रेक्षा की गई है जो पर्याप्त स्पष्ट और सुन्दर है। उपमा में सादृश्य की भावना अधिक स्पष्ट होती है इसीलिए बिहारी ने जहाँ बड़े सूक्ष्मों की कल्पना रमणीयता एवं प्रभाव की दृष्टि से की है, वहाँ तो उन्होंने उत्प्रेक्षा का सहारा लिया है, पर जहाँ रूप सादृश्य में साधर्म्य की प्रधानता रही है, वहाँ उपमा चमत्कार का ही उपयोग किया गया है। यथा—

"सहज सेत पँचतोरिया, पहिरत अति छबि होति।
जल चादर के दीप लौं, जगमगाति तन जोति॥"

यहाँ कवि का लक्ष्य सादृश्य की ओर अधिक है इसलिए इसमें उपमालंकार की योजना ही अधिक उपयुक्त जान पड़ती है। बिहारी ने नीति-विषयक अनेक दोहे अन्योक्ति के रूप में ही लिखे हैं। उदाहरणार्थ एक दोहा लीजिए—

"स्वारथ, सुकृतु न, श्रम वृथा, देखि बिहग विचारि।
बाज पराए पानि परि, तू पच्छीनु न मारि॥"

बिहारी की अलंकार-योजना की प्रवीणता दिखाने के लिए इतने ही उदाहरण पर्याप्त होंगे। वैसे तो इनके बहुत से ऐसे दोहे हैं, जिनमें कोई-न-कोई अलंकार न हो। इनके कुछ दोहों में अलंकार इतने स्पष्ट हैं कि उन्हें सहज चमत्कार का एक प्रयोग मात्र भी आसानी से लिया जा सकता है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि इन्होंने अलंकार-योजना के लिए आग्रह रखा था। इन्होंने चमत्कारों की काव्योपयोगिता पर बड़ी सतर्कता से दृष्टि रखी है और अलंकारों की योजना तथा अप्रस्तुतों का विधान प्रस्तुत काव्य के भाव और वस्तु के रूप गुण आदि की सम्पूर्ति करने के लिए ही किया है। इस दृष्टि से बिहारी का कवि-रूप स्तुत्य है। विशेष रूप से हमें जो प्रतिभा दिखाई देती है, वह मुक्तक लिखने वाले कदाचित् ही दो-एक कवियों में मिले।

प्रेम का संयोग-पक्ष

प्रेम के परिपाक से जिस रस की उत्पत्ति होती है उसे रसराज कहते हैं। इसकी सीमा विस्तृत है। इसके अन्तर्गत अनेक भावनाएँ आ जाती हैं। इसका सुखात्मक पक्ष 'संयोग शृंगार' और दुःखात्मक पक्ष 'विप्रलंभ शृंगार' कहा जाता है। इन दोनों भेदों के सिवाय शृंगाररस के 'लौकिक' और 'एकान्त' पक्ष भी माने जाते हैं। जब प्रिय और प्रेमी की वृत्तियाँ समस्त विश्व से सिमटकर परस्पर ही में बद्ध हो जाती हैं तब प्रेम की तीव्रता लोक से उदासीन हो जाती और उसका एकान्त स्वरूप सामने खड़ा हो जाता है। इस प्रकार प्रेम में एकान्तता भी दिख देती है और वह लौकिक जीवन के साथ चलनेवाला भी दृष्टिगोचर होता है। भारतीय मनोवृत्ति लौकिक जीवन के क्षेत्र में चलनेवाले प्रेम का अनुमोदक रही है। प्रेम का एकान्तिक स्वरूप अभ्यासगम्य और विराम नहीं हो सकता। विदेशियों के सम्पर्क में आने पर उनके यहाँ के एकान्तिक प्रेम की पद्धति का भी प्रभाव इस पर पड़ा। धीरे-धीरे प्रेम भी इस ऐकान्तिक रूप में ही सामने आया। यद्यपि भारतीय प्रबन्ध काव्यों में प्रेम के दोनों स्वरूपों को स्थान मिला है तथापि मुक्तक-रचना में लौकिक प्रेम का स्थान प्रायः नहीं रह जाता इसलिए

इसमें हमें ऐसे ही प्रेम का स्वरूप मिलता है जो प्रिय और प्रेमी के एकान्त जीवन को ही लेकर चलता है और जो धमाका, तूफान या बाढ़ के रूप में होता है प्रशान्त गम्भीर या स्थिर रूप में नहीं।

महाकवि सूर ने श्रीकृष्ण के जिस प्रेम को अपने काव्य का आधार बनाया उसमें उनके जीवन का संयोग भी था और अधिक नहीं तो वह वृन्दावन बरसाना मथुरा आदि तक तो सीमित था ही। पर उनके पश्चात् के कवियों ने केवल शास्त्र की विधि सम्पन्न करने के लिए कृष्ण और राधा का नाम भर लिया है। इसीलिए उनके प्रेम का रूप बहुत ही सीमित रहा और वह प्रिय और प्रेमी तक ही उलझा रहा। उनके काव्य का आधार एक ओर नायिका-भेद था और दूसरी ओर विलास-पूर्ण प्रेम। वे जीविता भी ही उचित न उनसे रहे और उनका प्रेम व्यापक न हो सका। फिर भी इस काल (रीतिकाल) में कुछ ऐसे कवि भी अवतरित हुए, जिनकी रचनाओं में प्रेम के विस्तृत रूप का भी दर्शन हो जाता है। महाकवि बिहारी ऐसे कवियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। हमें बिहारी के काव्य में विभाव-पक्ष का रूप-वर्णन और आलंबनगत चेष्टाओं एवं मुद्राओं का विस्तृत वर्णन मिलता है। बिहारी ने जो ऋतु-वर्णन किया है, वह भी संयोगपक्ष के ही अन्तर्गत है, केवल वर्षा-वर्णन की उक्तियाँ वियोग-पक्ष में रखी जा सकती हैं। उनका नख-शिख वर्णन भी संयोगपक्ष में ही आता है। बिहारी के काव्य में तो हमें परम्परागत सभी प्रकार के संयोगपक्ष का वर्णन मिल जाता है।

प्रिय की प्रत्येक वस्तु प्रेम का आलम्बन बन जाती है। निम्नांकित दोहे में प्रेम के द्वारा उड़ाई हुई पतंग भी प्रेमिका के प्रेम का आलंबन बन गई है—

'उड़ी गुड़ी लखि लाल की, अगना अगना मांह।
बौरी लौं दौरी फिरति, छुवति—छबीली छांह॥

जब कोई किसी भाव में निमग्न हो जाता है, किसी के ध्यान में तल्लीन हो जाता है, तब वह उसी रूप में घुल जाता है। कितने ही भक्तों के सम्बन्ध में इस प्रकार की बात देखी गई है। श्री रामकृष्ण परमहंस के सम्बन्ध में ऐसा बतलाया गया है कि वे काली को पहनाई जाने वाली माला ध्यान-मग्नता और तल्लीनता की स्थिति में स्वयं ही पहिनकर मग्न हो जाते थे। बिहारी ने निम्न दोहे में प्रेमिका की इसी स्थिति का वर्णन किया है—

"पिय के ध्यान गही गही, रही वही ह्वै नारि।
आपु आपु ही आरसी, लखि रीझति रिझवारि॥

प्रेमी सदैव प्रिय के सान्निध्य का अभिलाषी रहता है। उसे कष्टों की कोई परवाह नहीं होती। उसके पैर में काँटा गड़ गया है। वह सोच रहा है कि प्रिय आकर उसके पैर से काँटा निकाल रहा है—

"इहिं काँटें मो पाइ गड़ि, लीनी परसि जिवाइ।
प्रीति जतावत भीति सौं, मीत जो काढ्यो आइ॥"

काँटा गड़ने में वह प्रिय-मिलन की कल्पना कर रहा है और अपने प्राण बचाने के लिए काँटे का ही अहसान मानता है।

बिहारी ने कृष्ण के बाल-जीवन की कुछ लीलाओं पर भी बड़े सुन्दर दोहे लिखे हैं, जो संयोग शृंगार के बड़े सुन्दर उदाहरण हैं। राधा कृष्ण की मुरली छिपा देती है। उनके माँगने पर वह बार-बार देने को कहती है, पर देती नहीं। इसी मिस वह अपने प्रिय की बातों की मधुरिमा का पान करती है—

"बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै, भौंहन हँसै, दैन कहै, नटि जाइ॥"

प्रेम के अन्तर्गत केवल चेष्टाएँ ही नहीं आतीं, उक्तियाँ भी आती हैं। भावों की स्पष्ट व्यंजना कथा में हो जाती है। बिहारी का यह दोहा देखिए और कवि की उक्ति का कमाल देखिए—

"लाल, कहा लाली भई, लोइन कोइन माँह?
लाल, तिहारे दृगनु की, परी दृगनु में छाँह॥"

कितना सुन्दर उत्तर है और कितना बढ़िया कारण है आँखों में लाली होने का।

अब बिहारी के रूप-वर्णन पर दृष्टिपात कीजिए। रूप-वर्णन के अन्तर्गत नखशिख और सुकुमारता आदि की भी व्यंजना होती है। नायिका के नैनों की तीक्ष्णता का प्रभाव देखिए कितना व्यापक है—

"दृगनु लगत बेधत हियहिं, बिकल करत अँग आन।
ए तेरे सबतें बिषम, ईछन तीछन बान॥"

रूप-वर्णन में कवि ने विविध अंग प्रत्यंगों का वर्णन किया है और उन अंगों के आभूषणों का भी। केवल नखों पर ही उन्होंने अनेक दोहे लिखे हैं।

प्रेम के संयोग-पक्ष के इस संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि इन्होंने इस पक्ष की सभी विशेषताएँ अपने छोटे-छोटे दोहों-द्वारा उतार कर रख दी हैं। नखशिख आदि के वर्णन में परम्परा का निर्वाह करते हुए भी वे एक स्वतन्त्र पथ को लेकर चले हैं और कौशल से इन्होंने उस पथ की पुष्टि की है। बिहारी ने ग्यारह सौ दोहे लिखकर बतला दिया कि कवि और काव्य को उनके गुणों के कारण गौरव प्राप्त होता है, बृहत् परिमाण से नहीं। बिहारी में वह प्रतिभा पाई जाती है, जो प्रेम के वास्तविक स्वरूप की व्यंजना करने में समर्थ है। इस दृष्टि से बिहारी मुक्तक-युग के एक प्रकाशमान रत्न हैं। मुक्तक रचना में वे अपने स्थान के अनपेक्ष कवि हैं।

वाग्वैदग्ध्य और उक्ति-वैचित्र्य—

वाग्वैदग्ध्य से तात्पर्य वाणी की अभिव्यंजना-शक्ति से है। वाग्वैदग्ध्य निपुण वही कवि हो सकता है, जिसका भाषा पर पूर्ण अधिकार हो जो शब्दों की शक्ति से परिचित हो जिसका निरीक्षण अति सूक्ष्म हो जो भावों को शब्दों के सुन्दर चौखट में कलापूर्ण ढंग से बिठाने की निपुणता रखता हो और जिसके हृदय में अनुभूति का विशाल कोष हो। ऐसे ही चतुर चितेरे अपनी तूलिका से ऐसे चित्र चित्रित कर सकते हैं, जिनपर दृष्टिपात कर हृदय लोट-पोट हो जाये और मन नाच उठे। प्रभावशाली वाग्वैदग्ध्य के लिए कवि का हृदयपक्ष और कलापक्ष का समान विकसित होना आवश्यक है। केशव में कलापक्ष की प्रधानता थी पर हृदय पक्ष का प्रायः अभाव था जिससे वे कठिन काव्य के प्रेत समझे गये। जायसी में हृदय-पक्ष का पूर्ण विकास था पर कला-पक्ष की न्यूनता थी जिससे उनका काव्य पूर्ण विकसित न हो सका। कहने की आवश्यकता नहीं कि बिहारी में दोनों पक्षों का समान विकास हुआ था जिससे इनका काव्य अधिक विकसित पुष्ट और प्रभावकारी हुआ। इनके कलापक्ष में वाग्वैदग्ध्य खूब चमका है यही कारण है, जो उनके एक-एक दोहे को पढ़कर पाठक वाह ! वाह !! कह उठता है और उसमें रस-विभोर हो जाता है। इन्होंने जिस मस्तानी शैली में मुक्तक काव्य की रचना की है, वह अन्य कवियों को दुष्प्राप्य है। इनका यही वाग्वैदग्ध्य इनकी कविता के प्रसार में सहायक हुआ है और प्रत्येक युग में इनकी सतसई की नवीन टीका लिखने की अभिरुचि देखी गई है। संजीवनी भाष्य (पं० पर्मसिंह,) बिहारी-रत्नाकर और बोधिनी इस युग की प्रसिद्ध टीकाएँ हैं।

बिहारी के प्रत्येक दोहे का स्वतन्त्र लक्ष्य है कहीं भावव्यंजना कहीं रूप-वर्णन कहीं अलंकार-छटा कहीं प्रेम की उद्दामता कहीं तथ्य-कथन और कहीं व्यापारविशेष का चित्रण आदि। इनके दोहे ऐसे कसे हुए हैं कि कहीं भी शिथिलता ढूँढे नहीं मिलती। इनका वाग्वैदग्ध्य अर्थगौरव और रचना की कसावट को लेकर अग्रसर हुआ है। उदाहरणार्थ यह दोहा देखिए—

"मेरी भवबाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाईं परें,स्याम हरित दुति होइ॥

यह दोहा इतना अर्थपूर्ण है कि विद्वानों ने इसके अनेक अर्थ किए हैं और तारीफ यह कि सभी अच्छे जान पड़ते हैं। कवि का रंग-विज्ञान का ज्ञान भी इसमें स्पष्ट है। एक उदाहरण और दीजिए। इसमें कवि ने विरोधाभास कितने सुन्दर ढंग से रख दिया है। इसका एक-एक शब्द अर्थपूर्ण और वाग्वैदग्ध्ययुक्त है। शब्दों का चुनाव बड़ा ही सुन्दर है और भाव कितने वास्तविक तथा अनुभूतिपूर्ण हैं—।

"ज्यों ज्यों प्यासोई रहत, त्यों त्यों पियत अघाइ।
सगुन सलोने रूप की, जु न चख तृषा बुझाइ॥"

बिहारी के बहुत ही कम ऐसे दोहे होंगे जिनमें व्यंजकता और संक्षिप्त न हो। इसीसे बिहारी की काव्यचातुरी और वचन भंगिमा की सामर्थ्य का अनुमान किया जा सकता है।

अब बिहारी के उक्ति-वैचित्र्य पर भी दृष्टिपात कीजिए। उक्तिवैचित्र्य से हमारा तात्पर्य किसी बात को स्पष्ट करने की युक्ति या किसी मुद्रा, रूप आदि को अपनी निरीक्षण शक्ति से निरूपित करने की सामर्थ्य से है। शैशव और यौवन दोनों के पृथक्-पृथक् उदाहरण में कुछ गिने-चुने सीमित शब्दों में दोनों की अभिव्यक्ति कर देना बिहारी के समान महान् प्रतिभाशाली कवि का ही काम है। इसको यह खूबी इस दोहे में देखिए

"छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जोबनु अंग।
दीपति देह दुहून मिलि, दिपति ताफता रंग॥"

मन का रूप में मिल जाना, कितनी सुन्दर उक्ति के साथ इस दोहे में बिहारी ने बतलाया है—

"कीजै है कोटिक जतन, अब कहि काढ़ै कौनु।
भो मन मोहन रूपु मिलि, पानी में कौ लौनु॥"

बिहारी के उक्ति-वैचित्र्य के ऐसे न जाने कितने उदाहरण दिए जा सकते हैं पर स्थानाभाव के कारण उनकी विशेषता और मार्मिकता समझने के लिए इतने ही उदाहरण पर्याप्त हैं। यही इनका बिहारीत्व है जो इनको अन्य कवियों से पृथक् करता है और यही वह विशेषता है जो पाठकों को सदैव आकर्षित किए रहती है।

बिहारी की भाषा

ब्रजभाषा बहुत प्राचीन काल से काव्य की भाषा रही है और इसका क्षेत्र भी विस्तृत रहा है। राजस्थान तक में इसी भाषा में काव्य रचना की जाती थी। यही कारण है जो इस भाषा का नाम 'पिंगल' भी है और प्रादेशिक काव्य भाषा 'डिंगल' कही जाती है। बुन्देलखण्ड मध्यप्रदेश और मध्य प्रान्त में भी यही भाषा काव्य के लिए प्रयुक्त होती रही है। पंजाब के पूर्वी भाग तक में यही "काव्य भाषा" के रूप में बरती को जाती रही। ब्रजभाषा के इसी विस्तार के कारण उसमें कुछ अन्य भाषाओं के भी शब्द आ गये हैं और अब वे उसके अपने ही हो गये हैं। विशुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग तो महाकवि सूरदास भी न कर सके। ब्रजभाषा का शुद्ध रूप

सबसे अधिक ब्रजभाषा में ही मिलता है। बिहारी की भाषा भी शुद्ध ब्रज नहीं है, उसमें अनेक पूर्वी प्रयोग मिलते हैं। कहीं-कहीं अवधी भाषा के शब्द भी बिहारी की रचना में देखे जाते हैं, 'है' के लिए "आहि" अवधी भाषा का ही प्रयोग है। खड़ी-बोली के कृदन्त और क्रियापद भी ठीक अवधी की तरह ही प्रयुक्त हुए हैं। बुन्देलखंडी भाषा के शब्द तो बिहारी की रचना में बहुत अधिक हैं, जिसका कारण संभवतः उनका बाल्यकाल बुन्देलखंड में ही बीतना है। उनके मवासी करबी पाइबो स्यौं आदि शब्द बुन्देलखंडी ही हैं। उनकी रचना में कुछ बुन्देलखण्ड की लोकभाषा के भी शब्द मिलते हैं। लगौं गैर,कोर थाका मीचे सीबै आदि ऐसे ही शब्द हैं।

इस प्रकार बिहारी के काव्य में हमें ब्रजभाषा के साथ कुछ अन्य भाषाओं के शब्दों का मिश्रण भले ही मिले पर इसमें संदेह नहीं कि इनके समान कसी हुई और पुष्ट भाषा कदाचित् ही किसी अन्य कवि की मिले। दूसरे इन्होंने कहीं-कहीं शब्दों की कुछ तोड़-मरोड़ अवश्य की है, पर ऐसा करते भी उन्होंने व्याकरण के नियमों का ध्यान बराबर रखा है।

बिहारी ने अपनी रचना में सामासिक पद्धति ग्रहण की है, जिसमें न्यूनपदत्व दोष आने का सदा भय रहता है, पर बिहारी इस दोष से सर्वथा मुक्त हैं। इन्होंने छोटे-छोटे समासों का ही प्रयोग किया है। भाषा में कसाव लाने के लिए तथा उसकी व्यंजकता बढ़ाकर छोटे साँचे में अधिक भाव भरने के लिए सामासिक पदावली का सहारा लिया है। कवि की यह सामासिक शैली सरल और सीधी है। इनकी पदावली भाषा की प्रकृति के अनुकूल ही अग्रसर होती है। बिहारी ने जिस प्रकार कसी हुई भाषा लिखी है, उसी प्रकार उसमें वाग्धारा की स्फीति भी मिलती है जो इनके भाषाधिकार की ओर संकेत करती है। इन्होंने प्रत्येक शब्द का प्रयोग उपयुक्त स्थान पर ही और किसी-न-किसी रस विशेष से ही किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्य-रचना व्यवस्थित और शब्दों के व्यवहृत रूप एक निश्चित प्रणाली पर हैं।

वीर काव्य की परम्परा

भारतीय साहित्य में वीरकाव्य की परम्परा वेदों से प्रारम्भ होती है। ऋग्वेद के एक सूक्त में सृञ्जय वंश के राजा सुदास की विजय तथा एक दूसरे सूक्त में त्रिशोक के द्वारा राजा मंदर को पराजित करने का उल्लेख है। ऋग्वेद के कुछ अन्य स्थलों में भी हमें युद्ध-वर्णन मिलता है। इसके पश्चात् शतपथ में एक अश्वमेध यज्ञ का वर्णन आता है। इसके अनन्तर हमें महाभारत के अनेक स्थलों में वीर-काव्य मिलता है जिसमें सूत और मागधों द्वारा राजाओं की प्रशंसा के गाथा का गान किया गया है।

वैदिक संस्कृत में यत्र-तत्र वीरकाव्य की रचना तो मिल जाती है पर उसमें ऐसे स्वतन्त्र काव्यग्रन्थों का अभाव है जिनमें वीरकाव्य को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो। इस दृष्टि से लौकिक संस्कृत में रचित वाल्मीकि रामायण प्रथम महाकाव्य है। युद्ध-वर्णन के प्रकरण में राम और रावण दल के प्रमुख योद्धाओं का रणकौशल वर्णित है। भारतीय साहित्य की स्पष्ट और सुव्यवस्थित वीरकाव्य की परम्परा इसी ग्रन्थ से प्रारम्भ होती है। वाल्मीकि के पश्चात् महाकवि कालिदास-द्वारा सृजित रघुवंश में वीरकाव्य उपलब्ध है किन्तु कालिदास के किसी भी ग्रन्थ में हम वीरकाव्य की परम्परा का उल्लेखनीय विकास नहीं मिलता। वाल्मीकि के पश्चात् भारवि के साहित्य में ही हम इस काव्य का स्पष्ट विकास दिखाई देता है। उन्होंने "किरातार्जुनीय' में अर्जुन के बाण-संचालन का प्रभाव दिखाते हुए कहा है—

> दिशः समूहन्निव विक्षिपन्निव,
> प्रभां रवेराकुलयन्निवानिलम्।
> मुनिश्चचाल क्षयकालदारुण,
> क्षितिं सशैलां चलयन्निवेषुभिः॥

गाण्डीव धनुर्धारी अर्जुन के बाणों से दसों दिशाएँ विक्षिप्त हो जाती हैं। सूर्य प्रभाहीन हो जाता है, वायु व्याकुल हो जाता है और पृथ्वी पर्वतों सहित और कम्पित है। ऐसा जान पड़ता है कि क्षणभर में प्रलय हो जायगा।

भवभूति के उत्तर-रामचरित के चतुर्थ अंक में लव की वीरता का वर्णन करते हुए कहा गया है—

> ज्या जिह्वया वलयितोत्कटकोटिदंष्ट्र
> मुद्भूरिघोरघनघर्घरघोषमेतत् ।

प्रासप्रसक्त—हसदभ्रकक्रम्य प्र-
जृम्भाविडम्बि विकटोदरमस्तु चापम् ॥

इस श्लोक में राम अपने धनुष को हाथ में लेकर कहता है कि यह धनुष प्रत्यंचा-रूपी जिह्वा से लिपटा हुआ ऊँचे कोटि रूप दाँत वाला भयानक घर्र-घर घोष करनेवाला ग्रसने से पूर्व प्रासक्त हसते हुए यम के मुखर्वाण की जँभाई का अनुकरण करने वाला विकट उदर वाला हो।

संस्कृत के कुछ अन्य प्रसिद्ध नाटकों में भी वीरकाव्य को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उदाहरणार्थ भट्टनारायण द्वारा रचित "वेणीसंहार" नाटक म पांडवों की वीरता का सजीव वर्णन देखा जा सकता है। इस नाटक के प्रथम अंक में भीम सहदेव से कहते हैं—

मध्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्
दुश्शासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।
सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥

"मैं युद्ध भूमि में सौ कौरवों का न संहार करूँगा और न दुःशासन के हृदय का रक्त ही पान करूँगा। अपनी गदा से सुयोधन की दोनों जंघाओं को भी चूर्ण न करूँगा। युधिष्ठिर चाहें तो कौरवों से सन्धि कर लें। भीम के इस कथन में वक्रोक्ति है। वे युधिष्ठिर द्वारा कौरवों से सन्धि करने के पक्ष में नहीं हैं। 'वेणीसंहार' नाटक में कुछ अन्य स्थानों में वीर-काव्य का सुन्दर विकास दिखाई देता है।

संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत और अपभ्रंश भाषा के भी कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनमें हम वैदिक काल से प्रारंभ हुई वीरकाव्य की परम्परा का क्रमबद्ध विकास देख पाते हैं किन्तु हिन्दी में इस परम्परा का प्रवेश संस्कृत से ही हुआ है। अतः हम प्राकृत और अपभ्रंश का उल्लेख न कर अपने मूल विषय पर ही विचार करेंगे।

यद्यपि हिन्दी-साहित्य का आरम्भ सातवीं शताब्दी के मध्यकाल से हो जाता है तथापि प्रारम्भ के लगभग चार सौ वर्षों में जिस साहित्य का निर्माण हुआ वह बौद्ध साहित्य और जैन-साहित्य ही था। इस साहित्य के निर्माता भी बौद्ध और जैनकवि थे। यह साहित्य अपभ्रंश भाषा का साहित्य कहा जाता है। इन कवियों ने प्रचार की दृष्टि से कुछ ऐसे सरल साहित्य का भी निर्माण किया था जिसे हम उस काल की जनभाषा का साहित्य कह सकते हैं। इसी साहित्य में हमें हिन्दी का प्रारंभिक रूप मिलता है। इस काल का सर्वप्रथम वीरकाव्य में वह साहित्य मिलता है, जो वीरकाव्य गाथा-साहित्य के नाम से प्रसिद्ध है। इन गाथाओं में पृथ्वीराज रासो, खुमान रासो, बीसलदेव रासो, हम्मीर

रासो, आल्हखंड आदि का स्थान है। इन ग्रन्थों की ऐतिहासिक प्रामाणिकता, भाषा आदि के सम्बन्ध में भले ही विद्वानों में मतभेद हो, किन्तु हिन्दी के काव्य की प्रतिष्ठा की दृष्टि से इन ग्रन्थों का महत्त्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

इन ग्रन्थों में 'खुमान रासो' वीरकाव्य की प्रथम रचना है। इसकी रचना ९ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में दलपति विजय नाम एक चारण कवि ने की थी। इस रासो से मालूम होता है कि चित्तौड़ के राजा खुमान ने बगदाद के खलीफा अलमामूं की सेना से युद्ध किया था। यह वह काल है जब उत्तर भारत और राजस्थान में स्थित छोटे-छोटे राजा परस्पर युद्ध करने में ही गौरव अनुभव करते और अपनी वैमनस्यपूर्ण असुचित मनोवृत्ति से विदेशियों को भारत पर आक्रमण करने का अवसर दे रहे थे।

"बीसलदेव रासो नरपति नाल्ह-द्वारा रचित एक गीतिकाव्य है। पं० रामचन्द्र शुक्ल इस ग्रन्थ का रचनाकाल सम्वत् १२१२ वि० मानते हैं। इस ग्रन्थ की कथा के अनुसार चित्तौड़ के राजा बीसलदेव का विवाह मालवा के परमार राजा भोज की पुत्री राजमती से हुआ था। वीर काव्य की दृष्टि से इस ग्रन्थ का विशेष महत्त्व नहीं है।

पृथ्वीराज रासो निश्चय ही वीरकाव्य का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में महाकवि चन्द बरदाई ने महाराज पृथ्वीराज के जीवन-गौरव की गाथा ६९ सर्गों (समयों) में लिखी है। चन्द और पृथ्वीराज के जन्म तथा मृत्यु के दिन एक ही बतलाए जाते हैं। चन्द बरदाई पृथ्वीराज के राजकवि, सामन्त और मित्र थे। 'पृथ्वीराज रासो' लगभग ढाई हजार पृष्ठों का बृहद् ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ आर्या, छप्पय, दोहा, तोटक, तोमर आदि छन्दों में लिखा गया है। इस ग्रन्थ का अधिकांश भाग पृथ्वीराज की वीरता के गान से भरा हुआ है। सम्भवतः यही हिन्दी-काव्य-साहित्य का प्रथम ग्रन्थ है जिसमें हमें वीर काव्य का विविध रूपों में विकास मिलता है। उदाहरणार्थ यहाँ इस ग्रन्थ का एक छप्पय उद्धृत करना पर्याप्त होगा—

न को हार नहि जित्ति रहेहु न रहहु न सूरवर,
धर उप्पर भर परत करत अति जुद्ध महा नर।
कहौं कमध कहिं मत्थ कहौं कर चरन अन्त गिर,
कहौं कंध वहि तेग कहौं सिर जुट्टि फुट्टि उर।
कहौं दंत मत हय खुर खुपरि कुंभ भसुंड रुंड सब,
हिन्दवान रान भय भान मुख गहिय तेग चहुआन जब॥

"जयचन्द प्रकाश इसी काल की एक ग्रन्थ कारहति है। यह कवि भट्ट केदार की रचना है। इसका रचना-काल संवत् १२२५ वि० के लगभग माना जाता है। इसमें कन्नौज-नरेश जयचन्द राठौर का यशोगान किया गया है। कहते हैं कि भट्ट केदार

शहाबुद्दीन गोरी का राजकवि था। "जय मयंक जस-चंद्रिका' भी इसी काल का एक ग्रन्थ है। इसकी रचना कवि मधुकर ने संवत् १२४ वि० के लगभग की। राजा इसमें जयचन्द की वीरता का गान किया गया है।

आल्हखंड' वीर काव्य का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसकी रचना सं० १२३ वि० के लगभग कवि जगनिक ने की थी। इसमें महोबा के अधिपति परमर्दिदेव तथा वहाँ के वीर बाँकुरे आल्हा और ऊदल की वीरता एवं युद्ध का वर्णन किया गया है। ऐसा जान पड़ता है कि इस ग्रन्थ की रचना जनसामान्य में वीर भाव जागृत करने के लिए ही की गई थी इसीलिए इसमें जनभाषा का रूप स्वीकार किया गया है। हो सकता है कि आज जिस भाषा में यह ग्रन्थ प्राप्त है, उससे मूल ग्रन्थ की भाषा कुछ भिन्न रही हो। इस ग्रन्थ को लिपिबद्ध प्रस्तुत करने का श्रेय सर चार्ल्स इलियट को है। उन्होंने सं० १९२२ वि० में कुछ चारणों के सहयोग से इस ग्रन्थ को लिपिबद्ध किया था। यह इतना लोकप्रिय ग्रन्थ है कि आज भी वर्षाऋतु में ग्रामों के लोग इसे झूम झूम कर गाते देखे जाते हैं।

"हम्मीर रासो' भी वीरकाव्य की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के रचयिता भी शार्ङ्गधर कहे जाते हैं। इन्होंने महाराज हम्मीर देव के बल विक्रम और शौर्य की प्रशंसा में इस ग्रन्थ की रचना वि० की १४ वीं शताब्दी में की थी। ग्रन्थ के एक स्थान में इन्होंने हम्मीर देव के शौर्य का बखान करते हुए लिखा है—

पअभर दरमरु धरणि तरणि-रह धुल्लिअ झंपिअ।
कमठ पिट्ठ टरपरिअ, मेरु मंदर सिर कंपिअ॥
कोहे चलिअ हम्मीर वीर गअजुह संजुत्ते।
किअउ कट्ठ हा कंद मुच्छि मेच्छिअ के पुत्ते॥

शार्ङ्गधर महाराज हम्मीर देव के दरबार के एक कवि और आयुर्वेद के विद्वान् थे। हम्मीरदेव की मृत्यु अलाउद्दीन खिलजी से युद्ध करते हुए संवत् १३५७ वि० में हुई थी।

संवत् १३५५ वि० के लगभग रचित "विजयपाल रासो' भी वीरकाव्य का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह चारण कवि नल्लसिंह भट्ट की रचना है। इसमें करौली के *राजा विजयपाल-द्वारा लड़े गये युद्धों का काव्यमय वर्णन है।* आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विद्याधर नामक एक कवि-द्वारा रचित एक वीरकाव्य ग्रन्थ का और भी उल्लेख किया है। यह ग्रन्थ कन्नौज के राठौर राजा जयचन्द के प्रताप और शौर्य-वर्णन पर आधारित बताया जाता है। यह ग्रन्थ अप्राप्य है। प्राकृत पिंगल-सूत्र' ग्रन्थ में इस वीरकाव्य ग्रन्थ की कुछ पंक्तियाँ मिलती हैं जो निम्न प्रकार हैं—

भय भज्जिय बंगा भग्गु कलिंगा, तेलंगा, रणमुक्कि चले ।
मरहट्ठा, धिट्ठा लग्गिय कट्ठा सोरट्ठा भय पाय पले ॥
चम्पारण कंपा, पव्वय झम्पा, ओत्था ओत्थी जीव हरे ।
कासीसर राणा किअउ पयाणा, विज्जाहर भण मंतिवरे ॥

ये सभी रचनाएँ प्रायः हिन्दी-साहित्य के आदि काल की हैं। इसके पश्चात् भारत की राजनीतिक स्थिति के कारण समस्त देश अस्तव्यस्त हो गया। राजपूत राजा प्रायः अस्तित्व-विहीन हो गये। उत्तर भारत से दक्षिण भारत तक मुस्लिम राज्य का आतंक फैल गया। इस समय न भारतीय शासकों में कोई बल रह गया था और न भारतीय जनता ही विदेशी आतंक से अपनी रक्षा करने में समर्थ थी। इस स्थिति में ईश्वर ही इस देश का सहायक था। जनता अपने आपको असमर्थ पा ईश्वर की आराधना की ओर प्रवृत्त हुई। उसका शासकों से कोई निकट सम्पर्क न रहा। देश की इस दशा का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। वीर भावाकाव्य के साथ प्रवाहित होने वाली वीरकाव्य धारा का प्रवाह मंद पड़ गया और इसके स्थान में भक्तिकाव्य-धारा का प्रवाह दृष्टिगोचर होने लगा। लगभग १०० वर्षों तक काव्य की यही धारा हिन्दी में प्रवाहित होती रही जिससे वीरकाव्य की परम्परा का कोई उल्लेखनीय विकास इस काल में न हो सका। राम और कृष्ण इस काल की जनता की आराधना के प्रमुख आधार बन गये। सन्त कवियों का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने देश की त्रस्त जनता को निर्गुण ब्रह्म की उपासना का संदेश दिया किन्तु यह उपासना जनमानस के अनुकूल सिद्ध न हो सकी। परिणामस्वरूप हिन्दी साहित्य में सगुणधारा का प्रवेश हुआ। इस धारा के प्रमुख प्रवर्तक सूरदास और तुलसीदास ने क्रमशः कृष्ण और राम के चरित्रों का गान कर अपने काल की जनता को उनके लोकरंजनकारी और लोकमंगलकारी स्वरूप से परिचित कराया। इन कवियों ने अपने काव्य-द्वारा अपने युग की जनता को इन महापुरुषों के जीवन-चित्रण-द्वारा जो संदेश दिया और उनकी तत्कालीन सामाजिक धार्मिक तथा राजनीतिक स्थिति में जो पथ प्रदर्शन किया उससे उनके निराश और शुष्क-हृदय में आशा और उल्लास का स्रोत प्रवाहित हुआ। राम और कृष्ण के चरित्र-चित्रण में भी इन दोनों वीर महापुरुषों के बल-विक्रम और शौर्य का प्रकाशन हुआ है। इस रूप में हिन्दी की वीर काव्य-परम्परा का विकास भक्ति-काल में भी मंद गति से होता रहा। इस काल में कृष्ण काव्य की अपेक्षा राम-काव्य में हमें वीर-काव्य का अधिक विकास दिखाई देता है। गोस्वामी तुलसीदास ने राम-रावण-युद्ध-प्रसंग में राम लक्ष्मण हनुमान् आदि के शौर्य का भव्य चित्रण किया है। उदाहरणार्थ राम-रावण युद्ध की निम्नांकित पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

भय क्रुध जुद्ध विरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे ।
कोदंड धुनि अति चंड सुनि मनुजाद भय मारुत ग्रसे ॥

जाको बरकत है जारो अखिल तखत की।
किया ढौरि घाव उमरावन अमीरन प,
गई कटि नाक सिगरेई दिल्ली दल की।
सूरज सराई कियो दाह पातसाही उर,
स्याही जाय सब पातसाही मुख झलकी।

"छत्रसाल दशक" में केवल दस कवित्त हैं, किन्तु सभी वीरकाव्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इनमें भूषण ने महाराज छत्रसाल के शौर्य, विक्रम और तेज का सजीव चित्रण किया है। एक कवित्त देखिए—

रैया राव चंपति का चढ़ा छत्रसाल सिंह,
भूषण भनत गजराज जोम जमकें।
भादौं की घटा सी उठि गरद गगन घिरे,
सेलें समसेरें फिरें दामिनि सी दमकें।
खान उमरावन के आन राजा रावन के,
सुनि सुनि उर लागें घन कैसी धमकें।
बेहर बगारन की, अरि के अगारन की
लांघती पगारन नगारन की धमकें।

भूषण महाराज शिवाजी और महाराज छत्रसाल के समकालीन थे। शिवाजी का जन्म १ अप्रैल सन् १६२७ को और छत्रसाल ४ अप्रैल सन् १६८ ई० को हुआ था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार भूषण का जन्म-संवत् १६७० (सन् १६१३ ई०) है। श्री शिवसिंह सेंगर ने भूषण का जन्म संवत् १७३८ वि० माना है। यदि सेंगर जी का मत मान लिया जाय तो भूषण शिवाजी के समकालीन नहीं ठहरते जबकि उनका शिवाजी के दरबार में रहना इतिहास-सिद्ध है।

इसी काल के वीर काव्य के द्वितीय प्रसिद्ध कवि गोरेलाल हैं, जो "लाल" के नाम से हिन्दी-साहित्य में प्रसिद्ध हैं। इनका जन्म-संवत् १७१५ वि० माना जाता है। ये मुद्गल गोत्रीय ब्राह्मण थे। इन्हें महाराज छत्रसाल का आश्रय प्राप्त था। छत्र-प्रकाश छत्रकीर्ति छत्र हजारा राजविनोद विष्णु विलास आदि इनकी काव्य-कृतियाँ हैं। इनमें से छत्रप्रकाश" इनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृति है। इस ग्रन्थ में महाराज छत्रसाल की वंशावली वंश का इतिहास एवं उनके राज्य-विस्तार, पराक्रम आदि का क्रमबद्ध वर्णन है।

'छत्रप्रकाश' छब्बीस अध्यायों का बृहत् काव्य-ग्रन्थ है। इसकी रचना दोहा चौपाइयों में की गई है। प्रथम दो अध्यायों में बुन्देला राज्य की वंशावली इतिहास

आदि तृतीय अध्याय में छत्रसाल के पूर्व वंश का कथा एवं इसके पश्चात् के अध्यायों में छत्रसाल के जीवन का विकास वर्णित है। छत्रसाल-द्वारा लड़े गये युद्धों में केशवराय एवं दूलह, सैद बहादुर, सदरुद्दीन खाँ, हमीद खाँ, प्रमुख, समद, बहलोल खाँ आदि के साथ किए गए युद्ध प्रमुख हैं। 'कवि लाल' ने सैद बहादुर के साथ लड़े जानेवाले युद्ध का वर्णन करते हुए लिखा है—

गोपाचल में खलभल माच्यौ। सैद्रमनोधर ज्यों रिस राच्यौ ॥
ओरी फौज निसान बजाय। धूमघाट पर उमड़त आये ॥
त्यों छत्रसाल वीर रण बाढ़े। मनमुख भय न जूझ को ठाढ़े ॥
माची मार रुद्र अनुराग्यो। बाजन मार मार मौ लाग्यो ॥
सेल्ह सकेलनि ठेल दल, पिले बुन्देला वार।
महा भयानक भाँति लस्यं पगनि डगमग मार ॥

'कवि लाल' के पश्चात् हमें हिन्दी में कवि श्रीधर अथवा मुरलीधर का वीर काव्य मिलता है। इनका काव्य-काल सं० १७६७ वि० के लगभग माना जाता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल इनका काव्य-काल सं० १७६७ के लगभग मानते हैं। 'जंगनामा' और 'कवि विनोद पिंगल' इनकी रचनाएँ हैं। इनमें प्रथम कृति ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें दिल्ली के जहाँदारशाह और बंगाल के बादशाह फर्रुखसियर के बीच होनेवाले तीन युद्धों का काव्यमय वर्णन है।

जहाँदार शाह मुगल सम्राट् बहादुरशाह का पुत्र था। इसका वास्तविक नाम मोईज़ुद्दीन था। पिता की मृत्यु होने पर इसने अपने दोनों भाई रफीउश्शान और शाहजहाँ के साथ अज़ीमुश्शान पर आक्रमण कर दिया। बहादुरशाह अपने इसी पुत्र को अधिक चाहते थे। उनकी मृत्यु के समय भी यही उनके पास लाहौर में था। वह अपने तीनों भाइयों से युद्ध करते समय अपने हाथी के बिगड़ जाने से रावी में डूबकर मर गया। इसके पश्चात् मोईज़ुद्दीन अपने दोनों भाइयों को मारकर जहाँदारशाह के नाम से दिल्ली के तख्त पर आसीन हो गया। बंगाल का सूबेदार फर्रुखसियर अज़ीमुश्शान का पुत्र था। इसने अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिए दिल्ली पर आक्रमण कर दिया। "जंगनामा" इसी समय के तीन युद्धों के वर्णन से पूर्ण है। फर्रुखसियर इस काव्यग्रन्थ का नायक है। कवि ने उसके युद्ध-कौशल और वीरता का बड़ी ओजस्विनी भाषा में वर्णन किया है। उदाहरणार्थ ये पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

मारुनि सों भाला भिरे, पाखरा सों पाखरानि,
भरे समसेर सममेरनि सुभ्रग में।

काल का वीरकाव्य राष्ट्रीय जागृति का सन्देश लेकर अवतरित हुआ फिर भी इस काल में स्वतन्त्र वीरकाव्य की रचना बन्द न रही। बाबू मैथिलीशरण गुप्त का मेघनाद वध प्यासी का युद्ध जयद्रथ वध एवं श्यामनारायण पांडेय की 'हल्दीघाटी'' डा० रामकुमार वर्मा की 'चित्तौर की चिता' श्री मामचर त्रिपाठी 'प्रवासी' का ''जनताल महाकाव्य' आदि इस काल की उल्लेखनीय वीरकाव्य की कृतियाँ हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है आधुनिक काल में वीरकाव्य का आविर्भाव राष्ट्रीय जागृति का संदेश लेकर हुआ था। हिन्दी के कवियों ने राष्ट्रीय जागरण का कार्य राष्ट्रीय भावना से पूर्ण नये-नये गीतों की रचना कर किया। इन गीतों में से हम केवल उन्ह ही वीरकाव्य के अंतर्गत स्थान दे सकते हैं जिनके द्वारा सामान्य जनता में देश की मुक्ति के लिए मर मिटने की भावना भरने का प्रयत्न किया गया था। अन्य रचनाएँ देश के राष्ट्रीय जागरण में सहायक मात्र थीं। इसके पूर्व के वीरकाव्य में दूसरों पर आक्रमण करने और उनके माथा लेने की भावना थी। इसके विपरीत आधुनिक काल के वीर काव्य म दूसरो का आक्रमण झेलने और लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपने प्राण देन की भावना निहित है। दूसरों के प्राण लेकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति में वह वीरता नहीं है जो बिना दूसरों के प्राण लिए आत्मोत्सर्ग के द्वारा लक्ष्य की प्राप्ति में है। यही वीरता का विशुद्ध स्वरूप है जिसे भारतीय देश भक्तों ने यहाँ चलने वाले स्वतंत्रता-संग्राम में प्रदर्शित किया। इन भावनाओं से पूर्ण काव्य को हम ''राष्ट्रीय वीरकाव्य' की संज्ञा से विभूषित कर सकते हैं।

इस वीरकाव्य के रचयिताओं में पंडित माखनलाल चतुर्वेदी नवीन सियाराम, सोहन लाल द्विवेदी सुभद्रा कुमारी चौहान आदि प्रमुख हैं। चतुर्वेदी की 'हिम किरीटिनी' और हिम तरंगिनी में ऐसे अनेक गीत संगृहीत हैं। उन्होंने अपनी एक रचना में देश के तरुणों को संबोधन करते हुए कहा है—

रक्त है ? या है नसों में क्षुद्र पानी।
जाँच कर तू शीस दे दे कर जवानी॥

वे अपनी एक अन्य रचना में युवकों को बलि का संकेत देते हुए कहते हैं—

चढ़ चल चढ़ चल, थक मत रे ! बलिपथ के सुन्दर जीव।
उस कठोर शिखर के ऊपर है मन्दिर की नींव।
बड़े-बड़े ये शिला-खंड मग रोके पड़े अनेक।
इन्हें रौंद तू यदि आना है, तुझे मरण के हेत॥

पंडित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' श्री चतुर्वेदी की तरह स्वयं भी राष्ट्रीय संग्राम के एक वीर सैनिक रहे हैं। उन्होंने इस संग्राम के दिनों में जिस राष्ट्रीय वीरकाव्य की रचना

की यह अत्यंत महत्वपूर्ण है। उन्होंने देश के क्रूर शासन के विरुद्ध जन शक्ति का आह्वान करते हुए कहा—

ओ भिखमंगे अरे पतित तू ओ मजलूम अरे चिर-दोहित,
तू अखंड भंडार शक्ति का, जाग अरे निद्रा-सम्मोहित।
प्राणों को तड़पाने वाली हुंकारों से जल-थल भर दे
अनाचार के अम्बारों में अपना ज्वलित पलीता धर दे।

श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' ने अपने देश की पराधीनता की मोह-शृंखला में आबद्ध जन-मानस को देखकर गर्जना के स्वरों में कहा—

नहीं जीते जी सकता देख, विश्व में झुका तुम्हारा भाल।
वेदना मधु का भी कर पान आज उगलूँगा गरल कराल।

'हुंकार' दिनकर जी की वीर भावों से पूर्ण राष्ट्रीय रचनाओं का संकलन है। वे इस संकलन की एक रचना में क्रांति का उग्र रूप चित्रित करते हुए कहते हैं—

असि की नोकों से मुकुट जीत, अपने सिर उसे सजाती हूँ,
ईश्वर का आसन छीन कूद मैं आप खड़ी हो जाती हूँ।
थर-थर करते कानून, न्याय इंगित पर जिन्हें नचाती हूँ,
भयभीत पातकी धर्मों से अपने पग में झुकवाती हूँ।
सिर झुका घमंडी सरकारें करतीं मेरा अर्चन-पूजन॥

वर्तमान भारतीय राष्ट्रीय वीर-काव्य की परम्परा में पंडित सोहनलाल द्विवेदी की रचनाओं को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। "भैरवी" उनकी इसी प्रकार की रचनाओं का संकलन है। इस संकलन की एक रचना की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

आँसू बरसाता पाओगी,
जलता जीवन घड़ियाँ।
बिना चढ़ाये शीश नहीं,
टूटेंगी माँ की कड़ियाँ।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में हमारे देश की अनेक महिलाओं का भी महत्वपूर्ण योग रहा। स्व० सुभद्राकुमारी चौहान ऐसी ही वीर महिलाओं में से एक थीं। उन्होंने अनेक बार राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लिया और कारागार की यातनाएँ सहीं। उन्होंने नागपुर के 'झंडा-सत्याग्रह' के अवसर पर सत्याग्रह का संचालन करते हुए जो वीरता प्रदर्शित की वह भारतीय वीर नारियों के इतिहास का एक स्वर्णिम पृष्ठ है। उन्होंने 'झाँसी वाली रानी' के अतिरिक्त अनेक वीर काव्य से पूर्ण रचनाएँ की हैं। उनकी ये रचनाएँ "मुकुल" में संकलित हैं। उनके एक वीर गीत की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

सुनूँगी माता की आवाज
रहूँगी मरने को तैयार।
कभी भी उस वेदी पर देव,
न होने दूँगा अत्याचार॥
चलो मैं हो जाऊँ बलिदान,
मातृ-मन्दिर में हुई पुकार॥

आधुनिक कालीन वीरकाव्य के स्वरूप पर प्रकाश डालने की दृष्टि से इतने ही उद्धरण पर्याप्त होंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के जिस वीर काव्य की परम्परा का सूत्रपात वीर-गाथा काल में हुआ वह क्रमशः विकसित होती हुई वर्तमान काल तक आई। हिन्दी का यह काव्य-साहित्य भी निश्चित रूप से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

१६

हिन्दी-साहित्य में नव युगारम्भ

उपोद्घात

पूर्व-मध्यकालीन कृष्ण काव्य उत्तर मध्यकाल में आकर 'शृंगार काव्य' के रूप में विकसित हुआ। धीरे-धीरे राधाकृष्ण में देवत्व की भावना तिरोहित होती गई और वे प्रेमी नायक-नायिका के रूप में उनकी लीलाओं का चित्रण होने लगा। हिन्दी का काव्य-साहित्य इतना विकसित हो गया था कि काव्य की रूपरेखा निर्धारित करने और उसके अंग-प्रत्यंग का विधिवत् सँवारने के लिए रीति-ग्रन्थों के निर्माण की आवश्यकता प्रतीत होने लगी और परिणाम-स्वरूप 'रीति-काव्य' का सृजन आरंभ हो गया। इस प्रकार मध्यकाल में शृंगार और रीति-काव्य का ही प्रचुर परिमाण में प्रणयन हुआ। रीति-ग्रन्थों में भी शृंगार काव्य की न्यूनता न रही। रीति-सिद्धान्तों का विवेचन करने के पश्चात् उदाहरण-स्वरूप जिस काव्य की रचना की गई वह अधिकांश शृंगार से ही पूर्ण रहा। रीति-ग्रन्थों में अधिकतर शृंगार रस के निरूपण पर ही लिखित हुए ग्रन्थों को हैं अतः इस रस के निरूपण में शृंगार-काव्य का प्राधान्य स्वाभाविक था। इस प्रकार शृङ्गार-काव्य की रचना दो रूपों में हुई। एक तो रीति-ग्रन्थों के प्रणयन और दूसरा राजा-महाराजाओं एवं और उमरावों की विलासी भावनाओं की तृप्ति के लिए स्वतन्त्र रूप में। सारांश यह कि हिन्दी-साहित्य का उत्तर-मध्यकाल एक प्रकार से शृङ्गार-काव्य का ही युग रहा।

इस काल में जिस कोटि और रुचि का काव्य लिखित हुआ उसका सामान्य जनता से कोई सम्बन्ध न था वह उच्च श्रेणी के शासकों, अमीरों और धनवानों तथा कुछ साहित्य मर्मज्ञों का ही काव्य रहा। इस काल के लिखित विलास और विस्तृत काव्य-साहित्य जन-जन को अपना आदर प्राप्त करने में असमर्थ रहा। सामान्य जनता अभी भी पृथक् आत्म-चिंतन में मग्न थी। उस साहित्य से उसका कोई सम्बन्ध हो न हो। कविता को राज-सम्मान प्राप्त था पर जन जीवन और जन-समाज में उसका कोई स्थान न था। उच्च राजसभाओं की तरह ये कवि भी जनता से ऊपर थे। प्रत्येक स्थिति की एक सीमा होती है। उस सीमा तक पहुँच जाने पर उस स्थिति का परिवर्तन अवश्यम्भावी हो जाता है। जब उत्तर-मध्यकालीन शृंगार-काव्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया तब स्वयं उसके कवि भी उससे ऊब गए। उन्होंने शृंगार काव्य के रूप से बाहर निकल कर देखा। उन्होंने अनुभव किया कि मन जिस बनावटी विश्व का निर्माण किया है वह विशाल विश्व की तुलना में बहुत छोटा है। उन्होंने जिस

सुनूँगी माता की आवाज
रहूँगी मरने को तैयार।
कभी भी उस वेदी पर देव,
न होने दूँगा अत्याचार॥
मात मैं हो जाऊँ बलिदान,
मातृ-मन्दिर में हुई पुकार॥

आधुनिक कालीन वीरकाव्य के स्वरूप पर प्रकाश डालने की दृष्टि से इतने ही उदाहरण पर्याप्त होंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के जिस वीर काव्य की परम्परा का सूत्रपात वीर-गाथा काल में हुआ वह क्रमशः विकसित होती हुई वर्तमान काल तक आई। हिंदी का यह काव्य-साहित्य भी निश्चित रूप से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

———

१९

हिन्दी-साहित्य में नव युगारम्भ

उपोद्घात

पूर्व मध्यकालीन कृष्ण-काव्य उत्तर मध्यकाल में आकर 'शृंगार काव्य' के रूप में विकसित हुआ। धीरे-धीरे राधाकृष्ण में देवत्व की भावना तिरोहित होती गई और दो प्रेमी नायक-नायिका के रूप में उनकी लीलाओं का चित्रण होने लगा। हिन्दी का काव्य-साहित्य इतना विकसित हो गया था कि काव्य की रूपरेखा निर्धारित करने और उसके अंग प्रत्यंग को विधिवत् सँवारने के लिए रीति-ग्रन्थों के निर्माण की आवश्यकता प्रतीत होने लगी और परिणामस्वरूप 'रीति-काव्य' का सृजन आरंभ हो गया। इस प्रकार मध्यकाल में शृंगार और रीति-काव्य का ही प्रचुर परिमाण में प्रणयन हुआ। रीति-ग्रन्थों में भी शृंगार काव्य की न्यूनता न रही। रीति-सिद्धान्तों का विवेचन करने के पश्चात् उदाहरण-स्वरूप जिस काव्य की रचना की गई वह अधिकांश शृंगार में ही पूर्ण रहा। रीति-ग्रन्थों में अधिक संख्या शृंगार रस के निरूपण पर ही सीमित हुए ग्रन्थों की है अतः इस रस के निरूपण में शृंगार-काव्य का प्राधान्य स्वाभाविक था। इस प्रकार शृङ्गार काव्य की रचना दो रूपों में हुई। एक तो रीति-ग्रन्थों के अन्तर्गत और दूसरे राजा-महाराजाओं एवं सामन्तों की विलासी भावनाओं की तृप्ति के लिए स्वतन्त्र रूप से। सारांश यह कि हिन्दी-साहित्य का उत्तर-मध्यकाल एक प्रकार से शृङ्गार काव्य का ही युग रहा।

इस काल में जिस कोटि और रुचि का काव्य लिखित हुआ उसका [illegible] से कोई सम्बन्ध न था वह उच्च वर्ग के सामन्तों, अमीरों और [illegible] साहित्य-मर्मज्ञों का ही काव्य रहा। इस काल में लिखित विपुल [illegible] साहित्य जन-मन की भावना और चाह से दूर ही रहा। [illegible] भी पृथक् आश्रय-प्रश्रय में रहता था। उस साहित्य के [illegible] कविता को राज-सम्मान प्राप्त था पर जन जीवन और [illegible] स्थान न था। उच्च [illegible] की [illegible] [illegible] है। [illegible] नवारम्भ भी हो जाता है। [illegible] पर [illegible] [illegible] से बाहर [illegible] [illegible] का निर्माण किया है [illegible]

२

अपेक्षाकृत संकीर्ण क्षेत्र में अपने जीवन को सीमित कर रखा है, वहीं तक मानवता की सीमा नहीं है। उनमें से कुछ मानव-समाज के बीच आये और उन्होंने नये दृष्टिकोण से काव्य रचना आरम्भ की। उत्तर-मध्यकाल में लक्षित नीति और भक्ति-परक काव्य इसी का परिणाम है। भूषण लाल आदि कुछ कवि ऐसे भी हुए, जिन्होंने विलासी राज्याधिकारियों की निम्न भावनाओं की तृप्ति के लिए अपनी प्रतिभा का उपयोग न कर वीर शासकों के गौरव-गान में किया। इस तरह उत्तर-मध्यकाल में शृंगार-काव्य की प्रधानता अवश्य रही पर नीति-काव्य और वीर-काव्य का भी अभाव न रहा। इस काल में जो नीति और भक्ति-परक काव्य लक्षित हुआ उसने सामान्य जनसमाज को अपनी ओर आकर्षित किया और थोड़े ही दिनों में वह 'जन-काव्य' बन गया। तत्कालीन शृङ्गार-काव्य पुस्तकों में सिमटकर रह गया पर इस जन-काव्य को हम आज भी सामान्य स्त्री-पुरुषों की वाणी में मुखरित होता पाते हैं।

इसी समय जब कि उत्तर-मध्यकालीन शृङ्गार-काव्य अंतिम श्वासें ले रहा था भारतीय हिन्दी-साहित्याकाश के क्षितिज पर उदित होनेवाले भारतेंदु की प्रकाशमयी किरणों के दर्शन हुए। यह समय की अन्धकारमयी घोर निशा के प्रभात में नवोदित चन्द्र का आगमन था। उसकी स्निग्ध सुकुमार किरणों ने अमित प्रकाश [illegible] विस्तृत साहित्याकाश को समुज्ज्वल करने में समर्थ हुई। भारतेन्दु के विशाल व्यक्तित्व ने हिन्दी-साहित्य की सभी शाखाओं-उपशाखाओं को प्रेरणा और शक्ति दी और हिन्दी का साहित्य अभी तक केवल काव्य तक ही सीमित था वह अब नाटक निबन्ध आख्यायिका उपन्यास आलोचना आदि विविध अंगों से पूरित हो बसन्त के वैभव से विहँसित उपवन की तरह क्रमशः सुशोभित होने लगा किन्तु जिस कलाकार ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा से इस साहित्य-कानन का निर्माण किया था वह केवल ३५ वर्ष की अवस्था में ही इसे अर्धमुकुलित स्थिति में छोड़ चला गया। तब पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी सामने आये और उन्होंने भारतेन्दु के इस कानन की सुरक्षा और अभिवृद्धि का उत्तरदायित्व स्वीकार किया। उन्होंने बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र-द्वारा छोड़े अपूर्ण काम को पूर्णता और व्यवस्था देने का प्रयत्न किया। फिर तो द्विवेदी जी की साधना और उनके समकालीन मनीषियों के प्रयत्न से हिन्दी-साहित्य का काव्य नाटक निबन्ध आलोचना आदि सभी अंगों का उल्लेखनीय प्रगति हुई।

हमने देखा कि हिन्दी-साहित्य का आदिकाल लगभग ५ सौ वर्ष तक, पूर्व मध्यकाल लगभग चार सौ वर्ष तक और उत्तर मध्यकाल लगभग ढाई सौ वर्ष तक अपरिवर्तित बना रहा पर वर्तमान काल निरन्तर परिवर्तन का ही काल रहा। सं० १९२५ के लगभग 'भारतेन्दु युग' प्रारम्भ हुआ और केवल ३५ वर्ष के पश्चात् ही 'द्विवेदी युग' प्रारम्भ हो गया और इसके २ वर्ष के पश्चात् ही "नवयुग" का सूत्रपात हो गया।

इस प्रकार वर्तमान काल में हिन्दी-साहित्य ने बार-बार करवटें ली, बार-बार उसकी दिशा और स्वरूप में परिवर्तन हुआ किन्तु उसका प्रत्येक परिवर्तन नई चेतना और नये जीवन का स्वर्णिम सन्देश लेकर आया। उसने उसका रूप अधिकाधिक विकसित होने में सहायता की, उसे नई शक्ति से अभिषिक्त किया और उसमें नई प्राण प्रतिष्ठा कर उसे अधिकाधिक पल्लवित किया।

उत्तर-मध्यकाल में जिस शृंगार-काव्य की प्रचुर प्रमाण में रचना हुई उसका मूलाधार प्रेम था किन्तु शृंगारी कवियों के हाथ में पड़कर वह प्रेम विकृत होकर 'वासना' के रूप में परिणत हो गया था। यद्यपि उसमें कृष्ण-काव्य की पवित्रता का तो अभाव था ही पर वह विशुद्ध दाम्पत्य प्रेम भी न रह पाया था। कबीर जैसे सन्त कवियों ने जिस प्रेम की उज्ज्वलता पर मुग्ध होकर "सीस देइ लै जाय" कहा था और सूफ़ियों ने इसे ब्रह्म का पर्यायवाची तक मान लिया था, वह कृष्ण-काव्य में भक्तिमूलक बन गया और सूर, मीरा आदि ने उसी प्रेम का आश्रय ग्रहण कर अपने उपास्य की विविध रसमयी लीलाओं का गान कर अपने को धन्य माना, पर रीतिकाल में वह मनोरंजन एवं वासनामयी कुत्सित मनोवृत्ति की तुष्टि का साधन बन गया। वर्तमान काल में काव्य के स्वरूप में पुनः विशुद्धीकरण प्रारंभ हुआ। भारतेन्दु ने इस प्रेम को वासना के पंक से निकालकर भगवद् भक्ति की दिशा में प्रवाहित किया और राधा-कृष्ण को सामान्य नायक-नायिका के स्तर से उठाकर अपने काव्य के प्रेम-सरोवर में देवत्व के आसन पर आसीन करते हुए कहा—

हम तो मोल लिए या घर के।
दास दास श्रीवल्लभ कुल के, चाकर राधावर के।
माता श्री राधिका पिता हरि, बन्धु दास गुनकर के।
हरीचन्द तुम्हरे ही कहावत, नहिं विधि के नहिं हर के।

भारतेन्दु का प्रेम-काव्य आगे बढ़ा और वह प्रकृति-प्रेम तथा देश-प्रेम तक पहुँच गया। द्विवेदी-युग में यह प्रेम-धारा और भी विकसित हुई और तत्कालीन अनेक कवियों की प्रकृति प्रेम तथा देश-प्रेम विषयक रचनाएँ सामने आईं। द्विवेदी युग के पश्चात् एक नये युग का अवतरण हुआ जिसमें यह काव्य-सरिता नई कल्पनाओं की नई आधारभूमि लेकर विभिन्न धाराओं में प्रवाहित हुई जो वर्तमान काव्य-जगत् में छायावाद, रहस्यवाद, हालावाद, प्रगतिवाद आदि धाराओं के नाम से प्रसिद्ध है।

हिन्दी-काव्य-साहित्य में आरंभ से एक साथ तीन धाराएँ प्रवाहित होती रही हैं भक्तिकाव्य, वीरकाव्य और शृंगार-काव्य-धारा। आदिकाल में इनमें से वीर-काव्य धारा, मध्यकाल में भक्तिकाव्य-धारा और उत्तर-मध्यकाल में शृंगार-काव्य-धार

अधिक प्रवाहमयी रही और शेष दोनों धाराएँ मन्द प्रवाह में प्रवाहित होती रहीं। वर्तमान काल के भारतेन्दु-युग में भक्ति-काव्य-धारा और शृंगार-काव्य-धारा लगभग समान वेग में रहीं और वीर-काव्य-धारा मंदवाहिनी बनी रही। द्विवेदी-युग में भी लगभग यही स्थिति रही पर नवयुग में शृंगार काव्य-धारा पहिले छायावाद से और फिर रहस्यवाद से समन्वित हो एक नये रूप में प्रवाहित होने लगी। छायावादी युग में इस काव्यधारा की प्रवृत्ति शृंगारोन्मुख अवश्य रही पर उसके लौकिक तत्वों का स्थान पारलौकिक अथवा आध्यात्मिक तत्वों ने ग्रहण कर लिया। इस युग में कुछ ऐसे कवियों का भी आविर्भाव हुआ जिन्होंने राष्ट्र-प्रेम-पूरित वीरकाव्य की रचना कर तत्कालीन राष्ट्रीय जागरण में महत्वपूर्ण योग देने का प्रयत्न किया। सामान्यतः सुमित्रानन्दन पन्त छायावादी काव्य के और जयशंकर प्रसाद रहस्यवादी काव्य के प्रवर्तक समझे जाते हैं। राष्ट्र-प्रेम-पूरित वीरकाव्य रचना का सूत्रपात करने का श्रेय पं० माखनलाल चतुर्वेदी "भारतीय आत्मा' को है जिनके अनुकरण पर उनके पश्चात् बालकृष्ण शर्मा "नवीन' सोहनलाल द्विवेदी सुभद्राकुमारी चौहान रामधारी सिंह "दिनकर' श्यामनारायण पांडेय 'प्रवासी' आदि ने इस दिशा में विशेष प्रयत्न किया। 'भारतीय आत्मा' ने इस ढंग की काव्य-रचना द्विवेदी-युग में ही आरंभ कर दी थी किन्तु उसका विकास नवयुग में ही हुआ। द्विवेदी-युग में बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने "भारत भारती' की रचना कर तत्कालीन कवियों का ध्यान युग-धर्म की ओर आकर्षित किया था किन्तु 'भारत भारती' जितनी राष्ट्रीय कृति है, उससे अधिक सांस्कृतिक है। अतः विशुद्ध राष्ट्रीय प्रेरणा से प्रेरित होकर काव्य-रचना करनेवाले कवियों में "भारतीय-आत्मा" ही प्रथम समझे जाने चाहिए।

वर्तमान काल में भक्ति-मूलक काव्य रचना भी कम नहीं हुई पर उसमें हृदय कम और मस्तिष्क अधिक था। जिस समय छायावादी काव्य रहस्यवाद की ओर उन्मुख हो रहा था उसी समय कवि बच्चन हाला-प्याला लिए हिन्दी-काव्य जगत् में दिखलाई दिए। इस समय तक छायावाद का अन्त न हुआ था और रहस्यवाद का जन्म हो चुका था। अतः बच्चन के हालावाद का आविर्भाव होते ही नवयुग का हिन्दी-काव्य एक साथ ही तीन धाराओं में प्रवाहित होने लगा। यह युग राष्ट्रीय चेतना का युग था अतः इन तीन काव्य-धाराओं की एक साथ उपस्थिति के काल में भी राष्ट्रीय वीर-काव्य भी अपनी दिशा में अग्रसर होता जा रहा था। यह शृङ्गार-काव्य का युग न था पर इसी काल में कुछ कवियों ने ऐसे शृङ्गार-काव्य की भी रचना की जिसकी अश्लीलता के सामने उत्तर-मध्यकालीन शृङ्गार-काव्य भी नतमस्तक हो सकता था।

भारतेन्दु-युग ने बहुरूपी साहित्य को जन्म दिया द्विवेदी-युग में वह पुष्ट और परिवर्द्धित हुआ पर उसके अंग प्रत्यंग को पूर्णतः पल्लवित और पुष्पित करने का

श्रेय 'नवयुग' को ही है। उसके काव्य, नाटक, लघुकथा, उपन्यास, निबन्ध, आलोचना आदि विविध अंगों से सम्बन्धित जितना साहित्य नवयुग में निर्मित हुआ उतना इसके पूर्व कभी न हुआ था। पत्र-पत्रिकाओं के क्षेत्र में भी इस युग में आशातीत प्रगति हुई। यदि हिन्दी-साहित्य का पूर्व-मध्यकाल जिसे 'भक्तिकाल' भी कहते हैं स्वर्णयुग था तो वर्तमानकाल 'नवयुग' भी उससे किसी प्रकार कम महत्वपूर्ण और कम मूल्यवान नहीं कहा जा सकता। भारतेन्दु ने खड़ी बोली साहित्य के जिस बिरवे का वपन अपने हाथों आज से लगभग ६० वर्ष पूर्व किया था वह आज अपने समस्त सौन्दर्य और प्रतिभाओं के साथ विविध वर्ण, रूप और गन्ध से युक्त पुष्पराशि एवं विविध मनोमुग्धकारी प्रसून फलों से सुसज्जित दृष्टिगोचर हो रहा है।

इस युग में सबसे अधिक विकास सम्भवतः हिन्दी-काव्य का ही हुआ। इस काल में मुक्तक-काव्य की अधिकता तो रही ही पर प्रबन्ध-काव्य और गीतिकाव्य भी कम नहीं लिखा गया। साकेत, कामायनी, हल्दीघाटी, कृष्णायन, प्रियप्रवास आदि इसी युग के प्रमुख प्रबन्ध-काव्य हैं। पंत, प्रसाद, निराला, महादेवी वर्मा ने ऐसे गीतिकाव्य की रचना की जो हिन्दी साहित्य की अत्यन्त मूल्यवान निधि है। नवयुग का काव्य छायावाद के साथ शृङ्गारिक शब्दों की अठखेलियाँ करता आगे बढ़ा। रहस्यवाद ने उसे वासना से ऊपर उठाकर उच्च मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित किया। हालावाद ने उसमें खुमार भरने का प्रयत्न किया और प्रगतिवाद ने उसे नई दिशा दी पर वह जनकाव्य न बन सका। इधर काव्य जगत में ये नये-नये प्रयोग हो रहे थे और उधर जन-मानस कांग्रेस के नेतृत्व में चलने वाले राष्ट्रीय आन्दोलनों की लहरों में डूबता-उतराता हुआ आगे बढ़ रहा था। काव्य जगत और सामान्य जन-जगत में बहुत अन्तर था। जनता काव्यगान सुनना चाहती थी, गीत सुनना चाहती थी पर ऐसा काव्य और ऐसा गीत उसके लिए बने न थे जिनके स्वरों में उसके युग की, उसकी आशाओं और उसकी भावनाओं की अभिव्यक्ति करने की क्षमता न थी। कवि जनता की इन भावनाओं का सम्बन्ध उनके राग भाव का बिसरा हुए। छायावादी काव्य के प्रणेता सुमित्रानन्दन पन्त ने 'युगान्त' लिखकर छायावादी युग की समाप्ति की सूचना दी और 'युगवाणी' की रचना करके जनता के बीच आये। राष्ट्रीय आन्दोलन ने सम्पूर्ण काव्य जगत को प्रभावित किया और कवियों ने राष्ट्रवाणी का सन्देश देश को अर्पित किया। हालावादी बच्चन जी को अपनी मधुशाला का मोह त्यागकर प्रगति के स्वरों में बदलना पड़ा—

> रुक से सीधा गया हूँ
> राह मन्दिर-मसजिद का।
> किन्तु रखना चाहता मैं
> पाँव मधु-सिंचित डगर में॥

पाप की हा गठरी पर
चलते हुए ये पाँव मेरे।
हँस रहे हैं उन पगों पर
जो बँधे हैं आज घर में॥

राष्ट्रीय चेतना ने 'प्रगतिवाद' को जन्म दिया। यह प्रगतिवाद वास्तव में यथार्थवाद का पर्यायवाची था। अब भी भक्तिकाल के राम-कृष्ण और रीतिकाल के राजा रानी नायक-नायिका आदि सभी थे पर जन-जीवन की यथार्थवादिता में इनका कोई स्थान न था। अब राम कृष्ण की भक्ति देश भक्त के रूप में और राजा रानी तथा नायक-नायिकाओं का शृङ्गार देश दलितों पतितों शोषितों और निराश्रितों के अभिसार के रूप में परिवर्तित हो गया था। चारों ओर 'उत्थान' और 'मुक्ति' की शंखध्वनि हो रही थी। छायावादी और रहस्यवादी कवियों ने इस ओर मुड़कर देखा और उन्हें ऐसा लगा जैसे युग उन्हें पुकार रहा है। वे उसकी पुकार सुनकर चौंक पड़े उनके काव्य ने करवट बदली। कवियों का एक समूह—शिवमंगलसिंह, केदारनाथ, दिनकर नागार्जुन आदि के साथ प्रगतिवाद का जयघोष करता आगे बढ़ा। किसान और मजदूर ही मुख्य रूप से इनकी काव्य रचना के विषय हो गये। वर्ग-संघर्ष को भी कुछ प्रोत्साहन मिला पर इसके पश्चात् ही एक ऐसा दल भी सामने आया जिसने प्रगतिवाद और यथार्थवाद के नाम पर विकृत अभिव्यक्तियों की सृष्टि प्रारंभ कर दी। पन्त ने 'युगवाणी' में काव्य को जिस दिशा का निर्देश किया उस दिशा में उनके काव्य का स्वस्थ विकास होता जा रहा था और कुछ अन्य कवि भी उनके साथ या अनुसरण करते हुए आगे बढ़ रहे थे। पन्त ने अपनी रचनाओं-द्वारा काव्य के उस क्षितिज की ओर संकेत किया था समाजवाद और मार्क्सवाद से आगे बढ़कर मानव के आध्यात्मिक और प्राकृतिक जीवन की मुक्ति जन-जीवन को वादों के जाल से मुक्त कर मानवता और विश्वबन्धुत्व का पाठ पढ़ाती है।

काव्य की विविध धाराओं के जन्म और विकास के अतिरिक्त गद्य के विविध अंगों की उल्लेखनीय समृद्धि इस युग की द्वितीय विशेषता है। हरिश्चन्द्र-काल में मुंशी सदा सुखलाल ने खड़ी बोली के जिस गद्य की नींव डाली वह क्रमशः विकसित होता हुआ आज हम नाटक उपन्यास निबन्ध आलोचना आख्यायिका जीवनचरित रिपोर्टाज आदि के रूप में दृष्टिगोचर हो रहा है। खड़ी बोली के गद्य के विकास और समृद्धि की यह उल्लेखनीय स्थिति हिन्दी-साहित्य के विकास की एक सर्वोत्तम शृंखला है। वर्तमान काल के इन लगभग ६ वर्षों में हिन्दी को हरिश्चन्द्र-कालीन विविध लेखकों के अतिरिक्त महावीरप्रसाद द्विवेदी-जैसे बहुमुखी प्रतिभा के साहित्यकार हरिऔध मैथिलीशरण गुप्त नाथूराम शंकर शर्मा भारतीय आत्मा प्रसाद पन्त निराला और महा-

देवी वर्मा-जैसे कवि रत्न प्रेमचन्द्र प्रभृति जैनेन्द्रकुमार, यशपाल और कृष्णचन्द्र जैसे उपन्यासकार और प्रत्यास्विका-लक्ष्क प्रसाद वृन्दावनलाल वर्मा बाबू गोविन्ददास लक्ष्मीनारायण मिश्र और उपेन्द्र नाथ अश्क-जैसे नाटककार पं० रामचन्द्र शुक्ल डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी और डा० नगेन्द्र-जैसे समालोचक और निबन्धकार प्राप्त हुए।

इस काल की राजनीतिक धार्मिक और सामाजिक स्थिति ने भी वर्तमान हिन्दी साहित्य के इस विकास में महत्वपूर्ण योग दान किया।

राजनीतिक स्थिति—

यद्यपि सन् १७५७ में प्लासी के युद्ध में कलकत्ते पर अधिकार कर इस देश में अंग्रेजी राज्य की नींव डाल दी थी तथापि अभी भी अंग्रेजों की सत्ता नगण्य थी। इसके पश्चात् के सौ वर्षों में अंग्रेजों ने धीरे-धीरे इस देश के एक बड़े भाग पर अपना अधिकार कर लिया किन्तु इस अधिकार-प्राप्ति के पीछे अंग्रेजों की जो नीति रही वह अत्यन्त निन्दनीय थी। इस देश की जनता और भारतीय शासक-वर्ग के लिए अंग्रेजी सत्ता एक भयावह रूप धारण कर चुकी थी। अंग्रेज अभी तक इस देश के राजाओं और नवाबों से कराड़ों रुपया प्राप्त कर अपने देश का पेट भर चुके थे और सामान्य जनता अपने मानवीय अधिकारों से वंचित होकर पूर्ण परतन्त्र जीवन यापन करने को विवश थी। देश का अधिकांश भाग अंग्रेजी राज्य की लौह-शृंखला से पूरी तरह आबद्ध हो चुका था। इस राजनीतिक स्थिति की प्रतिक्रिया के रूप में सन् १८५७ के सैनिक-विद्रोह का जन्म हुआ। यह विद्रोह वास्तव में सैनिक तक ही सीमित न था इसके मूल में भारत के अधिकार-च्युत असंतुष्ट राजाओं नवाबों और जमींदारों की भी शक्ति काम कर रही थी। उस समय भारतीय मस्तिष्क भारत में अंग्रेजी राज्य का विरोधी था। इस विद्रोह ने जो उग्र रूप धारण किया उससे जान पड़ता था कि यह विद्रोह इस देश से अंग्रेजी शासन को समाप्त करके ही रहेगा किन्तु इस देश के दुर्भाग्य से कुछ भारतीय शक्तियों ने अंग्रेज अधिकारियों को विद्रोह के दमन में सहायता की और भारतीय स्वतन्त्रता के लिए लड़ा जानेवाला यह प्रथम युद्ध सफल न हो सका। कम्पनी की सरकार ने इस विद्रोह का दमन तो कर दिया पर वह उस शक्ति का शमन न कर सकी जो भारतीयों के हृदय में अंग्रेजी राज्य को अस्तीभूत करने के लिए प्रज्वलित हो रही थी। इंग्लैंड की पार्लियामेन्ट भी अंग्रेजों के शासन से सन्तुष्ट न था। उसने इस विद्रोह के पश्चात् भारतीय शासन का अधिकार ईस्ट इंडिया कम्पनी से अपने हाथ में ले लिया और इंग्लैंड की महारानी विक्टोरिया इस देश की भी महारानी समझी जाने लगी। इस समय तक भारतीय साहित्यकारों में भारतेन्दु का प्रथम रश्मि भविष्य की सम्पूर्ण सुनहरा आशाओं को लेकर उदित हो चुकी थी। प्रारम्भ में इस सत्ता-परिवर्तन से भारतीयों ने अपने देश के उज्ज्वल भविष्य

है। सर मोनियर विलियम-द्वारा अनुवादित "अभिज्ञान शाकुन्तल" को देखकर ही हम इस महान् भारतीय कृति के वास्तविक मूल्य से परिचित हो सके और हम संस्कृत-साहित्य पयोनिधि से अनेक बहुमूल्य रत्नों की खोज कर भारतीय साहित्य को समलंकृत करने की दिशा में अग्रसर हुए। आज के हिन्दी-काव्य-साहित्य पर ही नहीं पर नाटक-साहित्य उपन्यास-साहित्य निबन्ध-साहित्य और आलोचना-साहित्य पर भी अंग्रेजी-साहित्य का गहरा प्रभाव है। आंग्ल-साहित्य के प्रकाश में नये-नये साहित्य का सृजन होता गया भारतीय अपने पूर्व गौरव से परिचित होते गये और उनके हृदय में अपनी वर्तमान स्थिति के प्रति क्षोभ बढ़ता गया और परिणाम-स्वरूप उनके हृदय में प्रगति एवं स्वतंत्रता की प्रवृत्ति विकसित होती गई।

हिन्दी-साहित्य का वर्तमान काल निश्चित ही संघर्ष और क्रान्ति का युग रहा। इस काल में बार-बार जितने धार्मिक सामाजिक और राष्ट्रीय आन्दोलन हुए उतने इसके पूर्व के इतिहास में कभी नहीं देखे गये। एक ओर मुस्लिम संस्थाएँ और दूसरी ओर ईसाई मिशनरियाँ अपने धर्म प्रचार में व्यस्त थीं। इसी समय स्वामी दयानन्द एक प्रखर प्रकाश के रूप में अवतरित हुए और उन्होंने अपनी विद्वत्तापूर्ण तर्कशैली से इन दोनों प्रकार के प्रचार पर कुठाराघात कर हिन्दू-जाति और हिन्दू-धर्म को इनके प्रभाव से मुक्त किया। स्वामीजी के प्रचार का माध्यम हिन्दी थी अतः इस धार्मिक और सामाजिक प्रचार के साथ हिन्दी का भी देश-व्यापी प्रचार हुआ। हिन्दी-गद्य की वक्तृत्व शैली और वाद-विवाद शैली के विकास में स्वामीजी के प्रचार ने मुख्यतया सहायता की।

सन् १८८५ (संवत् १९४२) में राष्ट्रीय महासभा (Indian National Congress) का जन्म हुआ। इसी समय वर्तमान हिन्दी-साहित्य के जनक बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र गोलोकवासी हुए और पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी बाबू श्यामसुन्दर दास आदि विभूतियों ने उनका उत्तराधिकार ग्रहण किया। भारतीय राष्ट्रीय महासभा के द्वारा इस देश के विभिन्न भाषा-भाषी उच्चवर्गीय विद्वान् और राजनीतिज्ञ एक मंच पर एकत्र हुए और उन्होंने अपने संयुक्त प्रयत्न-द्वारा भारतीय राष्ट्रीयता का विकास-कार्य आरम्भ किया। ये सभी पूर्ण अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त विद्वान् थे अतः राष्ट्रीय महासभा का समस्त वैधानिक काम तो अंग्रेजी में ही होता रहा पर उसके प्रचार के माध्यम के रूप में हिन्दी भाषा ही गृहीत हुई। महासभा के इस प्रचार से भी हिन्दी के प्रसार और प्रगति में बड़ी सहायता मिली। हिन्दी के तत्कालीन कर्णधार इससे प्रोत्साहित हो हिन्दी की समृद्धि में प्राणपण से जुट गये। बाबू श्यामसुन्दर दास के प्रयत्न से सं० १९५ में 'नागरी प्रचारिणी सभा' की स्थापना हुई जिससे हिन्दी-भाषा और उसके साहित्य की अभिवृद्धि में बड़ी सहायता मिली। सं० १९५७ में उत्तर-प्रदेश के न्यायालयों में अंग्रेजी और फारसी के साथ हिन्दी का भी प्रवेश हो गया। संवत् १९६२ में बंगाल के सुप्रसिद्ध

विद्वान् और वेदाध्यक्ष श्री रमेशचन्द्र दत्त की अध्यक्षता में नागरी प्रचारिणी सभा का अधिवेशन हुआ और इसके पश्चात् हिन्दी की शक्ति पूर्व की अपेक्षा बढ़ गई। सं० १६६७ में प्रयाग में "हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन" की स्थापना हुई और इस संस्था के द्वारा भी हिन्दी और उसके साहित्य की प्रगति म महत्त्वपूर्ण योग प्राप्त होने लगा।

संवत् १६६१ में रूस-जापान युद्ध छिड़ गया। इस युद्धकाल में हिन्दी में इन दोनों देशों से सम्बन्धित साहित्य भी लिखा गया। इसके पश्चात् संवत् १६७१ में प्रथम विश्वयुद्ध का सूत्रपात हुआ। युद्ध यूरोप की दो महाशक्तियों के बीच था पर विश्व का कोई भी भाग इससे अप्रभावित न रह सका। इस युद्धकाल में भारत ने सर्वप्रथम अपने को विश्व के एक अंग के रूप में अनुभव किया और अंग्रेजों की तन मन धन से सहायता की। अभी तक भारतीय साहित्यकारों का ध्यान विशेष रूप से 'आंग्ल साहित्य' की ओर ही आकृष्ट था इस युद्ध के पश्चात् उनका ध्यान फ्रेंच जर्मन और रूसी साहित्य की ओर भी गया और उन्होंने अंग्रेजी के माध्यम से इन भाषाओं के साहित्य का भी अध्ययन कर अपने साहित्य की अभिवृद्धि करने का प्रयत्न किया। इस अध्ययन के परिणाम-स्वरूप साहित्यकारों की दृष्टि अधिक व्यापक हो गई और उनके द्वारा नई-नई कृतियाँ प्रकाश म आने लगी।

इस अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष के साथ भी भारतीय राष्ट्रीय महासभा के मंच से राष्ट्रीयता का विकास होता ही रहा। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् महासभा ने भारतीय स्वतन्त्रता की माँग की, किन्तु इसके उत्तर में उसे 'रौलट ऐक्ट' मिला और 'जलियान वाला बाग'-जैसी पाषाण-हृदय को भी द्रवित करनेवाली रक्त-रंजित दुर्घटना देखने को विवश होना पड़ा। इस घटना के बाद महासभा की अंग्रेज-भक्ति पूर्णतया निर्मूल हो गई और उसे सन् १६२० (सं० १६७७) के अपने नागपुर-अधिवेशन में 'असहयोग' और 'विदेशी बहिष्कार' की नीति घोषित करनी पड़ी। इसके पश्चात् होनेवाले असहयोग-आन्दोलन के युग में हिन्दी में महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय साहित्य की रचना हुई। हिन्दी के कवियों ने राष्ट्रीयता का निर्माण किया और उनके प्रभावपूर्ण स्वर भारतीय वायुमण्डल में गूँजने लगे। इस प्रकार के साहित्य का निर्माण करनेवालों में माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, सोहन लाल द्विवेदी और कवि 'त्रिशूल' प्रमुख हैं। इसी काल में हिन्दू-मुस्लिम एकता पर आधारित कुछ साहित्य का भी निर्माण हुआ। इसके पश्चात् ही हिन्दी के प्रांगण में छायावाद, रहस्यवाद, हालावाद, प्रगतिवाद आदि का आविर्भाव हुआ।

असहयोग आन्दोलन के पश्चात् 'सविनय कानून-भंग' सत्याग्रह का सूत्रपात हुआ। इन दोनों आन्दोलनों से राष्ट्रीय महासभा कुछ आगे अवश्य बढ़ी पर इनमें जनता को

द्वितीय उद्धरण की भाषा प्रथम उद्धरण की भाषा से कुछ अधिक विकसित है। 'शृंगाररस मंडन' के पश्चात् वल्लभ-संप्रदाय में दो बड़े ग्रन्थों की रचना ब्रजभाषा गद्य में हुई जो हिन्दी-साहित्य के इतिहास की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इनमें से प्रथम ग्रन्थ "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" की रचना विट्ठलनाथ जी के पुत्र गोकुलनाथ जी ने की थी। इसमें कहीं-कहीं गोकुलनाथ जी का भी उल्लेख होने के कारण यह उनके किसी शिष्य की रचना समझी जाती है। इसका रचना-काल सत्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। दूसरा ग्रन्थ "दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता" है, जिसमें दो सौ-बावन वैष्णव भक्तों की जीवनगाथाएँ संकलित हैं। इसकी रचना अठारवीं शताब्दी के मध्य में हुई जान पड़ती है। द्वितीय ग्रन्थ की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"जो श्रीठाकुर जी तो बालक हैं। भीख करें पाछें विलंब न सहि सकैं। तातें भोग धरिबे तो कछु ढाती न समर्पिये॥ ऐसी शिक्षा करिके श्रीठाकुर जी को अनुभवमानो जतायो॥ तब तो वहा तें अपने घर आयो॥ तब यह बात आपने अपनी स्त्री के आगे कही॥ पाछें वे सावधानतासों सेवा करन लागे॥

इसी बीच भक्तप्रवर नाभादास जी ने "अष्टयाम' नामक एक छोटी-सी पुस्तक की रचना ब्रजभाषा गद्य में संवत् १६६० के लगभग की। इसमें उन्होंने भगवान् राम की दिनचर्या का जो वर्णन किया है उसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"तब श्री महाराजकुमार प्रथम वशिष्ठ महाराज के चरण छुइ प्रनाम करत भए। फिर ऊपर वृद्ध समाज तिनको प्रनाम करत भए। फिर श्री राजाधिराज जू को जोहार करिके श्री महेन्द्रनाथ दसरथ जू के निकट बैठते भए।"

इसके पश्चात् संवत् १७६० के लगभग किसी अज्ञातनामा लेखक ने ब्रजभाषा गद्य में "नासिकेतोपाख्यान' तथा संवत् १७६७ में सुरतिमिश्र ने "बैताल पच्चीसी' की रचना की। संवत् १८३९ में जयपुर-नरेश महाराज प्रतापसिंह की आज्ञा से लाला हीरालाल ने 'आईने अकबरी' की 'भाषा वचनिका" नामक पुस्तक की रचना की। इसकी कुछ पंक्तियाँ उदाहरणार्थ नीचे दी जाती हैं—

"अब शेख अबुलफजल ग्रन्थ को करता प्रभु को निमस्कार करिके अकब्बर बादस्याह की तारीफ लिखने को कसत करै है अरु कहै है याकी बड़ाई अरु चेष्टा अरु निमस्कार कहाँ तक लिखूँ। कछू आत नहीं। तातें याके पराक्रम अरु भाँति-भाँति के दस्तूर वा मनसूबा दुनिया में प्रकट भए, ता को संक्षेप लिखत हों।"

इस उद्धरण में 'शेख अबुलफजल'– नाम के अतिरिक्त बादस्याह, तारीफ, दस्तूर, मनसूबा और दुनिया फारसी-अरबी के शब्द हैं, जिनका मुस्लिम शासन के प्रभावस्वरूप

ब्रजभाषा में प्रवेश स्वाभाविक है। इसी शताब्दी में सेवक कवि द्वारा रचित 'वाग्-विलास' नामक पुस्तक में भी ब्रजभाषा गद्य का प्रयोग हुआ है, किन्तु इस गद्य में भाषा की प्रौढ़ता का प्रभाव है। कुछ गद्य-पुस्तकें और भी मध्य-तत्र मिल जाती हैं किन्तु हम देखते हैं कि *चौदहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक ब्रजभाषा पद्य का जो विकास* हुआ वह इस काल के गद्य में नहीं मिलता। काव्यमय रचनाओं की प्रधानता से ब्रजभाषा गद्य प्रायः उपेक्षित बना रहा और साहित्य-सृष्टाओं का आश्रय प्राप्त न होने के कारण वह अविकसित अवस्था में अपने स्थान पर ही बना रहा।

खड़ी बोली-गद्य का जन्म

खड़ी बोली का इतिहास लगभग उतना ही प्राचीन है जितना प्राचीन कि ब्रजभाषा का इतिहास है। कुछ लोग खड़ी बोली को ब्रजभाषा से विकसित मानते हैं, किन्तु यह धारणा सर्वथा निर्मूल है। खड़ी बोली का प्रयोग हमें सर्वप्रथम चौदहवीं शताब्दी में अमीर खुसरो की रचना में मिलता है। औरंगजेब के शासनकाल में उर्दू मिश्रित खड़ी बोली में काव्य-रचना का भी प्रमाण मिलता है। ऐसा जान पड़ता है कि १४ वीं शताब्दी से १७ वीं शताब्दी तक खड़ीबोली दिल्ली और उसके आसपास के भागों की लोकभाषा रही है जो मुगल-साम्राज्य के नष्ट होने पर वहाँ के व्यापारियों के साथ उत्तर भारत के अन्य भूभागों में पहुँची।

हमें अकबर के शासनकाल में खड़ी बोली के गद्य में लिखी एक पुस्तक मिलती है। यह अकबर के दरबारी कवि गंग की "चन्द छन्द बरनन की महिमा" नामक रचना है। इसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"*इतना सुनके पातशाहिजी श्री अकबरसाहि जी आद सेर सोना नरहरदास चारन* को दिया। इनके डेढ़ सेर सोना हो गया। रास बंचना पूरन भया। आमखास बरखास हुआ।

इसे ही खड़ी बोली गद्य का प्रारंभिक रूप कहना चाहिए। इसके पश्चात् संवत् १६८० में जटमल नामक किसी लेखक-द्वारा लिखित 'गोरा बादल की कथा' खड़ी बोली गद्य में मिलती है। "भाषा योगवासिष्ठ' संवत् १७९८ में रामप्रसाद निरंजनी-द्वारा लिखित एक ग्रन्थ है। इसका गद्य पर्याप्त परिष्कृत रूप में मिलता है। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ देखिए—

प्रभु तुम सब तत्वों और सब शास्त्रों के जाननहारे हो मेरे एक संदेह को दूर करो; मोक्ष का कारन कर्म है कि ज्ञान है अथवा दोनों हैं समझाय के कहो। इतना सुन अगस्त मुनि बोले कि हे ब्रह्मण्य! केवल कर्म से मोक्ष नहीं होता और न केवल ज्ञान से मोक्ष होता है मोक्ष दोनों से प्राप्त होता है। कर्म से अन्तःकरण शुद्ध होता है, मोक्ष नहीं होता और अन्तःकरण की शुद्धि बिना केवल ज्ञान से मुक्ति नहीं होती।

श्रीरामप्रसाद निरंजनी ने इस ग्रन्थ की रचना मुंशी सदासुखलाल और लल्लूलाल के आविर्भाव के लगभग ९० वर्ष पूर्व की थी। हम देखते हैं कि उपर्युक्त भाषा में खड़ी बोली गद्य का जो परिमार्जित रूप दिखाई देता है, वह लल्लूलाल के प्रेमसागर अथवा सदल मिश्र के नासिकेतोपाख्यान में भी उपलब्ध नहीं है। अतः श्री निरंजनी को खड़ीबोली-गद्य का जन्मदाता होने का श्रेय प्रदान न करना उनके साथ अन्याय होगा।

श्री निरंजनी के 'भाषा योगवासिष्ठ' के पश्चात् हमें पटना (मध्यप्रदेश) के पंडित दौलतराम-द्वारा लिखित 'पद्मपुराण' का भाषानुवाद मिलता है। लेखक ने लगभग ७०० पृष्ठों के इस बृहत् ग्रन्थ की रचना संवत् १८१८ में की थी। इसकी भाषा 'भाषा योगवासिष्ठ' की तरह परिमार्जित तो नहीं है, पर यह फ़ारसी-अरबी के शब्दों के प्रभाव से सुरक्षित अवश्य है।

इसकी कुछ पंक्तियाँ देखिए—

'जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र विषै मगध नामा देश अति सुन्दर है जहाँ पुण्याधिकारी बसै हैं, इन्द्र के लोक समान सदा भोगोपभोग करै हैं और भूमि विषै साठेन के बाड़े शोभायमान हैं। जहाँ नाना प्रकार के अन्नों के समूह पर्वत समान ढेर हो रहे हैं।"

खड़ी बोली-गद्य का विकास

मुग़ल-साम्राज्य के पतन के साथ हिन्दी-साहित्य के रीतिकाल का भी अन्त हो गया और अंग्रेज़ी शासन के प्रसार के साथ हिन्दी-साहित्य का वर्तमान काल आरंभ हुआ। पहिले कहा जा चुका है कि खड़ी बोली दिल्ली और उसके आसपास के भागों की लोकभाषा थी। अमीर खुसरो ने अपनी मुकरियों और पहेलियों में खड़ी बोली के जिस रूप का प्रयोग किया है वह इसी लोकभाषा का परिष्कृत रूप था। मुस्लिम-शासन-काल में खड़ी बोली के इस लोक-प्रचलित रूप में फ़ारसी और अरबी के अर्ध तत्सम और तद्भव रूपों का मिश्रण हुआ। इस मिश्रण रूप में भाषा का जो रूप बना वही उर्दू के नाम से प्रसिद्ध है। जब अंग्रेज़ों ने इस देश की भाषा सीखनी चाही तब उन्होंने भारतीय शिष्ट-समाज के बीच दो प्रकार की भाषाओं का व्यवहार देखा—एक विशुद्ध खड़ी बोली और दूसरी दरबारी खड़ी बोली अथवा उर्दू। इस समय हिन्दी के ये दोनों रूप अविकसित थे और उनमें ऐसे साहित्य का अभाव था जिसे एक भाषा-साहित्य के रूप में अंग्रेज़ों के समक्ष प्रस्तुत किया जा सके। यद्यपि खड़ी बोली हिन्दी में इस समय तक "भाषा योगवासिष्ठ" तथा "पद्मपुराण" जैसे बृहत् ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी और इसके पश्चात् सैयद इंशाअल्ला खाँ भी "रानी केतकी की कहानी" की रचना कर चुके थे किन्तु इस देश की भाषा और उसके साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए

इतना ही पर्याप्त न था। फोर्ट विलियम कालेज कलकत्ता के हिन्दी-उर्दू के अध्यापक जान गिल क्राइस्ट ने सं० १८६० में हिन्दी और उर्दू की पुस्तकें लिखवाने की व्यवस्था की। तदनुसार ये अध्यापक जान गिल क्राइस्ट के अधीनस्थ 'प्रेमसागर' की रचना सदल मिश्र ने "नासिकेतोपाख्यान" की रचना खड़ी बोली-गद्य में की।

मैयद इशा अल्ला खाँ मुसलमान थे पर वे खड़ी बोली के दरबारी रूप के प्रबल विरोधी थे। उन्हें खड़ी बोली का वही रूप स्वीकार था जिसमें किसी अन्य भाषा का मिश्रण न हो। उन्होंने 'रानी केतकी की कहानी' की रचना का कारण बतलाते हुए लिखा है—

'एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिन्दवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले।"

इस उद्धरण से इंशा का विशुद्ध खड़ीबोली में अपनी कहानी की रचना करने का उद्देश्य स्पष्ट है।

इंशाअल्ला खाँ

मैयद इंशाअल्ला खाँ दिल्ली के एक प्रसिद्ध शायर थे। दिल्ली के श्री-विहीन हो जाने पर वे लखनऊ आ गये। जब इनके पिता मीर माशा अल्ला खाँ मुर्शिदाबाद के नवाब के आश्रित थे तभी इंशाअल्ला खाँ का जन्म हुआ था। सिराजुद्दौला की मृत्यु के पश्चात् इंशा दिल्ली चले गये और शाहआलम द्वितीय के दरबारी शायर के रूप में अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाते रहे। सं० १८७५ में लखनऊ में इनकी मृत्यु हो गई। इनकी 'रानी केतकी की कहानी' एक लघुकाय पुस्तिका है, पर इसकी भाषा-शैली और पद-विन्यास बड़ा अनूठा है। हिन्दी-गद्य के विकास की दृष्टि से यह पुस्तिका बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसे हिन्दी के गद्य की विकास-शृंखला की सर्वप्रथम कड़ी कहना चाहिए। भाषा का चटकीलापन और मुहावरों का सुन्दर एवं प्रभावशाली प्रयोग इस कहानी की विशेषता है। इस रचना में कहीं-कहीं काव्य-सी अनुप्रास-छटा देखकर पाठक मुग्ध हो जाता है। उदाहरणार्थ कहानी का निम्नांश देखिए—

"अब दोनों महाराजों में लड़ाई होने लगी रानी केतकी सावन भादों के रूप रोने लगी और दोनों के जी में यह आ गई—यह कैसी चाहत जिसमें लहू बरसने लगा और अच्छी बातों को जी तरसने लगा।"

मुंशी सदासुखलाल

मुंशी सदासुखलाल का जन्म सं० १८०३ में दिल्ली में हुआ था। सं० १८५० के लगभग ये ईस्ट-इंडिया-कम्पनी की अधीनता में चुनार (मिर्जापुर) में एक प्रति

पद पर कार्य करते थे। ये फारसी के एक अच्छे कवि और विद्वान् लेखक थे। हिन्दी में इनकी कोई स्वतन्त्र कृति उपलब्ध नहीं है। इनकी "विष्णु पुराण" पर आधारित कुछ उपदेशात्मक स्फुट रचनायें मिलती हैं। इनकी भाषा का नमूना देखिए—

'विद्या इस हेतु से पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका सतोवृत्ति है, वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिए। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कह के लोगों को बहकाइये और फुसलाइये और सत्य छिपाइये व्यभिचार कीजिये और धन द्रव्य इकठौर कीजिए और मन को जो कि तमोवृत्ति से भर रहा है, निर्मल न कीजिये।"

लल्लूलाल का प्रेमसागर और सदलमिश्र का नासिकेतोपाख्यान एक अंग्रेज अध्यापक की प्रेरणा के परिणाम हैं, पर इंशाअल्ला की 'रानी केतकी की कहानी' अथवा मुंशी सदासुखलाल के ये उपदेशात्मक लेख उनकी स्वयं स्फूर्ति के परिणाम हैं। जहाँ मुहावरों का प्रयोग अनुप्रास की छटा और भाषा का चटकीलापन इंशा के गद्य की विशेषता है, वहाँ संस्कृत के तत्सम और अर्धतत्सम शब्दों का प्रयोग मुंशी जी के गद्य की विशेषता है। खड़ी बोली के गद्य के विकास की दृष्टि से दोनों की भाषा में कोई अन्तर नहीं है। जो अन्तर दिखाई देता है वह उनकी शैली का अन्तर है। इंशा ने फारसी पद-विन्यास-शैली का प्रयोग किया है, पर मुंशी जी की शैली हिन्दू शिष्ट-समाज के वार्तालाप की शैली है। इनकी मृत्यु सं० १८८१ में हुई।

लल्लूलाल

लल्लूलाल का जन्म सं० १८२० में आगरे के एक गुजराती ब्राह्मण-कुल में हुआ था। 'प्रेमसागर' इनकी प्रसिद्ध रचना है। लेखक ने इसे फारसी शब्दों के प्रभाव से बचाने का असफल प्रयत्न किया है पर इसकी भाषा इंशा अथवा मुंशी सदासुख लाल की भाषा की तरह परिमार्जित खड़ी बोली नहीं है। यह ब्रजभाषा से इतनी अधिक प्रभावित है कि इसे "ओकारान्त विहीन ब्रजभाषा" ही कहना चाहिए। लल्लूलाल की इस भाषा में जाय, आय जाय सोई भई, कीजै दीजे आदि ब्रजभाषा के शब्दों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। इनकी यह खड़ी बोली कवि गंग की खड़ी बोली से अधिक साम्य रखती है। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"जिस काल ऊषा बारह बरस की हुई तो उसके मुखचन्द्र की ज्योति देख पूर्णमासी का चन्द्रमा छविहीन हुआ। उसकी चोटी सटकाई लख नागिन अपनी केंचुली छोड़ सटक गई। भौंह की बँकाई निरख धनुष धकधकाने लगा आँखों की बड़ाई चंचलाई लख मीन खंजन खिसाय रहे।"

लल्लूलाल ने उर्दू में सिंहासन बत्तीसी शकुन्तला नाटक माधवानल और बैताल-पचीसी की तथा ब्रजभाषा में "राजनीति" एवं "माधव विलास" की भी रचना की थी। इनकी मृत्यु सं० १८८२ वि० में हुई।

सदल मिश्र

सदल मिश्र बिहार के निवासी थे और फोर्ट विलियम कालेज में ही हिन्दी पुस्तकें लिखने का काम करते थे। "नासिकेतोपाख्यान" इनकी प्रसिद्ध रचना है। नासिकेतोपाख्यान की भाषा प्रेमसागर की भाषा से पृथक है। इसमें प्रेमसागर-सा न ब्रजभाषापन है और न काव्य-भाषा की पदावलियों का ही समावेश है। मिश्रजी ने अधिक-से-अधिक खड़ी बोली में रचना करने का प्रयत्न किया है पर इनके बिहारी होने के कारण कहीं कहीं कसन, सिताने, कहुँरिस, इहाँ अठारी-जैसे पूर्वी शब्द अवश्य आ गये हैं। कुछ पूर्वकालिक क्रियाओं और बहुवचन के रूप ब्रजभाषा की तरह ही प्रयुक्त हुए हैं। बिहारी प्रवृत्ति के अनुसार "ड़" के स्थान में 'र' एवं 'र' के स्थान में कहीं-कहीं "ड़" का भी प्रयोग हुआ है। "और" शब्द के लिए "ओ" शब्द का प्रयोग भी मिलता है। इन दोनों के होते हुए भी 'नासिकेतोपाख्यान" की भाषा शुद्ध खड़ीबोली के अधिक समीप है। उदाहरणार्थ पुस्तक का एक अंश देखिए—

"जो नारी स्वामी को निन्दती ओ नित्य कलह करती है सो वहाँ डाली जाती है कि जहाँ बड़े-बड़े तीमर के संभारे ऐसे लहर रहे हैं। पति के मरे पर औरों से मिलती हैं। भ्रम के दूत सब तिस की जीभ को काट लेते ओ तपताम्रु की प्रतिमा को पकड़ाते हैं।

ईसाई प्रचारकों का योग

उपर्युक्त चारों लेखकों की भाषाओं पर ध्यान देने से हमें इनमें से इंशाअल्ला खाँ की भाषा में ही अधिक प्रौढ़ता और खड़ी बोली की शुद्धता मिलती है। अतः हम यह कहते हैं कि सदासुखलाल नियाजी ने सं० १८६८ में खड़ी बोली-गद्य के जिस स्वरूप की प्रतिष्ठा अपने "भाषा योगवाशिष्ठ' की रचना द्वारा की उसे विकसित साहित्यिक रूप सैयद इंशा अल्ला खाँ ने प्रदान किया और वही उनके पश्चात् के अन्य गद्यकारों की भाषा बनी। इंशा के पश्चात् खड़ी बोली के गद्य की प्रतिष्ठा करनेवालों में मुंशी सदासुखलाल हैं जिन्होंने अपनी भाषा में संस्कृत के तत्सम और अर्धतत्सम शब्दों को स्थान दे उसके संस्कृत-प्रचुर रूप का आदर्श उपस्थित किया। ऐसा जान पड़ता था कि अब खड़ी बोली के गद्य की प्रतिष्ठा पूर्णरूपेण हो चुकी है और इसके पश्चात् गद्य-रचनाओं की परम्परा अधिकाधिक विकसित होती जायगी किन्तु इन लेखकों के पश्चात् सं० १९१५ तक इस दिशा में कोई काम नहीं हुआ। हाँ ईसाई प्रचारकों ने अवश्य ही इससे लाभ उठाया। उन्होंने प्रचारार्थ बाइबिल का अनुवाद कराया पाठ्य-पुस्तकें लिखवाईं और अन्य प्रचार-साहित्य भी खड़ी बोली-गद्य में ही तैयार किया। इनका यह काम सं० १८७५ तक पूर्ण होगया। इन्होंने इन अनुवादों में मुंशी सदासुखलाल और लल्लूलाल की भाषा को ही प्रधान लिया और यथासम्भव उसमें अरबी-फारसी के शब्दों का समावेश न होने दिया। ईसाइयों का यह समस्त साहित्य वास्तव में प्रचार

"उदन्त मार्तण्ड" का प्रकाशन पं० जुगलकिशोर ने सं० १८८३ में आरम्भ किया था। इसकी भाषा का नमूना देखिए—

"यह उदन्त मार्तण्ड अब पहिले पहल हिन्दुस्तानियों के हित के हेत जो आज तक किसी ने नहीं चलाया पर अंगरेजी औ पारसी औ बंगले में जो समाचार का कागज छपता है उसका सुख उन बोलियों के जानने और पढ़नेवालों को ही होता है। इससे सत्य समाचार हिन्दुस्तानी लोग देखकर आप पढ़ औ समझ लेयँ औ पराई अपेक्षा न करें औ अपने भाखे की उपज न छोड़ें।"

"उदन्त मार्तण्ड" सम्भवतः हिन्दी का प्रथम समाचार-पत्र था। इसके पूर्व हिन्दी में किसी पत्र के निकलने का पता नहीं मिलता।

सं० १९०७ में प्रकाशित बाबू तारामोहन सेन का पत्र 'सुधाकर' एक महत्त्व पूर्ण पत्र है। यह पत्र राजा शिवप्रसाद के 'बनारस अखबार' पत्र की प्रतिस्पर्धा में निकाला गया था। राजा साहब का पत्र कहने भर को हिन्दी पत्र था। उसकी लिपि अवश्य ही "देवनागरी" थी पर भाषा उर्दू थी जो हिन्दी-भाषी जनता के किसी काम की न थी। उसकी कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"देखकर लोग उस पाठशाले के किते के मकानों की खूबियाँ अक्सर बयान करते हैं और उनके बनने के खर्च की तजवीज करते हैं कि ज्यादा से ज्यादा लगा होगा और हर तरह से लायक तारीफ के है।

'सुधाकर' हिन्दी का पत्र था। इसकी भाषा प्रौढ़ और परिमार्जित रहती थी। इसके पश्चात् सं० १९०९ में आगरा से "बुद्धि-प्रकाश" नामक पत्र आरंभ हुआ। खड़ी बोली-गद्य की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण पत्र कहा जा सकता है। इसकी भाषा पर्याप्त निखरी होती थी। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ यहाँ प्रस्तुत की जा रही हैं—

"इस पश्चिमीय देश में बहुतों को प्रकट है कि बंगाले की रीति के अनुसार उस देश के लोग आसन्न मृत्यु रोगी को गंगा तट पर ले जाते हैं और यह तो नहीं करते कि उस रोगी के अच्छे होने के लिए उपाय करने में काम करें और उसे जल से रक्षा में रक्खें।"

राजा शिवप्रसाद का प्रयत्न

जिस समय राजा शिवप्रसाद शिक्षा-विभाग में आये उस समय बड़ी विचित्र स्थिति थी। राजा साहब हिन्दी के पक्षपाती थे पर शिक्षा-विभाग में मुसलमानों का अधिक प्रभाव होने से उर्दू का बोल-बाला था। स्कूलों में भी उर्दू की ही शिक्षा का प्राबल्य था। इसी स्थिति के कारण उन्होंने उर्दू-मिश्रित हिन्दी का प्रयोग आरम्भ किया था और चाहते थे कि इस प्रकार धीरे-धीरे हिन्दी की सत्ता स्थापित हो जाये।

दूसरे अदालत की भाषा भी उर्दू थी जिससे राजा साहब यह भी चाहते थे कि हिन्दू लोग भी उर्दू जानें और उससे लाभ उठावें। इन्हीं कारणों से राजा शिवप्रसाद ने उर्दू-मिश्रित हिन्दी के प्रयोग पर बल दिया था अन्यथा वे शुद्ध हिन्दी के ही पक्षपाती थे और स्वयं शुद्ध हिन्दी लिखने की क्षमता भी रखते थे। उदाहरणार्थ उनके एक लेख 'राजा भोज का सपना' का अंश देखिए—

"राजा की आँख लग गई तो स्वप्न में क्या देखता है कि वह बड़ा संगमरमर का मंदिर बनकर बिलकुल तैयार हो गया जहाँ कहीं उस पर नक्काशी का काम किया है वहाँ उसने बारीकी और सफाई में हाथी-दाँत को भी मात कर दिया है। कहीं कहीं पच्चीकारी का हुनर दिखलाया है वहाँ जवाहिरों को पत्थरों में जड़कर तसवीर का नमूना बना दिया है।"

जिन दिनों राजा शिवप्रसाद उर्दू-मिश्रित हिन्दी के प्रयोग पर बल दे रहे थे उन्हीं दिनों आगरा में राजा लक्ष्मण सिंह ने शुद्ध हिन्दी में रचना करनी आरम्भ की। इनका भाषा के रूप के सम्बन्ध में राजा शिवप्रसाद से मतभेद था। इन्होंने 'रघुवंश' के हिन्दी अनुवाद की भूमिका में लिखा है कि हिन्दी और उर्दू दो अलग-अलग भाषाएँ हैं। हिन्दी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों तथा फारसी पढ़े हुए हिन्दुओं की बोलचाल की भाषा है। चाहे जो हो पर इसमें सन्देह नहीं कि राजा शिवप्रसाद ने हिन्दी का जो रूप स्थिर किया उसी की आधार-शिला पर भारतेन्दुकालीन परिष्कृत हिन्दी का रूप प्रस्थापित हुआ। अतः खड़ी बोली गद्य के विकास में राजा साहब की सेवाएँ नगण्य नहीं समझी जा सकतीं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने राजा लक्ष्मणसिंह और राजा शिवप्रसाद की भाषाओं का समन्वय कर हिन्दी को एक नया स्वरूप दिया। इसे हम जन-सामान्य की भाषा कह सकते हैं उन्होंने लेखन में दो शैलियों से काम लिया। एक शैली का रूप सरल हिन्दी था और दूसरी का रूप संस्कृत-प्रचुर था। प्रथम शैली में उन्होंने साधारण और सरल विषयों पर लिखा और द्वितीय शैली में ऐतिहासिक एवं अन्य गहन विषयों पर लेख लिखे। इस प्रकार भारतेन्दु के द्वारा पंडिताऊ शैली से पृथक हिन्दी गद्य के शुद्ध रूप का निर्माण हुआ समस्त हिन्दी-भाषी प्रदेश ब्रजभाषा से प्रभावित था अतः उसमें खड़ी बोली गद्य के इस रूप का प्रचार आवश्यक था। यह काम अयोध्याप्रसाद खत्री तथा पं० श्रीधर पाठक ने सब ओर घूम-घूम कर अपने भाषणों द्वारा किया। इसी काल में बालकृष्ण भट्ट बालमुकुन्द गुप्त अम्बिकादत्तव्यास प्रतापनारायण मिश्र श्रीनिवास दास आदि ने निबंध-लेखन द्वारा, देवकीनन्दन खत्री किशोरीलाल गोस्वामी गोपालराम गहमरी आदि ने उपन्यास लिखकर तथा अन्य लेखकों ने नाटकादि लिखकर हिन्दी-गद्य के विकास का प्रशंसनीय प्रयत्न किया।

२१

हिन्दी नाट्य-साहित्य का उद्भव और विकास

शास्त्रकारों ने काव्य को दो रूपों में विभाजित किया है—श्रव्य काव्य और दृश्य-काव्य। श्रव्य काव्य केवल सुना या पढ़ा जा सकता है, वह नेत्रों से प्रत्यक्ष देखा नहीं जा सकता किन्तु दृश्य काव्य जिसे रूपक भी कहा जाता है, काव्य का वह विशेष स्वरूप है, जिसमें लोक-परलोक की घटित-अघटित घटनाओं का दृश्य दिखाने का आयोजन किया जाता है। यह कार्य अभिनय की सहायता से किया जाता है। दृश्य काव्य में जीवन-जगत् के विभिन्न व्यापारों की अनुकृति प्रत्यक्ष रूप में होती है। इसमें अनुकृति के अतिरिक्त नृत्य गीत आदि उपकरणों का भी समावेश रहता है, पर ये उपकरण दृश्यकाव्य का आकर्षण बढ़ाने में ही सहायक होते हैं दृश्य काव्य की मूल घटना—कथानक से इनका कोई सम्बन्ध नहीं होता अतः ये दृश्यकाव्य के अनिवार्य अंग नहीं हैं।

सभी विद्वान् यह मानते हैं कि प्रारंभिक नाटक आदिम मानव के हर्ष और आमोद का सूचक था। आदिम काल में जब मानव अपने मनोभावों को व्यक्त करने में असमर्थ था तब वह अपने हर्ष को रोक न सकने के कारण हर्ष-विह्वल हो नृत्य करने लग जाता होगा। उसका यह नृत्य कला-विहीन रहा होगा, पर वह ज्यों-ज्यों विकास की ओर बढ़ता गया उसके इस कला और सौन्दर्य से विहीन नृत्य में गति और लय ने स्थान पाया होगा और इसके पश्चात् ही इस कला की प्रणालियों का निर्माण हुआ होगा। उन दिनों आज के नाटकों की तरह उनके कथानक वर्षों की अनेक घटनाओं पर आधारित न हो अल्पकाल की सीमित घटनाओं पर ही आधारित होते थे इसीलिए पहिले भारत और ग्रीस में भी एक नाटक में केवल एक दिन की घटनाओं के ही समावेश का नियम था।

भारतीय नाट्य की रचना

यद्यपि आज के नाटककार पाश्चात्य शैली के अनुकरण पर नाट्य-रचना करके ही भारतीय नाट्य-साहित्य की समृद्धि करने का प्रयत्न कर रहे हैं, पर देश में स्वतंत्र रूप में नाटक-रचना का क्रम पहिले ही प्रशस्त किया जा चुका है और हम दृढ़ता के साथ कह सकते हैं कि यहाँ का रचना-क्रम पाश्चात्य प्रणाली से किसी अंश में कम उत्कृष्ट नहीं है। यहाँ सन्-ईस्वी से कई शताब्दी पूर्व "नाट्यशास्त्र" जैसे सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ की रचना हो चुकी है और कालिदास तथा भास जैसे उच्च-कोटि के नाटककार

अपनी अनुपम नाट्य-कृतियाँ प्रस्तुत कर चुके हैं। नाटक-कला के अंग-उपांगों का जितना सूक्ष्म विवेचन यहाँ किया गया, वह अन्यत्र दुर्लभ है। 'नाट्यशास्त्र' में ब्रह्मा के द्वारा वैवस्वत मनु के दूसरे युग में चारों वेदों के द्वारा नाट्य के पंचम वेद की रचना का उल्लेख है। इस नये वेद के लिए ऋग्वेद से संवाद, सामवेद से गान यजुर्वेद से नाट्य और अथर्ववेद से रस लेने का उल्लेख किया गया है। इसमें नाट्य-रचना तथा नाट्याभिनय से सम्बन्धित सभी आवश्यक बातों का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। नाट्य-विषयक जो व्यवस्थाएँ यहाँ अपने विकसित रूप में बहुत प्राचीनकाल में प्रचलित थीं वे १६ वीं और १७ वीं शताब्दी में भी यूरोप में नहीं देखी गईं। नाटक का क्षेत्र साहित्य की अन्य विधाओं से अधिक विस्तृत है, जैसा कि नाट्यशास्त्र की निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है नाटक में योग, कर्म, साहित्य, समस्त शिल्प एवं विश्व के अन्य विविध कार्यों को स्थान दिया जा सकता है

"न स योगो न तत्कर्म नाट्येस्मिन् यन्न दृश्यते ।
सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च ॥"

नाटक के मूल में अनुकरण की प्रवृत्ति का ही प्रमुख स्थान है। यह मानव मात्र की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। हम इसी प्रवृत्ति का विकास मानव-जीवन के बाल्यकाल से वृद्धावस्था तक देखते हैं। नाटक में भी उसके पात्र उन व्यक्तियों का अनुकरण करते हैं जिनकी जीवन-घटनाओं पर नाटक आधारित होता है। इस अनुकरण के द्वारा मनुष्य अपने आप को अधिक व्यापक रूप में प्रदर्शित करने का प्रयत्न करता है। वह कभी एक न्यायनिष्ठ शासक का अनुकरण करता कभी एक अत्याचारी का प्रतिनिधित्व करता, कभी शोषित-वर्ग के अभिशप्त जीवन का प्रदर्शन करता है। इसी प्रकार नाटक का प्रत्येक पात्र किसी-न-किसी का प्रतिनिधित्व करता हुआ उसके जीवन अथवा कार्यकलाप को रंगमंच पर उपस्थित करता है। इससे दर्शक नाटक के द्वारा कुछ ही समय में विभिन्न व्यक्तियों अथवा व्यक्ति-समूहों के जीवन से परिचय प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। तात्पर्य यह है कि नाटक के द्वारा मानव-सभ्यता के सम्पूर्ण रूपों का दर्शन कराया जा सकता है। संक्षेप में नाटक के मूल में चार प्रमुख प्रवृत्तियाँ काम करती हैं—१ अनुकरण की प्रवृत्ति २ आत्म-विस्तार की प्रवृत्ति ३ जाति-रक्षा की प्रवृत्ति और ४ आत्माभिव्यक्ति।

नाट्य-तत्त्व

पाश्चात्य नाट्याचार्यों के मतानुसार वस्तु, पात्र कथोपकथन, देशकाल शैली और उद्देश्य नाट्य-तत्त्व हैं। हमारे आचार्यों ने वस्तु, नायक और रस ही नाटक के तत्त्व माने हैं और इसी आधार पर उन्होंने रूपकों के भेद और उपभेद निश्चित किए

सारे नाटक से कुछ विशेष सम्बन्ध होना चाहिए। उसके प्रत्येक पात्र का स्वरूप ऐसा हो जो कथावस्तु की वृद्धि में उपयुक्त और आवश्यक जान पड़े। नाटककार को अपनी कथावस्तु और पात्रों के कथोपकथन से ही पात्रों का चरित्र चित्रण करना पड़ता है। नाटक का सारा चरित्र-चित्रण अभिनयात्मक ही होता है। अतः चरित्र-चित्रण और कथोपकथन ऐसा हो जो आप ही दर्शकों को पात्रों के स्वभाव प्रवृत्तियों उद्देश्य विचार आदि से परिचित करा दे।

पात्रों के अन्तर्गत नायक और नायिका का विशेष स्थान है। धनंजय के मतानुसार नायक को विनीत मधुर त्यागी दक्ष प्रियंवद शुचि युवा प्रज्ञावान्, स्मृति-सम्पन्न उत्साही दृढ़ शूर तेजस्वी आदि होना चाहिए। तात्पर्य यह कि वह अनेक उत्तम गुणों से सम्पन्न हो। पर इन सब गुणों को भी उचित रूप में ही होना चाहिए। उदाहरणार्थ वह ऐसा विनीत न हो कि चाहे जो उसे अपमानित कर दे। स्वभाव भेद से नायक चार प्रकार के कहे गये हैं—अनुकूल दक्षिण शठ और धृष्ट। ये चारों भेद एक ही नायक की उत्तरोत्तर विकसित होती हुई अवस्थाओं के भी हो सकते हैं। जब नायक एक ही पत्नी में अनुरक्त हो तब वह अनुकूल पर जब इस नवीन प्रेम को छिपाने का प्रयत्न कर पूर्व के पूर्ववत् ही प्रेमाचरण करता है तब वह दक्षिण, इस नवीन प्रेम के प्रकट हो जाने पर शठ और इस प्रेम के प्रकटन से वह निलज्ज हो जाय तो धृष्ट हो जाता है।

भारतीय नाट्य-शास्त्र के आचार्यों ने नायक के चार प्रकार बताए हैं—१ जिस नायक में क्षमा तथा आत्म-सम्मान उदारता गंभीरता स्थिरता दृढ़ता आदि गुण हों वह धीरोदात्त नायक कहलाता है। २ जिस नायक में चित्त की स्थिरता कोमलता कला-प्रियता शृङ्गारप्रियता और सुख की आकांक्षा हो वह धीर ललित कहलाता है। अभिज्ञान शाकुन्तल का नायक दुष्यंत इसी प्रकार का है। ३ संतोषी शान्तिप्रिय सुखानुवेषी नायक धीर-प्रशान्त कहलाता है यथा मालती-माधव नाटक का नायक 'माधव'। ४ जो नायक चपल धूर्त मायावी और आत्म-प्रशंसक हो उसे धीरोद्धत कहा गया है। इस प्रकार के नायक को 'खल नायक' भी कहा जाता है। महाभारत नाटक में दुर्योधन इसी रूप में प्रस्तुत किया गया है।

नायक की पत्नी "नायिका" कहलाती है। पाश्चात्य मतानुसार नायिका का नायक की पत्नी होना आवश्यक नहीं है। नाटकीय कथावस्तु में जिसे प्रधान स्थान प्राप्त हो, वही नायिका होती है। पर भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार नायक की प्रिया ही नायिका होती है। नायक के सामान्य गुण नायिका में भी होने चाहिए।

नाट्यशास्त्र में भरत ने दिव्या, नृपपत्नी, कुल-स्त्री और गणिका नायिका के प्रकार बतलाये हैं। नायिका के सर्वमान्य प्रकार स्वकीया, परकीया और सामान्या हैं। स्वकीया अपनी, परकीया दूसरे की और सामान्या किसी की भी स्त्री होती है।

३ कथोपकथन

नाटक के पात्रों के भावों, विचारों, प्रवृत्तियों आदि के विकास और विस्तार आदि का पता कथोपकथन से ही लगता है। कुछ नाटक ऐसे होते हैं, जिनमें मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का विशेष ध्यान रखकर चरित्र-चित्रण किया जाता है और कथावस्तु का सम्बन्ध कुछ ऐसी बातों से होता है जो प्रत्यक्ष अभिनय में नहीं आतीं। इस अवस्था में कथोपकथन ही अभिनय का एक मुख्य अंग बन जाता है क्योंकि ऐसे नाटकों में कथावस्तु का समस्त विकास और उसकी व्याख्या उस कथोपकथन पर ही अवलम्बित रहती है। इसी प्रकार नाटककार टीका-टिप्पणी आदि का काम भी कथोपकथन से ही लेता है।

हमारे आचार्यों ने कथोपकथन अथवा दृश्य वस्तु के तीन भाग किए हैं—नियत श्राव्य, सर्वश्राव्य और अश्राव्य। जब रंगमंच पर कई पात्र हों, तब उनमें से यदि कोई एक पात्र अन्य पात्रों से छिपाकर कुछ नियत पात्रों से ही कुछ कहता है तो वह नियतश्राव्य, यदि सभी को सुनाने को कुछ कहता हो तो सर्वश्राव्य पर यदि वह ऐसे ढंग से बोले कि किसी को कुछ सुनाना न चाहता हो और न उसकी बातें कोई सुनता हो तो वह कथन अश्राव्य कहलाता है। इसे ही 'स्वगत' या आत्मगत भी कहते हैं। पर नाटककार को इस प्रकार के स्वगतकथन का आश्रय अनिवार्य स्थिति में ही लेना चाहिए।

इसके सिवाय हमारे यहाँ एक प्रकार का कथन नाटक में और होता है, जिसका पाश्चात्य नाटकों में स्थान नहीं है। इसे "आकाशभाषित" कहते हैं। इसमें पात्र ऐसा नाट्य करता है मानों उससे कोई कुछ पूछ रहा है और वह आकाश की ओर मुँह करके उसका उत्तर देता है। कभी-कभी ऐसे कथन से दृश्य का सौन्दर्य भी बढ़ जाता है।

४ देश-काल

कथोपकथन के उपरान्त [illegible] की तरह ही नाटक में भी देश-काल का ध्यान रखना पड़ता है। इसमें संकलनत्रय का विशेष महत्व है। यह संकलन देश और काल के अतिरिक्त वस्तु के सम्बन्ध में भी होता है। इसको वस्तु-संकलन, काल-संकलन और स्थान या स्थल-संकलन कहते हैं। इसका उपयोग उसी सीमा तक होना चाहिए, कि जिससे कला के सौन्दर्य और उपयोगिता पर आघात न हो।

(१) वस्तु-संकलन की दृष्टि से प्रासंगिक कथावस्तु का इतना विस्तार न होना चाहिए कि आधिकारिक कथावस्तु दब जाये और प्रासंगिक कथावस्तु ही आधिकारिक कथावस्तु बन जावे।

(२) काल-संकलन के सिद्धान्त के अनुसार, जो कार्य जितने समय में हुआ हो, वह नाट्य में भी उतने ही समय में होना चाहिए। इसीलिए यूनानी तत्त्ववेत्ता अरस्तू ने यह नियम बना दिया था कि एक नाटक में उतनी ही घटनाएँ होनी चाहिए, जितनी २४ घंटे में हुई हों और इसीलिए वहाँ चौबीसों घंटे नाटक होता था पर अब नाटकघर के नियमों में काल-संकलन बाधक नहीं होता। अब काल-संकलन से केवल यही तात्पर्य समझा जाता है कि आगे होनेवाली घटना पीछे न बतलाई जाय अर्थात् घटनाएँ क्रमबद्ध रूप से बतलाई जावें। दूसरे दो घटनाओं के बीच के समय पर दर्शकों का ध्यान न जाना चाहिए।

(३) स्थल-संकलन की दृष्टि से यूनानियों के मतानुसार रंगशाला का दृश्य आदि से अन्त तक एक ही रहना चाहिए। यूनानियों ने यह नियम इसलिए बनाया था कि उनके नायक आदि से अन्त तक रंगमंच पर ही उपस्थित रहते थे।

५. उद्देश्य

नाटक अथवा उपन्यास का उद्देश्य जीवन की व्याख्या अथवा आलोचना है। उपन्यासकार प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से जीवन की व्याख्या या आलोचना कर सकता और करता है, पर नाटककार को यह कार्य केवल अप्रत्यक्ष रूप से ही करना पड़ता है। एक विद्वान् के मतानुसार उपन्यास जीवन की सबसे अधिक विस्तृत व्याख्या है, पर नाटक का क्षेत्र इतना व्यापक नहीं है। उपन्यासकार जीवन की व्याख्या करने का सब काम स्वयं करता है, पर नाटक में जीवन की व्याख्या समझाने का काम दर्शकों पर आ पड़ता है। नाटककार स्वयं कभी हमारे सामने नहीं आता। कोई पात्र जितनी बातें कहता है उन सबके लिए नाटककार ही उत्तरदायी माना जाता है; इसीलिए नाटक के समस्त पात्रों के कथनों का आपस में मिलान करके और उनका ठीक-ठीक अभिप्राय समझकर नाटक के उद्देश्य का निर्णय किया जाता है। किसी पात्र विशेष के कथन से नाटक का उद्देश्य निश्चित करना भ्रमपूर्ण होगा। पर हाँ किसी-किसी पात्र के उद्‌गार अवश्य ऐसे होते हैं जो वास्तव में नाट्यकार के हृदय के ही उद्‌गार होते हैं। ऐसे उद्‌गारों के आधार पर ही नाटक का उद्देश्य स्थिर किया जाता है। अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध कवि शैली के मतानुसार काव्य का समाज के कल्याण के साथ जो सम्बन्ध है, वह नाटक में सबसे अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। यह वास्तव में सत्य भी है। नाटकों में नाट्यकार अपने युग का वास्त

रखता है, अतः इनसे तत्कालीन समाज के उत्कर्ष या अपकर्ष—उत्थान या पतन का ज्ञान हमें हो जाता है। यही नाटक का सबसे बड़ा उद्देश्य नैतिक प्रवृत्ति और सामाजिक कल्याण की भावना को जन्म देना स्पष्ट है।

६ शैली

कथोपकथन ही नाटक की मुख्य शैली है। नाटक में कथोपकथन (संवाद) के साथ ही गीतों और नृत्यों का भी स्थान है। यद्यपि गीत और नृत्य नाटक के अनिवार्य अंग नहीं हैं तथापि इनके समावेश से नाटक का आकर्षण और प्रभाव बढ़ जाता है। इस दृष्टि से नाटक की चार शैलियाँ मानी गई हैं।

१ कौशिकी शैली

नाटक में शृङ्गार और हास्य का समावेश जिस शैली के द्वारा किया जाता है उसे कौशिकी शैली कहते हैं। गीत और नृत्य समन्वित नाटकों की रचना इसी में होती है। इस शैली का जन्म सामवेद से माना जाता है।

२ सात्वती शैली

इसका सबंध दया उदारता दान शौर्य आदि से है। इस शैली में वीर, रौद्र और अद्भुत रस की प्रधानता होती है। इसका जन्म यजुर्वेद से माना गया है।

३ आरभटी शैली

इस शैली में क्रोध भयंकर युद्ध पड्यंत्र आदि के द्वारा रसोत्पत्ति होती है। इसका जन्म अथर्ववेद से माना गया है।

४ भारती शैली

यह ऋग्वेद से उत्पन्न शैली है। इसका सम्बन्ध केवल पुरुष पात्रों से होता है। प्रायः सभी रस इस शैली के अन्तर्गत आते हैं।

नाट्य रचना की इन विभिन्न शैलियों के होते हुए भी कोई नाटक किसी एक विशिष्ट शैली में नहीं लिखा जा सकता। नाटक के भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न शैलियों का प्रयोग किया जाता है। अतः पूर्ण नाटक को इन चारों शैलियों का एक समन्वय कहना ही उचित होगा।

नाटक को दृश्य-काव्य कहा गया है। उसकी सार्थकता अभिनीत होने में ही है। जो नाटक अभिनीत नहीं किये जा सकते उन्हें पूर्णरूपेण दृश्य काव्य अथवा नाटक कहना ही व्यर्थ है। यही कारण है कि नाटककार को नाट्य-रचना करते समय अभिनय संबंधी विशेषताओं का ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है। हम इस प्रसंग में अभिनय और रंगमंच संबंधी प्रमुख बातों पर भी विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं।

अभिनय

अभिनय ही नाटक का प्राण है। इसीके द्वारा नाटक के पात्र मानव-जीवन

को विविध स्थितियों को अभिव्यक्त करते हैं। नाट्याचार्य भरत के मतानुसार अभिनय के चार प्रकार हैं—

आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्विक। शरीर के विभिन्न अंगों द्वारा की जानेवाली भावाभिव्यक्ति आंगिक अभिनय है। वाणी द्वारा संवाद रूप में किया गया अभिनय 'वाचिक' कहलाता है। यह अभिनय आंगिक अभिनय में भी सहायक होता है। वेशभूषादि से सम्बन्धित अभिव्यक्ति अथवा अभिनय 'आहार्य' है। रोमांच, स्तम्भ, अश्रु, हास्य, स्वेद आदि के द्वारा जो सात्विक भावों की अभिव्यक्ति की जाती है वह 'सात्विक' अभिनय कहलाता है। अभिनय के इन चारों प्रकारों का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। बिना इस सम्बन्ध के पूर्ण नाटक स्पष्ट और प्रभावकारी रूप में दर्शकों के सामने प्रदर्शित नहीं किया जा सकता।

रंगमंच

भारतीय नाट्य-विशेषज्ञों ने रंगमंच के आकार-प्रकार, लम्बाई-चौड़ाई, ऊंचाई, साज-सज्जा आदि का विस्तृत विवेचन किया है। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल में भारतीय रंगमंच का विकास चरम सीमा तक पहुँच गया था। हिन्दी नाटकों का रंगमंच अभी भी पूर्ण विकसित नहीं हो पाया है। सर्वप्रथम सम्भवतः पारसी नाट्य-कम्पनियों ने ही हमारा ध्यान रंगमंच की ओर आकर्षित किया। इनका रंगमंच अत्यन्त दोषपूर्ण और निम्न कोटि का था। बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी-रंगमंच को एक व्यवस्थित रूप दिया। भारतेन्दु-काल को हिन्दी-रंगमंच का जन्मकाल ही कहा जा सकता है। उस काल में और उसके पश्चात् भी कुछ नाट्य-प्रेमियों ने इसका विकास करने का प्रयत्न किया किन्तु रंगमंच का जितना विकास महाराष्ट्र और बंगाल में हुआ उतना हिन्दी भाषी क्षेत्र में सम्भव न हो सका। हिन्दी के रंगमंच के विकास का प्रयत्न हो ही रहा था कि चल-चित्रों का आविर्भाव हो गया और उसकी चकाचौंध के सामने हमारा यह प्रयत्न फीका पड़ गया। अभी कुछ दिनों से एकांकियों के चलन के साथ पुनः इस ओर ध्यान दिया जाने लगा है किन्तु अभी भी हिन्दी के रंगमंच का विकास अपूर्ण ही बना हुआ है। रेडियो रूपकों की लोकप्रियता के कारण भी हमारा यह प्रयत्न अत्यधिक शिथिल गति से आगे बढ़ रहा है।

हिन्दी-नाट्य-साहित्य का विकास—

कुछ विद्वान् भारतीय नाट्यकला को यूनानी नाट्यकला का अनुकरण मात्र मानते हैं, *किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। जैसा कि आरम्भ में कहा जा चुका है* भारतीय नाट्य-परम्परा सर्वाधिक प्राचीन है। नाट्याचार्य भरत के मतानुसार भारतीय नाट्यशास्त्र ब्रह्मा द्वारा सृजित पंचमवेद है। भरत के पूर्व भी आचार्य पाणिनि (ईसा से चौथी शताब्दी पूर्व) ने 'कृशाश्व एवं शिलालिन्' नामक नाटककारों का उल्लेख

किया है। हरिवंश पुराण में 'रामजन्म' तथा 'कौबेररम्भाभिसार' नाटकों के अभिनीत होने का उल्लेख है। ईसा की प्रथम शताब्दी में 'भास' द्वारा 'स्वप्नवासवदत्ता', "प्रतिमा यौगन्धरायण' आदि तेरह नाटकों की रचना हुई थी। इसके पश्चात कालिदास से नाट्य-साहित्य के निर्माण की एक स्वस्थ-शृङ्खला ही आरम्भ हो जाती है, जो संस्कृत-साहित्य में आज भी किसी न-किसी अंश में परिलक्षित है। संस्कृत-नाट्य रचना की यही परम्परा हिन्दी को एक विरासत के रूप में प्राप्त हुई और हिन्दी की नाट्य-परम्परा के उद्भव और विकास की आधार बनी। हिन्दी के नाट्य-साहित्य का जन्म और विकास यद्यपि भारतेन्दु-काल से माना जाता है तथापि इसका जन्म किसी न-किसी रूप में तेरहवीं शताब्दी में हो चुका था। डा० दशरथ ओझा ने तेरहवीं शताब्दी में रचित 'गय सुकुमार रास' को हिन्दी का प्रथम नाटक माना है। इसके पश्चात उन्होंने कुछ मैथिल नाटकों का उल्लेख किया है जिनमें कवि विद्यापति-रचित 'गोरक्ष-विजय' नाटक का भी स्थान है। इसके पश्चात 'रासलीला' नाटकों का स्थान है। इसके अनन्तर हमें हृदयराम का 'हनुमन्नाटक', बनारसीदास का 'समयसार' नाटक, गुरु गोविन्दसिंह का 'चण्डी चरित्र', यशवन्तसिंह का 'प्रबोध चन्द्रोदय' नेवाज का 'शकुन्तला' आदि नाटकों का पता लगता है, किन्तु इनमें से कोई भी ऐसा नाटक नहीं है जिसमें हमें नाट्य-तत्वों का समुचित विकास मिलता हो। फिर भी हम इन्हें हिन्दी की नाट्य-परम्परा आरम्भ करनेवाले भारतीय नाटक अवश्य कह सकते हैं। हिन्दी के नाट्य-साहित्य का वास्तविक आरम्भ भारतेन्दु-काल से ही होता है। हम नाट्य-साहित्य के विकास की दृष्टि से भारतेन्दु से आज तक के काल को तीन युगों में विभाजित कर सकते हैं—भारतेन्दु युग प्रसाद युग और प्रसादोत्तर युग।

भारतेन्दु युग सन् १८५० से १९०० ई० का प्रथम नाटक 'नहुष' है जिसकी रचना भारतेन्दु के पिता बाबू गोपालचन्द्र ने सन् १८४१ ई० में की थी। इसके पश्चात् सन् १८६१ में राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा अनूदित नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तल' प्रकाशित हुआ। तदनन्तर बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का प्रथम नाटक 'विद्या सुन्दर' सन् १८६८ में प्रकाश में आया। इसके पश्चात् उनके अन्य अनेक मौलिक और अनूदित नाटक सामने आये जिनमें पाखंड विडम्बन, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, धनंजय विजय, मुद्राराक्षस, सत्य हरिश्चन्द्र, प्रेम जोगिनी, विषस्य विषमौषधम्, कर्पूरमंजरी, चन्द्रावली, भारत दुर्दशा, नीलदेवी, अंधेर नगरी, सती प्रताप आदि आदि उल्लेखनीय हैं। इसी काल में भारतेन्दु जी की प्रेरणा से लाला श्री निवासदास ने रणधीर प्रेम मोहिनी, संयोगिता स्वयंवर आदि; राधाकृष्णदास ने महाराणा प्रताप, महारानी पद्मावती, दुःखिनी बाला, बदरीनारायण चौधरी "प्रेमघन" ने भारत सौभाग्य, नग बहादुर ने भारत ललना, बाबू तोताराम ने विवाह-विडंबना प्रतापनारायण मिश्र ने

भारत दुर्दशा, अंधेर नगरी, चन्द्रावली, नीलदेवी, सत्य हरिश्चन्द्र, विषस्य विषमौषधम्, प्रेमयोगिनी, सती प्रताप, भारत जननी, मुद्राराक्षस, धनंजय विजय, कर्पूर मंजरी, पाखण्ड विडम्बन, भारत दुर्दशा, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, प्रेम जोगिनी, सती प्रताप आदि नाटकों की रचना की। इन्हीं दिनों लाला सीताराम ने 'उत्तर रामचरित' और 'मालती माधव' संस्कृत से अनुदित नाटक प्रस्तुत किए। बाबू शिवनन्दन ने सज्जाद सम्बुल, रामलाल लोकन मुरारीलाल नन्दन भट्ट, ने मृच्छकटिक और पं० अम्बिकादत्त व्यास ने ललिता नाटक की रचना की है।

हमें भारतेन्दुकाल के नाटकों में जो विशेषताएं मिलती हैं, उनमें से प्रथम विशेषता यह है कि अधिकांश नाटक या तो पौराणिक ऐतिहासिक हैं या तत्कालीन सामाजिक स्थिति पर आधारित सुधारवादी हैं।

दूसरे इन नाटकों में संस्कृत नाटकों के विपरीत देव, गन्धर्व आदि अलौकिक पात्रों का अभाव है। उनके स्थान पर मानवीय पात्र ही उपस्थित होते हैं। इस परिवर्तन से हिन्दी नाटकों की वह परम्परा प्रारम्भ होती है जिसका सम्बन्ध मानव जीवन से है। तीसरे इन नाटकों से चमत्कार की प्रवृत्ति घटती गई। चौथे इस काल के नाटक संस्कृत की परम्परागत लेखन-शैली का त्याग कर एक नई शैली की ओर अग्रसर होते दिखाई देते हैं। यह अवश्य है कि इन नाटकों में कथानक की शिथिलता एवं नाट्य-तत्वों के विकास की अपूर्णता दृष्टिगोचर होती है। यह हिन्दी के नाट्य-साहित्य का प्रारम्भिक युग है अतः इस काल के नाटकों में यह न्यूनता स्वाभाविक ही कही जा सकती है। इन न्यूनताओं के होते हुए भी यह अवश्य कहा जा सकता है कि भारतेन्दु काल में हिन्दी के नाट्य-साहित्य के विकास के लिए जो कुछ किया गया वह अत्यधिक महत्वपूर्ण है। स्वयं भारतेन्दु बाबू की सेवाएँ अनेक दृष्टि से मूल्यवान हैं। उनका सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य हिन्दी को एक सर्वथा नवीन नाट्य-शैली प्रदान करना है। वे संस्कृत की प्राचीन नाट्य-शैली तथा अंग्रेजी और बंगला की नाट्य-शैलियों से भी परिचित थे किन्तु उन्होंने इनमें से किसी भी एक शैली का अनुकरण नहीं किया। उन्होंने इन शैलियों का समन्वय कर हिन्दी के नाटककारों के समक्ष एक नवीन शैली ही प्रस्तुत की। हम द्विवेदी काल के नाटकों में इसी शैली का विकास देखते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उनकी इस शैली के सम्बन्ध में लिखा है—

"नाटकों की रचना-शैली में उन्होंने मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया। न तो बंगला नाटकों की तरह प्राचीन भारतीय शैली को एकबारगी छोड़ वे अंग्रेजी नाटकों की नकल पर चले और न प्राचीन नाट्यशास्त्र की जटिलता में अपने को फँसाया।"

हम भारतेन्दु के नाटकों में मुख्यतः निम्नांकित विशेषताएँ पाते हैं—

१—इन्होंने कथावस्तु में प्रकरी पताका सन्धि और पंच अर्थ प्रकृति को विशेष महत्व नहीं दिया।

२—उन्होंने जहाँ तक सम्भव हो सका, कथावस्तु में जटिलता न आने दी।

३—उन्होंने प्रायः सभी नाटकों में प्राचीन परम्परा के अनुसार मंगलाचरण, नान्दीपाठ, प्रस्तावना आदि का प्रयोग किया है। इसी प्रकार दृश्य-परिवर्तन के लिए उन्होंने गर्भाङ्क को भी स्थान दिया है।

४—उनके अधिकांश नाटकों के पात्र मध्यमवर्गीय एवं सामान्य ही हैं।

५—पात्रों का चरित्र-चित्रण करने के लिए उन्होंने पात्रों की योग्यता और स्थिति का ध्यान रखकर ही उचित कथोपकथन से काम लिया है।

६—उनके नाटकों में तत्कालीन धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक स्थितियों एवं समस्याओं का समावेश मिलता है। इस रूप में वे स्थान-स्थान पर अपने युग का प्रतिनिधित्व करते दिखाई देते हैं।

७—इनके सभी नाटक गीतों से पूर्ण हैं। इन गीतों में पात्रों की सुन्दर भावाभिव्यक्ति हुई है।

भारतेन्दु-काल के जिन नाटककारों का उल्लेख पहिले किया जा चुका है उनके अतिरिक्त किशोरीलाल गोस्वामी-मयंक मंजरी, खड्गबहादुर मल्ल-रति कुसुम, शालिग्राम-लावण्यवती, सुदर्शन, देवकीनन्दन त्रिपाठी, जयनारसिंह-रत्नावल्लभ, स्त्री चरित्र, कलयुगी जनेऊ आदि प्रहसन, बालकृष्ण भट्ट-शिक्षा दान, राधाचरण गोस्वामी-बूढ़े मुंह मुंहासे, हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ-स्त्री की चपेट, गोपालराम गहमरी-दादा और मैं आदि नाटककार भी उल्लेखनीय हैं।

भारतेन्दु-काल और प्रसाद-काल के मध्य में भी कुछ नाटक लिखे गये किन्तु उनमें से अधिकांश संस्कृत, अंग्रेजी और बंगला नाटकों के अनुवाद ही थे। इन अनुवादित नाटकों में कृष्णदेव शर्मा का भर्तृहरि, राजस्थान, ज्वालाप्रसाद मिश्र का वेणी संहार, रामेश्वर भट्ट की रत्नावली, शीतलाप्रसाद का प्रबोध चन्द्रोदय, देवीदत्त तिवारी का उत्तररामचरित, लाला सीताराम के महावीरचरित और उत्तररामचरित आदि संस्कृत से अनुवादित नाटक उल्लेखनीय हैं। रामकृष्ण वर्मा ने वीर नारी, पद्मावती और कृष्णा कुमारी नाटकों का बंगला से अनुवाद किया। इन्हीं दिनों शेक्सपियर के कुछ नाटक हिन्दी में आये।

प्रसाद काल

भारतेन्दु के पश्चात् बाबू जयशंकर प्रसाद ने हिन्दी के नाट्य-साहित्य का प्रतिनिधित्व किया। प्रसाद जी का आविर्भाव वास्तव में हिन्दी-नाट्य-साहित्य के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी के रूप में हुआ था। वस्तु विधान, नाट्य शैली, भाषा आदि सभी दृष्टियों से उन्होंने इस क्षेत्र में एक युगान्तकारी परिवर्तन कर दिया। रंगमंच की दृष्टि से

उनके नाटक भले ही पूर्ण सफल न हो सके हों किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि साहित्यिक दृष्टि से वे अत्यन्त मूल्यवान् हैं। उन्होंने ऐतिहासिक नाटकों की जिस परम्परा को जन्म दिया उसने क्रमशः विकसित होकर हिन्दी के नाट्य-साहित्य की समृद्धि में महत्वपूर्ण योग दिया है। सब प्रथम सन् १६१० में सज्जन नाटक के साथ उन्होंने हिन्दी के नाट्य-साहित्य में प्रवेश किया। उनके अन्य नाटक कल्याणी परिणय करुणालय प्रायश्चित्त राज्यश्री विशाख अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ स्कन्दगुप्त चन्द्रगुप्त एक घूँट और ध्रुवस्वामिनी हैं। इनमें प्रसाद जी के अधिकांश नाटकों में भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य-तत्वों का समन्वय मिलता है। उनके नाटकों में चित्रित संघर्ष और व्यक्तिवैचित्र्य पाश्चात्य नाट्य-तत्वों की स्वीकृति का ही परिणाम है। भारतीय परम्परा के अनुसार नाटकों का सुखान्त होना आवश्यक है और पाश्चात्य दृष्टिकोण दुखान्त नाटक ही श्रेष्ठ समझता है। प्रसाद जी के नाटक सुखान्त और दुखान्त का एक समन्वय है। संभवतः यही देखकर कुछ विद्वान उनके नाटकों को सुखान्त अथवा दुखान्त न मान कर 'प्रसादान्त' मानते हैं। इस युग के अन्य प्रमुख नाटककारों में प० गोविन्दवल्लभ पंत, प० माखनलाल चतुर्वेदी प्रेमचन्द उग्र बाबू गोविन्ददास आदि हैं। वरमाला, और राजमुकुट पन्त जी के कृष्णार्जुन युद्ध चतुर्वेदी जी का कर्बला प्रेमचन्दजी का, महात्मा ईसा तथा गंगा का बेटा उग्रजी का तथा कर्म, हर्ष कुलीनता अशोक आदि बाबू गोविन्ददास के नाटक हैं। इस काल के ऐतिहासिक नाटकों में बलदेवप्रसाद मिश्र का मीराबाई जगन्नाथ प्रसाद का प्रताप-प्रतिज्ञा बदरीनाथ भट्ट का दुर्गावती चन्द्रराज भण्डारी का सम्राट् अशोक वियोगी हरि का प्रबुद्ध-यामुन आदि भी उल्लेखनीय हैं।

इस काल के अन्य नाटककारों में बदरीनाथ भट्ट कृष्णप्रकाश सिंह,हरिदास माणिक जी पी० श्रीवास्तव, माखन शुक्ल जमनादास मेहरा वियोगी हरि पंडित सुदर्शन, मैथिलीशरण गुप्त आदि हैं। बदरीनारायण भट्ट का कुरुवन-दहन वेन चरित और तुलसीदास, कृष्णप्रकाश सिंह का पन्ना हरिदास माणिक का संयोगिताहरण तथा अभय कुमार, मैथिलीशरण गुप्त का चन्द्रहास माखन शुक्ल का महाभारत जमनादास मेहरा का विश्वामित्र सुदर्शन का अंजना वियोगी हरि का छद्मयोगिनी आदि नाटक उल्लेखनीय हैं। ये सभी नाटक रंगमंच की दृष्टि से भी सफल नाटक कहे जा सकते हैं। इस काल में बदरीनाथ भट्ट और जी० पी० श्रीवास्तव ने कुछ हास्यरस प्रधान नाटकों की भी रचना की। चुंगी की उम्मीदवारी लबड़ धोंधों विवाह-विज्ञापन तथा मिस अमेरिकन भी बदरीनाथ भट्ट के तथा उलट-फेर, दुमदार आदमी गड़बड़ झाला, मर्दानी औरत भूल-चूक आदि जी० पी० श्रीवास्तव के प्रसिद्ध हास्य नाटक 'प्रहसन' हैं। प्रहसनों में पंडित सुदर्शन का आनरेरी मजिस्ट्रेट उग्र का चार बेचारे, हरिशंकर

प्रसाद उपाध्याय का कौंसिल के उम्मीदवार, राधेश्याम का कौंसिल की उम्मीदवारी आदि भी उल्लेखनीय हैं।

प्रसादोत्तर काल—

प्रसादोत्तर युग में हिन्दी के नाट्य साहित्य का आशातीत विकास हुआ। इस युग में तीन प्रकार के नाटक लिखे गये। हरिकृष्ण प्रेमी वृन्दावनलाल वर्मा तथा चतुरसेन शास्त्री जैसे कुछ नाटककारों ने प्रसाद जी की ऐतिहासिक परम्परा को ही अग्रसर करने का प्रयत्न किया। श्रीहरिकृष्ण प्रेमी के रक्षाबंधन, शिवा साधना प्रतिशोध, आहुति स्वप्न भंग विषपान शपथ संवत् प्रवर्तन आदि इसी परम्परा के सुन्दर नाटक हैं। प्रेमीजी के सभी नाटक अभिनयात्मक हैं, जब कि प्रसाद जी के नाटकों को अभिनीत करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। अतः प्रेमीजी के नाटकों को रंगमंच की दृष्टि से भी अधिक सफल कहा जा सकता है। राखी की लाज काश्मीर का काँटा झाँसी की रानी हंस मयूर, पूर्व की ओर बीरबल जहाँदार शाह आदि श्री वृन्दावनलाल जी वर्मा के ऐतिहासिक नाटक हैं। अमर राठौर और उत्सर्ग श्री चतुरसेन शास्त्री के नाटक हैं। श्री जगदीश माथुर का कोणार्क नाटक भी इसी शृङ्खला की एक कड़ी है। डा० रामकुमार वर्मा के विजय पर्व तथा दूसरा और रूपाय नाटक का स्थान भी ऐतिहासिक नाटकों के अन्तर्गत है।

दूसरे प्रकार के नाटक हैं जिन्हें समस्या-प्रधान नाटक कह सकते हैं। इन नाटकों पर पाश्चात्य नाटककार इब्सन, बर्नार्डशा आदि का प्रभाव है। समस्याप्रधान नाटककारों में श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र उपेन्द्रनाथ अश्क और बाबू गोविन्ददास प्रमुख हैं। संन्यासी सिन्दूर की होली राक्षस का मंदिर, मुक्ति का रहस्य, राजयोग गुड़िया का घर, वत्सराज आदि मिश्र जी के प्रसिद्ध नाटक हैं। इन नाटकों के अतिरिक्त आपने "चक्रव्यूह" नामक एक सांस्कृतिक नाटक भी लिखा है। अश्क जी स्वयं भी कमला कैद छठा बेटा उड़ान आदि मार्ग जय-पराजय आदि समस्यामूलक नाटक लिखे हैं। बाबू गोविन्ददास के पूर्वोल्लिखित नाटकों के अतिरिक्त कर्तव्य सेवापथ दुःख क्यों बड़ा पापी कौन आदि इस द्वितीय परम्परा के नाटक हैं।

श्री उदयशंकर भट्ट भी वर्तमान काल के प्रसिद्ध नाटककार हैं। इन्होंने अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक नाटक लिखकर इस साहित्य के विकास का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। अम्बा सगर-विजय मत्स्यगंधा और विश्वामित्र उनके पौराणिक तथा विक्रमादित्य दाहर, सिंधपतन मुक्तिपथ शक विजय आदि उनके ऐतिहासिक नाटक हैं। इन्होंने कमला लिखकर भावनाट्य का भी एक नूतन प्रयत्न किया है। इन दिनों अनेक नई प्रतिभाएँ इस पथ में अग्रसर हो रही हैं जिनसे हिन्दी के नाट्य-साहित्य के विकास में एक मूल्यवान् शृंखला के योग की आशा की जा सकती है।

रूप में उपस्थित की गई है और मागन्धी एक विलासवती नारी का प्रतिनिधित्व करती है। चरित्र की दृष्टि से ये दोनों नारी पात्र भी एक-दूसरे के विपरीत हैं। ऐसा जान पड़ता है कि अपने कथानक को अधिक-से-अधिक संघर्षपूर्ण बनाने के लिए ही नाटककार ने इसमें अनेक परस्पर-विरोधी पात्रों का समावेश किया है। पर वह इस विरोध की प्रवृत्ति का अपने नाटक में उचित ढंग से सफलतापूर्वक समाहार नहीं कर सका। इस नाटक में प्रसाद जी ने चरित्रचित्रण और परिस्थितियों को जितना प्राधान्य दिया है, उतना वे रस-योजना को नहीं दे सके। नाटक में वीर शान्त हास्य आदि अनेक रसों का स्थान है, पर इनमें से कोई भी रस पूर्ण परिपक्वता प्राप्त नहीं कर सका।

स्कन्दगुप्त

यह प्रसाद जी के नाटकों में सर्वश्रेष्ठ है। इसमें हमें ऐतिहासिक और राजनीतिक घटनाओं के समन्वय के साथ पारिवारिक और व्यक्तिगत जीवन का सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। नाटक के सभी पात्र एक ओर राजनीतिक परिवर्तन के लिए प्रयत्नशील और दूसरी ओर व्यक्तिगत आकांक्षाओं की पृष्ठभूमि पर अग्रसर होते दृष्टिगोचर होते हैं। वस्तु-विन्यास स्वाभाविक गति से एक नवीन आकर्षण के साथ विकसित होता दिखाई देता है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी कथावस्तु की तरह ही स्वाभाविकता है। प्रसाद जी ने इस नाटक में समूहगत चरित्रों के साथ व्यक्तिगत चरित्रों का विकास बड़ी सफलता के साथ दिखाया है। अन्य नाटकों की तरह इस नाटक में भी पात्रों की संख्या अधिक है। ऐसा जान पड़ता है कि विभिन्न चरित्रों का विकास दिखाने के लिए ही नाटककार ने लंका से काश्मीर तक के विविध स्वभाव, आकांक्षा और मनोवृत्तियों के पात्रों को इसमें स्थान दिया है। चरित्र-चित्रण की इस विविधता और व्यापकता में भी हमें कहीं चरित्र-चित्रण की शिथिलता अथवा असंगति का दोष नहीं मिलता।

नाटक में दो विरोधी घटनाचक्र आरंभ से अंत तक चलते हैं। इन घटनाचक्रों के विकास में कहीं-कहीं कल्पना से भी काम लिया गया है, पर मुख्य रूप से ये ऐतिहासिक तथ्यों पर ही आधारित हैं। चरित्र-चित्रण का मुख्य आधार विरोध है। नाटककार ने प्रत्येक दो पात्रों की विरोध-भावना इस सुंदरता से व्यक्त की है कि वह नाटकीय विकास में बाधक बनने के स्थान पर सहायक ही सिद्ध हुई है। नाटक के अधिकांश पात्रों के चरित्र-चित्रण में हमें मानव-स्वभाव की स्वाभाविक और कलापूर्ण अनुकृति दिखाई देती है। प्रसाद जी को सबसे अधिक सफलता 'विजया' और 'देवसेना' के अन्तर्गत भावगत चारित्रिक संघर्ष दिखाने में मिली है। इस नाटक की रचना में उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-लेखन-परम्परा का समन्वय बड़ी सफलता से किया है। भारतीय परम्परा के अनुसार नाटक सुखान्त है, किन्तु उसका वस्तु-विन्यास पाश्चात्य नाट्य-परम्परा के आधार पर ही विकसित है।

ध्रुवस्वामिनी

मर्मस्पर्शिता सरलता और अभिनयात्मकता की दृष्टि से 'ध्रुवस्वामिनी' प्रसादजी का एक महत्त्वपूर्ण नाटक है। इसके पूर्व रचित नाटकों में स्थल-स्थल पर जो काव्य प्रवाह परिलक्षित है वह इस नाटक में नहीं है। दूसरे, इस नाटक के संवादों को अन्य नाटकों की अपेक्षा अधिक यथार्थवादी रूप प्राप्त है। तीसरे इस नाटक में जितनी नाटकीयता एवं चमत्कारिकता देखी जाती है, उतनी अन्य नाटकों में दुर्लभ है। ऐसा भान पड़ता है कि प्रसाद जी ने एक नवीन लेखन-शैली के द्वारा इस नाटक को अपनी शक्ति भर रंगमंच के उपयुक्त बनाने का प्रयत्न किया है। इसमें कुछ समस्याओं को स्थान अवश्य मिल गया है। फिर भी यह समस्यामूलक नाटकों से सर्वथा भिन्न है। इस नाटक में प्रसादजी एक विचारक के रूप में उपस्थित हैं। प्रसाद जी 'स्कंदगुप्त' की तरह इस नाटक में भी नारी चरित्र-चित्रण में नारी का एक वीर साहसी और गौरवान्वित रूप प्रस्तुत किया है।

इस नाटक में दिखाया गया है कि समुद्रगुप्त का वास्तविक उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त है, किन्तु शिखरस्वामी छल द्वारा रामगुप्त को सिंहासन पर बिठा देता है। इतना ही नहीं वरन् वह चंद्रगुप्त की वाग्दत्ता का विवाह भी उससे करा देता है। यही ध्रुवस्वामिनी है। कहने के लिए रामगुप्त उसका पति है किन्तु उसमें पति होने की क्षमता का अभाव है। वह राज्य-संचालन एवं सुरक्षा में भी असमर्थ है। शकों के आक्रमण करने पर वह ध्रुवस्वामिनी को उन्हें सौंपने की शर्त पर भी उनसे संधि करना स्वीकार कर लेता है। यह स्थिति देखकर कुमार चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी के साथ शक-शिविर में प्रवेश कर शकराज की हत्या कर देता है। इसके पश्चात् सामंत और प्रजा रामगुप्त के इस घृणित कार्य से रुष्ट होकर विद्रोह के लिए तैयार हो जाती है। रामगुप्त पदच्युत कर दिया जाता है और उसके स्थान पर चन्द्रगुप्त को सम्राट्-पद प्राप्त होता है। ध्रुवस्वामिनी का विवाह भी चन्द्रगुप्त से हो जाता है। चंद्रगुप्त की हत्या के प्रयत्न में रामगुप्त की मृत्यु हो जाती है।

'ध्रुवस्वामिनी' प्रसाद जी का अंतिम नाटक है, जो अन्य नाटकों से भिन्न रंगमंच के अधिक उपयुक्त है। और इसमें प्रसादजी ने अनेक पूर्व दोषों से बचने का भी प्रयत्न किया है, किन्तु नाट्य-कला की दृष्टि से इसे वह स्थान प्राप्त नहीं है जो स्कंदगुप्त को प्राप्त है। प्रसादजी के अन्य नाटक विशाख जनमेजय का नागयज्ञ राज्यश्री आदि हैं। इनमें से 'विशाख' एक प्रेम-कथा पर आधारित नाटक है। किन्तु इसे ऐतिहासिक नाटक के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। इसमें ऐतिहासिक तत्वों के स्थान पर प्रेम-तत्वों का ही विकास दिखाई देता है। जनमेजय का नागयज्ञ एक पौराणिक नाटक है। यह नाटक महाभारत-युद्ध के पश्चात् आर्यों और अनार्यों के बीच जनम् नामी कथा पर आधारित है। इसमें नाग और अनार्य, दोनों वर्गों के

अनेक पात्र हैं। नाट्यकला की दृष्टि से इस नाटक में अनेक दोष विद्यमान हैं। कथानक की शिथिलता, लंबे संवाद, अनावश्यक दार्शनिकता आदि इस नाटक के प्रमुख दोष हैं।

'कामना'[1] प्रसाद जी का एक सांस्कृतिक रूपक है। उसमें उन्होंने भारतीय संस्कृति के पुनर्निर्माण का एक भव्य चित्र उपस्थित किया है। सभी पात्र कल्पित हैं। नाटककार ने विभिन्न मानवीय प्रवृत्तियों को ही अपने इस रूपक के पात्र बनाये हैं। उन्होंने बतलाया है कि किस प्रकार मानव स्वाभाविक और सरल जीवन बाह्य आकर्षणों से प्रभावित होता विकृति की ओर प्रवृत्त हुआ और अपनी अर्थ एवं विलास-लोलुपता की प्रवृत्तियों ने उसे पथ-भ्रष्ट किया और इसके पश्चात् किस प्रकार उसके पतनशील जीवन की विषमताओं का अन्त होकर उसे विकास के अनुकूल स्थिति प्राप्त हुई। नाटक छोटा है, पर नाटककार ने इसमें मानव-जीवन के दोनों पक्षों की एक विस्तृत-शृंखला ही उपस्थित कर दी है। डाक्टर जगन्नाथप्रसाद शर्मा के शब्द में यह रूपक सार्वजनीन भी माना जा सकता है और वैयक्तिक भी। इसमें सार्वदेशिक समाज का चित्र भी है और केवल भारतवर्ष का भी।

प्रसाद-नाटकों के मूलाधार

सशक्त ऐतिहासिकता, सांस्कृतिक चेतना, युग-युग की समन्विति, विशद चारित्र्य शक्ति, प्रभावशाली काव्यात्मकता, प्रेम और प्रेरणामयी अनुभूति, आध्यात्मिक रमणीयता और नियति प्रसाद जी के नाटकों के मूलाधार हैं।

सशक्त ऐतिहासिकता

प्रसाद जी के नाटक महाभारत काल से लेकर हर्षवर्धन तक के इतिहास पर आधारित हैं। प्रसाद जी ने इस लगभग १५ वर्षों के इतिहास का गहन अध्ययन कर अपने नाटकों की रचना की है। उनके नाटकों में इतिहास-तत्व के साथ कल्पना तत्व का इस सफलता से समन्वय हुआ है कि नाटकों में आधुनिकता का समावेश करने पर भी यथासंभव ऐतिहासिक सत्य तिरोहित न हो सका। डाक्टर दशरथ ओझा के शब्दों में 'प्रसाद ने भारतीय इतिहास को इतिहास के प्रबुद्ध अन्वेषक की तीक्ष्ण दृष्टि से पूर्णतया शोध कर प्रस्तुत किया है अतः यह प्रामाणिक तथा इतिहास रस का संचार करने में पूर्ण समर्थ है। प्रसाद के नाटकों में एक [illegible] और प्राणवान् अतीत मुस्करा रहा है।[1]

सांस्कृतिक चेतना

प्रसाद जी के नाटकों में हमें उस प्राचीन संस्कृति के दर्शन होते हैं जो वैदिक काल की सर्वोत्कृष्ट संस्कृति मानी जाती थी। प्रसाद जी ने अपने नाटकों को उसी ऐतिहासिक युग की शिला पर अवस्थित किया है जो सांस्कृतिक गरिमा की दृष्टि से भी महान्

थी। उनके जिन नाटकों में हम संघर्ष का विशेष विकास देखते हैं उनमें उन्होंने अंतिम विजय आर्यों की ही दिखाई है। उनका यह लक्ष्य उनकी आर्य संस्कृति-प्रियता प्रकट करती है।

सुख-दुःख की समन्विति

प्रसादजी के सभी नाटक सुखान्त हैं, किन्तु उनका कोई भी नाटक ऐसा नहीं है, जो दुःखों की सघन छाया से आच्छादित न हो। उनके नाटकों में जो बौद्ध और आर्य दर्शन का समन्वय है, वह वास्तव में दुःखवाद और आनन्दवाद का समन्वय है। इस समन्वय के कारण उनके नाटक स्पष्ट रूप में सुखान्त अथवा दुःखान्त न हो सके वरन् उनका अन्त सुख और दुःख के समन्वय के रूप में होता है। सम्भवतः यही देखकर कुछ विद्वानों ने प्रसाद जी के नाटकों को सुखान्त अथवा दुःखान्त न कहकर "प्रसादान्त' कहा है।

विशद चारित्र्य शक्ति

प्रसादजी के नाटकों की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अवश्य है किन्तु उनके पात्र सर्वथा उनकी अपनी सृष्टि हैं। यही कारण है कि प्रसादजी के पात्र अपने व्यक्तित्व-वैशिष्ट्य के कारण अविस्मरणीय से दिखाई देते हैं। प्रसादजी को चरित्र-चित्रण में अद्वितीय सफलता प्राप्त है। उनके नाटकों में जीवनतत्वों को सुलझाने वाले आचार्य हैं, असीम साहस के साथ शौर्य प्रदर्शन करने वाले सैनिक और सेनानी हैं, तथा कूटनीति में निपुण राजकुमार भी हैं और धीर-गंभीर उदात्त एवं संकटों से जूझने वाले पुरुष चरित्र भी हैं। प्रसादजी ने इन सभी का चरित्र चित्रण उनकी स्वाभाविकता के साथ बड़ी सुन्दरता से चित्रित किया है। उनके स्त्री-पात्रों में जीवन-संग्राम में दुर्गा का रूप धारण कर जूझने वाली वीर नारियाँ हैं राजनीति की बाग मोड़नेवाली राज-महिषियाँ हैं, जीवन-संकट के भँवर में आत्मसात् होने वाली मध्यवर्गीय नारियाँ हैं और वे सुकुमारियाँ भी हैं जिन्होंने आत्म-बलिदान के इतिहास का निर्माण कर विश्व के सम्मुख एक अविस्मरणीय आदर्श उपस्थित किया है। इन नारी पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी प्रसादजीको अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई है।

प्रभावशाली काव्यात्मकता

प्रसादजी स्वभावतः कवि थे। उनका यह कवि उनके नाटकों में भी एक मधुमयी प्राणवान् धारा प्रवाहित करता सतत दृष्टिगोचर होता है। हमें उनके नाटकों में नाट्य-तत्व और काव्य तत्व, दोनों का सुन्दर समन्वय मिलता है। डाक्टर नगेन्द्र के शब्दों में "प्रसाद ने अपनी रंगीन कल्पना के सहारे दूर अतीत में बिखरे हुए प्रस्तर-खंडों को एकत्रित करके उनमें प्राणों की कविता का रस भर दिया परिणाम-स्वरूप जिन

नाटकों का निर्माण हुआ उनका वातावरण रूप और रंग से जगमगा रहा है। प्रसादजी का हृदय इतना काव्यमय है कि अनेक स्थानों पर उनका गद्य भी गीतों की तरह मधुर और प्रभावशाली बन गया है।

प्रेम और प्रेरणामयी अनुभूति

प्रसाद के सभी नाटकों में प्रेम का स्थान है, किन्तु उनका वह प्रेम वासना से पृथक एक महान् प्रेरणामयी पवित्र भावभूमि पर स्थित है। उन्होंने इस प्रेम के विकास में सदा विलास की पराजय और पवित्र प्रेम की विजय दिखलाई है। प्रसादजी का प्रेम हमें उदात्त मानवीय भावना को लेकर प्रवाहित होता दृष्टिगोचर होता है। देश-प्रेम के दीवाने इसी से प्रेरणा ग्रहण कर अपने प्राणों की बाजी लगा शत्रु से लोहा लेते हैं।

दार्शनिक रमणीयता

हमें प्रसाद के नाटकों में अनेक स्थानों पर भारतीय अध्यात्म और दर्शन की एक रमणीय व्याख्या मिलती है। ये व्याख्याएँ हमें उच्च मानवता की ओर प्रवृत्त करती हैं।

नियति-शक्ति

प्रसादजी का कर्म पर सुदृढ़ विश्वास है, पर इसके साथ ही वे नियति की सत्ता भी स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि एक कर्मठ और वीर पुरुष का भाग्य भी अनेक बार नियति के द्वारा नियंत्रित दिखाई देता है। उनके सभी नाटकों में हम कर्म की क्रीड़ा के साथ नियति का विधान भी देखते हैं। उनके पात्र नियति पर विश्वास करते हुए भी कर्म को प्रधानता देते हैं और इसीलिए वे सदैव निश्शंक होकर कर्मक्षेत्र में उपस्थित होते दिखाई देते हैं।

प्रसाद' के नाटक ऐसी श्रेणी में नहीं रखे जा सकते जो स्वतंत्र नाटकों की श्रेणी कहला सके। उन्होंने कुछ पूर्व निश्चित घटनाओं या ऐतिहासिक व्यक्तियों को लेकर ही नाट्य-रचना की है। अतः प्रसाद के नाटक ऐतिहासिक नाटकों की श्रेणी में ही आते हैं कल्पना-प्रधान नाटकों की श्रेणी में नहीं आते। 'कामना' और 'एक घूँट' ऐतिहासिक नाटक नहीं हैं पर वे प्रतीकात्मक हैं इसलिए इन्हें भी हम कल्पना-प्रधान नाटक पूर्णरूप से नहीं कह सकते। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी का मत है कि ऐतिहासिक नाटककार विशुद्ध नाट्य-रचयिता की कोटि में नहीं आ सकते इसलिए उन्होंने "प्रसाद" के नाटकों को 'आलंकारिक' कोटि में ही माना है। इतना अवश्य है कि 'प्रसाद' के नाटकों का आधार इतिहास होते हुए भी उन्होंने अपने नाटकों में ऐसे भी कुछ पात्रों की सृष्टि की है, जो ऐतिहासिक नहीं हैं। उनके नाटकों में ऐतिहासिकता के साथ भी

अनुरंजकता आई है, वह उनकी इसी सजगता का परिणाम है। उन्होंने ऐतिहासिक घटना-क्रमों का निर्वाह करते हुए भी अपने पात्रों को सजीव और व्यक्तित्व-सम्पन्न बनाया है। भारतीय पात्रों में यह व्यक्तित्व-स्थापन या चरित्र-निरूपण का प्रयत्न हिन्दी नाटकों के विकास की एक ऐसी कड़ी है जो हिन्दी के नाटककारों में 'प्रसाद' जी का स्वतंत्र स्थान निर्धारित करती है।

नाट्यवैशिष्ट्य

प्रसादजी ने ऐतिहासिक नाटकों की रचना करते हुए भी देश के तत्कालीन सम्पूर्ण राष्ट्रीय वातावरण का भी चित्रण किया है। उन्होंने ऐसे चरित्रों का निर्माण किया है जो ऐतिहासिक परिस्थिति को चित्रित करने के अतिरिक्त भारतीय पात्र बनने की भी क्षमता रखते हैं। प्रसादजी पहिले कवि हैं फिर नाटककार, इसलिए वस्तु विन्यास उनकी विशेषता नहीं है चरित्रों की सजीवता और बहुरूपता ही उनका सर्व-प्रधान गुण है।

उनके सांस्कृतिक नाटक देश की समृद्धि के प्रतिरूप हैं। वे केवल यथातथ्य चित्रण अथवा इतिहास का व्यक्तिकरण करने वाले नाटक नहीं हैं पर उनका सांस्कृतिक पक्ष भी है। उनमें भूत का आधार होने पर भी वर्तमान और भविष्य की छाया विद्यमान है। उनके पात्र भूत अतीत के निर्देशक नहीं पर वर्तमान के संदेशवाहक हैं।

प्रत्येक पात्र की स्वतंत्र व्यक्तित्व-योजना उनकी प्रधान विशेषता है। उनके प्रायः सभी नाटक पात्र-बहुल हैं। इन विविध पात्रों द्वारा उन्होंने उस ऐतिहासिक युग की सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक स्थिति का चित्रण बड़ी सुन्दरता से किया है। इसीलिए उनके नाटकों में पात्रों की संख्या अधिक है।

'प्रसाद' जी ने अपने नाटकों में दुःखान्त घटनाओं को स्थान नहीं दिया और यह भारतीय परम्परा के अनुसार उचित भी था। उदाहरणार्थ, स्कन्दगुप्त के मार्ग में कठिनाइयों का विस्तार व्यक्त हो रहा है। नाटक के विकास के साथ उसकी कठिनाइयाँ और निराशाएँ भी बढ़ती जाती हैं। उसके सारे प्रयत्न विफलता की भँवर में ही दिखाई देते हैं, पर प्रसादजी ने अन्तिम दृश्यों में उसे विजयी ही दिखाया है। कला की दृष्टि से यह योजना सफलतापूर्वक नहीं है। इससे स्पष्ट है कि वे सर्वदा अपने नाटकों को सुखान्त बनाने के ही पक्षपाती रहे हैं।

'प्रसाद' के नाटकों की एक विशेषता है सामाजिक और राजनीतिक स्थिति के चित्रण के साथ ही दार्शनिक विचारधाराओं का निरूपण। 'प्रसाद' की यह दार्शनिकता कहीं-कहीं तो इतनी प्रबल हो गई है कि वह नाटक के कथात्मक विकास में बाधक दिखाई देने लगती है। उदाहरणार्थ उनका 'जनमेजय का नागयज्ञ' लीजिए।

'चन्द्रगुप्त' में भी चाणक्य और दाण्ड्यायन प्रभृति के दर्शन का ही प्रतिबिम्बित करते दिखाई देते हैं। उनके अजातशत्रु और विशाख पर बौद्ध-दर्शन का स्पष्ट प्रभाव है। इसी प्रकार उनके अन्य नाटकों में भी हम कहीं हिन्दू-दर्शन और कहीं बौद्ध-दर्शन की विचार-धारा प्रवाहित होती देखते हैं।

प्रसाद" जी के नाटकों का देशकाल बहुत व्यापक है। उन्होंने जिस युग की घटना को लेकर नाटक लिखा उसमें उस युग की पूर्ण सामाजिक राजनीतिक और सांस्कृतिक स्थिति चित्रित कर दी है। उनके पात्र ही देश और काल की भूमि पर स्थापित हैं। इतिहास से संस्कृति का समन्वय प्रसाद के नाटकों की प्रमुख विशेषता है। इतिहास के माध्यम द्वारा संस्कृति का आभास देते हुए वे अपने नाटकों में एक सुन्दर सांस्कृतिक धारा निर्माण कर देते हैं। उनकी यह धारा सर्वत्र भारतीय संस्कृति की विकासोन्मुख धारा ही रही है जो उनके भारतीय संस्कृति के अनन्य उपासक होने का प्रमाण है। उन्होंने प्रत्येक नाटक में उसके नायक को उस युग की सांस्कृतिक समस्याओं का प्रतीक माना है और उसके माध्यम से नवीन सांस्कृतिक निर्माण की सूचना दी है। यही कारण है जो प्रसाद जी के नायक आदर्शवादी बनकर अपने युग की सांस्कृतिक स्थिति और विकास का प्रतिबिम्बित करते हुए हमारे सामने आते हैं।

ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास और कल्पना का सामंजस्य आवश्यक होता है। "प्रसाद" इस प्रयत्न में बहुत बड़ी सीमा तक सफल हुए हैं पर समय स्थान और कार्य संकलन का उन्होंने सर्वत्र ही ध्यान नहीं रखा।

स्वदेशानुराग प्रसाद के नाटकों की एक अन्य विशेषता है। उन्होंने अतीत की स्वर्णभूमि पर देश-प्रेम का चित्रण बड़ी सफलतापूर्वक किया है। उन्होंने अपने नाटकों में उन प्राचीन युग के पात्रों को स्थान दिया है, जिनका उस काल के इतिहास-निर्माण में महत्वपूर्ण योग रहा है। इस प्रकार उन्होंने एक ओर अपने नाटकों में प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग किया और दूसरी ओर प्राचीन भारतीय संस्कृति के भव्य चित्र भी उपस्थित किये हैं।

मानवीय मनोवृत्तियों के चित्रण में भी "प्रसाद' को बहुत बड़ी सफलता मिली है। यदि हम यह कहें कि संस्कृत के 'प्रबोध चन्द्रोदय' के पश्चात् मानवीय प्रवृत्तियों के चित्रण का सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रयास 'प्रसाद' जी ने ही किया, तो अतिशयोक्ति न होगी। उदाहरणार्थ 'कामना' नाटक देखा जा सकता है।

"काव्यात्मकता' प्रसादजी के नाटकों की सर्वकालीन विशेषता है। हमारा यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि इतिहास उनके नाटकों का शरीर, संस्कृति आत्मा और काव्यात्मकता उनके नाटकों का प्राण है। उनकी कथा-वस्तु, कथोपकथन और शैली सभी में हमें काव्यात्मकता दिखाई देती है। कथोपकथन में ऐसा भान पड़ता

है, मानों उनके पास आलंकारिक भाषा के अतिरिक्त अपने मनोभावों को व्यक्त करने की दूसरी शैली आती ही नहीं। उनके नाटकों के संवाद यथार्थवादी कम और भावनात्मक अधिक हैं।

उन्होंने अपने नाटकों को यथार्थवादी भूमि पर आधारित नहीं किया और उनकी भाषा-शैली भी चमत्कार तथा काव्य से पूर्ण है। उनके नाटकों का माध्यम गद्य है, पर उनका गद्य भी पद्य से कम मधुर और व्यंजक नहीं है।

प्रसादजी के समस्त नाटक मनोवैज्ञानिक भूमि पर आधारित हैं। इस दृष्टि से उनका 'कामना' नाटक सर्वप्रमुख है। इसमें उन्होंने 'संतोष' और 'विवेक' का मानवीकरण करके घटनाओं के विकास और संघर्ष द्वारा इन वृत्तियों का उत्कर्ष बड़े सुन्दर ढंग से दिखाया है। प्रसादजी के नाटकों के चरित्र-चित्रण प्रधान होने का एक कारण उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी है। उनके प्रौढ़ावस्था में लिखे नाटक मनोवैज्ञानिकता से अधिक पूर्ण हैं। उदाहरणार्थ 'स्कन्दगुप्त' में 'देवसेना' और 'विजया' का चरित्र देखा जा सकता है। उनके पात्र ही वास्तव में मानव जीवन के विविध रूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं। कुछ आलोचकों का यह भी मत है कि प्रसादजी ने अपनी मनोवैज्ञानिक चित्रण की शक्ति प्रदर्शित करने के लिए ही पात्र-बहुल और काल-बहुल नाटकों की रचना की है। उनकी यह क्षमता नारी-चरित्र-चित्रण में अधिक देखी जाती है। उन्होंने अपने नाटकों में नारी के सुन्दर मधुरतर आदर्श-चित्र, सभी रूप प्रस्तुत किये हैं। उनके ये नारी-रूप सर्वथा उनकी अपनी सृष्टि हैं। प्रसादजी नारी चरित्र-चित्रण में पुरुष चरित्र-चित्रण की अपेक्षा अधिक सक्षम और सफल प्रतीत होते हैं। इस चरित्र-चित्रण में मनोवैज्ञानिकता ही उनका मूलाधार है। इसीलिए हमें उनके चरित्र-चित्रण में कहीं भी अस्वाभाविकता दिखाई नहीं देती।

उनके सांस्कृतिक नाटक देश की समष्टि के प्रतीक हैं। वे केवल यथातथ्य चित्रण अथवा इतिहास का स्पष्टीकरण करनेवाले नाटक नहीं हैं पर उनका सांस्कृतिक पक्ष भी है। उनमें भूत का आधार होने पर भी वर्तमान और भविष्य की छाया विद्यमान है। उनके पात्र मृत अतीत के निर्देशक नहीं पर वर्तमान के संदेशवाहक हैं।

[२१]

हिन्दी एकांकी : स्वरूप और विकास

स्वरूप

'एकांकी'' का अर्थ एक अंक वाला नाटक है। हिन्दी में इस शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के 'वन ऐक्ट प्ले' के भाषान्तर के रूप में हो रहा है। विद्वानों ने एकांकी की परिभाषा भिन्न-भिन्न प्रकार से दी है। श्री सद्‌गुरुशरण अवस्थी के मतानुसार 'एकांकी में एक सुनिश्चित-सुव्यवस्थित लक्ष्य, एक ही घटना, परिस्थिति अथवा समस्या वेग-सम्पन्न प्रवाह और नियमन में चातुरी आवश्यक है।' बाबू गोविन्ददास एकांकी में किसी एक मूल विचार या समस्या का होना आवश्यक मानते हैं। वे विचार के विकास के लिए संघर्ष की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हैं और विचार तथा संघर्ष के लि। कथानक, पात्र, कथोपकथन आदि की योजना करना आवश्यक मानते हैं। डा० रामकुमार वर्मा वर्तमान हिन्दी एकांकीकारों में अग्रणी हैं। अभी तक उनके एकांकियों के अनेक संग्रह प्रकाश में आ चुके हैं। वे नाटककार ही नहीं पर नाट्यशास्त्र के माने हुए विद्वान् भी हैं। उन्होंने अपने 'पृथ्वीराज की आँखें' एकांकी की भूमिका में लिखा है—

"एकांकी नाटकों में अन्य प्रकार के नाटकों से विशेषता होती है। उसमें एक ही घटना होती है और वह घटना नाटकीय कौशल से कौतूहल का सृजन करते हुए चरम सीमा तक पहुँचती है। उसमें कोई अप्रधान प्रसंग नहीं होता। विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की भाँति खिलकर पुष्प की भाँति विकसित हो उठती है। उसमें लता की भाँति फैलने की उच्छृंखलता नहीं।

एकांकी-लेखन में एक कठिनाई और है। दर्शक कथानक के रूप से जब परिचित हो पाते हैं, तब लगभग आधा नाटक समाप्त हो जाता है, अतः उसका आरम्भ इस प्रकार करना होता है कि दर्शकों में कौतूहल और उत्सुकता बनी रहे और उसके आरम्भ से चलनेवाले संवाद क्रमशः मूल कथानक के रूप-विधान में सहायक बनते जाएँ। डा० सत्येन्द्र ने अपने 'हिन्दी एकांकी' में एकांकियों की विशेषता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

'एकांकी के प्रारम्भिक में ही कौतूहल और जिज्ञासा की अपरिमित शक्ति भरी रहती है। बीती हुई घटनाओं की व्यंजना चुम्बक की भाँति हृदय आकर्षित करती है। कथानक क्षिप्र गति से आगे बढ़ता है और एक-एक आगामी घटना को अभिभूत करती हुई कौतूहल के साथ चरम सीमा में चमक उठती है। समस्त जीवन एक घंटे के संघर्ष

में और वर्षों की घटनाएँ एक आँसू या एक मुस्कान में उतर आती हैं, वे चाहे सुखान्त हों या दुखान्त।

एकांकी नाटकों में स्थान, काल और कार्य की समसूत्रता आवश्यक होती है। एकांकी का कथानक एक ही स्थान और एक ही काल का होना आवश्यक है और इसके साथ ही उसमें बतलाये कार्यों में भी एकसूत्रता दिखलाना आवश्यक होता है। सामान्य नाटकों की तरह एकांकी में भी नाटकीय संघर्ष और चरित्र-चित्रण को प्रमुख स्थान प्राप्त है। संघर्ष की तीव्रता ही नाटक को प्राणवान् बनाती है, फिर यह संघर्ष आन्तरिक हो या बाह्य, किन्तु उसका निर्वाह पूर्णरूपेण होना आवश्यक है। नाटकीय संघर्ष के संबंध में श्री शिवदानसिंह चौहान ने लिखा है—

"आन्तरिक संघर्ष पात्र की चेतना में उसके ही स्वभाव के विरुद्ध होता है अथवा जब बाह्य परिस्थितियाँ हृदय के भावों में एक टक्कर पैदा कर देती हैं, जब कर्तव्य और प्रेम में से एक को चुनना अनिवार्य होता है, या जब नाटक के पात्र की नैतिक भावना उसकी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के मार्ग में अवरोध बनती है, तब ये नाटकीय परिस्थितियाँ पात्रों के मन में आन्तरिक संघर्ष को जन्म देती हैं।" वे आगे कहते हैं—"यह संघर्ष सामाजिक या व्यक्तिगत जीवन की जितनी ही व्यापक या मूलभूत समस्याओं से उत्पन्न होगा, नाटक की विषय-वस्तु उतनी ही अधिक सार्वजनीन, सार्थक और महत्त्वपूर्ण होगी।"

चरित्र-चित्रण का नाटक की तरह एकांकी में भी प्रमुख स्थान है। चरित्र-चित्रण की गहराई पर ही एकांकी का प्रभाव निर्भर रहता है। चरित्रों में विविधता होनी चाहिए और यह विविधता पात्रों के कथोपकथन अथवा संवाद-वाक्यों के चरित्र निर्माण का आधार है, अतः यह भी प्रभावशाली, मर्मस्पर्शी, वाग्वैदग्ध्यपूर्ण तथा विभिन्न पात्रों के चरित्रों के विकास में सहायक होनी चाहिए। नाटक का क्रमागत विकास चरम सीमा पर पहुँच कर दर्शकों को मन्त्रमुग्ध कर दे या उनके मन पर एक स्थायी प्रभाव छोड़ दे, तभी वह एक उत्तम नाटक समझा जायगा।

श्री उपेन्द्रनाथ अश्क का मत है कि एकांकी का समय १५ से ४५ मिनट होना चाहिए। साथ ही उसमें अभिनय-शीलता और रंग-संकेतों की स्पष्टता भी इसमें आवश्यक है।

डा० रामचरण महेन्द्र ने विभिन्न विद्वानों के मतों के आधार पर एकांकी के आठ तत्त्व निश्चित किये हैं—कथावस्तु, संघर्ष, संकलन-त्रय, पात्र और चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, अभिनय-शीलता, रंगमंच-निर्देशन तथा प्रभाव-ऐक्य। डा० महेन्द्र के ये एकांकी नाटक-तत्त्व नाटक के तत्त्वों की तरह कथावस्तु, पात्र, कथोपकथन, देशकाल, शैली और उद्देश्य के अंतर्गत आ जाते हैं।

एकांकी का क्षेत्र नाटक की तरह व्यापक नहीं है। एक ही नाटक में एक मूल कथानक के साथ एक उप-कथानक को भी स्थान दिया जा सकता है और दोनों का साथ-साथ विकास होता जाता है किन्तु एकांकी में यह सम्भव नहीं है। एकांकी की कथावस्तु एक ही प्रमुख घटना उपस्थित करती है और नाटककार का उद्देश्य उस कथावस्तु के विकास द्वारा एक ही निश्चित प्रभाव उत्पन्न करना होता है। नाटककार को कथावस्तु का क्रम भी बड़ी सावधानी से निश्चित करना होता है। वह उसका क्रम इस कुशलता से सँवारता है कि उसे नाट्य-क्रम बीच में विषयान्तर या प्रासंगिक न होना पड़े। कथावस्तु की तरह उसे संवादों के संयोजन में भी बड़ी सतर्कता रखनी पड़ती है। वह जानता है कि यवनिका उठते ही उसे दर्शकों की उत्सुकतापूर्ण आँखें अपनी कला की ओर आकर्षित करनी हैं और उनकी वह उत्सुकता तथा उसकी कला के प्रति आकर्षण अभिनय के अन्त तक बनाये रखना है। यह कार्य वह कथावस्तु के स्वाभाविक विकास और प्रभावशाली संवादों द्वारा ही कर सकता है।

एकांकी और नाटक दोनों ही दृश्य-काव्य हैं किन्तु इन दोनों में बहुत अंतर है। एकांकी में एक अंक होने के साथ केवल एक घटना अथवा एक समस्या होती है, पर नाटक में एक से अधिक अंक अनेक घटनाएं और एकाधिक समस्याएं भी हो सकती हैं। एकांकी में केवल एक अंक होता है, पर एक पूर्ण नाटक के प्रत्येक अंक को एकांकी नहीं कहा जा सकता। एकांकी छोटे होते हुए भी पूर्ण नाटक की तरह स्वयं पूर्ण होते हैं। दूसरे एकांकी का विकास द्रुतगामी होता है जबकि नाटक का विकास विविध घटनाओं को लेकर शिथिल गति से अग्रसर होता है। द्रुत गतिशीलता और संक्षिप्तता ही एकांकी की प्रमुख विशेषताएं हैं। डा॰ महेन्द्र ने अपनी "हिन्दी एकांकी उद्भव और विकास' पुस्तक में एकांकी और नाटक का अंतर बतलाते हुए लिखा है—"एकांकी का नाटक से वही संबंध है जो कहानी का उपन्यास से अथवा खंडकाव्य का महाकाव्य से। नाटक में जीवन का विस्तार लंबाई और परिधि का विस्तार है, उसका क्षेत्र जीवन की भाँति सुविस्तृत है। एकांकी का क्षेत्र सीमित है परिधि संकुचित है और जीवन का एक पहलू ही चित्रित करने का उसका कार्य है। एकांकी में केवल एक ही घटना एक ही महत्त्वपूर्ण पहलू या परिस्थिति रह सकती है। नाटक में कथानक के चारों भाग स्पष्ट रहते हैं। एकांकी प्रायः संघर्ष-स्थल से प्रारंभ होता है और शीघ्र ही गति पकड़ कर चरम सीमा की ओर अग्रसर होता है। नाटक की गति धीमी होती है एकांकी में वेग-संपन्न प्रवाह का महत्त्व है। ...एकांकी में संकलन त्रय का होना महत्त्वपूर्ण है यही उसे जीवन का यथार्थवादी चित्र बनाता है। बड़े नाटक में संकलन-त्रय का निर्वाह आवश्यक नहीं है।

आज हिन्दी-साहित्य में एकांकियों का विकास चरम सीमा को पहुँच रहा है। सभी प्रकार के एकांकियों की रचना विभिन्न शैलियों में हो रही है। ये एकांकी अनेक

श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। डा० सत्येन्द्र ने मूल प्रवृत्तियों के आधार पर एकांकियों को आठ श्रेणियों में विभाजित किया है—आलोचक एकांकी, विवेकशील एकांकी, भावुक एकांकी, समस्यामूलक एकांकी, अनुभूतिमूलक एकांकी, व्यापारमूलक एकांकी, आदर्शमूलक एकांकी और प्रगतिवादी एकांकी ।

डा० महेन्द्र ने एकांकियों के नौ प्रकार बतलाये हैं—सुखांत, दुखांत, प्रहसन, कॉमेडी, गीति नाट्य, झांकी, संवाद या संभाषण, एकोक्ति कथन या मोनो ड्रामा और रेडियो प्ले ।

उपर्युक्त दोनों विभाजनों में अनावश्यक विस्तार दिखाई देता है। विषय के अनुसार हम इन्हें ऐतिहासिक, पौराणिक, राजनीतिक या राष्ट्रीय और सामाजिक एकांकियों में विभाजित कर सकते हैं।

विकास

नाट्याचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में नाटक के विविध अंगों पर प्रकाश डालने के साथ ही विविध प्रकार के नाटकों का भी उल्लेख किया है। भाण, व्यायोग, प्रहसन, नाटिका आदि ऐसे ही नाटक हैं। इसी आधार पर कुछ विद्वान् एकांकियों का मूल स्रोत संस्कृत की इस परम्परा में मानते हैं, पर उनका स्वरूप वर्तमान एकांकियों से सर्वथा भिन्न है। हमें वर्तमान एकांकी के मूल इन प्राचीन नाटकों में भले ही मिल जायें पर इनका आधुनिक स्वरूप सर्वथा नवीन है। हाँ, प्राचीन क्षेत्र में अभिनीत होनेवाले एकांकी अवश्य ही इन नाटकों से कुछ मिलते-जुलते थे, पर आज के एकांकियों में हम नाट्य-तत्त्वों का जो विकास देखते हैं वह उनके प्राचीन नाटकों में दृष्टिगोचर नहीं होता। कुछ दूसरे विद्वान् वर्तमान एकांकियों को पाश्चात्य साहित्य की देन मानते हैं किन्तु यह भी पूर्णतया सत्य नहीं है। हमें संस्कृत में एकांकियों के जो रूप मिलते हैं वे वर्तमान एकांकियों से भिन्न भले ही हों, पर यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि सर्वप्रथम संस्कृत के इन्हीं भाण, वीथी, व्यायोग, नाटिका आदि को देखकर ही हमारा ध्यान एकांकियों की रचना की ओर आकर्षित हुआ। संस्कृत में लिखित "पार्थ पराक्रम" संभवतः पहिला एकांकी है। इसे प्रह्लादनदेव ने व्यायोग के रूप में संवत् १२२० वि० के लगभग लिखा था। इसके पश्चात् के एकांकियों में वत्सराज का "किरातार्जुनीय", विश्वनाथ का "सौगंधिकाहरण", कंचन पंडित का 'धनंजय विजय', रामचन्द्र का "निर्भय भीम" आदि प्रमुख हैं। ये सभी व्यायोग हैं। पूर्ण नाटिका, हास्य-चूड़ामणि, लटकमेलक, धूर्त समागम, धूर्त चरित आदि संस्कृत के प्रहसन हैं। "भाण" भी अनेक मिलते हैं। उदाहरणार्थ वामन भट्ट का "शृंगार भूषण", शंकर का 'शारदा तिलक', वत्सराज का "कर्पूर चरित" आदि देखे जा सकते हैं। इनमें नाट्य में एकांकी-रचना-कला का पर्याप्त विकास मिलता है। यह देखते हुए संस्कृत की इन रचनाओं से आधुनिक एकांकियों का सूत्रपात न मानना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता।

हिन्दी-साहित्य में एकांकियों का श्रीगणेश बाबू हरिश्चन्द्र द्वारा होता है। 'विषस्य विषमौषधम्' सम्भवतः भारतेन्दुजी का प्रथम नाटक है, जिसका हम एकांकी के रूप में ग्रहण करते हैं। यह भाण रूपक है। इसके पश्चात् उनका "धनंजय विजय" व्यायोग के रूप में हमारे सामने आया। फिर उन्होंने "अन्धेर नगरी" और "वैदिक हिंसा हिंसा न भवति" रूपकों की रचना की जो वास्तव में प्रहसन हैं। भारतेन्दु-काल हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल का आरम्भ था जिससे हमें इन रूपकों में आज के एकांकियों की तरह परिमार्जित रूप दिखाई न देना स्वाभाविक है। भारतेन्दु बाबू के पश्चात् उन्हीं के अनुकरण पर पं० बालकृष्ण भट्ट प्रतापनारायण मिश्र राधाचरण गोस्वामी, श्रीनिवासदास आदि ने भी कुछ एकांकी लिखे पर उनका रूप विकास भी बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से आगे न बढ़ सका किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन रूपकों की रचना द्वारा हिन्दी-साहित्य में एकांकियों को एक परम्परा को बल प्राप्त हुआ और हिन्दी के लेखकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। इस युग के प्रायः सभी एकांकी रूपकों की रचना तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक धरातल पर हुई थी। ऐसा ज्ञात पड़ता है कि प्रारंभ में लिखे गये एकांकी व्यस्त जीवन के परिणाम थे किन्तु आज वे साहित्य के स्वतंत्र अंग बन गये हैं।

आज के एकांकियों में हम कथा-तत्व रूप-विधान भावाभिव्यंजन शैली और अभिनीत कला का जो विकास देखते हैं उसके संबंध में यह कहना कठिन है कि यह कहाँ तक भारतेन्दुकालीन एकांकी नाट्य-कला का विकसित रूप है और कहाँ तक पश्चिम के नाटककार बर्नार्ड शा इब्सन आदि के प्रभाव का परिणाम है। आज ऐतिहासिक सामाजिक पौराणिक काल्पनिक आदि सभी प्रकार के कथानक को लेकर सुंदर एकांकी लिखे जा रहे हैं अतः हम कह सकते हैं कि हमारे आज के एकांकियों की कथा-वस्तु में हरिश्चन्द्र कालीन परम्परा का विकसित रूप देखा जा सकता है और अभिनीत कला तो सर्वथा हमारी है ही पर भावाभिव्यंजना और शैली पर हम स्पष्टरूप से पाश्चात्य नाटककारों का प्रभाव देखते हैं। अब कुछ एकांकी तो पूर्णरूपेण पाश्चात्य नाटककारों के अनुकरण पर ही लिखे जा रहे हैं। इस प्रकार हमारे नाटकों पर से भारतीय प्रभाव न्यून होता जा रहा है और पाश्चात्य प्रभाव द्रुत गति से बढ़ता जा रहा है। देश और काल की परिस्थिति से तत्कालीन साहित्य निश्चय ही प्रभावित होता है। इतना ही नहीं पर यह परिस्थिति ही कभी-कभी साहित्य को नया रूप प्रदान करती और इस रूप-परिवर्तन के द्वारा उसे नई दिशा में प्रवाहित कर देती है। यह सत्य हम एकांकियों के विकास में भी देखते हैं। हरिश्चन्द्र-काल में देशभक्ति और राजभक्ति का स्रोत एक साथ ही प्रवाहित होता था। दोनों एक-दूसरे की विरोधी नहीं पर परस्पर पोषक समझी जाती थीं किन्तु इसके पश्चात् दोनों एक-दूसरे से दूर होती गईं और एक दिन वे एक-दूसरे के विपरीत समझी जाने लगीं। यही कारण है

कि हम हरिश्चन्द्रकालीन नाटकों में जहाँ इन दोनों का समन्वय देखते हैं वहाँ उनके पश्चात् बाद परवर्ती के नाटकों में दोनों को परस्पर विरोधी पाते हैं। इसी प्रकार सामाजिक नाटकों में भी हम एक बड़ा परिवर्तन पाते हैं। बाबू द्विजेन्द्रलाल राय ने जिस ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा प्रारम्भ की उनका प्रारंभिक रूप शुद्ध ऐतिहासिक ही बना रहा पर उनके पश्चात् बाबू जयशंकर प्रसाद तथा बाबू गोविन्ददास ने उनके अनुकरण पर जो नाटक लिखे उनका मूल कथानक तो ऐतिहासिक ही बना रहा पर तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति के प्रभाव ने उनकी ऐतिहासिकता पर राजनीति की मुहर लगा दी और उनके कथानक का विकास देशभक्ति और स्वतन्त्रता गुराव की अभिव्यक्ति के साथ होने लगा। यही काल था जिसमें कुछ प्रतिभासम्पन्न एकांकीकार हमारे सामने आए। इनके एकांकियों पर हम बर्नार्ड शा और इब्सन का गहरा प्रभाव देखते हैं। प्रारम्भ में "एकांकी" नाटकों की एक निम्न शैली मात्र थे किन्तु ज्यों-ज्यों उनका विकास होता गया उन्होंने एक स्वतन्त्र कला का रूप धारण कर लिया। अब वे नाटक के संक्षिप्त रूप नहीं रह गये।

"एक घूँट" संभवतः हरिश्चन्द्र-काल के पश्चात् प्रसाद जी का प्रथम एकांकी था जिससे हिन्दी-साहित्य में एकांकी का एक नया युग प्रारंभ होता है। वह यद्यपि प्रथम एकांकी था पर हम उसमें एकांकी के नाट्य-तत्वों का पूर्ण विकास देखते हैं।

वर्तमान एकांकियों का लेखन वास्तव में सन् १९३० में लिखित प्रसाद जी के इस "एक घूँट" से होता है। हिन्दी के लगभग सभी विद्वान् प्रसाद जी की इस रचना को आधुनिक ढंग का प्रथम एकांकी मानते हैं। इसके पूर्व द्विवेदी-युग में मंगलप्रसाद विश्व कर्मा "शेरसिंह" सियाराम शरण गुप्त "कृष्णा" रामसिंह वर्मा "रैदासी रूमाल" शिवरामदास गुप्त "नाक में दम" सरयू प्रसाद "भयंकर भूत" रूपनारायण पाण्डेय "मूर्ख मंडली" बेचन शर्मा उग्र "चार बेचारे" जी० पी० श्रीवास्तव "आनरेरी मजिस्ट्रेट" आदि एकांकियों की रचना कर चुके थे किन्तु वे आधुनिक एकांकियों से पृथक संस्कृत की परम्परा पर ही आधारित कहे जा सकते हैं। प्रसाद जी के "एक घूँट" पर सम्मति देते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है "सचमुच हिन्दी एकांकी का प्रारंभ प्रसाद" के "एक घूँट" से हुआ है। प्रसाद पर संस्कृत का प्रभाव है इसलिए वे हिन्दी एकांकी के जन्मदाता नहीं कहे जा सकते यह बात मान्य नहीं है। एकांकी की टेकनिक का 'एक-घूँट' में पूरा निर्वाह है। प्रसाद जी के अन्य एकांकी "सज्जन" और "करुणालय" हैं। प्रसादजी के इन एकांकियों के साथ ही कुछ एकांकी पंजाबी से अनूदित हिन्दी में आये।

प्रसादजी के पश्चात् डा० रामकुमार वर्मा एक प्रतिभासम्पन्न एकांकीकार के रूप में हमारे सामने आये। उनके प्रथम एकांकी "बादल की मृत्यु" को हम "एक घूँट" के पश्चात् ही समझा जाना चाहिए। इसमें काव्यात्मकता अधिक और नाटकत्व

क्रम है। इसके पश्चात् उन्होंने अनेक एकांकियों की रचना की, जिनमें पृथ्वीराज की आँखें रेशमी टाई, चारुमित्रा सप्त किरण कौमुदी महोत्सव ध्रुव तारिका ऋतुराज रजत रश्मि काम कन्दला दीप दान आदि हैं। इनमें से कुछ ऐतिहासिक और कुछ सामाजिक एकांकी हैं। सभी एकांकी आदर्शवादी दृष्टिकोण से पूर्ण हैं।

डा० वर्मा के पश्चात् एकांकी-साहित्य के क्षेत्र में जिन अनेक नाटककारों का आविर्भाव हुआ। उनमें लक्ष्मीनारायण मिश्र उपेन्द्रनाथ अश्क बाबू गोविन्ददास भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र जगदीशचन्द्र माथुर, उदयशंकर भट्ट आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के एकांकियों में अशोक वन कावेरी में कमल प्रलय के पंख पर, एक दिन स्वर्ग से विप्लव नारी का रंग आदि प्रमुख हैं। हमें इनके एकांकियों में पौराणिक ऐतिहासिक राजनीतिक सामाजिक आदि सभी प्रकार के एकांकी मिल जाते हैं। ये एकांकी केवल कला की दृष्टि से ही नहीं वरन् अभिनय की दृष्टि से भी पूर्ण सफल कहे जा सकते हैं। डा० नगेन्द्र ने इनके एकांकियों पर पश्चिम के यथार्थवाद बुद्धिवाद तथा भारतीय आध्यात्मिकता का प्रभाव बतलाया है।

श्री उपेन्द्रनाथ अश्क को सामाजिक एकांकी-लेखन में प्रशंसनीय सफलता प्राप्त है। सामाजिक व्यंग्य इनके एकांकियों की विशेषता है। इनकी दूसरी विशेषता पात्र के अनुरूप भाषा का प्रयोग है। पापी लक्ष्मी का स्वागत अधिकार का रक्षक [illegible] पहेली स्वर्ग की झलक विवाह के दिन जोंक आदि इनके सामाजिक व्यंग्य से पूर्ण प्रमुख एकांकी हैं। आदि मार्ग अंधी गली पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ भंवर, सयाना मालिक तौलिया आदि प्रहसनों को हम इनके मनोवैज्ञानिक एकांकी कह सकते हैं। चुम्बक चिलमन खिड़की देवताओं की छाया में सूखी डाली अंधी गली आदि अश्क जी के प्रतीकात्मक एकांकी हैं।

बाबू गोविन्ददास ने सौ से अधिक एकांकियों की रचना की है। इन्होंने ऐतिहासिक राजनीतिक सामाजिक आदि सभी प्रकार के एकांकी लिखे हैं। बुद्ध की एक शिष्या नानक की नमाज तेगबहादुर की भविष्यवाणी परमहंस का पत्नी प्रेम आदि इनके ऐतिहासिक एकांकी तथा स्पर्धा मैत्री हंगर स्ट्राइक ईद और होली मानव मन आदि वरदान आदि सामाजिक एकांकी हैं। बाबू गोविन्ददास एक आदर्शवादी और सुधारवादी नाटककार हैं, जिससे इनके एकांकियों में स्वभावतः कुछ प्रचारात्मक भार और प्रौढ़ विचार तत्त्व का समावेश हो गया है।

"श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना" श्री भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र का प्रथम एकांकी है। उनके इनके पश्चात् के एकांकियों में प्रतिभा का विवाह, रहस्य रोमांच एक साम्यवादी पतिता मृत्यु इन्स्पेक्टर जनरल रोशनी और आग तथा आठ बजे सिकन्दर, अकबर, फोटोग्राफर के सामने, आजादी की नींद इतिहास केंचुल आदि उल्लेखनीय

हैं। इनके एकांकियों में हमें सूक्ष्म कलात्मक प्रवृत्तियों और वैज्ञानिक परिस्थितियों का सुन्दर चित्रण मिलता है।

'मेरी बाँसुरी' श्री जगदीशचन्द्र माथुर का प्रथम एकांकी है। इनके अन्य एकांकी मकड़ी का जाला, कलिंग विजय, रीढ़ की हड्डी, खिड़की की राह, मेरे सपने, घोंसले, कबूतर खाना, बंदी, शारदीय, भोर का तारा आदि हैं। ये सभी एकांकी अभिनेय हैं। इन्होंने अपने एकांकियों में यथार्थवादी शैली में विविध समस्याएँ तथा उनके हल प्रस्तुत किये हैं।

श्री उदयशंकर भट्ट का स्थान भी वर्तमान एकांकीकारों में महत्वपूर्ण है। एक ही क़ब्र में, दस हजार, उन्नीस सौ पैंतीस, नया घर, निर्वाचन, सेठ लाभचंद, स्त्री का हृदय, विष की पुड़िया, मुंशी अनोखेलाल, नकली और असली, आदिम युग, मनु और मानव, कुमार-संभव, पिशाचों का नाच, बीमार का इलाज, गिरती दीवारें, आत्म प्रदान, मंदिर के द्वार पर, नये मेहमान, विस्फोट, नया नाटक आदि भट्ट जी के प्रमुख एकांकी हैं। इन्होंने अनेक रेडियो रूपकों की भी रचना की है। इन्होंने अपने नाटकों में मानव-जीवन की विविधता को बड़े सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया है। सभी एकांकी अभिनेय हैं।

अन्य एकांकीकारों में गणेशप्रसाद द्विवेदी, गोविन्दवल्लभ पंत, भगवतीचरण वर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी, गिरिजाकुमार माथुर, पृथ्वीनाथ शर्मा, विष्णु प्रभाकर आदि का स्थान है। सुहाग बिंदी, परदे का अपर पार्श्व, शर्माजी, सबसे सस्ता, कामरेड, रिहर्सल, वह फिर आई थी आदि श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी के एकांकी हैं। इनके प्रायः सभी एकांकी सामाजिक अथवा मनोवैज्ञानिक समस्याओं को लेकर उपस्थित होते हैं। इनके एकांकियों पर अंग्रेजी एकांकियों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। अन्य लेखकों ने भी कुछ सुन्दर एकांकी लिखे हैं। आजकल नये-नये लेखक इस क्षेत्र में प्रवेश करते दिखाई दे रहे हैं। रेडियो रूपक भी नये टेकनिक के साथ सामने आ रहे हैं। इस प्रकार हिन्दी का एकांकी-साहित्य उत्तरोत्तर समृद्धिशाली होता जा रहा है।

: २५ :

उपन्यास : स्वरूप और विकास

संस्कृत के प्राचीन साहित्य में हमें "उपन्यास" शब्द का प्रयोग मिलता है, किन्तु उसका अर्थ उपन्यास के वर्तमान अर्थ से भिन्न है। 'उपन्यास' प्रसादनम्' के अनुसार उपन्यास प्रसन्न करने का एक साधन है। एक दूसरे स्थान में उपन्यास की परिभाषा देते हुए कहा गया है—"उपपत्तिकृतोह्यर्थ उपन्यासः संकीर्तितः"। इस परिभाषा के अनुसार किसी भी अर्थ को व्यवस्थित रूप से उपस्थित करना उपन्यास कहलाता है। हमें संस्कृत में उपन्यास के लिए 'कादम्बरी' शब्द का प्रयोग भी मिलता है, जिसका अर्थ 'बृहत् कथा' है। सम्भवतः इसी धारणा के अनुसार कुछ लोग एक 'बृहत् कथा' को उपन्यास कहते हैं किन्तु उपन्यास की यह परिभाषा अथवा रूप उसके पूर्ण अर्थ को प्रकट नहीं करता। संस्कृत में उपन्यास शब्द का उपयोग नाटक की सन्धियों के भेद बतलाने के लिए किया गया है। 'कादम्बरी' शब्द अवश्य ही एक सीमा तक उपन्यास का रूप हमारे सामने रखता है। मराठी में भी उपन्यास को कादम्बरी ही कहा जाता है। "उपन्यास" का शाब्दिक अर्थ सामने रखना" है।

डा० श्यामसुन्दर दास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा को उपन्यास मानते हैं। प्रेमचन्द की सम्मति के अनुसार उपन्यास मानव-चरित्र का चित्र है। बाबू गुलाबराय कहते हैं कि—उपन्यास कार्य-कारण श्रृंखला में बँधा हुआ वह गद्य-कथानक है जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों से सम्बन्धित वास्तविक काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव-जीवन के सत्य का रसात्मक रूप से उद्घाटन किया जाता है। एच० जी० वेल्स उपन्यास को खाली मस्तिष्क और खाली समय के लिए मनोरंजन का एक साधन मात्र मानते हैं। इस परिभाषा के अनुसार उपन्यास लेखन का उद्देश्य मनोरंजन मात्र जान पड़ता है, किन्तु आज का कोई भी साहित्य केवल मनोरंजन के उद्देश्य से नहीं वरन् मानवीय चेतना के विकास के उद्देश्य से ही लिखा जाता है। मानव-जीवन के रहस्यों का उद्घाटन उपन्यास-रचना के इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हो सकता है। मनोरंजन भी उपन्यास का एक पक्ष अवश्य है। यह देखते हुए बाबू गुलाबराय का उपन्यास-संबंधी मत हमें अधिक युक्ति-युक्त जान पड़ता है।

उपन्यास का क्षेत्र व्यापक है। इसमें साहित्य के सभी विषय किसी-न-किसी रूप में आ जाते हैं। उपन्यास का क्षेत्र यद्यपि गद्य है, तथापि इसमें काव्य का परिपाक भी

कम नहीं होता। यह एक ओर वास्तविक जीवन-चरित से मिलता रहता है और दूसरी ओर पद्य की शैली का त्याग कर काव्य की सुन्दरता ग्रहण करता है। यह देखते हुए इसे चरित और काव्य के मध्य की वस्तु कहा जा सकता है। इसीलिए कहा गया है कि उपन्यास एक ओर जीवन-चरित और दूसरी ओर कविता है। ये ही उपन्यास के दो छोर हैं। जीवन-चरित में घटनाओं और तिथियों का क्रम होने से उसमें काव्य की सुन्दरता नहीं आ पाती। उपन्यास में ऐसा कोई बन्धन न होने से इसमें व्यक्तियों वस्तुओं और व्यापारों को अधिक सुन्दरता से रखा जा सकता है। यही कारण है कि उपन्यासों में जीवन चरितों की अपेक्षा अधिक रोचकता दिखाई देती है।

उपन्यास के प्रकार

उपन्यासों का विभाजन दो प्रकार से किया जा सकता है। विषय के अनुसार उपन्यासों का विभाजन घटना प्रधान चरित्र प्रधान, सामाजिक ऐतिहासिक अथवा वैज्ञानिक आदि उपन्यासों के तत्वों की दृष्टि से करना अधिक युक्ति-संगत होगा। इस दृष्टि से हम इनका विभाजन कथावस्तु-प्रधान चरित्र-प्रधान, कथोपकथन-प्रधान, वातावरण प्रधान, शैली प्रधान उद्देश्य-प्रधान और रस प्रधान उपन्यासों में कर सकते हैं।

१ कथावस्तु प्रधान

ऐसे उपन्यासों में कथावस्तु को ऐसे ढंग से प्रस्तुत किया जाता है कि उसमें प्रदर्शित आश्चर्यमयी परिस्थितियों में उलझे मानव-जीवन का उतार-चढ़ाव ही पाठक के पूर्ण आकर्षण का विषय बन जाता है और वह उन घटनाओं के सत्यासत्य अथवा पात्रों के चरित्र-चित्रण की ओर दृष्टि ही नहीं डाल पाता। भारतेन्दु-कालीन जासूसी और तिलस्मी उपन्यास इसी प्रकार के हैं।

२ चरित्र-प्रधान

इस प्रकार के उपन्यासों में पात्रों के चरित्र का महत्व कथावस्तु से अधिक होता है। इन उपन्यासों में घटनाओं की अपेक्षा पात्रों को ही अधिक महत्व दिया जाता है। पात्रों का निर्माण परिस्थितियाँ नहीं करतीं वरन् पात्र ही परिस्थितियों का निर्माता होते हैं। घटनाएँ केवल पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने के लिए ही हैं। ऐसे उपन्यास मानव-जीवन के विभिन्न आदर्शों को प्रदर्शित करते हैं। पाश्चात्य देशवासियों तथा बंकिमचन्द्र शरतचन्द्र आदि के कुछ उपन्यास इसी कोटि के हैं। प्रेमचन्द का 'गबन' उपन्यास भी इसी प्रकार के उपन्यासों में से एक कहा जा सकता है।

३ कथोपकथन प्रधान

इन उपन्यासों में कथावस्तु और पात्र दोनों समान महत्व के साथ आगे बढ़ते जाते हैं। पात्रों के कथोपकथन से भावी घटनाओं का संकेत मिलता जाता और वे एक के

पश्चात् दूसरी सामने आती जाती है। पात्रों के कथोपकथन से उनकी विचारधारा, मतिविधि एवं चरित्र स्पष्ट होता जाता है। इन उपन्यासों में नाट्य-तत्त्व की प्रधानता दिखाई देती है। इनमें मानव-जीवन के वास्तविक तथ्यों का रहस्योद्घाटन होता है। ये उपन्यास अधिक कलापूर्ण सुन्दर और प्रभावशाली होते हैं। प्रेमचन्द के अधिकांश उपन्यास इसी कोटि के कहे जा सकते हैं।

४ वातावरण-प्रधान

इस प्रकार के उपन्यासों में पात्रों और घटनाओं के सन्तुलन के साथ ही देश-काल अथवा उस वातावरण का भी चित्रण है जिसमें उपन्यास की कथावस्तु का विकास होता है। इनमें देश (स्थान) तथा काल का ऐतिहासिक चित्रण प्रधान रूप में चित्रित होता है। इन उपन्यासों पर एक निश्चित युग की संस्कृति, राजनीतिक, धार्मिक सामाजिक आदि स्थितियों का भी प्रभाव होता है। उपन्यासकार उस ऐतिहासिक युग के वातावरण का ध्यान रख उसका चित्रण अपने युग के प्रकाश में करता है। इस तरह इन उपन्यासों में इतिहास के तथ्यों तथा लेखक की अपनी कल्पना का समन्वय स्वाभाविक रूप में दिखाई देता है। बाबू वृन्दावनलाल वर्मा तथा चतुरसेन शास्त्री के उपन्यास इस कोटि के हैं।

५. शैली-प्रधान

आज का कोई भी उपन्यास निश्चित रूप से इस शैली के उपन्यासों के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। वास्तव में कोई उपन्यास ऐसा हो भी नहीं सकता जिसमें कथा-वस्तु, पात्र, चरित्र चित्रण आदि से उपन्यासकार की शैली को ही अधिक महत्त्व प्राप्त हो।

६ उद्देश्य-प्रधान

जो उपन्यास एक निश्चित उद्देश्य को लेकर काल्पनिक कथानक के आधार पर लिखे जाते हैं वे इसी कोटि के उपन्यास हैं। वैसे तो उद्देश्यहीन उपन्यासों को उपन्यास कहना ही व्यर्थ है। ऐसे उपन्यास केवल मनोरंजन के साधन हो सकते हैं, इनमें लोक-चेतना की कोई शक्ति नहीं होती। उद्देश्य-प्रधान उपन्यास अपने पाठकों के सामने एक निश्चित आदर्श उपस्थित करते हैं। बाबू प्रेमचन्द, विश्वम्भर शर्मा "कौशिक", भगवती चरण वर्मा आदि के उपन्यास इसी कोटि के हैं।

७ रस-प्रधान

रस का स्थान तो सभी उपन्यासों में होता है किन्तु कुछ उपन्यास ऐसे भी होते हैं जिसमें घटना पात्र आदि के सत्यासत्य को कोई महत्त्व न दे आंतरिक रसोद्रेक ही

ही उपन्यासकार का प्रधान लक्ष्य हो जाता है। किशोरीलाल गोस्वामी देवकीनन्दन खत्री आदि के अधिकांश उपन्यास इसी प्रकार के हैं।

उपन्यास के तत्त्व—उपन्यास के निम्नांकित छः तत्त्व हैं—

१ कथा वस्तु

जीवन-निर्वाह की दृष्टि से मानव-जीवन की अनेक स्थितियाँ हो सकती हैं, किन्तु सभी मनुष्य एक ही प्रकार के रागों, भावनाओं और विचारों से प्रेरित होते हैं। यही प्रेरणा मनुष्य के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद आदि के भावों को जन्म देती है। अच्छे उपन्यास का महत्त्व इसी में है कि वह मनुष्य की इन स्थितियों का स्वाभाविक चित्र उपस्थित कर सके। उपन्यास में इन्हीं बातों पर अधिक बल देना चाहिए जो जीवन को उत्साहपूर्ण बनाता तथा व्यवहारपरक बनाने में सहायक हों। उपन्यास में यह विशेषता लाने के लिए कथावस्तु में निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—

१—उसमें जीवन से सम्बन्धित कोई आवश्यक बात छूट न सके और परस्पर विरोधी बात को भी स्थान न मिले।

२—उपन्यास के सब अङ्ग एक शृङ्खला में सुन्दरता से बँधे हों।

३—घटनाओं का क्रम ऐसा हो जिसमें अस्वाभाविक और असम्बद्ध न जान पड़े।

४—उसकी घटनाओं का विकास स्वाभाविक रूप से होता चले।

५—कथानक का आधार वास्तविक जीवन हो, न कि कुछ विचित्र घटनाओं का संकलन।

६—उसका अन्त वर्णित अवस्थाओं के अनुकूल और सुन्दर हो।

७—कथावस्तु के विकास की दृष्टि से मूल कथानक के साथ प्रासङ्गिक कथानक को भी स्थान दिया जा सकता है, किन्तु प्रासंगिक कथानक का मूल कथानक के विकास में सहायक होना आवश्यक है।

८—उपन्यास की कथावस्तु में रोचकता, स्वाभाविकता और प्रवाह होना आवश्यक है।

२. पात्र

उपन्यास के पात्र ऐसे हों जिनका चरित्र हमें लौकिक और स्वाभाविक दिखाई दे। उनमें यह शक्ति होनी चाहिए कि वे अपने गुणों का परिचय देते हुए वास्तविक जीवन की स्थितियों और मनोभावनाओं को प्रकट कर सकें और पाठक के मन को प्रभावित कर सकें। उनके कार्यों और व्यापारों द्वारा उनका चरित्र स्पष्ट होता चले और उनके जीवन व्यापारों को स्वाभाविक रूप से समझा जा सके। उपन्यासकार प्रायः पात्रों का इस प्रकार चरित्र-चित्रण स्वयं ही कभी स्वयं विश्लेषण करता और कभी अभिनय से काम लेता है। इस प्रकार से उपन्यासकार प्रायः पात्रों का चरित्र-चित्रण स्वयं के शब्दों में

करता है। वह पात्रों के भावों, विचारों, स्वभावों और उद्वेगों को समझता, उनकी व्याख्या करता और उनके कारण बतलाता है। दूसरे प्रकार में लेखक अलग खड़ा होकर पात्रों को अपने कथोपकथन और व्यापार से अपने सम्बन्ध में दूसरे पात्रों की टीका-टिप्पणी से अपना चरित्र चित्रण करने को स्वतन्त्र छोड़ देता है।

उपन्यास की कथा कहने के तीन ढङ्ग हैं—अन्यपुरुष वाचक, उत्तमपुरुष वाचक और पत्रात्मक। पहिले ढङ्ग में विश्लेषणात्मक या प्रत्यक्ष प्रणाली से चरित्र चित्रण की अभिनयात्मक प्रणाली अधिक प्रभावशाली और आकर्षक होती है किन्तु इस प्रणाली का उपयोग वहीं तक होना चाहिए जहाँ तक औपन्यासिकता नष्ट न हो। अच्छे उपन्यास वे माने जाते हैं जिनमें उपर्युक्त दोनों प्रणालियों का यथावसर उपयोग किया जाता है।

कथावस्तु और पात्र का सम्बन्ध

मुख्य रूप से उपन्यास दो प्रकार के होते हैं, एक तो वे जिनमें पात्रों की प्रधानता होती है और व्यापार की शृङ्खला का स्थान गौण होता है। दूसरे वे जिनमें व्यापार की शृङ्खला का स्थान प्रधान होता है और पात्रों का उपयोग घटनाचक्र को सुचारु रूप से चलाने के लिए ही किया जाता है। जहाँ कथावस्तु का अधिक ध्यान रखा जाता है वहाँ पात्रों से वस्तु के अनुसार काम लेना आवश्यक हो जाता है जिससे चरित्र-चित्रण में असंगतता आ जाती है। जहाँ चरित्र-चित्रण का ही ध्यान रखा जाता है वहाँ चरित्र के क्रमशः विकसित होने और तदनुसार घटनाचक्र के आगे बढ़ने से कथावस्तु का सामञ्जस्य प्रायः बिगड़ जाता है। अतः दोनों का उचित निर्वाह ही उचित है। जब तक कथावस्तु और चरित्र चित्रण एक-दूसरे से आश्रित होकर चलेंगे तब तक वे अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल न हो सकेंगे।

३ कथोपकथन

कथोपकथन का उचित प्रयोग उपन्यास का आकर्षण बढ़ा देता है। उपन्यास के इस तत्त्व द्वारा हम उसके पात्रों से विशेष परिचित होते हैं। यद्यपि कथोपकथन का उद्देश्य कथावस्तु का विकास माना जाता है पर कथोपकथन के द्वारा पात्रों के हर्ष-विषाद, राग-द्वेष प्रभृति आदि का स्पष्टीकरण किया जाता है। कथोपकथन के द्वारा ही चरित्र का विश्लेषण और व्याख्या की जाती है और इसकी सफलता पर ही उपन्यास के महत्त्व की सफलता अवलम्बित है। जो बातें देखने में अप्रासंगिक जान पड़ती हैं, उनका प्रयोग भी कथोपकथन में बड़ी सावधानी से किया जाना चाहिए।

हम किसी पात्र का जैसा चरित्र चित्रण करना चाहते हैं और जैसी स्थिति में तथा जिस अवसर पर वह कुछ कह रहा है उसी के अनुकूल उसका कथोपकथन होना चाहिए। साथ ही उसका कथोपकथन सरल, स्पष्ट और सुन्दर भी हो। कथोपकथन

ऐसा हो जिसमें अभिनय की सुगमता हो पर इसके साथ ही वह स्वाभाविक और वास्तविक भी हो।

४ रस

रस का महत्त्व जितना काव्य में है उतना ही उपन्यास में भी है। उपन्यास के विभिन्न स्थलों में जिस रस की प्रधानता होती है उसी के अनुकूल वह प्रसंग पढ़ने वाले पाठकों के मन पर प्रभाव डालता है। यह अवश्य है कि एक ही लेखक में सब रसों के संचार की शक्ति नहीं होती है, पर वह जिस रस का संचार करना चाहता हो उसका प्रभाव उस रस की एक निश्चित सीमा का ध्यान रख कर ही करना चाहिए। उदाहरणार्थ हास्यरस का प्रभाव उपन्यास को आनन्द और सुन्दरता प्रदान कर देता है, पर यदि वह अश्लीलता की सीमा तक पहुँच जाये तो वर्जित भी हो सकता है। अतः उपन्यासकार को यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि वह उस रस का समय, स्थिति तथा मनोवाञ्छित प्रभाव के अनुकूल हो। प्रत्येक उपन्यास में किसी एक रस की प्रधानता होती है यथा प्रसाद जी के तितली और कंकाल में करुण रस का, वृन्दावनलाल वर्मा के [illegible] उपन्यास में वीररस की और [illegible] के [illegible] उपन्यास में हमें शृङ्गार रस की प्रधानता दिखाई देती है।

५ देश काल अथवा वातावरण

उपन्यास के वातावरण से तात्पर्य उसमें वर्णित आचार विचार, रहन-सहन, रीति-रिवाज और परिस्थिति आदि से है। इसे हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं— सामाजिक और ऐतिहासिक। ऐसे उपन्यास बहुत कम होते हैं जिनमें जीवन या समाज के सभी पक्षों और स्वरूपों का समावेश हो। अतः यह आवश्यक है कि सामाजिक उपन्यासों में जीवन और समाज के परिचित-से-परिचित चित्र रहें और वे ऐसे हों जिन्हें हम नित्य प्रति देखते हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों में सामाजिक रूढ़ियों की अपेक्षा [illegible] पर विशेष ध्यान रखना पड़ता है क्योंकि उनमें से उस किसी एक विशेष युग अथवा विशेष काल का चित्र अंकित करना पड़ता है। इस प्रकार के कुछ उपन्यास तो ऐतिहासिक घटनाओं से पूर्ण होते हैं और कुछ ऐतिहासिक वातावरण के आधार पर लिखे जाते हैं। श्री वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यास ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर ही लिखे गए हैं।

६ उद्देश्य

उद्देश्य से तात्पर्य जीवन की व्याख्या अथवा आलोचना से है। कुछ लोगों का मत है कि उपन्यास-रचना का उद्देश्य मनोरंजन है। अतः [illegible] [illegible] है किन्तु [illegible] उद्देश्य [illegible] उद्देश्य का [illegible]

जीवन की व्याख्या है। उच्चकोटि के उपन्यास जीवन के तत्त्वों और रहस्यों से हीन केवल मनोरंजन के साधन नहीं होते। उत्तम उपन्यास वे हैं जिनमें मानव जीवन के तत्त्वों सिद्धान्तों और रहस्यों के साथ-ही-साथ मनोरंजन की भी पर्याप्त सामग्री हो।

उपन्यासों में जीवन की व्याख्या दो प्रकार से की जाती है। कुछ लेखक जीवन सम्बन्धी घटनाओं और बातों को उनके वास्तविक रूप में ही अपने पाठकों के सामने रख देते हैं। वे जीवन या संसार का संश्लिष्ट रूप इस ढंग से चित्रित कर देते हैं कि जिससे कुछ नैतिक सिद्धान्त अपने आप ही स्पष्ट हो जाते हैं। दूसरे प्रकार के उपन्यास में चित्रित चरित्रों की आलोचना और कार्यों की व्याख्या करके कुछ नैतिक सिद्धान्त उपस्थित किए जाते हैं। इस स्थिति में वह अपनी कृति का आप ही आलोचक बन जाता है और उसकी यह आलोचना अथवा व्याख्या उसके पाठकों की भी आलोचना और व्याख्या बन जाती है।

उपन्यास में नीति का भी स्थान है पर वास्तविकता के पश्चात्। लेखक घटनाओं का चित्रण इस ढंग से करता है कि उसमें नैतिक शिक्षा का अपने आप ही समावेश हो जाता है। अच्छा उपन्यासकार नैतिक शिक्षा देने के लिए विचारक या उपदेशक का रूप धारण नहीं करता वह मानव जीवन की व्याख्या द्वारा ही विभिन्न जीवन तत्त्वों की सहायता से अपने उपन्यास में नैतिक शिक्षा का समावेश कर देता है।

हिन्दी में उपन्यास-साहित्य का विकास

यद्यपि उपन्यास आधुनिक काल की रचना मानी जाती है तथापि इसका आरम्भ सूफी कवियों के प्रेमाख्यानों से समझा जाना चाहिए। ये प्रेमाख्यान अध्यात्म के पुट के साथ लिखी गई प्रेम कथाएं हैं। ऐसा जान पड़ता है कि हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासों पर इन प्रेमाख्यानों का बहुत प्रभाव रहा है। यही कारण है जो हम हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासों में प्रेम की प्रधानता देखते हैं। इन उपन्यासों में प्रेम का इतना अधिक ध्यान है कि उपन्यास की परिभाषा ही प्रेम की काल्पनिक कथा बन गई किन्तु वास्तविकता यह है कि उपन्यास की सीमा प्रेमकथा से नहीं बांधी जा सकती। अब उपन्यास का क्षेत्र मानव जीवन के विविध रूपों में पूर्ण बन गया है।

'परीक्षा गुरु' सन् १८८२ में प्रकाशित हिन्दी का पहिला उपन्यास है। इसकी रचना लाला श्रीनिवासदास ने की थी। यहीं से आधुनिक उपन्यासों की रचना प्रारम्भ होती है। लगभग इसी समय श्री रत्नचन्द्र के 'नूतन चरित्र' और देवकीनन्दन खत्री की "चन्द्रकान्ता सन्तति" उपन्यास प्रकाश में आये। इनमें से श्री खत्री का उपन्यास बहुत लोकप्रिय हुआ। यह अनेक आश्चर्यजनक घटनाओं से पूर्ण एक काल्पनिक उपन्यास था। इस उपन्यास की रचना की प्रसिद्धि का एक कारण लेखक की आकर्षक और मनोरंजक लेखन शैली भी है। इसके पश्चात् श्री किशोरीलाल गोस्वामी ने भी

उपन्यास-साहित्य के क्षेत्र में प्रशंसनीय काम किया। उन्होंने 'उपन्यास' नामक एक पत्रिका आरम्भ की और उसमें लगभग ६५ उपन्यास प्रकाशित किए। खत्री जी की तरह गोस्वामी जी के उपन्यास भी सामाजिक थे किन्तु उनमें प्रेम के नाम पर विलासिता का चित्रण ही अधिक था।

श्री गोपालराम गहमरी ने भी इन्हीं दिनों 'जासूस' नामक एक पत्र निकाला और उसमें लगभग पाँच दर्जन जासूसी उपन्यास प्रकाशित किए। इनमें से अधिकांश उपन्यास अंग्रेजी के जासूसी उपन्यासों पर आधारित थे। इन तीनों उपन्यासकारों की कृतियों में जीवन और जगत् का स्वस्थ चित्रण भले ही न हो पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन्होंने हिन्दी के उपन्यासों के प्रचार-प्रसार और विकास में बहुत बड़ा योग दिया है।

भारतेन्दु काल के अन्य उपन्यासकारों में श्री बालकृष्ण भट्ट (नूतन ब्रह्मचारी और सौ अजान एक सुजान), राधाकृष्णदास (निःसहाय हिन्दू), राधाचरण गोस्वामी (विधवा विपत्ति), कार्तिक प्रसाद खत्री (जया), बालमुकुन्द गुप्त (कामिनी) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके पश्चात् ही बाबू गदाधर सिंह (बंगविजेता, दुर्गेशनन्दिनी), राधाकृष्णदास (स्वर्णलता), प्रतापनारायण मिश्र (राजसिंह, इन्दिरा, राधारानी), राधाचरण गोस्वामी (विरजा, मृण्मयी) आदि द्वारा बंगला के उपन्यास अनूदित होकर हिन्दी के उपन्यास-क्षेत्र में अवतरित हुए।

द्विवेदी काल में हिन्दी के उपन्यास-साहित्य का और भी अधिक विकास हुआ। इस युग में अनेक उपन्यास उर्दू, गुजराती, अंग्रेजी, मराठी और बंगला से हिन्दी में आये। बंगला से अनूदित उपन्यासों में बंकिमचन्द्र और शरच्चन्द्र के उपन्यास मुख्य हैं। इस युग के उपन्यासकारों में बाबू ब्रजनन्दन सहाय सबसे अधिक उल्लेखनीय हैं। उन दिनों [illegible] उपन्यासकार [illegible] परन्तु एक नये समाज का निर्माण करने में लगे हुए थे। आर्य-समाज के द्वारा सुधार आन्दोलन चल रहा था और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन भी भीतर-भीतर [illegible] धारण करता हुआ आगे बढ़ रहा था। प्रेमचन्द ने इन आन्दोलनों से प्रेरणा ली और उनके प्रकाश में उपन्यास रचना आरम्भ की। उनके उपन्यासों पर इन आन्दोलनों का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। ऐसा ज्ञात पड़ता है कि प्रेमचन्द के उपन्यास-लेखन का उद्देश्य विविध प्रकार के सामाजिक जीवन का चित्रण करने के साथ ही राष्ट्रीय जागृति का प्रचार करना भी था। उन्होंने [illegible] उपन्यासों को [illegible] सामाजिक [illegible] बना दिया और उनकी उपन्यास-कला के विकास ने [illegible] उपन्यास साहित्य को [illegible] पर आसीन कर दिया।

द्विवेदी काल में जो अन्य उपन्यासकार सामने आये उनमें चतुरसेन शास्त्री और विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त द्विवेदी-काल से लेकर वर्तमान काल तक अनेक सफल उपन्यासकारों का आविर्भाव हुआ और उनके प्रयत्नवान् योगदान से आज हिन्दी का उपन्यास साहित्य अत्यन्त समृद्ध पल्लवित और पुष्पित दिखाई दे रहा है। इन उपन्यासकारों ने अलग-अलग विषयों को लेकर सुन्दर उपन्यासों की रचना की। इन्हें हम मुख्य रूप से चार श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं।

प्रथम श्रेणी में हम विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' और चतुरसेन शास्त्री के अतिरिक्त जयशंकर प्रसाद, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' तथा उपेन्द्रनाथ अश्क को स्थान दे सकते हैं। ये सभी सामाजिक समस्याओं को लेकर अपने उपन्यासों द्वारा प्रेमचन्दजी की परम्परा को आगे बढ़ाने वाले हैं। इनमें से प्रसाद जी का 'कंकाल और तितली' उपन्यास कौशिकजी के माँ और भिखारिणी शास्त्रीजी के 'हृदय की प्यास और 'नीलो' उग्रजी के 'बुधुआ की बेटी' तथा दिल्ली का दलाल' और अश्क जी के 'गिरती दीवारें' आदि उपन्यास अधिक उल्लेखनीय हैं।

दूसरी श्रेणी में जैनेन्द्रकुमार, भगवतीचरण वर्मा इलाचन्द्र जोशी सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय' आदि का नाम उल्लेखनीय है। इनके अधिकांश उपन्यासों को चरित्र प्रधान उपन्यास कहना ही अधिक उचित होगा। इनके उपन्यासों में पात्रों का मनोवैज्ञानिक चरित्र बड़ी सूक्ष्मता से चित्रित किया गया है। सुनीता परख 'कल्याणी' त्यागपत्र सुखदा आदि जैनेन्द्र जी के प्रसिद्ध उपन्यास हैं। भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों में तीन वर्ष, चित्रलेखा आखिरी दाँव और टेढ़े-मेढ़े रास्ते अधिक प्रसिद्ध हैं। पर्दे की रानी संन्यासी प्रेत और छाया मुक्तिपथ सुबह के भूले आदि भी इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास हैं। शेखर एक जीवनी तथा 'नदी के द्वीप' अज्ञेय जी की रचनाएँ हैं।

तृतीय प्रकार के वे उपन्यासकार हैं, जिन्होंने साम्यवादी रुचि से अपने उपन्यासों की रचना की है। इनमें राहुल सांकृत्यायन और यशपाल को विशेष स्थान प्राप्त है। 'सिंह सेनापति' तथा 'वोल्गा से गंगा' श्री राहुल जी के और दादा कामरेड देशद्रोही मनुष्य के रूप आदि यशपाल जी के उपन्यास हैं।

चौथे प्रकार के उपन्यासों में मुख्यतः ऐतिहासिक उपन्यासों का ही स्थान है। इस प्रकार के उपन्यासों में चतुरसेन शास्त्री की 'वैशाली की नगर वधू' यशपाल का 'दिव्या' वृन्दावनलाल वर्मा के गढ़ कुंडार विराटा की पद्मिनी 'झाँसी की रानी 'लक्ष्मीबाई' मृगनयनी' 'भुवन विक्रम' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखित 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का उल्लेख भी यहीं करना उचित होगा।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दी का उपन्यास-साहित्य विविध धाराओं में

विभाजित होकर द्रुत गति से आगे बढ़ता जा रहा है। इन लगभग सौ वर्षों में इस साहित्य का जो विकास हुआ है वह हिन्दी के लिए कम गर्व की बात नहीं है। इस साहित्य का सबसे अधिक विकास वर्तमान काल में हुआ है। हिन्दी उपन्यास-साहित्य के वर्तमानकालीन विकास में हमें पाश्चात्य साहित्य से बहुत बड़ी सहायता मिली है किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि हमारे उपन्यासकारों ने पाश्चात्य उपन्यासकारों का अनुकरण आँख बन्द करके नहीं किया। उन्होंने पश्चिम की उपन्यास-कला का अध्ययन किया और अपने देश के विभिन्न वर्गों के मानव जीवन का दर्शन कर इस कला का इस देश के जीवन के अनुरूप उपन्यास लिखने में उपयोग किया।

भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् जिन उपन्यासों का प्रकाशन हुआ उनमें हमें विविध विषयों, विभिन्न शैलियों और नये-नये शिल्पों का प्रयोग मिलता है। इस काल में जो नये उपन्यासकार सामने आये हैं उनमें देवेन्द्र सत्यार्थी, यज्ञदत्त शर्मा, धर्मवीर भारती, अंचल, फणीश्वरनाथ रेणु, अमृतलाल नागर, लक्ष्मीनारायण लाल, अनन्त गोपाल शेवड़े, गुरुदत्त, उषादेवी मित्रा, भगवती प्रसाद वाजपेयी, नागार्जुन, यादवेन्द्रनाथ आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

गोदान पर एक दृष्टि

"गोदान" एक समस्या-प्रधान उपन्यास है। इसमें स्व॰ प्रेमचन्द ने ग्रामीण जीवन की कुछ महत्वपूर्ण समस्याओं पर प्रकाश डाला है और उन्हें सुलझाने का इंगित किया है। इस उपन्यास में प्रतिबिम्बित प्रथम समस्या ग्रामीणों के दैनिक जीवन की है। ग्रामवासियों में भी अनेक गुण होते हैं, पर शिक्षा के अभाव, रूढ़ि-ग्रस्तता तथा उनके सरल व्यवहार से उन्हें सदैव पिसते रहना पड़ता है और अथक परिश्रम करने पर भी वे अपने जीवन को सुखी नहीं बना पाते। वे कठिन परिश्रम कर अन्न उत्पादन करते हैं पर अविश्वास्य वर्ग-व्यवस्था, प्रचलित सामाजिक मर्यादा और अर्थ विभाजन की विषमता उन्हें उन्नत और सुखी नहीं बनने देती और वे इतने सीधे-सरल और देववादी होते हैं कि अपनी दुर्गति और कष्टपूर्ण जीवन में भी ईश्वरेच्छा समझ कर संतुष्ट रहते हैं। वर्तमान राजनीतिक स्थिति की अज्ञानता और अपने अधिकारों की अनभिज्ञता के कारण उन्हें अमानुषिक अत्याचारों का शिकार होना पड़ता है।

दूसरी ओर श्री प्रेमचन्दजी ने नागरिक जीवन के वे पात्र अपने उपन्यास में उपस्थित किए हैं जो धनिकों और बुद्धिजीवियों के सम्पर्क में आते हैं। मि॰ खन्ना और प्रोफेसर मेहता शोषकवर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनमें खन्ना पूंजीपति एवं शोषक पूंजीपति और मेहता शिक्षित-वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं।

'गोदान' की दूसरी प्रमुख समस्या पारिवारिक जीवन की सुख-शान्ति से सम्बन्धित है। खन्ना करोड़पति है, पर उनका जीवन सुखी नहीं है। खन्ना और गोविन्दी का पारिवारिक जीवन कष्टपूर्ण है। इधर मिस मालती का आकर्षण मिस्टर मेहता की ओर है पर विवाह का प्रश्न उपस्थित होते ही वे एक कठोर परीक्षक बन जाते हैं।

लेखक ने गार्हस्थ्य जीवन को सुखी बनाने का उपाय अधिक धन से मुक्ति पाना बतलाया है। उनका मत है कि धन की अधिकता से स्वाभाविक ही मनुष्य की वृत्ति बदल जाती है और उसके जीवन में पूंजीवाद के दोष आ जाते हैं। मि॰ खन्ना का मिस मालती के प्रति आकर्षण इसका प्रमाण है। पूंजीपति यदि किसी से प्रेम भी करता है तो केवल अपने विलासी जीवन की तृप्ति के लिए ही, वह स्थायी सम्बन्ध पसन्द नहीं करता।

मेहता और मालती का प्रेम आज की सामयिक महत्त्वपूर्ण समस्या है जिसका सम्बन्ध उस शिक्षित समाज से है जिन्हें विदेशी वातावरण का ही अधिक व्यावहारिक ज्ञान है। यह स्वच्छन्द प्रेम स्त्री-स्वातन्त्र्य-सम्बन्धी आन्दोलन का परिणाम है। यह आंदोलन वास्तव में प्राचीन भारतीय और आधुनिक पाश्चात्य आदर्शों का समन्वय है। मि० खन्ना की स्त्री भारतीय नारी का प्रतिनिधित्व करती है। वह पति से बार बार तिरस्कृत होकर भी पति-सेवा से विमुख नहीं होती। मिस मालती पाश्चात्य आदर्श की प्रतीक है। खन्ना का मालती के प्रति आकर्षण है पर वह उन्हें उँगलियों पर नचाती रहती है। स्त्री स्वातन्त्र्य पर दिया गया मि० मेहता का भाषण उस सत्य और सूक्ष्म विवेचना का परिचायक है जो भारतीय सामाजिक जीवन को सुन्दर और उन्नत बनाने तथा प्रचलित सामाजिक दोषों को दूर करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। उपन्यासकार स्त्री शिक्षा के विरोधी नहीं पर वे स्त्री-शिक्षा का उद्देश्य स्त्री का अपना कर्तव्य समझने और पति के कार्य में सहायक बनाना मात्र मानते हैं, स्त्री को शिक्षा के द्वारा गृहस्वामिनी बनाना चाहते हैं, समता में उनका विश्वास नहीं। मिसेज खन्ना के मुँह से स्त्रियों के स्वतन्त्रता-सम्बन्धी आंदोलन पर व्यक्त किए शब्दों में प्रेमचंद यही बात कह रहे हैं।

उपन्यास के तत्त्व और गोदान

कथानक, पात्र, भाषा शैली, कथोपकथन और देशकाल का प्रतिबिम्ब उपन्यास के प्रमुख तत्त्व हैं। अब हम देखें कि 'गोदान' में इन तत्त्वों का निर्वाह कहाँ तक हुआ है।

१ कथानक

प्रेमचंद जी ने अपनी कथा-सामग्री दो प्रकार से संचित की है। एक तो अपने अनुभव और परिज्ञान के द्वारा और दूसरे नित्य प्रति सामयिक पत्रों में प्रकाशित आकर्षक घटनाओं के तथ्य लेकर। 'गोदान' की कथा का विकास स्वाभाविक ढंग से आरम्भ किया है। प्रथम परिच्छेद में ही होरी राय साहब की भेंट को जाता बतलाया गया है। मार्ग में उसकी भोला से भेंट हो जाती है। होरी को गाय मिलने की आशा और भोला को स्त्री मिलने की आशा बँध जाती है। होरी राय साहब के घर जाता है। [illegible] मदारी हो गया है। राय साहब होरी से किसानों द्वारा धाम स्वार्थ का समुचित प्राप्त होने का अनुमान करते हैं और होरी स्वयं प्रस्तुत होने की विदा लेकर लौटता है। लौटकर दरवाजे पर भोला का बेटा मिल जाता है और होरी को गाय मिलने का विश्वास। यहाँ अधिक उत्साह के [illegible] की अभिवृद्धि की ओर आकर्षित होता है जो आगे उत्तरोत्तर घटना की प्रगति में है।

होरी की गाय आती है और भर से उसे प्रशंसा मिलती है पर उसके ईर्ष्यालु भाई हीरा व्यंग्य — 'भगवान चाहेंगे तो बहुत दिन गाय घर में न रहेगी।' हम चौकन्ने हो जाते हैं।

पाँचवें परिच्छेद में गोबर को उसकी "प्रियवम्भु" प्राप्त हो जाती है पर पाठक इसके अनुचित संबंध का परिवार पर पड़नेवाले प्रभाव की कल्पना कर चिंतित हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कथा-विकास के साथ पाठक उत्सुकता बढ़ाने के लिए बिना कृत्रिम उपादानों का सहारा लिए स्वाभाविक परिस्थितियों का ही समन्वय किया है।

गाय मर जाने पर होरी धनिया से हीरा की करतूत बतलाता है। वह बहुत रोकने पर भी यह रहस्य प्रकट कर देती है। परिणाम जानने के लिए पाठक उत्सुक हो जाता है।

कभी-कभी प्रेमचंद जी ने दो समस्याएँ एक साथ ही उपस्थित कर पाठक की जिज्ञासा बढ़ाने का प्रयत्न किया है। झुनिया के होरी के घर आने पर दो समस्याएं उपस्थित हो जाती हैं। एक तो गोबर कहाँ गया होगा और दूसरे होरी को समाज से क्या दण्ड मिलता है? यहाँ दूसरी समस्या पर लेखक ने अधिक महत्त्वपूर्ण समझकर पहिले प्रकाश डाला और पहिली का पाठकों की उत्सुकता के लिए पीछे डाल दिया।

प्रेमचन्द जी कोई एक-न-एक समस्या प्रस्तुत कर पात्रों को एक जटिल स्थिति में डाल देते हैं और पाठक यह जानने को उत्सुक होता है कि अब क्या होगा? और इसके पश्चात् ही एक साधारण-सा सहारा देकर कठिनाइयों का अन्त कर देते हैं। और कथा आगे बढ़ने लगती है। सोना के विवाह के लिए धन जुटाने के लिए होरी को ऐसा ही उपस्थित किया है।

कथा-विकास की गति को तीव्रतर बनाने वाली घटनाओं के लिए प्रेमचन्द जी पहिले से ही भूमि तैयार कर लेते हैं। होरी को भोला से गाय प्राप्त होने का वचन मिल जाता है पर उसके मन में कामना और जंगी के द्वारा अवरोध पैदा करने की शंका आ जाती है और पाठक आगे की बात जानने को उत्सुक हो जाता है।

पहिले मालती का मेहता की ओर आकर्षित होती है पर वह प्रेम की पशु प्रवृत्ति की व्याख्या कर उसे अपमानित कर देता है। दोनों एक ही मकान में रहते हैं और इस अपमानता की स्थिति में भी मालती मेहता की गृह व्यवस्था में सहायता देती है पर महीनों तक मेहता को मिलने का अवसर नहीं आता। एक दिन मंगल के रोने की आवाज सुनकर मेहता मालती के घर पहुँच जाते हैं और उसका मंगल के प्रति उमड़ने वाली वात्सल्य-भावना देखकर उनके हृदय में प्रेमभाव उमड़ आता है। डा० मेहता उसको

और आकर्षित होते हैं पर मालती अपने एकांतिक जीवन की भावना और अपनी पूर्णता पर सन्ताप प्रकट करती है। दोनों का सम्भाषण दोनों को प्रेम-विभोर कर देता है और मिलन-स्थल समीप ही जान पड़ता है। इसी समय मुनिया आग जाती है और रंग में भंग हो जाता है। कथा-संगठन की कुशलता ने ऐसे स्थलों को अत्यन्त चमत्कार पूर्ण और आकर्षक बना दिया है।

२. पात्र

प्रेमचन्द जी ने अपने अन्य उपन्यासों की अपेक्षा इसमें अधिक पात्रों को स्थान दिया है पर मिर्जा खुर्शेद के अतिरिक्त कोई भी पात्र अनावश्यक नहीं जान पड़ता। और प्रत्येक पात्र के उपस्थित करने में लेखक का एक निश्चित उद्देश्य है। भले और बुरे भाइयों का आदर्श लिए हीरा और शोभा आये हैं। उसकी दो कन्याएँ हैं। दोनों से गाँव में प्रचलित दो सामाजिक कुरीतियाँ व्यक्त होती हैं। गोबर के दो लड़के होते हैं एक बनिया की भाव मरने के लिए और दूसरा मालती के मातृत्व की परीक्षा के लिए। गाँव के दूसरे वर्ग का प्रतिनिधित्व करने के लिए भोला उपस्थित किया गया है। अन्य पात्रों में झिंगुरी, दातादीन, पटेश्वरी और नोखेराम हैं। इनके द्वारा ही कार्य लेखक ने हमारे सामने रखे हैं, जिनसे गाँव होरी और उसके परिवार की गति-विधि परिचालित होती है। दातादीन सिलिया के उद्धार के लिए उपस्थित किया गया है। गिरधर नवसखी और ईंगोड़ के रूप में आता है। नोहरी की सृष्टि वृद्ध-विवाह का दुष्परिणाम बतलाने के लिए की गई है।

नागरिक पात्रों में मि० मेहता, मिस मालती, मिस्टर और मिसेज खन्ना, मिर्जा खुर्शेद, राय साहब और ओंकारनाथ मुख्य हैं। प्रथम दो को लेखक ने वैवाहिक जीवन और नारी-स्वतन्त्रता की समस्या पर विचार करने के लिए प्रस्तुत किया है। खन्ना पूँजीवादी-वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। ओंकारनाथ के रूप में लेखक ने मजदूर-नेताओं की मनोवृत्ति व्यक्त की है। राय साहब जमींदारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रकार उपन्यासकार ने गोदान के द्वारा भारत की दो धाराएँ ग्रामीण और नागरिक तथा पूँजीवादी और श्रमिक वर्ग—स्पष्ट रूप में पाठकों के सामने रखा है।

रायसाहब के एक पुत्र और एक पुत्री है। दिग्विजय सिंह और राजा सूर्यप्रताप सिंह उनके प्रतिद्वन्द्वी हैं। एक की दुर्गति उनकी कन्या करती है और दूसरे का उनका पुत्र। थोड़े रूप में इन सब पात्रों को तीन वर्गों—शोषक, शोषित और सुधारक में विभाजित कर सकते हैं। उनमें सुधारकों में मेहता, मालती, गोबर, अन्यायी जमींदारों और धनियों को रखा है। उनमें कुछ स्वाभाविक रूप से शोषकों के सहायक

हैं और कुछ ईर्ष्यावश पूँजीपतियों को नीचा दिखाने को सुधारक बन गए हैं। कुछ स्वार्थवश शोषितों के नेता बन गए हैं, जैसे ओंकारनाथ।

३ भाषा

'गोदान'[1] की भाषा सरल, सुबोध और प्रवाहपूर्ण है। जिस प्रकार दैनिक जीवन में पारस्परिक सम्भाषण के लिए नियन्त्रण रखने की आवश्यकता नहीं समझी जाती उसी प्रकार प्रेमचन्दजी ने भी अपने पात्रों की रुचि, संस्कार और योग्यता के अनुसार स्वच्छन्दता से भाषा का प्रयोग करने की स्वतन्त्रता रखी है।

भाषा मनोभावों की व्यंजना का साधन है। जिस प्रकार रुचि और संस्कार का प्रभाव व्यक्ति के विचारों पर पड़ता है उसी प्रकार भाषा पर भी। उपन्यास के सभी पात्र एक ही रुचि, संस्कार या वातावरण के नहीं होते, इसलिए उनकी भाषा में भी भिन्नता रहेगी और इस भिन्नता का मूल कारण वह वातावरण है, जिसमें वे पात्र जन्मे और पले हैं। 'गोदान' के पात्र भाषा की दृष्टि से दो भागों में विभाजित हैं ग्रामीण और शहराती। ग्रामीणों में भी कुछ उच्च वर्ग के पात्र हैं। हम देखते हैं कि ग्रामीणों की भाषा और शहराती पात्रों की भाषा में उनके वातावरण के अनुसार लेखक ने कुछ भिन्नता रखी है और इसी प्रकार ग्रामीण पात्रों में जो उच्च वर्ग के पात्र हैं उनकी भाषा अन्य ग्रामीणों से कुछ अधिक परिमार्जित है। नागरिक पात्रों में हम मिर्जा की भाषा अन्य नागरिक पात्रों से कुछ भिन्न अवश्य पाते हैं। वह हिन्दुओं के बीच ही रहता है फिर भी उसकी भाषा सरल, सुबोध और प्रवाहपूर्ण होने के साथ ही पात्रों के अनुकूल भी है। ग्रामीणों की भाषा में हमें ठेठ ग्रामीण अपभ्रंश और तद्भव शब्दों की प्रधानता मिलती है। उटकी, बामन, हेंटा, महावर, कुरकुर, कुरता, मठाधन, चचेरे, घुड़सर आदि ऐसे ही शब्द हैं। कुछ अंग्रेजी शब्द भी ग्रामीण रूप में ग्रामीण पात्रों के मुँह से कहलाए गए हैं। यथा हरमुनिया, बरौबाला, पुलुस, कासिस, इस्टाम आदि। 'गोदान' में कुछ पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग अर्थ की सम्पूर्णता के लिए किया गया है। यथा—प्रपोज, प्रोग्राम, नोटिस, एजेंट, कौंसिल, फ्रीम, डाइरेक्टर, एलेक्शन, पालिसी, फार्म, पब्लिक, मिनिस्टर, परमेंट, रूमर आदि। पर इन शब्दों का प्रयोग करते समय भी उन्होंने हिन्दी की प्रकृति और परम्परा का ध्यान रखा है। उन्होंने अंग्रेजी शब्दों का बहुवचन रूप हिन्दी के अनुसार ही किया है। यथा मिनिस्टरों, कौंसिलों, फिलासफरों, प्रोफेसरों, कम्यूनिस्टों, म्युनिसिपैलिटियों, बोर्डों आदि। जैसे अंग्रेजी के उन शब्दों का जो हिन्दी में घुल-मिल गए हैं प्रयोग करना अनुचित नहीं है। 'गोदान' में हमें कुछ सहयोगी शब्द भी मिलते हैं। यथा मान-मर्यादे, बोल-चाल, डाँट-डपट, नखरे-नखराना, बैल-बधिये, जाँच-तहकीकात, मार-पीट, सूखे-सूखे आदि। इनसे पात्रों की भाषा में अधिक स्वाभाविकता आ गई है।

'गोदान' की भाषा में कुछ दोष भी हैं। यथा 'और' शब्द का अनावश्यक —प्रेम और त्याग और शील और प्रेम। दूसरा दोष दो भिन्न भाषाओं के शब्दों को एक स्थान रखना है। यथा—विशाप दिलचस्पी, तमाशा समाप्त जिन्दगी आदि।

शैली

'मनोरंजन' उपन्यास का प्रथम उद्देश्य है। यदि कोई उपन्यास मनोरंजक नहीं, सफल उपन्यास नहीं कहा जा सकता। मनोरंजकता के लिए आकर्षक शैली आवश्यक है। साधारण-सी घटना का वर्णन भी आकर्षक ढंग से किया जाये वह भी मनोरंजक हो जाती है और यदि मनोरंजक हो पर उसके कथन का ढंग न हो, तो वह भी सुननेवालों का मनोरंजन नहीं कर सकती। उपन्यासकला वही शैली प्रशंसनीय समझी जाती है जो अनिच्छुक व्यक्ति को भी क्षण भर पढ़ने के लिए लालायित कर दे। यह विशेषता थी प्रेमचन्द की शैली में प्रारम्भ में उन्होंने हिन्दी की अभिव्यंजना शैली स्वीकार कर ली और उसी में ... प्राप्त करने का प्रयत्न किया। उनकी शैली में सबसे एक प्रकार की सरलता ... जिसमें समास के ... रस गम्भीरता और बल आ जाता है। जहाँ कोमल भावों ... व्यंजना है वहाँ भाषा मधुर और कोमल हो गई है। जहाँ क्रोध की व्यंजना दिखाई ... है वहाँ शैली भी उग्र और ओजपूर्ण बन गई है। जहाँ तिरस्कार, अवहेलना अथवा ... की भावना है वहाँ शब्दों का चयन इस ढंग का हुआ है जिससे वे भाव ... हो जायें। उदाहरणार्थ होरी के घर आने पर धनिया के स्वर देखिए— ... मेरे घर आई क्यों? × × जाय वहीं उसके सगे हों। × × हमें दया करना ... था दिए।

प्रेमचन्द ने अपनी शैली में अलंकारों को भी स्थान दिया है, पर उनका उपयोग ... की सौन्दर्य-वृद्धि और भावों की स्पष्टता के लिए हो किया है।

४ कथोपकथन

प्रत्येक व्यक्ति की बातचीत पर सबसे अधिक प्रभाव उसकी प्रकृति अथवा संस्कार ... पड़ता है। इसके पश्चात् पात्र की रुचि, विषय और मानसिक स्थिति का ... है। इन बातों का ध्यान में रखकर लिखा गया कथोपकथन ही स्वाभाविक ... प्रभावशाली होता है। धनिया के इन शब्दों में उसका स्वभाव स्पष्ट ... जाता है—'वह न हो भाई, मार्ड ने पकड़ कर तोड़ दिया, तो तुम ... होते! फिर अब इतना दमक ही ... था कि भाई की बहू के

गले पर छुरी चल रही थी तो भला तुम कैसे बोलते ! उसकी प्रकृति के अनुरूप ; कितना सुन्दर और मर्मपूर्ण व्यंग्य है धनिया के इन शब्दों में।

होरी— मुझे भूख नहीं है।

धनिया— 'हाँ काहे को भूख लगेगी भाई ने बड़े बड़े लड्डू खिला दिए हैं न ! भगवान् ऐसे सपूत भाई सबको दें।' यह वाक्पटुता का एक सुन्दर उदाहरण है।

कथोपकथन में चरित्र को स्पष्ट कर देने का भी गुण होना चाहिए। ऐसे ही स्थल कथोपकथन की दृष्टि से सफल कहे जाते हैं, जिनसे चरित्र के विश्लेषण में सहायता मिले।

होरी और धनिया में कुछ समय तक व्यंग्यपूर्ण तीखी बातें होती रहती हैं। अंत में धनिया परास्त होकर लाठी मिरजई पगड़ी जूते और तम्बाकू का बटुआ ला देती है। होरी आँखें तरेरकर कहता है— क्या ससुराल जाना है, जो पाँचों पोशाक लाई है ? ससुराल में भी तो कोई जवान साली-सलहज नहीं बैठी है जिसे जाकर दिखाऊँ।

धनिया—"ऐसे ही तो बड़े सजीले जवान हो कि साली-सलहजें तुम्हें देखकर रीझ जायेंगी।"

दोनों की कटुता हास्य में परिणत हो जाती है। यह है प्रेमचंद जी की शैली की विशेषता।

कथोपकथन के समय पात्र की भावनाओं का स्वाभाविक स्पष्टीकरण लेखक की सतर्कता का द्योतक है। प्रेमचंद जी ने इसका अपने कथोपकथन में बराबर ध्यान रखा है।

कुछ कथोपकथन अवश्य ही बड़े लम्बे हो गये हैं, जो इस दृष्टि से दोषपूर्ण ही समझे जायेंगे।

६ देशकाल

'गोदान' हमें एक ओर ग्राम की सामाजिक तथा धार्मिक मनोवृत्ति सामाजिक रूढ़ि आर्थिक विषमता और नैतिक दृष्टिकोण से परिचित कराता है और दूसरी ओर नगर में प्रचलित नई सभ्यता से शहर के पारिवारिक जीवन का बड़ा सुन्दर और स्पष्ट चित्रण हमें गोदान में मिलता है। अनमेल विवाह, अनियमित बहुआ-द्वारा उत्पन्न वितंडावाद, दुःखी कन्या सिलिया का रूठकर नैहर भाग जाना, धर्म का पाखण्डपूर्ण रूप जमींदार दमन आदि ग्रामीण चित्र इसमें बड़े स्वाभाविक रूप से चित्रित किए हैं।

चरित्र चित्रण

प्रेमचन्द ने सभी वर्गों के पात्रों को अपने उपन्यासों में स्थान दिया है। उन्होंने सभी गुण-दोष और जीवन का अध्ययन किया है। इसीलिए उनके पात्रों में बनावट

विशेषताएँ देखी जाती हैं। चरित्र चित्रण में उन्होंने किसी वर्ग के प्रति पक्षपात नहीं दिखलाया। जिस वर्ग के पात्रों के प्रति उन्होंने सहानुभूति दर्शाई है उनकी उपयुक्त अवसरों पर बुराई भी बतलाई है। दोषों की आलोचना करने में लेखक नहीं रहा एक निर्मम डाक्टर-सा उपस्थित होता है। समाज शरीर की स्वस्थता के लिए दोषों का आपरेशन आवश्यक है भी। इसीलिए उन्होंने जमींदार किसान पुलिस वकील डाक्टर महाजन शिक्षाधिकारी राजकर्मचारी सभी के दोषों की आलोचना की है। न किसी पात्र को केवल श्रद्धा या घृणा से नहीं देखा। उन्होंने मानव मात्र के गुण-अवगुणों के समन्वय का बड़ी सफलतापूर्वक निर्वाह किया है। इससे उनके पात्र और उन पात्रों का चरित्र चित्रण अस्वाभाविक नहीं जान पड़ता। उन्होंने जो बात जिससे कहलानी चाहिए, उसी से कहलाई है।

प्रेमचन्द ने प्रत्येक स्थान पर पात्रों की मानसिक स्थिति का चित्रण सम्पूर्ण रूप से किया है। यथा मि० मेहता का स्पष्ट कथन सुनकर राय साहब को आघात पहुँचा वकील साहब के माथे पर बल पड़ गए और सम्पादक ओंकारनाथ के मुख पर जैसे कालिमा लग गई। वे खुद समष्टिवाद के पुजारी थे पर अपने घर में उसे न लाना चाहते थे।

—(पृष्ठ ८५)

ऐसे ही उन्होंने भी तन्खा के कुचालियों का उत्थान पतन भी बड़े सुन्दर ढंग से दिखाया है। पहले वे उन्हें सब साधन सुलभकर बहुत ऊँचा चढ़ा देते हैं और उनमें अभिमान या दम्भ होने पर ऐसे जोर का झटका देते हैं कि वह जमीन पर आ गिरता है। उन्होंने खन्ना और रायसाहब का चरित्र इसी प्रकार चित्रित किया है।

सुख शांति और सन्तोष भारतीय संस्कृति की विशेषता है। सरल एवं सीधा-सादा जीवन व्यतीत करते हुए सेवा और त्याग में लगे रहना उसका लक्ष्य है। प्रेमचन्द भारतीय संस्कृति के इस तत्त्व को 'गोदान' में विस्मृत न कर सके। उन्होंने 'गोदान' में दिखलाया है कि ग्राम के असन्तुष्ट बड़े बासपास वातावरण में भी यह भावना विद्यमान है। वाग्बाण की भाविका धनिया का स्वभाव जरा उग्र है पर साहस की भी वह धनी है। उसका यह साहस उस समय दिख देता है जब वह धर्म और समाज के ठेकेदारों को ललकार कर सिलिया चमारिन को अभय आश्रय देती है। वह कितनी निर्भय है समाज की थोथी परम्परा से। इसी प्रकार भोला को मार्ग में देख कर वह अपने घर की परवाह न कर उसे बचा खुचा भूसा दे देती है।

दातादीन पटेश्वरी, झिंगुरी सिंह नोखेराम शोषक वर्ग के पात्र हैं पर उनमें भी दूसरों के कष्ट में सहानुभूति प्रकट करने की भावना मौजूद है। पटेश्वरी होरी को यह

से कोसकर फेंक देना चाहता है पर होरी के अचेत होने का समाचार पाकर वह दौड़ जाता है और उसकी आपत्ति में हाथ बँटाता है।

नागरिक पात्रों में त्याग और सेवा का अभाव रहता है। पर वहाँ भी मि खन्ना की पत्नी गोविन्दी, मिस मालती और डा मेहता में त्याग और सेवा की भावना देखा जाती है। मालती निर्धनों की सेवा मुफ्त करती है। उसने मंगल की जो सेवा की और उसकी सेवा में कष्ट उठाया वह सगी माँ से ही सम्भव है। गोविन्दी का सेवाभाव मेहता को उसका पुजारी बना देता है। सदैव तिरस्कार की दृष्टि से देखनेवाले मिस्टर खन्ना भी अन्त में उसकी सेवा और त्याग का मूल्य समझने को विवश होते हैं। डाक्टर मेहता अपनी हजारों की कमाई गुप्तदान में समाप्त कर देते हैं। होरी का हीरा की अनुपस्थिति में अपने बाप से अधिक पुनिया के खेत की परवाह करना उसके त्याग और सेवा भावना का ही प्रमाण है। प्रेमचंद ने यह सिद्ध कर दिया कि यदि सेवामय त्याग का उदाहरण सामने रखा जाए तो कोई भी सजग और बुद्धिमान् प्राणी उससे प्रभावित हुए बिना न रहेगा। इतना ही नहीं पर इससे मानव-स्वभाव में भी एक अपूर्व परिवर्तन हो सकता है। मि मेहता और मालती के चरित्र में लेखक ने यही सिद्ध किया है।

प्रेमचंद के चरित्र सामजनात और सवकालीन है। उन्होंने अपना सदेश ऐसे व्यक्तियों से कहलाया है, जो सांसारिक सुख का पूर्ण उपभोग करने के पश्चात् उधर से विरक्त हो गए और जिन्होंने पर-सेवा ही अपने जीवन का ध्येय बना लिया। प्रेमचन्द के इस सन्देश का विकास मालती में पूर्ण विकसित मिलता है। वह मेहता से कहती है—"संसार को तुम जैसे साधकों की जरूरत है, जो अपनेपन को इतना फैला दें कि सारा संसार अपना हो जाय। मैं एक प्रतिभावान् व्यक्ति की आत्मा को कारागार में बन्द नहीं करना चाहती। तुमने संसार के प्राणियों की आर्त पुकारें सुनी हैं, तुम उनकी ओर से अपने कान बन्द नहीं कर सकते। अपनी विचार और बुद्धि को अपनी बनी हुई मानवता को और भी उत्साह के साथ उसी रास्ते पर (सेवा मार्ग पर) ले जाओ। मैं भी तुम्हारे पीछे-पीछे चलूँगी। अपने जीवन के साथ मेरा जीवन भी सार्थक कर दो। (पृ० ७५)

जब हमारा पूँजीवादी-वर्ग मालती के द्वारा दिए गए इस सन्देश को सुनेगा और उस कायाकल्प में परिणत करेगा तभी देश की मानवता में प्राण आएँगे और हम सुख और शांति का अनुभव करेंगे।

———

२६ :

लघुकथा : स्वरूप और विकास

कहानी की परिभाषा के संबंध में भिन्न-भिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। पाश्चात्य कहानी-साहित्य के जन्मदाता एडगर एलन पो के मतानुसार "कहानी रस उद्रेक करनेवाला एक ऐसा आख्यान है जो एक ही बार पढ़ा जा सकता है। एच० जी० वेल्स कहते हैं कि कहानी वही है जो लगभग २० मिनट में साहस और कल्पना के साथ पढ़ी जा सके।" बाबू श्यामसुन्दर दास ने लिखा है "आख्यायिका एक निश्चित लक्ष्य को सामने रखकर लिखा गया नाटकीय आख्यान है। कुछ लोग कहानी को उपन्यास का संक्षिप्त रूप समझते हैं। प्रेमचंद जी के कथनानुसार "कहानी एक रचना है जिसमें जीवन के किसी एक अंग या किसी एक मनोभाव को प्रदर्शित करना ही उस लेखक का उद्देश्य रहता है। उसके चरित्र शैली और कथा-विन्यास सब उसी एक भाव को पुष्ट करते हैं।" "वह एक ऐसा गमला है जिसमें एक ही पौधे का माधुर्य अपने समुन्नत रूप में दृष्टिगोचर होता है। अज्ञेय जी कहानी को एक ऐसी सूक्ति मानते हैं जो निरन्तर समाधान पाने की कोशिश करती रहती है। जैनेन्द्र जी कहानी को जीवन प्रतिच्छाया मानते हैं। श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार कहते हैं कि घटनात्मक इकहरे चित्रण का नाम ही कहानी है।

पहले कुछ लोग कहानी में तीन हजार से बारह हजार शब्दों का होना आवश्यक मानते थे पर अब शब्दों का कोई बन्धन नहीं माना जाता। एक कहानी सौ शब्दों की भी हो सकती है और पन्द्रह हजार शब्दों की भी।

अन्य साहित्य की तरह कहानी-लेखन का भी एक निश्चित उद्देश्य होता है। कहानीकार पहिले अपनी कहानी के उद्देश्य की पूर्ति के लिए घटना, वातावरण, पात्र कथोपकथन आदि के आधार पर कहानी लिखता है। कहानी के एक निश्चित उद्देश्य में पूर्ण होने के कारण उसकी उपन्यास से अलग अपनी एक स्वतंत्र शैली बन गई है। आधुनिक कहानी प्राचीन कहानियों से भी अलग है। आज का कहानी-लेखक पाठक के सामने खड़ा होकर उससे प्रत्यक्ष बातें करता-सा मालूम होता है। उसकी शैली पाठक के अंतरंग मित्र की-सी होती है। उसकी यह शैली प्रत्यक्ष शैली अथवा व्यक्तिप्रधान शैली कही जा सकती है।

कहानी वास्तव में किसी व्यक्ति विशेष के जीवन का एक ऐसा खंड चित्र है, जिसमें उसके जीवन से संबंधित एक घटना विशेष का चित्रण होता है। यह ऐसी घटना होती है जिसका जीवन से स्थायी संबंध होता है। इस घटना का प्रभाव भी व्यापक होता है।

इसीलिए उस घटना पर आधारित कहानी से उसके पाठक अप्रभावित नहीं रह पाते। प्रत्येक कहानी में कोई-न-कोई संघर्ष अवश्य होता है। यही संघर्ष कहानी को प्राणमयी बनाता है। यही कारण है कि कहानी में घटना के क्रमबद्ध विकास का जो महत्त्व है वह चरित्र अथवा कथावस्तु का महत्त्व नहीं है। वह घटना छोटी होती हुई भी तथ्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होती है। यह तथ्य जितना व्यापक होता है कहानी उतनी ही प्रभावपूर्ण होती है। संभवतः इसीलिए सर ह्यू वाल पोल ने कहा है— 'कहानी कहानी होनी चाहिए अर्थात् एक तो उसमें घटित घटना का कोई जीवन-व्यापी महत्त्व होना चाहिए। दूसरे वह घटना आकस्मिक होनी चाहिए। उसका विकास तीव्र गति से इस प्रकार होना चाहिए कि वह एक कौतूहल के साथ चरम बिन्दु तक पहुँच जाय।

अब कहानी का क्षेत्र केवल घटना तक ही सीमित नहीं रहा मानव-जीवन का कोई रहस्य अथवा मनोवैज्ञानिक सत्य भी उसका आधार बन गया है। प्रेमचन्दजी तो यहाँ तक मानते हैं कि 'वर्तमान आख्यायिका का आधार ही मनोविज्ञान है। घटनाएँ और पात्र उसी मनोवैज्ञानिक सत्य को स्थिर करने के लिए लाये जाते हैं। उनका स्थान बिलकुल गौण है। वह भी एक घटना मनःस्थिति अथवा बाह्य परिस्थिति है, जिसमें मनोवैज्ञानिक सत्य या मनोवैज्ञानिक रहस्य का उद्घाटन संभव हो। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है 'आख्यायिकाओं की बड़ी शक्ति है। वे समाज की प्रवृत्तियों को जहाँ अभिव्यक्त करती हैं वहाँ उनके ठीक विश्लेषण सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न कर सकती हैं। इसलिए कहानी में नंगापन या फूहड़पन कहानी-कला की कोई सेवा नहीं कर सकता।

कहानी-तत्त्व

कथावस्तु, कथोपकथन, चरित्र चित्रण, देशकाल अथवा वातावरण, वर्णन-शैली और उद्देश्य कहानी के तत्त्व हैं। किसी भी कहानी का परीक्षण इन्हीं तत्त्वों के प्रकाश में किया जाता है। किसी कहानी की विशेषताएँ जानने के लिए भी उस कहानी को इन्हीं तत्त्वों की कसौटी पर कसकर देखा जाता है।

कथावस्तु

कथावस्तु के पाँच अंग होते हैं—शीर्षक, प्रस्तावना, मुख्य भाग, चरम विकास और अन्त। आज कल बिना शीर्षक की कहानियाँ भी लिखी जा रही हैं किन्तु प्रत्येक कहानी का शीर्षक आवश्यक है। कहानी का शीर्षक ऐसा होना चाहिए जिससे कहानी के रूप का संकेत हो और साथ ही वह आकर्षक और मनोरंजक भी हो। शीर्षक देखकर ही पाठक के मन में उस कहानी के पढ़ने की इच्छा उत्पन्न होनी चाहिए। प्रस्तावना में कहानी के मुख्य पात्रों का संकेत होने के साथ ही कहानी का आरम्भ भी हो। मुख्य भाग में कहानी का सम्पूर्ण मुख्य भाग आ जाता है और वह क्रमशः विकास करता हुआ

चरम बिन्दु पर पहुँचता है। कहानी का अन्त इस ढंग से किया जाता है कि वह पाठक के हृदय पर स्थायी प्रभाव छोड़ सके और कहानीकार का उद्देश्य सफल हो सके।

कथोपकथन

कहानी का कथोपकथन कहानी के कथानक का विकास करता हुआ उसके पात्रों के चरित्र को स्पष्ट करता है। कथोपकथन के द्वारा ही पात्रों की मनोवैज्ञानिक स्थिति तथा सामाजिक स्थिति का पता लगता है। अतः कथोपकथन कहानी का एक बहुत आवश्यक और महत्त्वपूर्ण अंग है। यह चरित्र-चित्रण में सहायता करने के साथ ही कथानक के सुव्यवस्थित विकास एवं भाषा शैली का निर्माण करने में भी सहायता करता है। अतः आवश्यक है कि कथोपकथन भाषा की स्वाभाविकता के साथ स्थान, समय और परिस्थिति के भी अनुकूल हो।

चरित्र-चित्रण

कहानी में पात्रों की संख्या कम-से-कम होती है। घटनाप्रधान कहानियों के सिवाय अन्य कहानियों की सफलता की परीक्षा चरित्र-चित्रण के द्वारा ही की जाती है। कहानी के नायक और नायिका ही मुख्य पात्र होते हैं। कहानी में उपन्यास की तरह पात्रों के चरित्र का क्रमिक विकास नहीं दिखाया जा सकता किन्तु पात्रों के चरित्र की एक स्पष्ट झलक अवश्य दिखाई जा सकती है और इसी झलक के आधार पर उस पात्र के सम्पूर्ण चरित्र का अनुमान हो जाता है। अतः पात्रों के चरित्र-चित्रण में कहानीकार को बहुत सतर्क रहना पड़ता है। चरित्र-चित्रण कथन द्वारा, संकेत द्वारा, वार्तालाप द्वारा और घटनाओं द्वारा किया जाता है। इसमें वास्तविकता, संक्षिप्तता, स्वाभाविकता और मौलिकता का ध्यान रखना आवश्यक है।

देश-काल

देशकाल की परिस्थिति में ही कहानी के वातावरण का निर्माण होता है। इस वातावरण में पात्रों के चरित्र का विकास होता है और पाठकों का मन भी कहानी के वातावरण से ही प्रभावित होता है। अतः आवश्यक है कि देश काल अथवा वातावरण का चित्रण स्वाभाविक पात्रों की मानसिक स्थिति के अनुरूप, आकर्षक किन्तु संक्षिप्त हो।

भाषा-शैली

कथन की सुन्दरता ही कहानी के प्रवाह का आधार है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना कहने का अपना ढंग होता है। कहानी कहने का यह ढंग भी कहानी सुनने वाले के हृदय को आकर्षित करता है इसीलिए कहानी में शैली का बहुत महत्त्व है। कहानी लेखक की अनेक शैलियाँ हैं। वर्णनात्मक शैली, ऐतिहासिक शैली, आत्मकथात्मक शैली

डायरी शैली आदि में कहानियाँ लिखी जा सकती हैं। आजकल रेखा-चित्र के रूप में भी कहानियाँ लिखी जा रही हैं। कहानी चाहे जिस शैली में लिखी जाय किन्तु उसकी भाषा प्रभावशाली सरल प्रवाहपूर्ण तथा विविध भावों को स्पष्टता के साथ प्रकट करने वाली होनी चाहिए। आजकल हिन्दी में चार भाषा-शैलियाँ प्रचलित हैं एक प्रसाद जी की दुरूह संस्कृत-प्रचुर भाषाशैली दूसरी प्रेमचन्द जी की सरल सरस और पात्रानुकूल भाषाशैली तीसरी उग्रजी की आवेगिक शैली और चौथी यशपाल जी की माधुर्य गुण-युक्त सरल भाषाशैली।

उद्देश्य

यह पहिले ही कहा जा चुका है कि प्रत्येक कहानी का एक निश्चित उद्देश्य होता है। केवल मनोरंजन के लिए लिखी गई उद्देश्यहीन कहानी को कहानी कहना ही व्यर्थ है। पहिले की कहानियों का उद्देश्य पाठकों को कोई शिक्षा अथवा उपदेश देना होता था किंतु कहानी का यह उद्देश्य आज गौण बन गया है। आज की कहानी का उद्देश्य पाठकों में जागृति स्फूर्ति साहस अथवा किसी एक रस विशेष की चेतना को जन्म देना है। यही कारण है कि वर्तमान कहानी का उद्देश्य संवेदनात्मक अधिक और उपदेशात्मक कम होता है। कहानीकार अपनी कहानी के द्वारा समाज को स्वस्थ उन्नत और प्रगतिशील बनाने का प्रयत्न करता है। वह अंध-विश्वासों सामाजिक रूढ़ियों और कमजोरियों पर प्रहार करता है और इस प्रकार एक आदर्श समाज की रचना में सहायक होता है।

कहानी के इन तत्वों की कसौटी पर खरी उतरने वाली कहानियाँ ही श्रेष्ठ कहानियाँ हैं। कहानी का विकास इस ढंग से होना चाहिए कि उसके विकास की प्रत्येक सीढ़ी पर पहुँचते ही पाठक आगे की बात जानने को उत्सुक दिखाई दे और उसका चरम विकास पाठकों के मन पर एक आकस्मिक तथा चमत्कारपूर्ण प्रभाव डाल सके। श्रेष्ठ कहानियाँ अपनी अंतिम कुछ पंक्तियों के द्वारा ही पाठकों के हृदय पर स्थायी प्रभाव डालने में समर्थ होती हैं।

हिन्दी-कहानी-साहित्य का विकास

मनुष्य का जीवन स्वयं एक कहानी है। अतः मनुष्य के जन्म के साथ ही कहानी का भी जन्म माना जा सकता है। आदिम युग का मनुष्य क्रमशः विकास करता हुआ एक अवस्था से दूसरी अवस्था में पहुँचता गया। उसकी बुद्धि विकसित होती गई, वह संसार के नये-नये रूप देखता गया उसके मन में नये-नये भाव पैदा होते गए, उसके मस्तिष्क में नये-नये विचार आते गए और उसके जीवन की नई-नई कहानियाँ बनती गईं। इन कहानियों का क्या रूप था यह कहना संभव नहीं है। इतना अवश्य

कहा जा सकता है कि लोक-कहानियों का जन्म मनुष्य के विकास की इन्हीं स्थितियों में हुआ होगा।

वेदों में हमें कुछ कहानियों के सूत्र मिलते हैं किन्तु ये सूत्र सांकेतिक हैं। इनमें से कुछ सूत्रों के आधार पर उपनिषद् काल में कहानियाँ लिखी गईं। इन कहानियों की रचना कुछ विचार अथवा सिद्धान्तों को समझाने के लिए हुई थी। इनके सिवाय कुछ कहानियाँ उस समय की सामान्य जनता में भी प्रचलित रही होंगी। ये लोक-प्रचलित कहानियाँ भी आज प्राप्त नहीं हैं।

सबसे पुरानी कही जाने वाली कहानियाँ "गुणाढ्य" की मानी जाती हैं। उनके द्वारा रचित ये कहानियाँ पैशाची भाषा के "बड्डकहा" नामक ग्रंथ में संकलित थीं। पैशाची का यह ग्रंथ आज प्राप्त नहीं है पर इन कहानियों का संस्कृत रूपान्तर "कथासरित्सागर" तथा "बृहत् कथा मंजरी" के रूप में प्राप्त है।

इसके पश्चात् हमें जातक कथाएँ हितोपदेश पंचतंत्र आदि की कहानियाँ मिलती हैं। इनके सिवाय ईसप की कहानियाँ भी प्राप्त हैं। ये सब लोक-कहानियाँ ही कही जा सकती हैं। इन कहानियों का उद्देश्य कोई-न-कोई शिक्षा अथवा उपदेश देना था। ये कहानियाँ आज की कहानियों से बिलकुल अलग हैं। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इन कहानियों के कथा-सूत्र को देखकर ही पहिले पहल कहानी-लेखकों को आज की कहानियाँ लिखने की प्रेरणा मिली होगी।

हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में वर्षों पहिले से महाकाव्यों और खंडकाव्यों की रचना होती आ रही है। इन काव्यग्रंथों की रचना भी किसी एक कथानक को लेकर की गई है। अतः इन ग्रंथों में भी हमें कहानियों के रूप मिलते हैं। सूफी कवियों ने भारत में प्रचलित अनेक प्रेम-कहानियों के आधार पर अपने काव्य-ग्रंथों की रचना की है किन्तु आधुनिक कहानियों का आरम्भ इन प्रेम-गाथाओं के रचना-काल से भी नहीं माना जा सकता। ये कहानियाँ सर्वथा आधुनिक काल की देन हैं।

हिन्दी-कहानी-साहित्य

कुछ विद्वान् किशोरीलाल गोस्वामी द्वारा लिखित "इन्दुमती" कहानी को हिन्दी की आधुनिक ढंग की पहिली मौलिक कहानी मानते हैं। यह सन् १९०० ई० में प्रकाशित हुई थी। इसके पश्चात् बंग महिला की "दुलाई वाली" कहानी मानी जाती है। डाक्टर लक्ष्मीसागर सन् १९११ ई० में प्रकाशित प्रसाद जी की "ग्राम" कहानी को आधुनिक ढंग की पहली कहानी मानकर प्रसाद जी को आधुनिक हिन्दी-कहानी-साहित्य का प्रवर्तक मानते हैं। जो कुछ भी हो पर इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी के कहानी-साहित्य में पहिले पहल जिन कहानियों ने प्रवेश किया वे बंगला और अंग्रेजी से अनूदित थीं। ये

कहानियाँ 'सरस्वती' और 'इंदु' में प्रकाशित हुई थीं। भारतेन्दु-काल में श्री गोपालराम गहमरी द्वारा अंग्रेजी से कुछ जासूसी कहानियाँ भी हिन्दी में लाई गई थीं। श्री पार्वतीनन्दन और बंग महिला ने भी बंगला की सुन्दर कहानियों का हिन्दी में अनुवाद किया। इस प्रकार भारतेन्दु-युग में हिन्दी के कहानी-साहित्य का केवल आरम्भ ही हो सका। इस साहित्य को वास्तविक रूप और मौलिकता प्रदान करने का श्रेय वर्तमान काल को ही है।

कहानी-साहित्य के विकास की दृष्टि से हम वर्तमान काल को तीन खंडों में विभाजित कर सकते हैं प्रसाद-युग प्रेमचन्द-युग और नवयुग।

प्रसाद-युग

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सन् १९११ में "इन्दु" में प्रकाशित श्री जयशंकर प्रसाद की "ग्राम" कहानी से वर्तमान ढंग की मौलिक हिन्दी-कहानियों का लेखन और प्रकाशन आरम्भ होता है। "इन्दु" पत्रिका में प्रसाद जी के सिवाय श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी जी० पी० श्रीवास्तव आदि अन्य कहानीकारों की कहानियाँ प्रकाशित होती रहीं। प्रसाद जी ने धार्मिक सामाजिक राजनीतिक ऐतिहासिक आदि कहानियाँ लिखी हैं। सलमेन छाया प्रतिध्वनि आँधी बिसाती मधु, पुरस्कार, आकाशदीप इन्द्रजाल आदि प्रसादजी की कहानियाँ हैं। काव्यमय शैली नाटकीय कथोपकथन और संस्कृत-प्रचुर भाषा प्रसाद जी की कहानियों की विशेषता है। जी० पी० श्रीवास्तव की अधिकांश कहानियाँ हास्यरस से परिपूर्ण हैं। विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, ज्वालादत्त शर्मा आदि प्रसाद-युग के अन्य प्रसिद्ध कहानीकार हैं। दौरान सुदर्शन प्रेमचन्द चंडी प्रसाद "हृदयेश" राधिकारमण प्रसादसिंह तथा रायकृष्णदास ने भी इसी युग में कहानी-लेखन आरम्भ कर दिया था। इन कहानी-लेखकों में से हम उनकी कहानियों को देखते हुए श्री जयशंकर प्रसाद "हृदयेश" राधिकारमणप्रसाद सिंह और रायकृष्ण दास को भाववादी कहानीकार और प्रेमचन्द सुदर्शन कौशिक ज्वालादत्त शर्मा गुलेरी को यथार्थवादी कहानीकार कह सकते हैं। "कानों में कंगना" राधिका रमण प्रसाद सिंह की "रक्षा बंधन" और 'ताई' कौशिकजी की 'उसने कहा था' तथा "सुखमय जीवन" गुलेरीजी की विशेष लोकप्रिय कहानियाँ हैं। गुलेरीजी की कहानी के संबंध में आचार्य शुक्ल जी ने लिखा है—"इसमें यथार्थवाद के बीच सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यन्त निपुणता के साथ सम्पुटित है।" इसकी घटनाएँ ही बोल रही हैं पात्रों के बोलने की अपेक्षा नहीं।

प्रेमचन्द-युग

प्रेमचन्द जी के हिन्दी-कहानी-साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश करते ही एक नये युग का भास होने लगा। कम शिक्षित पाठक तिलस्म आदि से भरी हुई केवल

मनोरंजन के लिए लिखी जानेवाली कहानियों के स्थान पर मानव-जीवन के विविध पहलुओं पर लिखी कहानियाँ आने लगीं। प्रेमचन्द ने मनोवैज्ञानिक सत्य के आधार पर सामाजिक जीवन के विकास क्रम में अपनी कहानियों के कथानक चुन और जीवन के सत्य को अपनी कहानियों में प्रकट किया। उन्होंने मानव जगत् की छोटी-बड़ी सभी समस्याओं को अपनी कहानियों में स्थान दिया। यद्यपि उनकी कुछ कहानियाँ नागरिक जीवन से भी संबंधित हैं तथापि उनकी अधिकांश कहानियाँ किसानों, मजदूरों, अन्य ग्रामीणों तथा दलितों के जीवन पर आधारित हैं। इस प्रकार प्रेमचन्द ने हमारे कहानी-साहित्य को विविध रूपों में सुसज्जित कर समृद्धिशाली और स्वावलंबी बना दिया। उनकी कहानियों पर अपने युग की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि सभी प्रवृत्तियों के प्रभाव मिल जाते हैं।

पंडित सुदर्शन, शिवपूजन सहाय, इलाचन्द्र जोशी, मनोरम प्रेम, चंडीप्रसाद हृदयेश, चतुरसेन शास्त्री, जैनेन्द्रकुमार, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, भगवती प्रसाद वाजपेयी आदि प्रेमचन्द-युग के अन्य प्रमुख कहानीकार हैं। इन सभी कहानीकारों ने हिन्दी के कहानी-साहित्य को समृद्धिशाली बनाने में मूल्यवान् योग दिया है। इनमें से उग्र, जैनेन्द्रकुमार और इलाचन्द्र जोशी को कहानी-साहित्य को नई दृष्टि देने का श्रेय प्राप्त है। श्री उग्र ने एक क्रान्तिकारी के रूप में हिन्दी कहानी-जगत में प्रवेश किया। उनका-सा यथार्थ चित्रण कदाचित् ही अन्य कहानीकारों की कहानियों में मिले। उनकी अधिकांश कहानियाँ सामाजिक जीवन से युक्त हैं। इनमें जीवन के दोनों पहलुओं को स्पष्ट यथार्थ रूप में प्रकट किया गया है।

श्री जैनेन्द्र मानव हृदय के चित्रकार हैं। उन्होंने अपनी कहानियों में इन द्वन्द्वों संघर्षों का तथा मनोवैज्ञानिक स्थितियों का बड़ा सूक्ष्मता से चित्रण किया है। उनकी कुछ कहानियाँ दार्शनिकता के पुट के कारण समझने में कठिन हो गई हैं। श्री इलाचन्द्र ने एक नई भाव-धारा लेकर इस क्षेत्र में प्रवेश किया। मानव-मनोभावों का सूक्ष्म चित्रण और जीवन-तत्त्वों का विवेचन उनकी कहानियों की विशेषता है। उनकी कुछ कहानियों में जीवन का बाह्य तथा आन्तर दोनों बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त हुआ है।

नवयुग

यशपाल, सियारामशरण गुप्त, भगवतीचरण वर्मा, अज्ञेय, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, अध्यापक पूर्णसिंह, बेढब बनारसी, अमृतलाल नागर, निराला, अनन्त गोपाल शेवड़े, पहाड़ी, रघुवीरसिंह, श्रीराम शर्मा, देवीप्रसाद चतुर्वेदी, समसामयिक नये आदि नवयुग के कहानीकार हैं। इनमें से कहानीकार आदर्शवाद, मार्क्सवाद, यथार्थवाद, प्रगतिवाद आदि वादों में विभाजित हैं। चाहे जो हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि इन तथा अन्य अनेक सुविदित कहानीकारों द्वारा हिन्दी के कहानी-साहित्य के विकास में

महत्त्वपूर्ण सहायता मिल रही है। इस समय सेक्स की समस्या से लेकर लोक-कल्याण और जन-उत्थान तक की भावनाओं से पूर्ण कहानियाँ लिखी जा रही हैं। इनके सिवाय मनोवैज्ञानिक दार्शनिक और वैज्ञानिक कहानियाँ भी लिखी जा रही हैं।

यह राजनीतिक और सामाजिक जागृति का युग है। भारतीय स्वतंत्रता के पश्चात् नये विचारों नई भावनाओं और नई आकांक्षाओं का जन्म हुआ। परिणाम स्वरूप आज का कहानी-साहित्य बहुरूपी और बहुरंगी बनता जा रहा है। युग बदल रहा है, जीवन बदल रहा है, धारणाएँ और वस्तुएँ बदल रही हैं तथा उनकी परिभाषाओं और मूल्यों में भी परिवर्तन हो रहा है। इसी परिवर्तन के प्रकाश में हमारे सामने नये-नये कहानीकार नई-नई शैलियाँ और नये-नये शिल्प लेकर आ रहे हैं। इस कार्य में महिलाएँ भी पीछे नहीं हैं। शिवरानी प्रेमचन्द उषा देवी मित्रा महादेवी वर्मा सुभद्रा कुमारी चौहान कमला चौधरी हेमवती देवी तेजरानी पाठक सत्यवती मल्लिक चन्द्रकिरण सोनरेक्सा आदि के द्वारा भी हिन्दी के कहानी-साहित्य के विकास में बहुत बड़ी सहायता मिली और मिलती जा रही है।

विचार धाराओं की दृष्टि से यशपाल रांगेय राघव राहुल सांकृत्यायन अमृतलाल नागर अमृतराय नरेन्द्र शर्मा राजेन्द्र यादव विष्णु प्रभाकर आदि की कहानियों पर मार्क्सवादी प्रभाव है। इनमें से यशपाल जी ने नवयुग के हिन्दी-कहानी-साहित्य में संभवतः सबसे अधिक योगदान किया है। विचार प्रधान कहानी-लेखकों में सियाराम शरण गुप्त कन्हैयालाल मिश्र भगवतीचरण वर्मा आदि अग्रणी हैं। देवेन्द्र सत्यार्थी तथा मन्मथनाथ गुप्त के भी कुछ कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। नये टेकनिक को लेकर कहानी लिखनेवालों में हमारी नवोदित पीढ़ी के जो कलाकार उल्लेखनीय हैं, उनमें मोहन राकेश आनन्दप्रकाश जैन मार्कण्डेय मन्नू भंडारी रमेश बक्षी आदि मुख्य हैं। इन दिनों मोपासाँ टालस्टाय चेखव पसबक गोर्की कुप्रिन आदि अनेक प्रसिद्ध विदेशी कहानीकारों की कहानियाँ भी हिन्दी में आकर हमारे साहित्य की समृद्धि कर रही हैं। आज हिन्दी का कहानी-साहित्य किसी भी समृद्ध भाषा के कहानी-साहित्य से टक्कर ले सकता है

———

आलोचना : स्वरूप और विकास

आलोचना, समालोचना और समीक्षा शब्द सामान्यतः एक ही अर्थ के द्योतक हैं। आलोचना शब्द का प्रयोग किसी भी वस्तु की व्याख्या के लिए भी हो सकता है किन्तु यहाँ आलोचना से तात्पर्य केवल साहित्यालोचना से है। साहित्यालोचना अंग्रेजी के 'लिटरेरी क्रिटिसिज्म' Literary Criticism का पर्यायवाची है। क्रिटिसिज्म शब्द की व्युत्पत्ति ग्रीक 'क्रिटिकोस' शब्द से मानी जाती है। किसी कवि अथवा लेखक की कृति का अध्ययन, उसका निर्णय, गुण-दोष विवेचन, तत्सम्बन्धी विभिन्न मतों का निराकरण आदि सभी बातें साहित्यालोचना के अंतर्गत आ जाती हैं। प्लेटो के मतानुसार साहित्य का निर्णय वही व्यक्ति कर सकता है जो सर्वगुणसम्पन्न, ज्ञानवान और उच्च कोटि का प्रतिभावान् है। इसी आधार पर अरस्तू ने 'क्रिटिक्स' शब्द के स्थान पर 'प्रतिभाशाली मनुष्य' की प्रतिष्ठा की। यह पाश्चात्य आचार्यों का दृष्टिकोण है। भारतीय दृष्टिकोण इससे भिन्न है। यहाँ प्रारंभ में ही आचार्यों की सेवा आलोचना-साहित्य तक ही रही है। यह कारण है कि संस्कृत के आचार्यों ने आलोचना-दृष्टि के दार्शनिक अध्ययन एवं शास्त्रीय विवेचन तक ही अपनी समीक्षा अथवा आलोचना सीमित रखी। यह प्रभाव में देश का वातावरण है। "समीक्षा" शब्द का प्रयोग भी प्रारंभ में यहाँ समझा जाता रहा है। हिन्दी के क्षेत्र की आलोचना वस्तुतः में भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा शैली का एक समन्वय है। आधारशिला हमारी है और दृष्टि पश्चिम की।

पाश्चात्य आलोचना दृष्टि और भारतीय आलोचना दृष्टि में अंतर होते हुए भी कतिपय अंश समान हैं। पाश्चात्य विद्वान् वस्तु, शैली तथा चरित्रचित्रण को आलोचना के तत्व मानते हैं। इसी प्रकार भारतीय आचार्य रस, ध्वनि और रस को आलोचना के तत्व मानते हैं। पाश्चात्य आलोचक कथा के कथोपकथन के आधार पर ही काव्य की व्याख्या अथवा विश्लेषण या निर्णय करते हैं। भारतीय आलोचक काव्यालोचन में रस, अलंकार, रीति, ध्वनि आदि के आधार पर काव्य-निर्णय करते हैं। यहाँ भी पाश्चात्य और भारतीय आलोचना दृष्टि में कोई विशेष अंतर नहीं दिखाई पड़ता। फिर भी हम यह स्वीकार नहीं कर सकते कि पाश्चात्य दृष्टिकोण भारतीय दृष्टिकोण से अधिक व्यापक है। यदि भारतीय आलोचना हमें पूर्ण निर्णय देती है, वहाँ पाश्चात्य आलोचना सर्वांगपूर्ण है। सम्भवतः यही कारण है कि जो हमारे आलोचकों में कोई भी एक दृष्टिकोण अथवा आलोचना-शैली स्वीकार न कर दोनों के समन्वय रूप को अपनी आलोचना का आधार बनाते हैं।

महत्वपूर्ण सहायता मिल रही है। इस समय सेक्स की समस्या से लेकर लोक-कल्याण और जन-उत्थान तक की भावनाओं से पूर्ण कहानियाँ लिखी जा रही हैं। इनके सिवाय मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक कहानियाँ भी लिखी जा रही हैं।

यह राजनीतिक और सामाजिक जागृति का युग है। भारतीय स्वतंत्रता के पश्चात् नये विचारों, नई भावनाओं और नई आकांक्षाओं का जन्म हुआ। परिणाम स्वरूप आज का कहानी-साहित्य बहुमुखी और बहुरंगी बनता जा रहा है। युग बदल रहा है, जीवन बदल रहा है, धारणाएँ और वस्तुएँ बदल रही हैं तथा उनकी परिभाषाओं और मूल्यों में भी परिवर्तन हो रहा है। इसी परिवर्तन के प्रकाश में हमारे सामने नये-नये कहानीकार नई-नई शैलियों और नये-नये शिल्प लेकर आ रहे हैं। इस क्षेत्र में महिलाएँ भी पीछे नहीं हैं। शिवरानी प्रेमचन्द, उषा देवी मित्रा, महादेवी वर्मा, सुभद्रा कुमारी चौहान, कमला चौधरी, हैमवती देवी, तेजरानी पाठक, सत्यवती मलिक, चन्द्रकिरण सोनरेक्सा आदि के द्वारा भी हिन्दी के कहानी-साहित्य के विकास में बहुत बड़ी सहायता मिली और मिलती जा रही है।

विचार-धाराओं की दृष्टि से यशपाल, रांगेय राघव, राहुल सांकृत्यायन, अमृतलाल नागर, अमृतराय, नरेन्द्र शर्मा, राजेन्द्र यादव, विष्णु प्रभाकर आदि की कहानियों पर मार्क्सवादी प्रभाव है। इनमें से यशपाल जी ने नवयुग के हिन्दी-कहानी-साहित्य में संभवतः सबसे अधिक योगदान किया है। विचार प्रधान कहानी-लेखकों में सियारामशरण गुप्त, कन्हैयालाल मिश्र, भगवतीचरण वर्मा आदि अग्रणी हैं। देवेन्द्र सत्यार्थी तथा मन्मथनाथ गुप्त के भी कुछ कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। नये टेकनिक को लेकर कहानी लिखनेवालों में हमारी नवोदित पीढ़ी के जो कलाकार उल्लेखनीय हैं, उनमें मोहन राकेश, आनन्दप्रकाश जैन, मार्कण्डेय, मन्नू भंडारी, रमेश बक्षी आदि मुख्य हैं। इन दिनों मोपासाँ, दास्तायव्स्की, चेखव, पर्लबक, गोर्की, कुप्रिन आदि अनेक प्रसिद्ध विदेशी कहानीकारों की कहानियाँ भी हिन्दी में आकर हमारे साहित्य को समृद्ध कर रही हैं। आज हिन्दी का कहानी-साहित्य किसी भी समृद्ध भाषा के कहानी-साहित्य से टक्कर ले सकता है

आलोचना : स्वरूप और विकास

आलोचना समालोचना और समीक्षा शब्द लगभग एक ही अर्थ के द्योतक हैं। आलोचना व्यक्ति समाज जाति धर्म देश शासन आदि की भी हो सकती है किन्तु यहाँ आलोचना से तात्पर्य केवल साहित्यालोचना है। साहित्यालोचना अंग्रेजी के लिटरेरी क्रिटिसिज्म Literary Criticism का पर्यायवाची है। क्रिटिसिज्म शब्द का व्युत्पत्ति ग्रीक के 'क्रिटिकोस' शब्द से मानी जाती है। किसी कृति अथवा साहित्य का अध्ययन सृजन प्रक्रिया गुणदोष-विवेचन तत्कालीन स्थिति लेखक का व्यक्तित्व आदि सभी बातें साहित्यालोचना के अंतर्गत आ जाती हैं। प्लेटो के मतानुसार सत्साहित्य का निर्माण वही साहित्यकार कर सकता है जो स्वयं सत्यानुरागी आदर्शवादी और उच्च कोटि का चरित्रवान् है। आगे चलकर अरस्तू ने 'सत्साहित्य' शब्द के स्थान पर 'संभावित सत्य' की प्रतिष्ठा की। यह पाश्चात्य आचार्यों का दृष्टिकोण है। भारतीय दृष्टिकोण इससे भिन्न है। यहाँ आरंभ से ही आलोचकों की सीमा आलोच्य साहित्य तक ही रही है। यही कारण है कि संस्कृत के आचार्यों ने आलोच्य-कृति के दार्शनिक अध्ययन एवं शास्त्रीय विवेचन तक ही अपनी समीक्षा अथवा आलोचना सीमित रखी। यह वास्तव में ग्रंथ का अन्तर्दर्शन ही है। समीक्षा शब्द का अर्थ भी आरंभ में यही समझा जाता रहा है। हिन्दी की आज की आलोचना वास्तव में भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा शैली का एक समन्वय है। आधार-शिला हमारी है और दृष्टि पश्चिम की।

पाश्चात्य आलोचना दृष्टि और भारतीय आलोचना दृष्टि में अंतर होते हुए भी तात्विक अंतर नगण्य है। पाश्चात्य विद्वान् वस्तु, रीति तथा आदर्शीकरण को आलोचना के तत्व मानते हैं। इसी प्रकार भारतीय आचार्य शब्द अर्थ और रस को आलोचना के तत्व मानते हैं। पाश्चात्य आलोचक काव्य के सत्य-सौन्दर्य के आधार पर ही काव्य की उत्कृष्टता अथवा निकृष्टता का निर्णय करते हैं। भारतीय आलोचक काव्यालोचन में रस अलंकार, रीति ध्वनि आदि के आधार पर काव्य-निर्णय करते हैं। यहाँ भी पाश्चात्य और भारतीय आलोचन दृष्टि में कोई विशेष अंतर नहीं दिखाई पड़ता फिर भी हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि पाश्चात्य दृष्टिकोण भारतीय दृष्टिकोण से अधिक व्यापक है। जहाँ भारतीय आलोचना हमें एकांगी दिखाई देती है, वहाँ पाश्चात्य आलोचना सर्वांगपूर्ण है। संभवतः यही कारण है कि जो हमारे आलोचकों ने कोई भी एक दृष्टिकोण अथवा आलोचना-शैली स्वीकार न कर दोनों के समन्वित रूप को अपनी आलोचना का आधार बनाया है।

बाबू श्यामसुन्दरदास के मतानुसार

किसी ग्रन्थ को पढ़कर उसके गुण-दोषों का विवेचन करना और उस पर अपना मत स्थिर करना आलोचना कहलाता है। यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें तो आलोचना को उसकी व्याख्या मानना पड़ेगा। किसी ग्रंथ की आलोचना करते समय हम उस ग्रंथ का और उसके कर्ता का वास्तविक अभिप्राय जानकर उसके सम्बन्ध में अपना मत स्थिर करना चाहते हैं। यदि साहित्यकार अपने साहित्य में जीवन की व्याख्या करता है, तो एक कुशल आलोचक हमें उस व्याख्या को समझने में सहायक होता है। इसमें आलोचक का साधारण पाठकों की अपेक्षा अधिक ज्ञान-सम्पन्न होना स्पष्ट है। उसका अध्ययन अधिक गम्भीर विस्तृत और पूर्ण होता है और इसलिए वह साहित्यकार की कृति के विभिन्न अंगों पर सम्यक प्रकाश डालने में समर्थ होता है और पाठकों को जीवन की व्याख्या समझने के नये मार्ग बतलाता है।

आलोचना से दो कार्य होते हैं एक तो किसी कवि या लेखक की कृति की विस्तृत व्याख्या हो जाती है और दूसरे उसके सम्बन्ध में एक निश्चित मत स्थिर करने में सहायता मिलती है। आलोचक ये दोनों काम पृथक-पृथक न कर एक साथ ही करता है। कुछ विद्वानों का मत है कि समालोचक का काम केवल व्याख्या करना है। उसे अपना मत स्थिर कर उसे पाठकों पर व्यक्त न करना चाहिए, क्योंकि उसका दूसरों पर प्रभाव पड़ता है और आगे आलोचना के काम में बाधा पड़ती है। पर यह मत मान्य नहीं जान पड़ता है। बिना कृति पर अपना मत प्रकट किए आलोचक का काम पूर्ण हो नहीं हो सकता। आलोचक के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह आलोच्य कृति के अंग-प्रत्यंग का सूक्ष्म निरीक्षण कर यह बतलाए कि विषय भाव और कला की दृष्टि से वह कृति कैसी है। उसमें कौन-कौन से गुण हैं और कौन-कौन से दोष हैं। वह चाहे तो उसी विषय के दूसरे ग्रंथ से उसकी तुलना भी कर सकता है। वह ऐतिहासिक नैतिक सामाजिक साहित्यिक सभी दृष्टियों से उस पर विचार करता है। प्रत्येक दृष्टि से उसका यह ध्येय रहेगा कि वह स्वयं उस ग्रंथ तथा कर्ता को समझे और दूसरों को भी समझाए।

आलोचना का उद्देश्य

एक तो किसी भी कृति पर सबका मत एक नहीं हो सकता। दूसरे यह भी सम्भव है कि उसी कृति को दो और तीन बार पढ़ने पर हमें अपना पहिला मत भी बदलना पड़े। इसीलिए आलोचक का काम बहुत ही उत्तरदायित्वपूर्ण है। वह अपनी आलोचना द्वारा पाठकों का पथ प्रदर्शन करता है, इसीलिए वह किसी कृति को पढ़कर जो मत स्थिर करे वह बहुत ही सोच-विचार कर करना चाहिए, अन्यथा वह लेखक के साथ न्याय न कर सकेगा जो उसका प्रधान कर्तव्य है। कृतिकार के प्रति आलोचक की श्रद्धा

चाहे न हो, पर सहानुभूति तो होनी ही चाहिए, अन्यथा वह लेखक की आत्मा तक न पहुँच सकेगा। और ऐसी स्थिति में वह उसके साथ न्याय भी कर ही न सकेगा पर उससे अपना मत स्थिर करने में भूल होनी सम्भव होगी।

आलोचक के गुण

सबसे पहिले समालोचक को विद्वान्, बुद्धिमान्, गुणग्राही और निष्पक्ष होना चाहिए। आलोचक का मुख्य काम आलोच्य ग्रंथ को उसके वास्तविक रूप में देखना है। यह तभी सम्भव है, जब उपरोक्त गुण होंगे। यदि वह विद्वान् न होगा तो वह ग्रंथ के गुणों को न समझ सकेगा। यदि बुद्धिमान् न होगा तो क्षीर-नीर विवेक में असमर्थ होगा और वह निष्पक्ष न होगा तो उसका विवेचन निरर्थक, भ्रमपूर्ण और अग्राह्य होगा।

इन गुणों के अतिरिक्त समालोचक में एक विशेष प्रकार की बुद्धि या सामर्थ्य की भी आवश्यकता है। कभी-कभी देखा गया है कि बड़े-बड़े विद्वान् भी उतनी अच्छी समालोचना नहीं कर पाते जितनी अच्छी समालोचना उनसे कुछ कम बुद्धिवाले समालोचक कर लेते हैं। इसका कारण यही है कि समालोचना के लिए जिस प्रकार की बुद्धि और निष्पक्षता की आवश्यकता होती है उसका उनमें अभाव रहता है। वास्तविक बात तो यह है कि समालोचना भी एक प्रकार की कला है और उसके लिए एक विशेष प्रकार की योग्यता तथा शिक्षा की आवश्यकता होती है। साथ ही उसे अपने मन और व्यक्तिगत विचारों पर भी अधिकार रखना पड़ता है।

तुलनात्मक आलोचना

किसी पुस्तक की आलोचना करते समय जब उसी विषय की और भी एक-दो पुस्तकें सामने रखकर उन पुस्तकों से तुलना करते हुए आलोच्य ग्रंथ की आलोचना की जाती है, तब वह तुलनात्मक आलोचना कही जाती है। इस प्रकार की आलोचना से एक ही विषय पर भिन्न-भिन्न ग्रन्थकारों के विचार, प्रतिपादन-शैली, रुचि, दृष्टिकोण, विषय प्रतिपादन और अभिव्यक्तीकरण की न्यूनाधिकता आदि का पता लग जाता है और इस प्रकार उस कृति की समुचित व्याख्या करने तथा उस पर अपना मत अधिक दृढ़ता और स्पष्टता से व्यक्त करने में सहायता मिलती है। यथा पं० पद्मसिंह शर्मा की बिहारी की और पं० कृष्णबिहारी मिश्र की देव और बिहारी की आलोचना है। ऐसी आलोचना से नये-नये मार्गों का ज्ञान तो होता है पर साथ ही साहित्य में निरर्थक तू-तू-मैं-मैं भी एकत्र नहीं हो पाता। इस प्रकार के आलोचनात्मक साहित्य को जो रूप प्राप्त होता है वह शुद्ध साहित्य के अध्ययन और मनन में अत्यन्त सहायक होता है। यदि हम ऐसे साहित्य को शुद्ध साहित्यिक समालोचना इतिहास की कुंजी कहें, तो कोई अत्युक्ति न होगी।

आलोचना और साहित्य सृष्टि

कुछ विद्वानों का मत है कि समालोचना से पूर्व प्रकाशित ग्रंथों के ही गुण-दोष प्रकट होते हैं उससे नवीन साहित्य को जन्म देने में कोई सहायता नहीं मिलती। कुछ लोग तो आलोचना को नये साहित्य की सृष्टि में बाधक भी समझते हैं। पर हम इन दोनों मतों से सहमत नहीं हैं। यदि हम उसे साहित्य का बाधक भी मान लें तो बाधक तत्त्व भी प्रकारान्तर से साधक ही सिद्ध होता है। पर वास्तव में इसे बाधक समझना ही भूल है। जैसे स्वतंत्रता के उच्छृंखलता में परिणत हो जाने पर शासन की ओर से अंकुश की आवश्यकता होती है वैसे ही असत् साहित्य की सृष्टि पर लगाया गया अंकुश साहित्यकारों को अनुचित मार्ग पर जाने से रोकता है और उचित मार्ग पर चलने के लिए बाध्य करता है। आलोचक वास्तव में लेखकों के मार्ग के कंकड़-पत्थर हटाकर उनका मार्ग सुगम और प्रशस्त करता है, और उन्हें ठोकर खाने से बचाता है। इस प्रकार आलोचक एक ओर ग्रंथकारों पर शासन करता है और दूसरी ओर उन्हें नवीन सत्साहित्य का सृजन करने को प्रोत्साहित करता है। इस प्रकार आलोचक तो पथ प्रदर्शक और सहायक होता है, साहित्य-सृजन में बाधक नहीं।

भारतीय आलोचना-पद्धति

भारतीय आचार्यों ने छः आलोचना पद्धतियों का उल्लेख किया है—आचार्य-पद्धति टीका-पद्धति शास्त्रार्थ-पद्धति सूक्ति पद्धति खंडन-पद्धति तथा लोचन-पद्धति।

१ आचार्य-पद्धति

इस पद्धति के अनुसार आलोचक काव्य-कृतियों का परीक्षण रीति ग्रंथों के मान्य सिद्धान्तों के आधार पर उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट घोषित किए जाते हैं।

२ टीका-पद्धति

इस पद्धति के अनुसार मूल ग्रंथ की टीका करने के अतिरिक्त कवि का आशय भी स्पष्ट किया जाता है और इसके साथ ही उक्तियों की विशेषताओं एवं रस अलंकार, ध्वनि आदि पर भी प्रकाश डालना आवश्यक होता है। इस प्रकार की आलोचना में रीति सिद्धान्तों की अपेक्षा आलोच्य ग्रंथ का ही अधिक महत्त्व होता है।

३ शास्त्रार्थ-पद्धति

इस पद्धति के अनुसार तर्कों और प्रमाणों के द्वारा ग्रंथकार के मत का खंडन और अपने मत का समर्थन किया जाता था।

४ सूक्ति-पद्धति

इस पद्धति के अनुसार आलोच्य ग्रंथ की सुन्दरताओं का विवेचन किया जाता था।

५ खंडन-पद्धति

इस पद्धति के अनुसार आलोच्य कृति के केवल दोषों पर दृष्टिपात किया जाता था।

६ शोधन पद्धति

इस पद्धति में आलोच्य ग्रंथ को पूर्णतः समझकर उसके अन्तःसौन्दर्य भाव-गाम्भीर्य अभिव्यंजना-वैचित्र्य आदि पर सम्यक् प्रकाश डाला जाता था। आज की आलोचना-पद्धति का यही प्राचीन पद्धति मूलाधार है। हमने पाश्चात्य आलोचना-पद्धति के उपादेय तत्वों के प्रकाश में इसी भारतीय पद्धति का परिष्कृत रूप स्वीकार किया है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने इसे ही साहित्यिक समीक्षा-पद्धति कहा है। यद्यपि ये प्राचीन पद्धतियाँ अब लुप्तप्राय हाती जा रही हैं तथापि हिन्दी में इन पद्धतियों के अनुसार आलोचित ग्रंथों का सर्वथा अभाव नहीं है। पंडित पद्मसिंह शर्मा की "बिहारी सतसई", लाला भगवानदीन की 'बिहारी-बोधिनी' आदि टीका-पद्धति में रचित ग्रंथ 'बिहारी और देव' शास्त्रार्थ पद्धति में रचित ग्रंथ हैं।

आलोचना के प्रकार

साहित्य जब अपने स्वरूप का विश्लेषण स्वयं करने लगता है तब समालोचना का जन्म होता है। यह साहित्य का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है। बिना समालोचना के साहित्य अपूर्ण है। इसके चार प्रकार माने गये हैं—

१ सैद्धान्तिक Speculative समालोचना जिसमें साहित्य के विभिन्न रूपों के विवेचन द्वारा साहित्यिक सिद्धान्तों की स्थापना होती है। साहित्य क्या है? उसका लक्ष्य क्या है? प्रत्यक्ष सामग्री को कला किस रूप में और किन माध्यमों से ग्रहण करती है? इन प्रश्नों पर विचार करके कला के विषय में कुछ सम्मति निर्धारित करना इस प्रकार की समालोचना का विषय है। रचनात्मक साहित्य के दो पक्ष आते हैं। एक कवि का पक्ष और दूसरा पाठक का पक्ष। अतः काव्य क्या है केवल इस पक्ष का अनुशीलन किस दृष्टि से और कैसा होना चाहिए, पाठक को साहित्याभिरुचि कैसी हो परम्परानुकूल साहित्याभिरुचि के काव्य का अनुशीलन करने में क्या त्रुटियाँ होती हैं कैसी साहित्याभिरुचि वांछनीय है, इस प्रकार के प्रश्नों को हल करना और फिर कुछ निश्चय पर पहुँचना सैद्धान्तिक समीक्षा की गवेषणा के विषय हैं। यह आलोचना एक प्रकार से आलोचना का शास्त्रीय पक्ष है और शेष प्रकार की आलोचना भिन्न-भिन्न दृष्टियों से उसके प्रयोग। समालोचक को स्मरण रखना चाहिए कि इन सिद्धान्तों का आधार साहित्य है अतः जब सिद्धान्तों में कोई त्रुटि ज्ञात हो तब मूल आधार अर्थात् साहित्य की ओर दृष्टि दौड़ानी चाहिए।

२ व्याख्यात्मक Inductive समालोचना जिसमें साहित्यिक रचनाओं का विश्लेषण और व्याख्या की जाती है। इससे रचनात्मक साहित्य की विभिन्न कृतियों के वर्गीकरण और विकास में सहायता मिलती है। वास्तव में व्याख्या का विश्लेषण ही प्रधान वस्तु है, जिस पर चारों प्रकार की समालोचना अवलंबित है। इस व्याख्या के बल पर हम किसी कृति के महत्व का निर्णय कर सकते हैं। भावमयी समालोचना के लिए भी प्रस्तुत रचना का स्वरूप-ज्ञान वांछनीय है, जो कि व्याख्या से ही प्राप्त होती है। इसी प्रकार की आलोचना श्रेष्ठ व्यापक और समीचीन समझी जाती है समालोचक किसी भी रचना का अध्ययन एक अन्वेषक के रूप में करता है न्यायाधीश के रूप में नहीं। वह रचयिता के ढंग दृष्टिकोण और मत से उदारतापूर्वक अपने मस्तिष्क का सामंजस्य स्थापित करके अपनी स व्यक्ति को अनुदारता से उदारता की ओर ले जाता है। इस प्रकार वह पूर्ण व्याख्या करके उस रचना के प्रति एक सामान्य धारणा बना लेता है। पर यह आवश्यक है कि रचना के अंग-प्रत्यंग को व्यष्टि रूप से देखना चाहिए, उस समष्टि का आधार व्यष्टि भले ही हो।

दूसरी बात यह है कि व्याख्या का तात्पर्य किसी रचना में केवल उपदेश ढूंढ़ना या किसी पात्र के चरित्र-चित्रण अथवा कथानक को आद्योपान्त न देखकर किसी एक कथन अथवा घटना के आधार पर व्याख्या करते हुए लेखक पर सहसा असंगति का दोषारोपण न कर देना चाहिए। तीसरे व्याख्या ग्रंथ में आये हुए साक्ष्य पर ही अधिकतर अवलम्बित होनी चाहिए बाहर के किसी कृत्रिम साक्ष्य पर नहीं।

कवि अपनी रचना का स्रष्टा है। उसने अपनी कृति को जो रूप दिया है, वही उसका वास्तविक रूप है उसके अतिरिक्त उसे दूसरा रूप न देना चाहिए। किसी कवि के शृंगार-प्रिय होने पर उसकी निर्वेदमयी उक्तियों को भी शृंगारिक न समझ लेना चाहिए क्योंकि यह भी हो सकता है कि अपने जीवन की विरक्त अनुभूतियों ने ही उसे साहित्य-सृजन में प्रवृत्त किया हो वासना-अनुभूतियों ने नहीं। हमें रचना से चलकर रचनाकार के आशय तक पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए।

किसी नियम या सिद्धान्त का उल्लंघन करते देख किसी कवि या लेखक को दोषी नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि ये नियम-कानून की तरह राज्य-निर्मित नहीं हैं। दूसरे कोई एक नियम को तोड़ रहा है, इसका यह मतलब है कि वह दूसरा नया नियम बना रहा है, इसलिए भी उसे दोषी नहीं ठहराया जा सकता। नियमों के उल्लंघन द्वारा कला का विकास होता और वह सजीव बनी रहती है। यह भी आवश्यक है कि समालोचक व्याख्या करते समय अपनी ओर से कोई भिन्न अर्थ निकालने का प्रयत्न न करे।

३ निर्णयात्मक समालोचना Judicial Criticism इसमें सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर साहित्यिक रचनाओं के महत्व का निर्णय किया जाता है।

इस प्रकार की समालोचना व्याख्यात्मक समालोचना के ठीक विपरीत होती है। समालोचक अन्वेषक के रूप में किसी कृति का अध्ययन न कर न्यायाधीश के रूप में करता है और यह देखता है कि काव्य एक निश्चित आधार के अनुसार है या नहीं। वह अपनी साहित्याभिरुचि के मापदंड से कृति को देखता है नवीनता पर नियंत्रण रखता है। यह साहित्यिक कृतियों को अपनी विचार-पद्धति के मेल में रखने का प्रयत्न करता है। ऐसी समालोचना साहित्य की प्रगति में बाधक होती है। यह एक भ्रमपूर्ण समालोचना है। इसमें समालोचक कला के सम्पूर्ण स्वरूप उपादान उपकरण माध्यम आदि का मूल्य निर्धारित करना चाहता है जो असंगत है।

दूसरे निर्णय देने के लिए किसी प्रामाणिक मापदंड की आवश्यकता होती है, पर समालोचक के पास ऐसा कोई मापदंड नहीं होता, वह अपने अन्तःकरण से ही काम लेता है। अतः उसका निर्णय सर्वमान्य और तर्क-प्रतिष्ठित सत्य होना आवश्यक नहीं है। यह आवश्यक है कि यदि समालोचक का अध्ययन गंभीर और व्यापक हो तो साहित्यिक अन्तःकरण कलाकार की आत्मा और स्वयं अपनी आत्मा दोनों को विचार में रखकर साहित्याभिरुचि का ऐसा प्रामाणिक रूप बना लेता है, जो निर्णय करने में सहायक होता है।

इस प्रकार की समालोचना में दो बातें स्मरणीय हैं। एक तो ऐसी समालोचना व्याख्या के बिना न्यायपूर्ण और उचित नहीं हो सकती। ऐसी समालोचना में हमें आलोच्य कृति से उतना परिचय नहीं होता जितना कि समालोचक की व्याख्या से। दूसरे इस प्रकार दिये गये निर्णय व्यक्तिगत निर्णय होते हैं, जो एक-दूसरे के विपरीत भी हो सकते हैं, जिससे एक से अधिक समालोचकों का निर्णय देखने पर हम उनके भिन्न मतों के कारण आलोच्य कृति को उसके वास्तविक स्वरूप में समझ ही नहीं पाते। इस प्रकार की आलोचना करनेवाले समालोचक तीन प्रकार के होते हैं। पहिले वे जो अपनी रुचि और भावानुभूति के अनुसार निर्णय करते हैं वे नियम नहीं जानते। दूसरे वे जो केवल नियमों को मिलाकर सम्मति स्थिर करते हैं और तीसरे वे जो नियमों के विशेषज्ञ ही होते हैं, पर रहते हैं नियमों के परे। ये सबसे बड़े निर्णायक माने जाते हैं।

४ स्वतन्त्र अथवा आत्मप्रधान आलोचना Free or Subjective जिसमें आलोचक आलोच्य विषय की विवेचना करता हुआ उसमें इतना तल्लीन या उससे इतना विमुख हो जाता है कि विवेचन को छोड़कर वह भावना में ही बह जाता है। आलोच्य कृति या विषय उसके भावों का आलम्बन बन जाता है। ऐसी आलोचनाएँ रचनात्मक साहित्य की कृतियाँ हो जाती हैं। जब आलोचक विवेचन-पद्धति को छोड़कर केवल अपनी व्यक्तिगत रुचि या अरुचि को अपनी आलोचना का आधार बना लेता है, तब

इस प्रकार की समालोचना का जन्म होता है। इसमें आलोच्य कृति को प्रधानता प्राप्त न होकर आलोचक के दृष्टिकोण को ही प्रधानता प्राप्त होती है। यह सबसे अधिक निम्नकोटि की और भ्रामक आलोचना है। आलोचना की दृष्टि से ऐसी आलोचना का कोई मूल्य नहीं है, पर इसका रचनात्मक साहित्य में स्थान अवश्य है। ज्यों-ज्यों साहित्य में व्यक्ति-प्रधानता बढ़ती जायगी त्यों-त्यों इस प्रकार की आलोचना का भी आधिक्य होता जायगा।

आलोचना-साहित्य का विकास

हिन्दी में आलोचना-साहित्य का जन्म भारतेन्दु-काल में होता है। आधुनिक गद्य की अन्य प्रमुख विधाओं की तरह इस विधा के जन्मदाता भी बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को ही कहा जाना चाहिए। उन्होंने स्वयं 'कवि वचन सुधा', "हरिश्चन्द्र चंद्रिका' तथा "हरिश्चन्द्र मैगजीन' में कुछ आलोचनात्मक लेख लिखकर एवं 'मुद्राराक्षस की भूमिका" और "नाटक' की रचना कर हिन्दी में आलोचना-साहित्य का शुभपात किया था। 'ब्राह्मण" 'हिन्दी प्रदीप" 'आनन्द कादम्बिनी' "कवि व चित्रकार' आदि पत्रिकाओं में भी उस काल के लेखकों ने आलोचनात्मक लेख लिखे। इन लेखकों में उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' पंडित बालकृष्ण भट्ट बालमुकुन्द गुप्त श्री निवासदास तथा प्रतापनारायण मिश्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

द्विवेदी-काल में हिन्दी के आलोचना-साहित्य का महत्वपूर्ण विकास हुआ। इस साहित्य की स्वर्ग पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के द्वारा की गई सेवाएँ अत्यन्त मूल्यवान् हैं। उनकी "कालिदास की निरंकुशता' नामक कृति संभवतः हिन्दी के आलोचना-साहित्य की प्रथम पुस्तकाकार कृति है। उनकी "नैषध चरित चर्चा" और "विक्रमांकदेव चरित चर्चा' पुस्तकें भी आलोचनात्मक शैली में ही रचित हैं। नागरी प्रचारिणी-पत्रिका का प्रकाशन आलोचना साहित्य' के विकास की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रमाणित हुआ। इसके प्रथम वर्ष में ही पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री का 'समालोचना' बाबू जगन्नाथ दास का 'समालोचनादर्श' और अम्बिकादत्त व्यास का 'गद्य काव्य मीमांसा' लेख प्रकाशित हुआ। कुछ समय के पश्चात् 'समालोचनादर्श' और 'गद्यकाव्य मीमांसा' पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुए, जिनसे तत्कालीन साहित्यकारों को आलोचनात्मक दृष्टि प्राप्त करने में बड़ी सहायता मिली। इन दोनों पुस्तकों में आलोचना-सिद्धान्तों का विशद वर्णन उपलब्ध है। इनमें से 'समालोचनादर्श" पोप के 'एसे आन क्रिटिसिज्म' का काव्यानुवाद है। इस काल के अन्य समालोचक "मिश्रबन्धु' पद्मसिंह शर्मा कृष्णबिहारी मिश्र लाला भगवान दीन बाबू श्यामसुन्दर दास आदि प्रमुख हैं। भारतेन्दु-काल की आलोचना पर एक बड़ी सीमा तक रीतिकाल का जो प्रभाव था वह द्विवेदी-काल में निःशेष हो गया। हिन्दी-आलोचना को एक निश्चित रूप

व्यवस्था और शैली प्राप्त हुई। द्विवेदीजी के संपादन में प्रकाशित होनेवाली 'सरस्वती'' में समय-समय पर अनेक आलोचनात्मक लेख प्रकाशित होते रहे और हिन्दी आलोचना-साहित्य के विकास का मार्ग प्रशस्त होता गया। द्विवेदीजी के अतिरिक्त मिश्रबन्धुओं के द्वारा भी इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य हुआ। उनका 'हिन्दी नवरत्न' आलोचना-साहित्य का एक मूल्यवान् ग्रंथ है। इस ग्रंथ के द्वारा हिन्दी में 'तुलनात्मक आलोचना' का सूत्रपात होता है। इसके पश्चात् पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई' की तुलनात्मक आलोचना प्रस्तुत की जिसमें उन्होंने बिहारी को काव्य-साहित्य के उच्चा सन पर आसीन किया। यह देखकर पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने "देव और बिहारी' नामक आलोचनात्मक पुस्तक लिखी और देव को बिहारी से श्रेष्ठ घोषित किया। सम्भवतः यही देखकर लाला भगवानदीन ने "बिहारी और देव" पुस्तक की रचना कर मिश्र बन्धुओं के आक्षेपों का युक्तियुक्त उत्तर दिया। पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने आलोचना के सिद्धान्तों की व्याख्या करने के लिए 'समालोचना' नामक पुस्तक की रचना की। हिन्दी म इसी पुस्तक के प्रकाशन से सैद्धान्तिक आलोचना आरंभ होती है।

आलोचना-साहित्य के विकास म बाबू श्यामसुन्दर दास का योग भी अत्यन्त मूल्यवान् है। इस समय तक विश्वविद्यालय के उच्चवर्गीय विद्यार्थियों के लिए हिन्दी में कोई आलोचनाशास्त्र का ग्रंथ नहीं था। बाबू साहब ने इस न्यूनता की पूर्ति साहित्यालोचन' ग्रंथ की रचना करके की। इसके अतिरिक्त उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साहित्य पर आलोचनात्मक लेख लिखे जो भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। "रूपक रहस्य" भी बाबू साहब की एक आलोचनात्मक कृति ही है।

द्विवेदीकाल के उत्तर मध्यकाल में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का आविर्भाव एक समर्थ समालोचक के रूप में हुआ। वास्तविकता यह है कि आचार्य शुक्ल के द्वारा ही हिन्दी के आलोचना-साहित्य को परिपक्वता प्राप्त हुई। उन्होंने एक ओर हिन्दी के प्राचीन कवियों के काव्य पर विस्तृत और गवेषणात्मक प्रकाश डालकर उनके काव्य की सर्वांगीण महत्ता हमारे सामने व्यक्त की और दूसरी ओर भारतीय तथा पाश्चात्य आलोचना-सिद्धान्तों का गहन अध्ययन कर उनके आधार पर आलोचना को एक सर्वथा नवीन शैली प्रस्तुत कर इस काल के आलोचकों का मार्ग-प्रदर्शन किया। हमें तुलसी-ग्रंथावली जायसी-ग्रंथावली भ्रमरगीत सार, आदि की विस्तृत भूमिकाओं में शुक्ल जी की परिष्कृत आलोचनात्मक शैली के दर्शन होते हैं। उनका "हिन्दी-साहित्य का इतिहास' भी आलोचना-साहित्य म महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उनके इस ग्रंथ से हिन्दी के ऐतिहासिक समीक्षा के क्षेत्र में वैज्ञानिक समीक्षा का सूत्रपात होता है। उन्होंने इस इतिहास-ग्रंथ में कालक्रम से हिन्दी के सभी

प्रमुख कवियों की काव्य-कृतियों की अन्तरंग और बहिरंग परीक्षा आलोचनात्मक ढंग से करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने इस ग्रन्थ में तथा अन्य आलोचनात्मक ग्रन्थों में भी जो दृष्टिकोण उपस्थित किया है वह अत्यन्त पांडित्यपूर्ण गहन और विश्लेषणात्मक है। उनकी ये आलोचनाएँ विवेचनात्मक एवं व्याख्यात्मक होने के साथ ही सर्वमान्य साहित्यिक सिद्धान्तों पर आधारित हैं। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का यह कथन सर्वथा सत्य है— 'हिन्दी-समीक्षा को शास्त्रीय और वैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित करने में शुक्ल जी ने युग-प्रवर्तक का कार्य किया वह हिन्दी के इतिहास में सदैव स्मरणीय है।' इसी आचार्य शुक्ल की आलोचना-पद्धति के आदर्श का विकास उनके पश्चात् आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र चन्द्रबली पांडे पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी कृष्णशंकर शुक्ल रामकृष्ण शुक्ल डाक्टर रामकुमार वर्मा आदि की कृतियों में मिलता है। 'वाङ्मय विमर्श' और 'बिहारी' आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के तुलसी के आदर्श पर लिखित आलोचनात्मक ग्रंथ हैं। मिश्रजी ने कुछ अन्य रीतिकालीन कवियों के साहित्य पर भी इसी समीक्षा-पद्धति में आलोचनात्मक ग्रंथ लिखे हैं। इनमें भूषण और घनानन्द प्रमुख हैं।

पंडित चन्द्रबली पांडेय ने शुक्ल-परम्परा ग्रहण करने के साथ ही एक स्वतंत्र विवेचनात्मक शैली में 'हिन्दी कवि-चर्चा' 'तुलसीदास' 'साहित्य संदीपनी' 'हिन्दी-गद्य-निर्माण' आदि की रचना की है। पांडेयजी ने प्रायः उस साहित्य की ही आलोचना की है जो अनुसंधानों द्वारा प्राप्त हुए हैं और विवादग्रस्त रहे हैं। 'प्रसाद जी की नाट्यकला' 'आलोचना समुच्चय' आदि भी रामकृष्णशुक्ल की आलोचनात्मक कृतियाँ हैं। निर्भीकता मौलिकता और स्पष्ट भावाभिव्यक्ति शुक्लजी की आलोचना की विशेषताएं हैं। 'विश्व साहित्य' बख्शीजी की और 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' श्री कृष्णशंकर शुक्ल की इसी परम्परा की कृतियाँ हैं। डाक्टर रामकुमार वर्मा ने "हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका' तथा 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य' डाक्टर श्रीकृष्णलाल ने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' और डाक्टर भोलानाथ ने 'हिन्दी साहित्य' का निर्माण कर आचार्य शुक्ल द्वारा उद्भूत ऐतिहासिक हिन्दी-आलोचना के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। डाक्टर जगन्नाथप्रसाद शर्माजी के 'हिन्दी गद्य-शैली का विकास' एवं 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' को भी हम इसी परम्परा के अंतर्गत स्थान दे सकते हैं।

बाबू श्यामसुन्दरदास की परम्परा में आने वालों में नलिनीमोहन सान्याल लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' बाबू गुलाबराय रामबहिन मिश्र डाक्टर पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। 'समालोचना तत्व' नलिनीमोहन सान्याल का, 'काव्य में अभि

"व्यंजनावाद" सुधांशु जी का 'सिद्धांत और अध्ययन' बाबू गुलाबराय का "काव्य-दर्पण" रामदहिन मिश्र का तथा 'हिन्दी काव्य में निर्गुण धारा" डाक्टर बड़थ्वाल का प्रसिद्ध ग्रंथ है। आलोचना-साहित्य के सैद्धान्तिक ग्रंथों में सेठ कन्हैयालाल का 'काव्य-कल्पद्रुम' रामबहोरी शुक्ल का 'काव्य प्रदीप" लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी' का 'काव्यांग-परिचय' प्रभुदयाल मीतल का 'ब्रज भाषा में नायिका-निरूपण' सीताराम शास्त्री का 'साहित्य सिद्धान्त', पुरुषोत्तम शर्मा का 'रसगंगाधर' आदि उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी के अन्य आलोचकों में डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी डाक्टर नगेन्द्र इलाचन्द्र जोशी डाक्टर रामविलास शर्मा आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें से डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी मानवतावादी आलोचक हैं। उनका यह मानवतावादी दृष्टिकोण 'कबीर' 'साहित्य का मर्म' आदि कृतियों में अधिक स्पष्ट रूप से परिलक्षित है। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' भी द्विवेदी जी की एक मूल्यवान् आलोचना-कृति है। "अशोक के फूल" तथा 'कल्पलता' उनके आलोचनात्मक निबंधों के प्रमुख संकलन हैं। उन्होंने साहित्य को सदैव मानव-जीवन के समीप रखकर देखा है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी हिन्दी के एक निर्भीक मार्मिक और कलावादी समर्थ आलोचक हैं। उनकी प्रत्येक आलोचनात्मक कृति में हमें उनका स्वतंत्र दृष्टिकोण दिखाई देता है। जहाँ उन्होंने काव्य की आलोचना की है वहाँ उन्होंने हृदयस्पर्शिता और आनंद को विशेष महत्व दिया है। उनकी कलावादिता सौन्दर्यमयी है। साहित्य-की मौलिकता रचना प्रक्रिया भाव-सौष्ठव आदि ही उनकी आलोचना के मुख्य आधार हैं। "सूर संदर्भ" "महाकवि सूरदास' 'हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी" 'आधुनिक साहित्य' 'नया साहित्य नया प्रश्न" 'जयशंकर प्रसाद' आदि वाजपेयी जी की प्रमुख आलोचनात्मक कृतियाँ हैं। आचार्य वाजपेयी ने हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र में उस समय प्रवेश किया जब आचार्य शुक्लजी के समान आलोचक प्राचीन-परम्परा के समर्थक के रूप में छायावादी काव्यधारा का विरोध कर रहे थे। इस स्थिति में उन्होंने अपनी आलोचना द्वारा इस नवीन काव्यधारा को जो प्रोत्साहन दिया वह निश्चय ही प्रशंसनीय है।

वाजपेयीजी ने अपने "हिन्दी की समीक्षा-शैलियाँ' निबंध में चार शैलियों का उल्लेख किया है। इनमें से प्रथम 'विशुद्ध साहित्यिक शैली' है। आचार्य शुक्ल बाबू श्यामसुन्दरदास हजारीप्रसाद द्विवेदी वाजपेयी आदि इसी शैली के आलोचक हैं। द्वितीय शैली 'विश्लेषणात्मक' अथवा मनोवैज्ञानिक' है। यह शैली मनोविश्लेषण पक्ष को महत्व देती हुई साहित्य-रचना और आस्वादन के रहस्यों की नयी व्याख्या करती है। इस शैली पर फ्रायड का प्रभाव है। डाक्टर रामविलास शर्मा इलाचन्द्र

जोशी, धनंजय, डाक्टर नगेन्द्र, नलिनविलोचन शर्मा आदि इस शैली के पुरस्कर्ता हैं। तृतीय शैली मार्क्सवादी विचारधारा को लेकर अग्रसर होती है। यह 'प्रगतिवादी समीक्षा शैली' के नाम से प्रसिद्ध है। इस समीक्षा-शैली के संबंध में वाजपेयी जी का मत है कि इसकी सीमा में साहित्य के जो समाजशास्त्रीय विवेचन होते हैं वे आवश्यकता से बहुत कम साहित्यिक होते हैं। दूसरे यह समीक्षा-शैली कवि की समस्त मानवीय चेतना का आकलन न कर केवल उसकी राजनीतिक चेतना का ही आकलन करती है। जिससे इसके निर्णय अपूर्ण और एकांगी होते हैं। शिवदानसिंह चौहान, अमृतराय, प्रकाशचंद्र गुप्त, रांगेय राघव आदि इस शैली के प्रमुख समालोचक हैं। यद्यपि डाक्टर रामविलास शर्मा का दृष्टिकोण भी मार्क्सवादी कहा जा सकता है, तथापि उनकी आलोचना-दृष्टि इन आलोचकों से अधिक व्यापक अवश्य है। आलोचना की चतुर्थ शैली वह है जो किसी भी मतवाद अथवा परम्परा का अनुकरण न कर उनसे सर्वथा दूर रह अपना मत व्यक्त करती है। इस शैली को "व्यक्तिमुखी" अथवा 'प्रभावाभिव्यंजक' शैली कहा जा सकता है। इस शैली का दोष यह है कि यह अत्यन्त स्वतन्त्र होने के कारण स्वयं एक नयी रचना बन जाती है। इस स्थिति में यह कभी-कभी अपना समीक्षा-रूप ही खो सकती है।

निबन्ध : स्वरूप और विकास

निबन्ध का अर्थ "बँधा हुआ" अथवा सुसंगठित लेख है। इस दृष्टि से किसी वस्तु, दृश्य घटना विषय अथवा व्यक्ति पर अपने अध्ययन, निरीक्षण और अनुभव के आधार पर सुन्दर और भावपूर्ण विचार मनोरंजक और प्रभावशाली शैली में लिपिबद्ध करना निबन्ध-लेखन समझा जायगा और इस प्रकार जो लिखा जाय।। वह निबन्ध कहलायगा। निबन्ध गद्य में ही होते हैं पद्य में नहीं। दूसरे शब्दों में सुव्यवस्थित रीति से लिखित गद्य रचना को निबन्ध कहते हैं।

निबन्ध-लेखन के आधार

संकलित सामग्री और लेखन शैली ही निबन्ध लेखन के आधार हैं। किसी भी विषय पर निबन्ध लिखने के पहिले उस विषय से सम्बन्धित सम्पूर्ण सामग्री एकत्रित कर लेना आवश्यक है। जैसे यदि किसी बाग पर निबन्ध लिखना हो तो पूरे बाग का घूमकर बारीकी से देख लीजिए। प्रवेश-द्वार से प्रारंभ कर उस बाग की बनावट भिन्न-भिन्न प्रकार के फूलों की क्यारियाँ गमलों का अभाव बाग के छोटे और बड़े वृक्षों तथा पौधों के स्थान यदि बीच-बाग में मंडप या कुंज हो तो उनकी बनावट विविध फूलों और बेलों के नाम बाग के बीच की गलियां आदि के सम्बन्ध में आप अपनी नोट बुक में लिख लीजिए। यह आपकी संकलित सामग्री होगी। इस सामग्री के आधार पर सुन्दर और आकर्षक ढंग से उस बाग पर निबन्ध लिख लीजिए।

यदि किसी समारोह पर निबन्ध लिखना हो तो उसके आरम्भ से अन्त तक की सब तैयारी कारण कार्यक्रम सजावट व्यवस्था और उस समारोह या मेले की आवश्यक और महत्वपूर्ण बातें पहिले क्रम से लिख लीजिए। यही आपकी संकलित सामग्री होगी। इस सामग्री के आधार पर अपना निबन्ध लिख डालिए। इसी प्रकार आप जिस विषय पर निबन्ध लिखना चाहें उससे सम्बन्धित पूरी सामग्री पहिले तैयार कर लीजिए फिर निबन्ध लिखिए।

शैली

निबन्ध-लेखन में शैली का बड़ा महत्व है। आप अपनी संकलित सामग्री से अपने निबन्ध का शरीर बना सकते हैं पर यदि उस शरीर में प्राण न हुआ तो वह निर्जीव शरीर किसी काम का न होगा। आप उस शरीर को शैली के द्वारा ही प्राणवान् बना सकते हैं। आपकी लेखन-शैली जितनी सुन्दर होगी निबन्ध उतना ही सजीव और प्रभावशाली होगा।

जोशी प्रभृति डाक्टर नगेन्द्र नलिनविलोचन शर्मा आदि इस शैली के पुरस्कर्ता हैं। तृतीय शैली मार्क्सवादी विचारधारा को लेकर अग्रसर होती है। यह 'प्रगतिवादी समीक्षा शैली' के नाम से प्रसिद्ध है। इस समीक्षा-शैली के संबंध में वाजपेयी जी का मत है कि इसकी सीमा में साहित्य के जो समाजशास्त्रीय विवेचन होते हैं वे आवश्यकता से बहुत कम साहित्यिक होते हैं। दूसरे यह समीक्षा-शैली कवि की समस्त मानवीय चेतना का आकलन न कर केवल उसकी राजनीतिक चेतना का ही आकलन करती है। जिससे इसके निर्णय अपूर्ण और एकांगी होते हैं। शिवदानसिंह चौहान अमृतराय प्रकाशचंद्र गुप्त रांगेय राघव आदि इस शैली के प्रमुख समालोचक हैं। यद्यपि डाक्टर रामविलास शर्मा का दृष्टिकोण भी मार्क्सवादी कहा जा सकता है तथापि उनकी आलोचना-दृष्टि इन आलोचकों से अधिक व्यापक अवश्य है। आलोचना की चतुर्थ शैली वह है जो किसी भी मतवाद अथवा परम्परा का अनुकरण न कर उनसे सर्वथा दूर रह अपना मत व्यक्त करती है। इस शैली को "व्यक्तिमुखी अथवा प्रभावाभिव्यंजक' शैली कहा जा सकता है। इस शैली का दोष यह है कि यह अत्यन्त स्वतंत्र होने के कारण स्वयं एक नयी रचना बन जाती है। इस स्थिति में यह कभी-कभी अपना समीक्षा-रूप ही खो सकती है।

२८

निबन्ध स्वरूप और विकास

निबन्ध का अर्थ "बँधा हुआ" अथवा सुसंगठित लेख है। इस दृष्टि से किसी वस्तु, दृश्य, घटना, विषय अथवा व्यक्ति पर अपने अध्ययन, निरीक्षण और अनुभव के आधार पर सुन्दर और सारपूर्ण विचार मनोरंजक और प्रभावशाली शैली में लिपिबद्ध करना निबन्ध-लेखन समझा जायगा और इस प्रकार जो लिखा जाय वह निबन्ध कहलाएगा। निबन्ध गद्य में ही होते हैं पद्य में नहीं। दूसरे शब्दों में सुव्यवस्थित ढंग से लिखित गद्य रचना को निबन्ध कहते हैं।

निबन्ध-लेखन के आधार

संकलित सामग्री और लेखन शैली ही निबन्ध लेखन के आधार हैं। किसी भी विषय पर निबन्ध लिखने के पहिले उस विषय से सम्बन्धित सम्पूर्ण सामग्री एकत्रित कर लेना आवश्यक है। जैसे यदि किसी बाग पर निबन्ध लिखना हो तो पूरे बाग को घूमकर बारीकी से देख लीजिए। प्रवेश द्वार से प्रारंभ कर उस बाग की बनावट, भिन्न-भिन्न प्रकार के फूलों की क्यारियाँ, गमलों का जमाव, बाग के छोटे और बड़े वृक्षों तथा पौधों के स्थान, यदि बीच-बीच में मंडप या कुंज हो तो उनकी बनावट, विविध फूलों और बेलों के नाम, बाग के बीच की नालियों आदि के सम्बन्ध में आप अपनी नोट बुक में लिख लीजिए। यह आपकी संकलित सामग्री होगी। इस सामग्री के आधार पर सुन्दर और आकर्षक ढंग से क्रम क्रम पर निबन्ध लिख लीजिए।

यदि किसी समारोह पर निबन्ध लिखना हो तो उसके प्रारम्भ से अन्त तक की सब तैयारी, कारण, कार्यक्रम, सजावट, व्यवस्था और उस समारोह या मेले की आवश्यक और महत्वपूर्ण बातें पहिले क्रम से लिख लीजिए। यही आपकी संकलित सामग्री होगी। इस सामग्री के आधार पर अपना निबन्ध लिख डालिए। इसी प्रकार आप जिस विषय पर निबन्ध लिखना चाहें उससे सम्बन्धित पूरी सामग्री पहिले तैयार कर लीजिए, फिर निबन्ध लिखिए।

शैली

निबन्ध-लेखन में शैली का बड़ा महत्व है। आप अपनी संकलित सामग्री से अपने निबन्ध का शरीर बना सकते हैं, पर यदि उस शरीर में प्राण न हुआ तो वह निर्जीव शरीर किसी काम का न होगा। आप उस शरीर को शैली के द्वारा ही प्राणवान् बना सकते हैं। आपकी लेखन-शैली जितनी सुन्दर होगी निबन्ध उतना ही सजीव और प्रभावशाली होगा।

शैली के अन्तर्गत दो बातें हैं —लिखने का ढंग और भाषा। लिखने का ढंग प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना होता है। पं० बालकृष्ण भट्ट पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी और पं० रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के प्रसिद्ध निबन्ध-लेखक माने जाते हैं। इनमें से पं० बालकृष्ण भट्ट ने अपने निबन्धों में संस्कृत शब्दों का अधिक प्रयोग किया है, पर कुछ निबन्धों में ग्रामीण शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग इनकी निबन्ध-लेखन-शैली की विशेषता है। इन्हीं के समकालीन एक निबन्ध-लेखक पं० प्रतापनारायण मिश्र ने अपने निबन्धों में हास्य व्यंग्य और विनोद को अधिक स्थान दिया है। वे बड़े-से-बड़े विषय में हास्य और विनोद का सफलतापूर्वक समावेश कर लेते थे। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने छोटे-बड़े सभी विषयों पर निबन्ध लिखे हैं। उनके विद्यार्थियों के उपयुक्त निबंधों में प्रभावशाली सरल भाषा का प्रयोग हुआ है। बीच-बीच में हास्य का भी स्थान है। इससे द्विवेदी जी के ये सरल निबन्ध भी बड़े मनोरंजक और प्रभावशाली बन गये हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल की निबन्ध-शैली शुद्ध साहित्यिक है। भाषा बड़ी प्रभावशाली और उच्चकोटि की है, जिससे उनके निबन्ध साधारण विद्यार्थियों की पहुँच के बाहर हैं।

हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि निबन्ध लिखने की अनेक शैलियाँ हैं। आप जो शैली पसन्द करें उसमें निबन्ध लिख सकते हैं। पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और पं० पद्मसिंह शर्मा भी हिन्दी के प्रसिद्ध निबन्ध-लेखक थे। इनमें से गुलेरी जी के निबन्धों में व्यंग्य का पुट अधिक है। पं० पद्मसिंह शर्मा के निबन्धों में तीखा व्यंग्य और उर्दू-मिश्रित हिन्दी है। ये ही इनकी लेखन-शैली की विशेषताएँ हैं। आपकी निबन्ध-लेखन शैली चाहे जो हो पर ध्यान रखिए कि आप जो निबन्ध लिखें वह प्राणवान् हो। भाषा स्वाभाविक हो। खोज-खोज कर कठिन शब्दों का प्रयोग करने से भाषा अस्वाभाविक हो जाती है और उसमें प्रवाह नहीं आ पाता। वाक्य छोटे स्पष्ट और प्रभावशाली हों। वाक्यों का क्रम हो। मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग से भाषा प्रभावशाली बन जाती है। यथास्थान उनका प्रयोग कीजिए। आपकी लेखन-शैली में जहाँ सम्भव हो वहाँ हास्य और विनोद का भी स्थान रहे, पर इसमें भद्दापन न आना चाहिए। हास्य या विनोद ऐसा हो जिससे हृदय खिल जाय उसमें कुरूपता न आने पाये। उचित शब्दों का प्रयोग एक कला है। बार-बार के अभ्यास से मन की बात उचित और प्रभावशाली शब्दों में कही जा सकती है। कुछ अच्छे निबन्ध सावधानी से पढ़ लेने पर आप उचित शब्दों का प्रयोग सहज ही सीख सकते हैं। उन्हीं शब्दों का प्रयोग कीजिए, जिसका अर्थ आप समझते हों और जिसे शुद्ध रूप में लिख सकते हों। सुन्दर और प्रभावशाली निबन्ध कठिन शब्दों के प्रयोग से नहीं पर सरल और प्रभावशाली शब्दों के उचित प्रयोग से ही लिखे जा सकते हैं। संस्कृत के कठिन शब्दों का प्रयोग कीजिए, न उर्दू-फारसी शब्दों के मोह में पड़िए।

वाक्य ऐसे हों जो सरलता [redacted] समझे जा सकें। साधारण वाक्य हों। अधिक लम्बे वाक्य न लिखना ही अच्छा है। आप वाक्य-रचना में मुहावरों और लोकोक्तियों के सिवाय अलंकारों का भी प्रयोग कर सकते हैं। पर उन्हीं अलंकारों का प्रयोग करना चाहिए, जिन्हें आप ठीक तरह से समझते हैं। दूसरे अलंकारों की भरमार करना भी अच्छा नहीं है। अलंकारों के प्रयोग से भाषा में सुन्दरता आती [redacted], पर इनके अधिक प्रयोग [redacted] भाषा अस्वाभाविक और प्रवाहहीन भी बन जाती है। वाक्य रचना में व्याकरण के नियमों का ध्यान रखिए। स्थान-स्थान पर आवश्यकतानुसार अल्प-विराम अर्ध-विराम पूर्णविराम प्रश्नवाचक तथा सम्बोधक बोधन-चिह्न आदि का उचित प्रयोग होना चाहिए।

उपर्युक्त विशेषताओं को देखते हुए विद्वानों ने निबन्ध-लेखन की निम्नांकित चार शैलियाँ निश्चित की हैं —

१ व्यास शैली

इस शैली के अनुसार निश्चित विषय का सरलता से विस्तार में वर्णन किया जाता है। पूरा निबन्ध छोटे-छोटे वाक्यों में लिखा जाता है और जहाँ तक सम्भव होता है, सामासिक शब्दों या शब्दावलियों का प्रयोग नहीं किया जाता। इस शैली में प्रायः वर्णनात्मक और विवरणात्मक निबन्ध लिखे जाते हैं।

२. समास शैली

इस शैली में लिखे निबन्ध संक्षिप्त सुसबद्ध और सरल होते हैं। स्थान-स्थान पर सामासिक शब्दों एवं शब्दावलियों का उचित प्रयोग भी किया जाता है।

३ विक्षेप शैली

यह निबन्ध-लेखन की भाव-प्रधान शैली है। इसमें मानव-हृदय में उठनेवाली सम्बद्ध तथा असम्बद्ध भावनाओं को एकत्र कर निबन्ध-लेखक भाषा न एकता स्थापित करने का प्रयत्न करता है। भावात्मक निबन्ध इसी शैली में लिखना उचित होता है।

४ धारा शैली

इस शैली में विषय का निरूपण भावात्मक ढंग से वेग के साथ किया जाता है। सम्पूर्ण निबन्ध में एक प्रवाह दिखाई देता है। विचारात्मक निबन्धों की यही शैली होती है।

निबन्धों के प्रकार

निबन्ध सामान्यतः चार प्रकार के होते हैं। वर्णनात्मक विवरणात्मक विचारात्मक और भावात्मक।

शैली के अन्तर्गत दो बातें हैं —लिखने का ढंग और भाषा। लिखने का ढंग प्रत्येक व्यक्ति का अपना अपना होता है। पं० बालकृष्ण भट्ट पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी और पं० रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के प्रसिद्ध निबन्ध-लेखक माने जाते हैं। इनमें से पं० बालकृष्ण भट्ट ने अपने निबन्धों में संस्कृत शब्दों का अधिक प्रयोग किया है, पर कुछ निबन्धों में ग्रामीण शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग इनकी निबन्ध-लेखन-शैली की विशेषता है। इन्हीं के समकालीन एक निबन्ध-लेखक पं० प्रतापनारायण मिश्र ने अपने निबन्धों में हास्य व्यंग्य और विनोद को अधिक स्थान दिया है। वे बड़े-से-बड़े विषय में हास्य और विनोद का सफलतापूर्वक समावेश कर लेते थे। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने छोटे-बड़े सभी विषयों पर निबन्ध लिखे हैं। उनके विद्यार्थियों के उपयुक्त निबंधों में प्रभावशाली सरल भाषा का प्रयोग हुआ है। बीच-बीच में हास्य का भी स्थान है। इससे द्विवेदी जी के ये सरल निबन्ध भी बड़े मनोरंजक और प्रभावशाली बन गये हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल का निबन्ध-शैली शुद्ध साहित्यिक है। भाषा बड़ी प्रभावशाली और उच्चकोटि की है, जिससे उनके निबन्ध साधारण विद्यार्थियों की पहुँच के बाहर हैं।

हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि निबन्ध लिखने की अनेक शैलियाँ हैं। आप जो शैली पसन्द करें उसमें निबन्ध लिख सकते हैं। पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और पं० पद्मसिंह शर्मा भी हिन्दी के प्रसिद्ध निबन्ध-लेखक थे। इनमें से गुलेरी जी के निबन्धों में व्यंग्य का पुट अधिक है। पं० पद्मसिंह शर्मा के निबन्धों में तीखा व्यंग्य और उर्दू-मिश्रित हिन्दी है। ये ही इनकी लेखन-शैली की विशेषताएँ हैं। आपकी निबन्ध-लेखन शैली चाहे जो हो पर ध्यान रखिए कि आप जो निबन्ध लिखें वह प्रभावशाली हो। भाषा स्वाभाविक हो। खोज-खोज कर कठिन शब्दों का प्रयोग करने से भाषा अस्वाभाविक हो जाती है और उसमें प्रवाह नहीं आ पाता। वाक्य छोटे स्पष्ट और प्रभावशाली हों। वाक्यों का क्रम हो। मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग से भाषा प्रभावशाली बन जाती है। यथास्थान उनका प्रयोग कीजिए। आपकी लेखन-शैली में जहाँ सम्भव हो वहाँ हास्य और विनोद का भी स्थान रहे, पर इसमें ओछापन न आना चाहिए। हास्य या विनोद ऐसा हो जिससे हृदय खिल जाय उसमें कुरूपता न आने पावे। उचित शब्दों का प्रयोग एक कला है। बार-बार के अभ्यास से मन की बात उचित और प्रभावशाली शब्दों में कही जा सकती है। कुछ अच्छे निबन्ध सावधानी से पढ़ लेने पर आप उचित शब्दों का प्रयोग सहज ही सीख सकते हैं। उन्हीं शब्दों का प्रयोग कीजिए, जिसका अर्थ आप समझते हों और जिन्हें शुद्ध रूप में लिख सकते हों। सुन्दर और प्रभावशाली निबन्ध कठिन शब्दों के प्रयोग से नहीं पर सरल और प्रभावशाली शब्दों के उचित प्रयोग से ही लिखे जा सकते हैं। संस्कृत के कठिन शब्दों का प्रयोग कीजिए, न उर्दू-फारसी शब्दों के मोह में पड़िए।

वाक्य ऐसे हों जो सरलता से समझे जा सकें। साधारण वाक्य हों। अधिक लम्बे वाक्य न लिखना ही अच्छा है। आप वाक्य-रचना में मुहावरों और लोकोक्तियों के सिवाय अलंकारों का भी प्रयोग कर सकते हैं। पर उन्हीं अलंकारों का प्रयोग करना चाहिए, जिन्हें आप ठीक तरह से समझते हैं। दूसरे अलंकारों की भरमार करना भी अच्छा नहीं है। अलंकारों के प्रयोग से भाषा में सुन्दरता आती है पर इनके अधिक प्रयोग से भाषा अस्वाभाविक और प्रवाहहीन भी बन जाती है। वाक्य रचना में व्याकरण के नियमों का ध्यान रखिए। स्थान-स्थान पर आवश्यकतानुसार अल्प-विराम अर्ध-विराम पूर्णविराम प्रश्नवाचक एवं चन्द्र-बोधक योजन-चिन्ह आदि का उचित प्रयोग होना चाहिए।

उपर्युक्त विशेषताओं को देखते हुए विद्वानों ने निबन्ध-लेखन की निम्नांकित चार शैलियाँ निश्चित की हैं —

१ व्यास शैली

इस शैली के अनुसार निश्चित विषय का सरलता से विस्तार में वर्णन किया जाता है। मूल निबन्ध छोटे-छोटे वाक्यों में लिखा जाता है और जहाँ तक सम्भव होता है, सामासिक शब्दों या शब्दावलियों का प्रयोग नहीं किया जाता। इस शैली में प्राय वर्णनात्मक और विवरणात्मक निबन्ध लिखे जाते हैं।

२. समास शैली

इस शैली में लिखे निबन्ध संक्षिप्त सुगठित और सरल होते हैं। स्थान-स्थान पर सामासिक शब्दों एवं शब्दावलियों का उचित प्रयोग भी किया जाता है।

३ विक्षेप शैली

यह निबन्ध-लेखन की भाव प्रधान शैली है। इसमें मानव-हृदय में उठनेवाली सम्बद्ध तथा असम्बद्ध भावनाओं को एकत्र कर निबन्ध-लेखक भावों में एकता स्थापित करने का प्रयत्न करता है। भावात्मक निबन्ध इसी शैली में लिखना उचित होता है।

४ धारा शैली

इस शैली में विषय का निरूपण आकर्षक ढंग से वेग के साथ किया जाता है। सम्पूर्ण निबन्ध में एक प्रवाह दिखाई देता है। विचारात्मक निबन्धों की यही शैली होती है।

निबन्धों के प्रकार

निबन्ध सामान्यत चार प्रकार के होते हैं। वर्णनात्मक विवरणात्मक विचारात्मक और भावात्मक।

१ वर्णनात्मक निबन्ध (Descriptive)

किसी वस्तु, दृश्य स्थान समारोह, मेले और यात्रा के वर्णन पर लिखे निबन्धों का स्थान वर्णनात्मक निबन्धों के अन्तर्गत है। इस प्रकार के निबन्धों में वर्णन की ही प्रधानता होती है। इसीलिए ये वर्णनात्मक निबंध कहलाते हैं। इस श्रेणी के निबन्धों में कल्पना का कोई स्थान नहीं होता। सजीव और वास्तविक वर्णन ही इन निबन्धों की विशेषता है। वर्णन इस ढंग से किया जाए कि पढ़नेवाले के सामने आपकी वर्णित वस्तु या दृश्य का वास्तविक चित्र ही उपस्थित हो जाय। पढ़नेवाला यह अनुभव करे कि वह स्वयं आपकी वर्णित वस्तु या दृश्य देख रहा है। ऐसा निबन्ध तभी आप लिख सकते हैं जब कि वह वस्तु, दृश्य या घटना वास्तव में ही आपने देखी हो। ऐसे निबन्ध कभी कल्पना के सहारे नहीं लिखने चाहिए। आपका कल्पना के सहारे लिखा निबन्ध कभी भी स्वाभाविक और प्रभावपूर्ण नहीं होगा।

२ विवरणात्मक (Narrative) निबन्ध

किसी घटित घटना देखा हुआ स्वप्न आत्म कहानी जीवन चरित्र किसी ऐतिहासिक घटना अथवा त्यौहारों पर लिखे निबन्ध इस कोटि के निबन्धों में आते हैं। इन निबन्धों में वर्णन नहीं पर विवरण होता है। इसीलिए ये विवरणात्मक निबन्ध कहलाते हैं। इस प्रकार के निबन्ध लिखते समय काल-क्रम पर विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए। किसी घटना या स्वप्न का विवरण देते समय जो बातें पहिले हुई हों या जो पहिले देखा गया हो उसका विवरण पहिले और उसके पश्चात् की बातों का विवरण उसके पश्चात् क्रम से देना चाहिए।

आत्म-कहानी और जीवन-चरित्र दोनों ही चरित्र प्रधान निबन्ध होते हैं। आत्म कहानी में उस कहानी का चरित्र-नायक स्वयं अपने मुख से अपना जीवन-चरित्र कहता जीवन में घटित घटनाएँ बतलाता और इस प्रकार अपना पूर्ण परिचय दूसरों को देता है। आत्मकहानी निर्जीव वस्तुओं की भी होती है यथा कलम तलवार, चक्की पुस्तक समाचार-पत्र नदी पवन मोटर गाड़ी आदि। आत्मकहानी-लेखक निर्दिष्ट वस्तु की जन्म विकास और उपयोगिता से सम्बन्धित बातें अपने ज्ञान और अनुभव के आधार पर वस्तु की ओर से कहता है। कुछ बड़े लोग भी अपनी जीवन-कहानी अपनी कलम से लिखते हैं, जिसे आत्मकथा कहते हैं। महात्मा गांधी डा राजेन्द्र प्रसाद पंडित जवाहरलाल नेहरू आदि ने आत्मकथा के रूप में अपना जीवन-परिचय अपनी कलम से लिखा है। यदि आप अपने को महापुरुष बना सकें तो आप भी बड़े होने पर आत्मकथा लिख सकते हैं। महापुरुषों-द्वारा लिखी गई ऐसी आत्मकथाएँ सभी के लिए अनुकरणीय होती हैं। महापुरुषों पर लोक-निन्दा और लोक-प्रशंसा का कोई प्रभाव नहीं पड़ता इसलिए वे स्वलिखित आत्मकथा में अपने जीवन से सम्बन्धित सभी

अच्छी और बुरी बातें निर्भयतापूर्वक कह देते हैं। मराठी में अभी ऐसी आत्मकथा लिखनी नहीं है पर कुछ जीवनोपयोगी वस्तुओं की आत्मकहानी अवश्य लिखनी है। इस प्रकार की आत्म-कहानी लिखने में आकर्षक लेखन-शैली का बड़ा महत्त्व है। आप जिस वस्तु की आत्म-कहानी कहना चाहते हों वह इस ढंग से कह दीजिए कि सुनने वाले मुग्ध हो जाएँ।

३ विचारात्मक या विवेचनात्मक (Reflective) निबन्ध

किसी विशेष विषय पर लिखे गये विचारपूर्ण निबन्ध विचारात्मक निबन्ध कहलाते हैं। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, स्वाभिमान, राष्ट्रसेवा, मितव्ययिता, सदाचार, अनुशासन आदि विषयों पर लिखे गए निबन्ध इसी कोटि के निबंध होंगे। ऐसे निबन्ध दो प्रकार के होते हैं—विश्लेषणात्मक और आलोचनात्मक। यदि आप अपने निबन्धों में इन विषयों का केवल विश्लेषण करेंगे तो वह विश्लेषणात्मक निबन्ध होगा पर यदि विश्लेषण करने के साथ ही आप उनके गुण-दोषों पर भी अपने विचार व्यक्त करें तो वह आलोचनात्मक निबन्ध होगा। यथा "सत्यता" विषय पर निबन्ध लिखते हुए, सत्यता की परिभाषा, सत्यता का स्वरूप, सत्यता को पालन करने वाले महापुरुषों के उदाहरण, सत्यता पर विभिन्न विद्वानों के मत, सत्यता के निर्वाह से लाभ, निर्वाह न करने से हानि आदि बतलाएँगे तो आपका यह विश्लेषणात्मक निबन्ध होगा पर इन विचार को आधार बनाकर आप किसी व्यक्ति, समाज या देश की आलोचना करेंगे या सत्यता पर व्यक्त किए गए विभिन्न मतों के पक्ष या विपक्ष में अपना मत व्यक्त करेंगे तो आपका निबन्ध आलोचनात्मक होगा। भिन्न-भिन्न प्रकार के वाद-विवाद या तर्क अथवा प्रचलित लोकोक्तियों में निहित तथ्य पर लिखे निबन्ध भी विचारात्मक निबन्धों की श्रेणी में ही आएँगे। ये निबन्ध व्यास शैली और समास शैली दोनों में लिखे जा सकते हैं। द्विवेदी जी तथा बाबू श्यामसुन्दरदास ने इस प्रकार के निबन्ध व्यास शैली में तथा आचार्य शुक्ल जी ने समास शैली में लिखे हैं।

४ भावात्मक (Emotional) निबन्ध

ये मन में उठनेवाले भावनाओं को प्रकट करने वाले निबन्ध होते हैं। हमारे हृदय में सुख, दुःख, हर्ष, विषाद, क्रोध, घृणा आदि के कोमल, कठोर, मधुर अथवा कड़वे भाव उठते रहते हैं। भावात्मक निबन्धों में इन्हीं भावों का एक प्रवाह होता है। गम्भीर विचारों और चिन्ताओं से पूर्ण या चिन्तन से पूर्ण निबन्धों का इनमें स्थान नहीं होता। लेखक कभी-कभी ऐसे निबन्धों के लिखने में कल्पना से भी काम लेता है। वर्णनात्मक का सम्बन्ध देश से, विवरणात्मक का काल से, विचारात्मक का तर्क से और भावात्मक का सम्बन्ध प्राय: हृदय से होता है। अध्यापक पूर्णसिंह तथा वियोगीहरि ने अनेक सुन्दर भावात्मक निबन्ध लिखे हैं। इस प्रकार के निबन्ध प्रायः धारा शैली और विक्षेप शैली में लिखे जाते हैं।

हिन्दी-निबन्ध-साहित्य का विकास

हिन्दी-निबन्ध आधुनिक युग की देन है। इस युग का प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के काल से होता है। अतः हम हिन्दी के निबन्ध-साहित्य के विकास को तीन कालों में विभाजित कर सकते हैं भारतेन्दु युग द्विवेदी युग और वर्तमान युग।

भारतेन्दु-युग

हिन्दी-गद्य-साहित्य की अन्य शाखाओं की तरह निबन्ध का जन्म भी बाबू हरिश्चन्द्र के द्वारा ही हुआ है। उन्होंने उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में अनेक निबन्ध लिखे और उनके द्वारा अपने काल के साहित्यकारों का ध्यान निबन्ध-लेखन की ओर आकर्षित किया। सबीत सार एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न कुसी सूर्योदय आदि आपके प्रसिद्ध निबन्ध हैं। इस युग के अन्य निबन्धकारों में प्रतापनारायण मिश्र बालकृष्ण भट्ट बदरीनारायण चौधरी आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

इनमें पं मिश्र जी ने देश की स्थिति हिन्दी-प्रचार समाज-सुधार आदि विषयों से सम्बन्धित अनेक निबन्ध लिखे। उन्होंने केवल निबन्ध-प्रकाशन की दृष्टि से ही 'ब्राह्मण' नामक पत्र निकाला। इस पत्र में अनेक निबन्ध प्रकाशित हुए। हास्य और व्यंग का पुट मिश्रजी के निबन्धों की सबसे बड़ी विशेषता है। उन्होंने अपने निबन्धों में मुहावरों और लोकोक्तियों का बहुत अधिक प्रयोग किया है। आपके सभी निबन्ध अत्यन्त आकर्षक और हृदय पर प्रभाव डालने वाले हैं।

पंडित बालकृष्ण भट्ट सम्भवत इस युग के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार हैं। विषयों की विविधता की दृष्टि से ही नहीं वरन् विषय-विवेचन भाषा-प्रभाव साहित्यिकता आदि की दृष्टि से भी भट्ट जी ने बड़े सुन्दर निबन्ध लिखे हैं। आपके निबन्धों में हास्य और व्यंग्य के साथ ही मुहावरों और लोकोक्तियों का भी सुन्दर प्रयोग मिलता है। उन्होंने अपने निबन्धों में हिन्दी के साथ उर्दू और अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग किया है। इससे उनके निबन्ध सजीव और प्रभावशाली होने के साथ ही बड़े पुष्ट बन गये हैं। "हिन्दी-प्रदीप" में आपके प्रमुख निबन्ध संकलित हैं। भारतेन्दु-युग के निबन्धकारों में हमें मिश्रजी और भट्ट जी के निबन्धों में ही निबन्ध का वास्तविक और शुद्ध रूप देखने को मिलता है।

उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी इस युग के तीसरे प्रसिद्ध निबंधकार हैं। आपने *बहुत कम निबंध लिखे हैं पर जो लिखे हैं, वे विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से बहुत पुष्ट हैं।* निबन्धों की भाषा विशुद्ध और उच्चकोटि की है। यह युग समाज-सुधार का युग था और देश में राजनीतिक चेतना जड़ पकड़ती जा रही थी। यही कारण है कि इस युग के निबन्धों पर हमें इन दोनों प्रकार के आन्दोलनों का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।

द्विवेदी-युग

निबन्ध-साहित्य का द्वितीय उत्थान पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के काल से आरम्भ होता है। द्विवेदी जी ने हिन्दी में मौलिक निबन्धों की रचना करने के साथ ही अंग्रेजी और मराठी के सुन्दर निबन्धों के हिन्दी अनुवाद कर अपने काल के निबन्धकारों का मार्ग-प्रदर्शन किया है। उन्होंने अपने द्वारा सम्पादित "सरस्वती" मासिक पत्रिका में अपने तथा दूसरे लेखकों के निबन्ध प्रकाशित कर निबन्ध-साहित्य के विकास में जो योग दिया वह बहुत मूल्यवान् है। साहित्य-सीकर, रसज्ञ-रंजन साहित्य-सन्दर्भ आदि आपके निबंधों के संकलन है।

इस युग के अन्य निबन्धकारों में पंडित माधवप्रसाद मिश्र बालमुकुन्द गुप्त चन्द्रधर शर्मा गुलेरी अध्यापक पूर्णसिंह बाबू गुलाबराय और बाबू श्यामसुन्दरदास का स्थान महत्वपूर्ण है। इनमें से माधवप्रसाद मिश्र ने धार्मिक विषयों के सिवाय देश-प्रेम तथा हिन्दू पर्व-त्योहारों पर भी अनेक निबन्ध लिखे हैं। उनके धार्मिक निबन्ध खडन-मंडन से पूर्ण है। देश-प्रेम विषयक निबन्धों में उनका प्रबल देशानुराग प्रकट हुआ है।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने अपने समय की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति पर आधारित अनेक उच्चकोटि के निबन्ध लिखे हैं। उनके निबन्धों की भाषा सजीव और प्रभावशाली है। अधिकांश निबन्ध विनोद-पूर्ण शैली में लिखे हुए हैं। पंडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने बहुत कम निबन्ध लिखे हैं। किन्तु सभी निबन्ध उच्चकोटि के और प्रभावपूर्ण हैं।

अध्यापक पूर्णसिंह ने केवल पाँच निबन्ध लिखे हैं। इन्हीं निबन्धों की उच्चता ने उन्हें हिन्दी के निबन्ध-साहित्य में अमर बना दिया है। मजदूरी और प्रेम सच्ची वीरता आचरण की सभ्यता कन्या-दान और पवित्रता आपके निबन्ध हैं। इन निबन्धों को द्विवेदी-युग के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध कहा जा सकता है। उन्होंने जिस विषय पर भी निबन्ध लिखा है, वे पूरी तरह उसमें रम गए हैं। उनकी निबन्ध-लेखन-शैली भावनापूर्ण है। इन निबंधों को वैयक्तिक निबन्ध कहा जा सकता है।

बाबू गुलाबराय का स्थान द्विवेदी काल के ही नहीं पर वर्तमान काल के भी निबंध-लेखकों में भी महत्वपूर्ण है। वे आज अपनी वृद्धावस्था में भी हिन्दी के निबन्ध-साहित्य के विकास में जो योग देते जा रहे हैं वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अभी तक आपके निबन्धों के अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। अधिकांश निबन्ध साहित्यिक हैं जिनमें इनका गहन अध्ययन और जीवन का विशाल अनुभव दिखाई देता है।

बाबू श्यामसुन्दरदास ने साहित्यिक निबन्ध ही अधिक लिखे हैं। सभी निबन्ध गम्भीर और विवेचनापूर्ण हैं। संपादक के निबन्ध तथा आलोचना-साहित्य को हिन्दी में लाने का श्रेय आपको ही है। उच्च कोटि की संस्कृत शब्दों से पूर्ण हिन्दी एवं विवेचनात्मक और आलोचनात्मक दृष्टिकोण बाबू साहब के निबन्धों की विशेषताएँ हैं।

वर्तमान-युग

भारतेंदु युग से प्रारम्भ होने वाला हिन्दी का निबंध-साहित्य क्रमशः विकसित होता हुआ वर्तमान काल में अत्यन्त समृद्धिशाली बन गया है। आज हिन्दी में सभी विषयों पर अनेक शैलियों में लिखे हुए उच्चकोटि के निबंध प्राप्त हैं। वर्तमान काल का प्रारम्भ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से ही माना जाना चाहिए सबसे पहले शुक्लजी ने ही उच्चकोटि के साहित्यिक तथा मनोवैज्ञानिक विषयों पर निबन्ध लिखकर वर्तमान काल के लेखकों का मार्ग प्रशस्त किया है। भाषा की शुद्धता और उच्चता शुक्लजी के निबन्धों की सबसे बड़ी विशेषता है। अधिकांश निबन्ध गम्भीर और समास-शैली में लिखे हुए हैं। आपके द्वारा लिखे गये आलोचनात्मक निबन्धों का भी हिन्दी-निबन्ध-साहित्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'चिन्तामणि' भाग १ व २ आपके निबन्धों के संग्रह हैं।

इस काल के अन्य निबन्धकारों में जयशंकर प्रसाद पद्मसिंह शर्मा प्रेमचन्द सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी हजारीप्रसाद द्विवेदी डा० नगेन्द्र जैनेन्द्रकुमार डा धीरेन्द्र वर्मा नन्ददुलारे वाजपेयी रामकुमार वर्मा सियाराम शरण गुप्त एवं विश्वनाथप्रसाद मिश्र इलाचन्द्र जोशी शान्तिप्रिय द्विवेदी रामविलास शर्मा प्रभय गंगाप्रसाद पांडेय वासुदेवशरण अग्रवाल शिवदान सिंह चौहान कन्हैयालाल सहल विनयमोहन शर्मा आदि हैं। काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' प्रसादजी के आलोचनात्मक निबंधों का संग्रह है। प्रसाद जी पहिले कवि हैं और फिर निबन्धकार। यही कारण है कि उनके निबंधों में भी हमें उनका कवि-रूप मिल जाता है। सभी निबन्ध गहन अध्ययन और विचार पूर्ण हैं।

प्रेमचन्दजी के निबन्धों का संग्रह 'कुछ विचार' के नाम से प्रकाशित हुआ है। छोटे वाक्य मुहावरों से पूर्ण भाषा और सरलता इनके निबंधों की विशेषता है। सभी निबंधों पर अनुभव की गहरी छाप है। पंडित पद्मसिंह शर्मा के निबंध विद्वत्ता के साथ ही चुभचुभे से पूर्ण हैं। 'पद्म पराग' शर्मा जी के निबंधों का संग्रह है। बख्शी जी द्विवेदी युग से निबंध लिखते आ रहे हैं। विश्व-साहित्य प्रबन्ध-पारिजात कुछ यात्रा आदि बख्शीजी के निबंध-संग्रह हैं। निबंधों की भाषा में सरलता और प्रभाव है। डा हजारी-प्रसाद द्विवेदी को साहित्यिक और आलोचनात्मक निबंधकारों में प्रमुख स्थान प्राप्त है। विद्वत्ता बहुज्ञता और भावुकता द्विवेदीजी के निबन्धों की विशेषताएँ हैं। 'अशोक के फूल' तथा 'विचार और वितर्क' आपके निबंधों के प्रमुख संकलन हैं। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने हिन्दी-भाषा का साहित्य और भाषा-विज्ञान के सम्बन्धित विषयों पर अनेक निबंध लिखे हैं। 'विचारधारा' आपके निबंधों का संग्रह है। निराला जी के अभी तक तीन निबंध-संग्रह प्रबंध प्रभा प्रबंध-पद्म और चाबुक के नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। 'कुछ विचार' और 'जड़ की बात' जैनेन्द्र जी के निबंधों के संग्रह हैं। डा० रामकुमार वर्मा के सत्ताइस निबंध विचार-दर्शन में संगृहीत हैं।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी को हिन्दी के आलोचनात्मक और विवेचनात्मक निबन्धकारों में उल्लेखनीय स्थान प्राप्त है। 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शती' 'आधुनिक साहित्य' तथा 'नया साहित्य : नये प्रश्न' वाजपेयी जी के प्रसिद्ध निबन्ध-संग्रह हैं। डा० नगेन्द्र ने समीक्षात्मक और भावात्मक शैली में अनेक निबंध लिखे हैं। 'विचार और विवेचना' तथा 'विचार और अनुभूति' नगेन्द्र जी के समीक्षात्मक शैली में लिखे निबन्धों के संग्रह हैं। 'वाणी के न्याय मंदिर में' नाटकीय शैली में लिखे निबंध हैं। 'साहित्य-सर्जना' तथा 'विवेचना' श्री इलाचन्द्र जोशी के आलोचनात्मक निबंधों के संग्रह हैं। शांतिप्रिय द्विवेदी पूर्णतः साहित्यिक निबन्धकार हैं। 'संचारिणी' 'कवि और काव्य' 'साहित्यिकी' 'सामयिकी' 'युग और साहित्य' आदि द्विवेदी जी के समीक्षात्मक निबंधों के संग्रह हैं। श्री अज्ञेय ने 'त्रिशंकु' में मौलिक आधार पर कला और साहित्यिक विवेचन करते हुए निबंध लिखे हैं। 'प्रगति और परम्परा' तथा 'संस्कृति और साहित्य' डा० रामविलास शर्मा के विवेचनात्मक निबंधों के संग्रह हैं। शिवदान सिंह चौहान के निबंध 'प्रगतिवाद' तथा 'साहित्य की परख' में संकलित हैं। सभी निबंध प्रगतिवादी दृष्टि से पूर्ण हैं। श्री महेन्द्र के आलोचनात्मक निबंधों के संग्रह 'समीक्षांजलि' 'आलोचना के पथ पर' और 'समीक्षायन' के नाम से प्रकाशित हुए हैं। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने भारतीय साहित्य और कला से सम्बन्धित अनेक गहन विषयों पर निबंध लिखे हैं। 'पृथिवी पुत्र' और 'कल्पवृक्ष' में आपके इसी प्रकार के निबंध संकलित हैं। डा० विनयमोहन शर्मा के कुछ निबंध 'दृष्टिकोण' के नाम से प्रकाशित हुए हैं। इनके अतिरिक्त आज हिंदी के निबंध-साहित्य के क्षेत्र में अनेक ऐसे लेखक काम कर रहे हैं जिनसे पर्याप्त आशाएँ की जा सकती हैं।

२९
छायावादी काव्य-साहित्य

कहा जाता है कि पश्चिम के "रोमैंटिसिज्म" के प्रभाव-स्वरूप सन् १९१८ के लगभग "छायावाद" ने हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में प्रवेश किया और मुकुटधर पांडेय, पन्त, प्रसाद, निराला, महादेवी वर्मा आदि हिन्दी के सुकवियों की नई-नई रचनाओं के साथ प्रादुर्भाव हुआ। दिसम्बर १९२१ की "सरस्वती" में मध्य प्रदेश के प्रतिभाशाली युवक कवि पं० मुकुटधर पांडेय ने अपने "कविता" शीर्षक निबन्ध में सर्वप्रथम 'छायावाद' की स्पष्ट व्याख्या की। तब से "रोमैंटिसिज्म" के स्थान पर यह मिस्टिसिज्म का हिन्दी रूपान्तर समझा जाने लगा और परिणामस्वरूप सन् १९२६ के लगभग हिन्दी-काव्य में 'रहस्यवाद' का प्रादुर्भाव हुआ। कुछ विद्वान् सन् १९१८ से १९३६ तक छायावादी युग और इसके पश्चात् रहस्यवादी युग मानते हैं। प्रारंभ में हिन्दी के प्राचीन आचार्यों द्वारा इसका विरोध भी हुआ और उनके द्वारा छायावाद को 'स्वच्छन्दतावाद' 'वस्तु क-लतावाद' आदि कहकर व्यंग्य किया गया किन्तु जल-प्रवाह की तरह छायावादी काव्य-प्रवाह रोके न रुका और हिन्दी में इस कोटि के काव्य की एक निश्चित और स्पष्ट धारा बन गई। प्रारम्भ में इस काव्य-धारा का प्रमुख आधार 'वैयक्तिक अभिव्यक्ति' रही पर ज्यों-ज्यों इस धारा का विकास होता गया यह विशद् और विस्तृत रूप धारण करती गई।

छायावादी काव्य में प्रारंभ से ही निगूढ़ अभिव्यक्तियों की प्रधानता रही जिससे यह आध्यात्मिक समझा जाने लगा जो एक बड़ी सीमा तक सत्य भी था। कबीर के समान रहस्यवादी कवियों और जायसी के समान प्रेममार्गी कवियों ने भी कुछ इसी प्रकार की रहस्यमयी आध्यात्मिक भावनाएँ व्यक्त की हैं किन्तु छायावादी दृष्टिकोण इन कवियों से भिन्न रहा है। यदि दोनों में कोई समानता है, तो वह केवल यही कि दोनों का आकर्षण 'निराकार' की ओर रहा है और दोनों ने देश-काल की विचार-धाराओं को विभिन्न स्वरूपों में व्यक्त किया है। छायावादी काव्य के स्वरूप से ऐसा ज्ञात पड़ता है कि इस पर कबीर, जायसी, उमर खैयाम और शेख सादी का एक साथ प्रभाव पड़ा है और छायावादी कवियों ने इन सबसे प्रेरणा ग्रहण की है, यद्यपि इसका मूलस्रोत यूरोप ही था। अध्यात्म और मानव की ओर अधिक झुकाव होने से छायावादी कवियों का जितना सम्बन्ध अलौकिक विश्व और उसकी रहस्यमयी वस्तुओं से रहा उतना सम्बन्ध विश्व की दृश्यमान वास्तविकता और तज्जन्य प्रवृत्तियों से नहीं रहा। तारे, चन्द्र, ऊषा, सन्ध्या तथा प्रकृति के अन्य रहस्यमय उपकरण ही उनकी रचना के विषय बने और उनके 'प्रियतम' का सन्देश देने वाले रहे।

'छायावाद' को प्रेरणा पश्चिम से मिली थी पर वह पाश्चात्य रोमैंटिसिज्म या मिस्टिसिज्म की अनुकृति मात्र न था। इसका जन्म 'द्विवेदी युग' में हुआ जब कि हमारे देश में सुधारवादी आन्दोलन का जोर था और हिंदी-काव्य में पौराणिकता की पद्धति क्रियाशील थी। छायावाद ने एक बहुमुखी क्रांति के रूप में हिन्दी-काव्य में प्रवेश किया और काव्य की प्राचीन पद्धति पर आक्रमण कर दिया। परिणाम-स्वरूप काव्य-वस्तु, छन्द-विधान रूप-संयोजन शब्द प्रयोग आदि में एक सर्वथा नवीन प्रयोग देखा जाने लगा। श्री विश्वम्भर नाथ उपाध्याय के शब्दों में— प्रकृति के जड़ शरीर में प्राण पुलक भरकर पौराणिक नैतिक मूल्यों में क्रान्ति उपस्थित कर, नारी के अशरीरी सौन्दर्य की स्थापना कर व्यक्तिगत राग-विराग अश्रु-हास को वाणी देकर यथार्थवादी प्रकृति के स्थान पर अन्तर्वृत्ति-निरूपिणी काव्य-प्रतिमा का सृजन कर छायावादी स्रष्टाओं ने एक नूतन युग का अभिषेक किया। कुछ समय के पश्चात् ही टैगोर के मानवतावादी दृष्टिकोण का भी इन पर प्रभाव पड़ा और इन कवियों ने जाति-धर्म के सुधार की संकीर्ण मनोवृत्ति प्राचीन रूढ़िवादिता और परम्परागत सामाजिक राजनीतिक और धार्मिक दृष्टिकोण की अवहेलना कर अलौकिक विश्व प्रेम के गीत गाने प्रारम्भ किए।

छायावाद के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किए हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस सम्बन्ध में अपने जो विचार व्यक्त किए हैं तदनुसार छायावाद काव्य की एक शैली विशेष है, जो ईसाई सन्तों के 'छायाभास' (Phantsmota) अथवा पाश्चात्य काव्य-क्षेत्र में प्रचलित "प्रतीकवाद" (Symbolism) का अनुकरण है, जिसे सर्वप्रथम बंगला ने ग्रहण किया और बंगला से हिन्दी में आया।

✓ डा० नगेन्द्र के अनुसार छायावाद एक विशेष प्रकार की भाव पद्धति है— जीवन के प्रति एक भावात्मक दृष्टिकोण है। यह दृष्टिकोण नव जीवन के स्वप्नों और कुण्ठाओं पर आधारित है। इसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी है जिसका व्यक्तीकरण प्रतीकों द्वारा होता है। श्री शांतिप्रिय द्विवेदी इसे एक दार्शनिक अनुभूति और साहित्य की दृष्टि से एक कला मानते हैं। श्री गंगाप्रसाद पांडेय की दृष्टि में किसी वस्तु में एक अज्ञात सप्राण छाया की झाँकी पाना अथवा आरोप करना छायावाद है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी तथा मानव प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का भान ही छायावाद समझते हैं। डा रामकुमार वर्मा आत्मा और परमात्मा के गुप्त वाग्विलास को छायावाद मानते हैं। डा सत्येन्द्र छायावाद को एक अनुभूति विशेष समझते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो छायावाद को समाज और प्रकृति पर व्यक्तिवादी प्रतिक्रिया समझते हैं। इस सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध छायावादी कवि प्रसाद जी के विचार भी दर्शनीय हैं। वे कहते हैं— जब कविता के क्षेत्र में वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दी में उसे 'छायावाद' के नाम से अभिहित किया गया। इसमें आन्तरिक स्पर्श को पुलक

नवीन शैली स्वच्छन्द लावण्य आदि तत्त्व थे। मोती के भीतर छाया जैसी तरलता होती है, वैसी ही कांति की तरलता अंग में लावण्य कही जाती है। इस लावण्य को संस्कृत में छाया और विच्छित्ति के द्वारा कुछ लोगों ने निरूपित किया था ... आभ्यन्तर भाव को प्रकट करने में इसका प्रयोग हुआ था।

जब निसर्गता वेदना को चैतन्य के साथ चिर-बन्धन में बाँध देती है तब वह आत्म स्पर्श की अनुभूति सूक्ष्म आभ्यन्तर भाव को व्यक्त करने में समर्थ होती है। वे आगे कहते हैं— यह छायावाद मूल में रहस्यवाद नहीं है प्रकृति विश्वात्मा की छाया या प्रतिबिम्ब है इसलिए काव्यगत व्यवहार में आकर छायावाद की सृष्टि होती है यह सिद्धान्त भी भ्रामक है। छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति व अभिव्यक्ति की भंगिमा पर निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता लाक्षणिकता सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं।

इससे स्पष्ट है कि छायावाद स्वानुभूति की अभिव्यक्ति विशेष है। महादेवी वर्मा छायावाद को स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म की प्रतिक्रिया मानती हैं। उन्होंने अपने 'विवेचनात्मक गद्य" में लिखा है— छायावाद तत्त्वतः प्रकृति के बीच जीवन का उद्गीथ है। अतः कल्पनाएँ बहुरंगी और चित्रिकरूपी हैं। इससे प्रसाद और महादेवी दोनों का इसे 'स्वानुभूति" पर आधारित मानना स्पष्ट है।

डा० नगेन्द्र ने अपने विवेचन में छायावाद-सम्बन्धी तीन भ्रांतियों का उल्लेख किया है। प्रथम छायावाद और रहस्यवाद में कोई अंतर न मानने के कारण यह कहा जाता है कि छायावाद शैलिक है साधनात्मक नहीं। द्वितीय छायावाद 'रोमन्टिसिज्म' का ही रूप है। इसमें वास्तविकता यह है कि रोमेन्टिसिज्म फ्रांस में होनेवाले एक सफल विद्रोह पर आधारित था जब कि छायावाद का जन्म असफल सत्याग्रह से हुआ था। तृतीय छायावाद एक शैली मात्र है। इन भ्रांतियों पर प्रकाश डालते हुए डाक्टर साहब ने छायावाद को एक ऐसी भाव-पद्धति बतलाया जो जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण रखती है। यथार्थ में हिन्दी की छायावादी काव्यधारा भावनात्मक व्यक्तिवाद निराशा वेदना एवं अतृप्त प्रेम को लेकर प्रकृति के मानवीकरण के साथ सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति करती हुई प्रवाहित हुई है। इसके कला-पक्ष में हमें छंद अलंकार आदि की नवीनता लाक्षणिक शब्दावली और प्रतीकों का प्रयोग विशेष रूप से दिखाई देता है। ये विशेषताएँ हमें रोमैंटिक काव्य में भी मिलती हैं। अतः छायावाद और रोमैन्टिसिज्म में कोई विशेष अन्तर मानना अधिक युक्ति-संगत नहीं जान पड़ता।

छायावादी काव्य की कुछ विशेषताएँ ऐसी हैं जिनसे वह अन्य काव्य-धाराओं से स्पष्ट रूप से पृथक दिखाई देता है। प्रकृति-प्रतीक अज्ञात और अगोचर सत्ता के प्रति जिज्ञासा एवं आत्म-समर्पण की भावना नारी के प्रति एक सर्वथा नवीन दृष्टिकोण आदि

इसकी ऐसी ही विशेषताएँ हैं। इस काव्य के अनेक स्थानों में हमें प्रकृति परोक्ष सत्ता और नारी के चित्रण एवं आकर्षण में अत्यधिक समानता दिखाई देती है। सम्भवतः यही देखकर छायावादी युग के प्रारंभ में कुछ लोग इस काव्य को विलास प्रधान मानते रहे जब कि वस्तुस्थिति इसके विपरीत थी। इतना अवश्य है कि छायावादी कवियों ने प्रकृति का प्रायः नारी रूप में दर्शन किया और उसके सौंदर्य आकर्षण प्रेम में अपने को तन्मय एवं निमग्न किया। इस प्रकार उन्होंने इस काव्य में व्यक्त जीवन-दर्शन को सौम्य शृङ्गार और प्रेम से पूर्ण व्यक्त किया।

छायावाद की सबसे बड़ी विशेषता उसका साम्प्रदायिकता से परे होना है। मध्यकालीन भक्ति काव्य उस काल की आवश्यकता की एक पूर्ति थी किन्तु यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि वह किसी सीमा तक साम्प्रदायिक अवश्य था।

छायावाद मानव भावनाओं के व्यक्तीकरण में कोई बंधन स्वीकार नहीं करता वह बिना किसी संकोच के उन समस्त भावनाओं को व्यक्त कर देना चाहता है जिसका दृश्य जगत् से सम्बन्ध है। वह परंपरागत आध्यात्मिक विचार-सरणि भी स्वीकार नहीं करता वह आत्मानुभूति में ही सौन्दर्य-दर्शन करता और प्रकृति को चेतन सत्ता से अनुप्राणित होकर आत्मा के अधिष्ठान में रत होता है। उसकी अभिव्यक्त काव्य-सामग्री विशाल प्रकृति के प्रांगण से ही संगृहीत है। प्रत्येक प्रतिनिधि छायावादी कवि पहले प्रकृति की ओर आकृष्ट हुआ। उसने उसके अंग-उपांगों का सौन्दर्य दर्शन किया और उसे मानवीय सौन्दर्य की भूमि पर प्रतिष्ठित किया। प्रसाद जी के "झरना" और "आँसू" में हम इसी सौन्दर्य का विकास देखते हैं। उन्होंने "लहर" में मानव-जीवन के विविध पक्षों का जीवन-तत्त्वों का समन्वय किया और "कामायनी" में जीवन को विविध अनुभूतियों को पूर्ण विकास के साथ उतारने का प्रयत्न किया है। महादेवी वर्मा के छायावादी काव्य की भूमिका पर अवतीर्ण होने पर छायावादी विचारधारा रहस्योन्मुख दिखाई देने लगी और इसके विकास में ही हिंदी काव्य में छायावाद के पश्चात् रहस्यवाद की सत्ता स्थापित की।

जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है छायावादी कवियों ने अपने काव्य के अधिकांश उपकरण प्रकृति से प्राप्त किए हैं किन्तु उनका प्रकृति-चित्रण प्राचीन कवियों की तरह प्रकृति के सौन्दर्य तक ही सीमित हो कर नहीं रह गया उन्होंने प्रकृति-सौन्दर्य से मानव सौन्दर्य का तादात्म्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है। पन्तजी की इन पंक्तियों में प्रकृति का मानवीकरण देखिए—

"शान्त स्निग्ध ज्योत्स्ना उज्ज्वल,
अपलक अनन्त, नीरव भूतल,

सैकत शय्या पर दुग्ध धवल, तन्वंगी गंगा, ग्रीष्म विरल।
लेटी है श्रान्त, क्लान्त निश्चल,
दो बाहों से दूरस्थ तीर—धारा का कृश कोमल शरीर
आलिंगन करने को अधीर।"

अब पल्लवों के 'बादल' का परिचय स्वयं उन्हीं के शब्दों में सुनिए—

"हम सागर के धवल हास हैं,
जल के धूम गगन की धूल।
अनिल फेन ऊषा के पल्लव
वारिवसन वसुधा के मूल॥

महादेवी वर्मा की इन पंक्तियों में प्रकृति का मानव जीवन से तादात्म्य देखिए—

"स्पन्दन में चिर निस्पन्द बसा
क्रन्दन में आहत विश्व हँसा
नयनों में दीपक से जलते
पलकों में निर्झरिणी मचली।"

उन्हीं की निम्न पंक्तियों में मर्मवाद का स्पष्ट आभास देखिए—

'शून्य नभ पर उमड़ जब दुख-भार-सी
नैश तम में सघन छा जाती घटा,
बिखर जाती जुगनुओं की पाँति भी।
जब सुनहले आँसुओं के हार-सी
तब चमक जो लोचनों को मूँदता,
तड़ित की मुसकान में वह कौन है?"

"वैयक्तिकता छायावाद की विशेषता रही है। कवि विश्व में जो देखता है उसमें 'स्व' अनुभव करता और उसकी अभिव्यक्ति मुखर हो उठती है। कवयित्री महादेवी ने अपने को 'मैं नीर भरी दुख की बदली' कहकर मानव-जीवन की नश्वरता का चित्रण किया है। प्रसाद जी की "वेदना का पलना' भी कवि के इसी 'स्व' की अभिव्यक्ति है।

नारी-चित्रण' छायावादी कवियों का एक प्रधान विषय रहा है। उन्होंने नारी का चित्रण दो रूपों में किया है—सौन्दर्य की अधिष्ठात्री के रूप में और लौकिक प्रेम के आलम्बन के आधार के रूप में। पन्त प्रसाद निराला और महादेवी ने भी नारी के चित्र उपस्थित किए हैं। पन्त के चित्रण में नारी का किशोर सौन्दर्य और प्रसाद के

चित्रण में उसका सौन्दर्य अधिक निखरा है। निरालाजी का नारी-चित्रण सौन्दर्य की अधिष्ठात्री के रूप में ही अधिक हुआ है। उदाहरणार्थ निम्नांकित उद्धरण देखिए—

तारकमय नव वेणी बन्धन,
शीशफूल कर शशि का नूतन।
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे चितवन से अपना।
पुलकती आ वसन्त—रजनी॥
—पन्त

कपोलों में उर का मृदु भाव,
श्रवण नयनों में प्रिय बनाव,
सरल संकेतों में संकोच,
मृदुल अधरों में मधुर दुराव।
—प्रसाद

मृदु खुली एक उच्छ्वास-संग,
विश्वास स्तब्ध बँध अंग-अंग,
नत नयनों से आलोक उतर,
काँपा अधरों पर थर थर थर।
—निराला

छायावाद का कैशोर अल्पायु रूप की आयु में अन्त हो गया पर उसने हिन्दी-काव्य को जो नव सुरभित पुष्प जो जीवन-सौन्दर्य और जो नया मानवीय दृष्टिकोण दिया वह उसकी स्मृति के लिए पर्याप्त है। संक्षिप्त में छायावाद की देन इतिवृत्तात्मक काव्य के विरुद्ध कल्पना और सौन्दर्य-सृष्टि है। उसने आचार प्रधान पौराणिक दृष्टिकोण के स्थान में नव मानवतावादी दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा की है। उसने विश्व वेदना को व्यक्त किया और मानव-जीवन को नवीनता भावुकता और सौन्दर्य से अनुप्राणित किया। जो इसे पूँजीवादी संस्कृति का खिलौना और पलायनवादी कहते हैं वस्तुतः उसे सही रूप में समझने का प्रयत्न नहीं किया। कुछ लोगों की दृष्टि में छायावाद जनवादी भावनाओं का विरोधी है जब कि छायावाद के प्रमुख कवि पन्त प्रसाद निराला, महादेवी सरस्व भगवतीचरण वर्मा आदि के काव्य में हम स्पष्ट रूप से जनवादी प्रवृत्तियाँ पाते हैं। छायावाद ने अपने अल्पकालीन जीवन में रीतिकालीन मांसल शृंगार के विरुद्ध सूक्ष्म भाव परिष्कृत शृंगार की स्थापना की है।

हिन्दी काव्य में प्रविष्ट सभी धाराएँ एक के पश्चात् दूसरी बदलती गईं और नये युग के साथ नई धाराएँ उपस्थित हुईं। किन्तु युग की पुरातनवादिता के बावजूद

ऊब उठा था और तत्कालीन कवि विशेष कर तरुण कवि-हृदय किसी नवीनता की खोज में था। उसे यह नवीनता 'छायावाद' के रूप में प्राप्त हुई और उसकी स्वीकृति के पश्चात् ज्यों ज्यों उसका विकास होता गया प्राचीन काव्य-प्रयासों और परम्परा की समाप्ति होती गई किन्तु काव्य का स्रष्टा भी व्यक्ति होता है और व्यक्ति की सीमाएँ हैं। उन सीमाओं के अन्तिम छोर पर पहुँचने के पश्चात् उसका क्रिया-काल समाप्त होना निश्चित होता है। यही छायावाद का भी हुआ। सन् १९११ तक सन् १९१८-१९२० की स्थिति बदल चुकी थी भावनाएँ और रुचि के साथ दृष्टिकोण भी बदलता जा रहा था। नवोन्मेष के इस काल में छायावादी कवियों का 'व्यक्तिवाद' की सीमा से ही सिमिट कर रहना सम्भव न था। छायावाद का अन्त इसलिए नहीं हुआ कि उसमें अभिव्यक्ति का अभाव था शब्द-जाल का प्राबल्य अलंकारों के भार से कविता-कामिनी का चलना दूभर हो रहा था पर उसका अन्त इसलिए हुआ कि उसमें नवोत्पन्न परिस्थिति को सम्हालने और उसकी आकांक्षाओं की पूर्ति करने की क्षमता न थी। व्यक्तिवाद ने छायावादियों के हृदय से समन्वय की भावना का अन्त कर दिया था जिससे उसका वह आधार उसके हाथ से निकल चुका था जिस पर वह कल्पना के पंख लगा गगन-विहारी बना हुआ था। उसकी अनुभूतियों का मूल्य समाप्त हो चुका था। उसके प्रतीक पंगु हो चुके थे। अब छायावाद की कोमलता आर्द्रता और करुणा की समाज को आवश्यकता न थी। देश की राजनीतिक स्थिति द्रुतगति से बदलती जा रही थी। अब समाज को प्रकृति-सौन्दर्य की तरलता नहीं पर मानव-जीवन-सौन्दर्य की सरसता की आवश्यकता थी। समाज कवियों से वह वाणी माँग रहा था जिसमें शोषितों और पीड़ितों की हाहाकार बोलती है और जिसमें वह ज्वाला प्रज्वलित है जिसमें शक्ति क्षोभ प्रतिकार और मानवता के अधिकारों के स्वर बोलते हैं। छायावाद यह न दे सका जिससे उसका पतन अनिवार्य हो गया।

डा० प्रेमनारायण शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य में विविध वाद'' नामक ग्रन्थ में छायावादी काव्य की निम्नांकित प्रवृत्तियाँ बतलाई हैं

१ सौन्दर्य भावना

सौन्दर्योपासना मानवमात्र की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। वह किसी सुन्दर वस्तु का दर्शन करते ही उसके साथ अपने हृदय का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करता है। सामान्य दर्शक वस्तु का बाह्य सौन्दर्य देख करके ही सन्तुष्ट हो जाता है, पर कवि के लिए उसका आन्तरिक सौन्दर्य ही आकर्षक मूल्यवान होता है। प्रसाद जी इसी आन्तरिक सौन्दर्य से अनुप्राणित हो लहरों का मानवीकरण करते हुए कहते हैं—

उठ उठ री लघु लोल लहर।
करुणा की नव अँगड़ाई-सी,

मलयानिल की परछाईं सी,
इस सूने तट पर छिटक छहर ।
शीतल कोमल चिर कम्पन-सी,
दुर्ललित हठीले बचपन सी,
तू लौट कहाँ जाती है री ।

२ शृंगार अथवा प्रेम की भावना

छायावादी कवि शृंगार अथवा प्रेम की भावना से अभिभूत होकर अपने अलौकिक प्रेमपात्र की खोज में संलग्न दिखाई देता है । इसी भावना से प्रभावित होकर पंत जी कहते हैं—

तड़ित-सा सुमुखि ! तुम्हारा ध्यान ।
प्रभा के पलक मार, उर चीर
गूढ़ गर्जन कर जब गंभीर,
मुझे करता है अधिक अधीर,
जुगुनुओं से उड़ मेरे प्राण,
खोजते हैं तब तुम्हें निदान ।

३ करुणा की विवृत्ति

करुणा मानव-हृदय की महान् निधि है । इसकी उपस्थिति में ही उसकी कोमलता उदारता आदि वृत्तियों का क्रियाशील होना सम्भव है । यह करुणा छायावादी कवियों की भी जीवन-सहचरी रही है । डा० रामकुमार वर्मा आकाश को करुण मेघों से आच्छन्न देखकर कह उठते हैं—

अश्रुओं का यह मंडल अपार,
इसमें पड़कर तम एक बार ही
कर उठता है चीत्कार !
ये काले काले भाग्य अंक
नभ के आँगन में लिखे हाय !!

४ प्रकृति प्रियता

'प्रकृति छायावादी कवियों की विशेष आलम्बन रही है । उन्होंने इसी के विविध प्रतीकों के माध्यम से अपने हृदय की भावनाएँ व्यक्त की हैं । प्राकृतिक प्रतीकों का मानवीकरण छायावादी काव्य की प्रमुख विशेषता है । पन्त जी एक कली को अस्तित्व विहीन होती देखते हैं और उनका हृदय मानव जीवन की नश्वरता से सिहर उठता है

झर गई कली, झर गई कली।
चल सरित पुलिन पर वह विकसी,
उर के सौरभ से सहज बसी,
सरला प्रात ही तो विहँसी,
रे कूद सलिल में गई बसी।

श्रीमती महादेवी वर्मा का तारों और किरणों का मानवीकरण इन पंक्तियों में देखिए—

जिस दिन नीरव तारों से, बोलीं किरणों की अलकें
सो जाओ अलसाई हैं, सुकुमार तुम्हारी पलकें।

५ जीवन-दर्शन

प्रारम्भ में कुछ छायावादी कवियों का ध्येय 'कला कला के लिए' भले ही रहा हो पर अधिकांश छायावादी अपने काव्य से जीवन को पृथक् नहीं रख सके। इतना ही नहीं पर उन्होंने अपने काव्य-द्वारा मानव जीवन का नया मूल्यांकन करने का भी प्रयास किया है। मानव-जीवन की मान्यताएँ स्थापित करने का प्रयत्न किया है और जीवन को नई दृष्टि से देखा है। यह अवश्य है कि उनका जीवन-दर्शन दुःख और वेदना के भार से ही अधिक प्रभावित रहा। पन्त जी ने जीवन को साँझ-उषा का आँगन और विरह मिलन का आलिंगन कहा और महादेवीजी ने अपने को 'नीर भरी दुख की बदली' के रूप में प्रस्तुत किया। वे कहती हैं—

मैं नीर भरी दुख की बदली।
विस्तृत नभ का कोना कोना
मेरा न कभी अपना होना
परिचय इतना इतिहास यही
उमड़ी कल थी, मिट आज चली।

अध्ययन की दृष्टि से छायावादी काव्य के दो स्वरूप हैं—शैलीगत स्वरूप और विषयगत स्वरूप। शैलीगत स्वरूप में हम छायावादी काव्य में पूर्व प्रचलित शब्दों के स्थान पर अप्रचलित शब्दों एवं मुक्तक की प्रतिष्ठा देखते हैं। उसके विषयगत स्वरूप में हम प्रकृति एवं उसके विविध उपादानों का विशिष्ट प्रयोग पाते हैं। उन्होंने प्रकृति के सुन्दर और कुरूप दोनों पक्षों का अध्ययन किया है। उन्होंने प्रेम और सौन्दर्य की भावना भी मुख्यतः प्रकृति से ही ग्रहण की है।

कवि की जो वैयक्तिक भावनाएँ अन्य प्रकार से व्यक्त नहीं की जा सकती थीं

के प्राकृतिक उपादानों के माध्यम से बड़ी सुन्दरता से उनके काव्य में व्यक्त हुई है। अतः इसकी एक विशेषता 'वैयक्तिकता' भी समझी जानी चाहिए।

इसके अतिरिक्त नारी के नवीन स्वरूप की अवतारणा, अज्ञात सत्ता के प्रति आत्म समर्पण की भावना एवं नवीन शैली का प्रयोग इस काव्य-धारा की अन्य विशेषताएँ हैं। इनमें से वैयक्तिकता और नारी के नवीन रूप से संबंधित उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं। अज्ञात सत्ता के प्रति समर्पण की भावना प्रसाद, पंत एवं महादेवी वर्मा की अनेक रचनाओं में देखी जा सकती है। उदाहरणार्थ महादेवी वर्मा की निम्नांकित पंक्तियाँ देखिए —

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।
नींद थी मेरी अचल निस्पन्द कण-कण में,
प्रथम जागृति थी जगत के प्रथम स्पन्दन में,
प्रलय में मेरा पता पद चिन्ह जीवन में,
शाप हूँ जो बन गया वरदान बन्धन में
कूल भी हूँ, कूलहीन प्रवाहिनी भी हूँ।

छायावादी काव्य में जिस वैयक्तिकता की प्रधानता है उसमें हमें वर्तमान से असंतोष, व्याकुलता, जीवन-कटुता, रूढ़ियों के प्रति विद्रोह, मधुर अतीत का स्मरण, सुंदर भविष्य की आकांक्षा आदि दिखाई देती है। इन भावनाओं ने कवि को बहिर्जगत से अन्तर्जगत की ओर उन्मुख कर दिया। इससे छायावादी काव्य में अन्विति का अभाव दृष्टिगोचर होने लगा। संभवतः यही देखकर कुछ लोगों ने छायावादी कवियों पर पलायनवादी होने का आरोप किया है।

छायावादी काव्य का द्वितीय पक्ष वह है जिसमें हम मानवता का उच्च संदेश पाते हैं। प्रसाद की 'कामायनी' और निराला जी के 'तुलसीदास' में यह संदेश स्पष्ट स्वरों में सुनाई देता है। छायावादी काव्य के अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ हम मानव समानता, विश्व-बंधुत्व, असाम्प्रदायिकता, करुणा, राष्ट्रीय जागृति आदि की भावनाएं प्रकृति के माध्यम से देखते हैं। इसका कारण छायावादी काव्य पर विश्व कवि रवीन्द्र का प्रभाव है। ऐसा जान पड़ता है कि आगे चलकर छायावाद की इन्हीं भाव धाराओं का विकास राष्ट्रीय आन्दोलन के परिणाम-स्वरूप प्रगतिवाद की दिशा में हुआ और पंत की "युगवाणी" के बाद अधिकांश छायावादी कवि जन-काव्य की रचना में प्रवृत्त दिखाई दिये। जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है छायावादी काव्य में वैयक्तिकता अज्ञात के प्रति समर्पण एवं अशरीरी सौन्दर्य-निष्ठा की प्रधानता रही है। वैयक्तिकता के अत्यधिक विकास की स्थिति में छायावादी कवि आध्यात्मिक अनुभूति की ओर प्रवृत्त हुए। उनकी इसी प्रवृत्ति ने हिन्दी के रहस्यवादी काव्य को जन्म दिया।

छायावादी काव्य में भाषा और शब्द-योजना की नवीनता तो रही ही पर इसके साथ ही नवीन छंद-योजना का भी स्थान कम न रहा। इन कवियों ने परम्परागत शास्त्रीय छंदों के बंधन शिथिल कर उनके स्थान में नई शैली एवं नये छंदों का प्रयोग किया किन्तु इस प्रयोग में उन्होंने छंदों की रागात्मकता का पूरा ध्यान रखा। इस दृष्टि से पंत और निराला अग्रणी कहे जा सकते हैं। पंतजी ने अपने नवीन छंदों के प्रयोग में जिस कलात्मक शब्द-चयन-शक्ति का परिचय दिया वह निश्चय ही प्रशंसनीय है। छंद-वैविध्य की नवीनता में निराला जी को प्रथम स्थान दिया जा सकता है। उन्होंने नये-नये मुक्त वृत्त" लिखे और उन्हें संगीत के स्वरों से आबद्ध कर अपनी नवीन और प्रयोग-क्षमता के साथ ही संगीतज्ञता का भी परिचय दिया। इस छायावादी काव्य को यह भावात्मक रूप प्राप्त न होता तो सम्भवतः वह लोक जीवन के माधुर्य से और भी दूर जा पड़ता। यदि इस काव्य का विकास "स्व" में केन्द्रित न होकर "सर्व" तक हो पाता तो यह काव्य भी एक बड़ी सीमा तक मध्यकालीन भक्त कवियों के गीतों-सी अमरता प्रभाव माधुर्य और जन-मन-तल्लीनता की क्षमता रखने में समर्थ होता।

प्रारंभ में कुछ लोगों ने छायावादी काव्य को रीति-कालीन शृङ्गार काव्य का नवीनीकरण कहा पर वास्तव में इन दोनों प्रकार के काव्यों में बहुत अन्तर है। दोनों काव्य में वैयक्तिकता की प्रधानता अवश्य है पर जहाँ रीतिकालीन शृङ्गार-काव्य में मानव की वासनामयी निम्न प्रवृत्ति चित्रित हुई है वहाँ छायावादी काव्य में मानव की आध्यात्मिक भावना की ही अभिव्यक्ति मिलती है। दूसरे रीतिकालीन काव्य में जीवन दर्शन का अभाव है पर छायावादी काव्य मानव जीवन के विविध पहलुओं पर अपनी दृष्टि से सम्यक प्रकाश डालने में समर्थ है। व्यापक अनुभूति हृदय स्पर्श करनेवाले कल्पना-चित्र संगीतमय छन्द-विधान और लाक्षणिकमयी भाषा छायावादी काव्य की विशेषताएँ हैं।

छायावादी काव्य में निहित आध्यात्मिकता धर्म पर नहीं अपितु मानवीय और सांस्कृतिक भूमि पर स्थित है। छायावाद का अध्यात्म धर्म-मूलक नहीं पर सौन्दर्य मूलक है। इस सौन्दर्य के प्रकाश में अनुप्राणित होकर ही ससीम प्रेम असीम होकर सम्पूर्ण चेतन और जड़ जगत् तक व्याप्त हो जाता है। यही प्रकृति का प्रणय व्यापार है जिसे हम छायावादी काव्य के स्थान में देखते हैं।

१०

हिन्दी काव्य में रहस्यवाद

"रहस्यवाद" से तात्पर्य उस भाव से है जिसके अन्तर्गत मानव ने दृश्य जगत् से परे अवस्थित अनन्त शक्ति ब्रह्म के स्वरूप की कल्पना की और उससे अपनी आत्मा का तादात्म्य स्थापित कर इस मिलन-आनन्द को अभिव्यक्ति दी। उसने अपना लौकिक क्षणभंगुर जीवन उस महान् सत्ता के योग के अभाव में 'अपूर्ण' समझा और अपने को उसका एक अंश मानकर जीवन की पूर्णता के लिए "पूर्णब्रह्म" की खोज की। उसने उसकी सत्ता चराचर जगत् के कण-कण में व्याप्त देखी और प्रकृति-पुरुष के संयोग में पूर्णता के दर्शन किए। इस तादात्म्य और दर्शन को वाणी प्राप्त हुई और वह 'रहस्यवाद' के रूप में अभिव्यक्त हुई। मानव का यह प्रयत्न उसके विकास के साथ ही आरम्भ हुआ और ज्यों-ज्यों वह अधिक विकसित होता गया उसका यह प्रयत्न भी अधिकाधिक सफलता के समीप पहुँचता गया। उपनिषद् काल इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काल था। इस काल के विभिन्न दार्शनिकों ने इस क्षेत्र में नये-नये अनुसन्धान किये जो विभिन्न उपनिषदों के रूप में आज भी हमें उपलब्ध हैं।

उन्होंने ब्रह्म के रूप में सत् चित् आनन्द के दर्शन किए और वे अपने अनुसन्धानों से इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह सृष्टि उसी सच्चिदानन्द की रचना है और उसी आनन्द की ओर यह उन्मुख है।* उन्होंने अपने इस आनन्द को अभिव्यक्त करना चाहा पर वह अनिर्वचनीय था जिससे उसकी अभिव्यक्ति वाणी की सामर्थ्य से परे थी। अतः उन्होंने उसकी अभिव्यक्ति के लिए सांकेतिक प्रतीकों का प्रयोग किया। जब कवि इस रहस्य से प्रभावित हुए, तब उन्होंने उसे काव्याभिव्यक्ति के रूप में प्रकट करना चाहा किन्तु वे दार्शनिक नहीं थे अतः आत्मा-परमात्मा के रहस्य का चिन्तन उनके वश की बात न थी। वे कल्पना निपुण थे इससे वे उस रहस्य की कल्पना कर सकते थे। उनकी कल्पना उन्हें ज्ञान-मार्ग की तीक्ष्ण कृपाण की धार पर तो न चला सकी पर उसने उनके भाव जगत् को पुष्टि प्रदान अवश्य की। अतः उन्होंने भावना का सहारा ले इस रहस्य को प्रकट किया और काव्य रसिक उसे समझने में समर्थ हुए।

---

* आनन्देन खल्विमानि भूतानि जायन्ते
आनन्देन जातानि जीवन्ति।
आनन्दम्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति॥

हिंदी के विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से रहस्यवाद की परिभाषा कर उसके स्वरूप का निरूपण करने का प्रयत्न किया है। पं० रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में चिन्तन के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है वही भाव के क्षेत्र में रहस्यवाद है।

कबीर के रहस्यवाद के खोजक डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार "रहस्यवाद जीवात्मा की वह अन्तर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य अलौकिक शक्ति से अपना शांत व निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और वह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में अभिन्नता हो जाती है।

श्री गंगाप्रसाद पांडेय कहते हैं कि "रहस्यवाद हृदय की वह दिव्य अनुभूति है, जिसके भावावेश में प्राणी अपने ससीम और पार्थिव अस्तित्व में उस असीम एवं अपार्थिव महा अस्तित्व के साथ एकात्मकता का अनुभव करने लगता है। सुप्रसिद्ध रहस्यवादी कवयित्री महादेवी वर्मा रहस्यानुभूति में बुद्धि के क्षेत्र का ही हृदय का क्षेत्र हो जाना मानती हैं। वे "विवेचनात्मक गद्य" में लिखती हैं—"जब प्रकृति की अनेकरूपता में और परिवर्तनशील विभिन्नताओं में कवि ने एक ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयत्न किया जिसका एक छोर किसी चेतन और दूसरा ससीम हृदय में समाया हुआ था तब प्रकृति का एक-एक अंश एक अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा परन्तु इस सम्बन्ध से मानव-हृदय की सारी प्यास न बुझ सकी क्योंकि मानवीय सम्बन्धों में अनुरागजनित आत्म-विसर्जन का भाव जब तक नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते इसी से इस अनेकरूपता के कारण कुछ पर एक मधुरतम व्यक्तित्व आरोपित कर उसके निकट आत्मनिवेदन करने लगते हैं। यही छायावाद है। छायावादी को रहस्यमय रूप के कारण रहस्यवाद नाम दिया गया।

श्रीमती वर्मा के इस कथन के अनुसार रहस्यवाद छायावाद का द्वितीय सोपान है। श्री नामवरसिंह भी इसे छायावादी कविता की प्रवृत्ति विशेष मानते हैं। हिन्दी के रहस्यवादी कवियों ने रहस्यवाद का सूत्रपात वेद से बतलाया और उपनिषद् शैवागम सिद्ध कबीर, जायसी आदि की रचना में उसके दर्शन किए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल रहस्यवादी काव्य-परम्परा को अभारतीय मानते थे। 'रहस्यवादी भावना' वास्तव में 'परोक्ष जिज्ञासा' है। जब कवि जो प्रत्यक्ष नहीं है उसका रहस्य जानने को उत्सुक हो उठता है - एक परोक्ष रहस्य को जानने को आतुर हो जाता है, तब उसका काव्य रहस्योन्मुख समझा जाता है। पन्त की "प्रथम रश्मि" और "मौन निमंत्रण" महादेवी वर्मा की—

> "जब असीम से हो जायगा मेरी लघु सीमा का मेल।
> देखोगे तुम देव, अमरता खेलेगी मिटने का खेल॥

तथा प्रसाद की—

"शशि मुख पर घूँघट डाले,
अंचल में दीप छिपाये
जीवन की गोधूली में
कौतूहल से तुम आये,"

पंक्तियों में कवि की यही जिज्ञासा उत्सुकता आतुरता और रहस्य—भावना व्यक्त हुई है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि रहस्यवाद में हृदय की भावना ही सर्वोपरि है अतः रहस्यवादी कवि का अवलंब ज्ञान नहीं पर हृदय हो रहता है। वह एक विद्वान् दार्शनिक की तरह ज्ञान का अवलम्ब ले तर्क-वितर्क के ताने-बाने नहीं बुनता पर हृदय की भावुकता का अवलम्ब ले अपने चरम लक्ष्य—"प्रिय मिलन" की ओर अग्रसर होता दिखाई देता है। उसकी यह मिलन आकांक्षा कभी उसकी वेदनाओं में कभी उसकी विरह-विह्वलता में और कभी उसके संयोग-सुख के उन्माद में व्यक्त होती जान पड़ती है। जहाँ तक हिन्दी के रहस्यवादी काव्य का सम्बन्ध है कहा जा सकता है कि जहाँ छायावाद की सीमा समाप्त होती है, वहाँ से रहस्यवाद की सीमा आरम्भ होती है। प्रिय और प्रिया एक-दूसरे का वियोग नहीं सह सकते। जब आत्मा अपने प्रिय ब्रह्म से बिछुड़ने का अनुभव करती है तब वह उसे पाने को तड़प उठती है। पपीहा मेघ के लिए, चकोर चंद्रमा के लिए और चकई चकवे के लिए तड़प उठता है। उसकी इस तड़प में प्रणय की प्रेरणा होती है और वह प्रणय प्रेरणा प्रिय और प्रिया को एक दूसरे से मिलने और एक-दूसरे में समा जाने—एक-दूसरे पर मिट जाने को अधीर करती रहती है। जब यह लौकिक प्रणय प्रेरणा स्थूल वासना से सम्बन्धित होती है तब वह वासना को जन्म देती है किन्तु जब वह स्थूल से ऊपर उठकर सूक्ष्म आलम्बन का आश्रय ग्रहण कर अग्रसर होती तब वह आध्यात्मिक स्वरूप धारण कर लेती है। दर्शन शास्त्रियों ने इसी स्थिति को अद्वैतवाद कहा है। इस स्थिति में प्रिय-प्रिया आत्मा और ब्रह्म की भिन्नता का अन्त हो जाता है। यही रहस्यवादी भावभूमि है। यही अद्वैतवाद भावना के क्षेत्र में 'रहस्यवाद' कहलाता है। काव्य की दृष्टि से आत्मा और ब्रह्म की प्रणयाभिव्यंजना ही रहस्यवाद है। आत्मा और ब्रह्म की यह मिलन-स्थिति ही आनन्द स्थिति है। इस आनन्द की अनुभूति ही जीव का परम लक्ष्य है।

जीव की यह आनन्दानुभूति की स्थिति सहसा प्राप्त नहीं होती उसे साधना के विभिन्न सोपानों से होते हुए इस अन्तिम सोपान पर पहुँचना पड़ता है। आस्था इस साधना का सोपान है। साधक इस विश्व को निश्चित नियमों से नियंत्रित होता हुआ परिचालित देखता है। वह प्रकृति के क्रिया-कलापों में एक व्यवस्था और नियम बद्धता देखता है पर उसे कोई ऐसा व्यक्ति दृष्टिगोचर नहीं होता जो इस व्यवस्था

का संचालन करता है तब वह इस दृश्यमान् जगत् से परे किसी अदृश्य शक्ति के प्रति आस्था उत्पन्न करता है। इस आस्था के उत्पन्न होने पर वह समस्त जड़-चेतन में उसी अदृश्य सत्ता का प्रसार देखता है और उसकी आस्था और भी दृढ़ हो जाती है। वह गा उठता है—

"छुआ था जब सन्ध्या आलोक,
हँस रहे थे तुम पश्चिम ओर।"

यह जीव का अपने प्रियतम से प्रथम परिचय है। अब वह प्रियतम का आभास पाकर उसकी ओर अधिकाधिक खिंचता जाता है। अपने आपको उसके चरणों में अर्पित कर देना चाहता है और सदैव के लिए उससे अपना सम्बन्ध जोड़ लेना चाहता है। यह "सम्बन्ध-स्थापन' की अनुरक्ता साधना का द्वितीय सोपान है। साधक सांसारिक प्राणी है। उसका संसार के विभिन्न प्राणियों से विभिन्न रूपों में सम्बन्ध है। वह किसी का पिता किसी का पुत्र और किसी का पति है। उसका जिसके प्रति सर्वाधिक अनुराग है उसी के स्थान में वह अपने परम प्रियतम को रख कर उसके प्रति अनुराग व्यक्त करता है। यही कारण है कि हिन्दी के रहस्यवादी कवियों में से किसी ने उसे पिता किसी ने पति और किसी ने प्रिया मानकर उसके प्रति अनुराग व्यक्त किया और उसमें समा जाने की तत्परता प्रदर्शित की है।

"हाँ सखि, आओ बाँह खोल हम, लगकर गले जुड़ा लें प्राण,
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में, हो जावें द्रुत अन्तर्धान।"

—पन्त

"रूप चिन्तन' रहस्यवादी साधना का तृतीय सोपान है। सम्बन्ध-स्थापन के पश्चात् साधक उसके रूप-चिन्तन में लग जाता है किन्तु वह तो 'अरूप' है फिर उसका रूप-चिन्तन कैसा? वह अरूप है इसीलिए सर्वव्यापक है। इस जड़ चेतनमय जगत् की प्रत्येक वस्तु प्रत्येक अणु-परमाणु में उसका रूप प्रतिभासित है। साधक अपने मानस पर उसकी रूप-छटा प्रतिबिम्बित करने का प्रयत्न करता और उसका दर्शन करना चाहता है पर वह उसके रूप दर्शन में सफल नहीं हो पाता। वह बार-बार प्रयत्न करता और बार-बार असफल होता है। यह असफलता उसके हृदय में 'विरहानुभूति' को जन्म देती है। यही विरहानुभूति साधक की साधना का चतुर्थ सोपान है। कवयित्री महादेवी इसी विरहानुभूति से व्यथित होकर कहती है—

"जो तुम आ जाते एक बार—
कितनी करुणा कितने सन्देश
पथ में बिछ जाते बन पराग।

गाता प्राणों का तार तार
अनुराग भरा उन्माद राग ।
आँसू लेते वे पग पखार ॥"

यह विरहानुभूति-जन्य विह्वलता साधक की साधना का प्रमुख सोपान है। इस सोपान पर पग रख साधक अपने 'प्रिय' से मिलने को विह्वल हो जाता है। उसकी यह विह्वलता उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। वह अपनी करुणा का सन्देश अपने प्रियतम को भेजना चाहता है पर भेजे कहाँ ? वह तो लापता है। उस लापता का पता लगाना भी उसके लिए सम्भव नहीं है। वह कभी भ्रमर को और कभी चतुर्दिक भ्रमण करने वाले वायु को अपना दूत बना उसी के द्वारा अपना सन्देश - अपनी विरह-कातरता—अपनी करुणा के स्वर अपने प्रियतम तक पहुँचाने का प्रयत्न करता और उससे साग्रह कहता—

'जग की सजल कालिमा रजनी में मुख-चन्द्र दिखा जाओ,
प्रेम वेणु की स्वर-लहरी में जीवन गीत सुना जाओ ।"
— प्रसाद

विरह विह्वलता का अन्त 'मिलन' में होता है जो साधक का अन्तिम लक्ष्य है। साधक की यह चाह निराला जी की इन पंक्तियों में देखिए—

"चाह नहीं है मुझे और कुछ चाह,
अर्ध विकच इस हृदय-कमल में आ तू,
प्रिये ! छोड़कर बंधनमय छंदों की छोटी राह।"

मिलन-स्थिति में साधक और साध्य दो होते हुए भी एक होते हैं वे भिन्न होते हुए भी अभिन्न होते हैं। महादेवी जी ने इन पंक्तियों में यही भावना व्यक्त की है—

"बीन भी हूँ, मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।
दूर तुमसे हूँ, अखंड सुहागिनी भी हूँ ॥"

हिन्दी-काव्य में छायावाद और रहस्यवाद

द्विवेदी युग की समाप्ति के पूर्व ही कतिपय कवि तत्कालीन काव्य में परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव करने लगे थे। वे कल्पना के सहारे उसे नया रूप प्रदान करना चाहते थे। प्रस्तुत सिरों की व्यंजना उनका उद्देश्य था। बाबू मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय और बद्रीनाथ भट्ट ऐसे कवियों में प्रमुख थे। गुप्तजी की 'नक्षत्र निपात' अनुरोध पुष्पांजलि और स्वयं आगत रचनाएँ इसी दिशा की संकेत-वाहिनी थीं। गुप्त जी ने पुष्पांजलि में कहा—

"मेरे आँगन का एक फूल।

सौभाग्य भाव से मिला हुआ, श्वासोच्छ्वास से हिला हुआ,
संसार विटप में खिला हुआ झड़ पड़ा अचानक झूल-झूल।"

श्री मुकुटधर जी ने मध्यप्रान्त की वनस्थली में यह ही कहा—

"मेरे जीवन की लघु तरणी,
आँखों के पानी में तर जा।
मेरे उर में छिपा खजाना,
अहंकार का भाव पुराना,
बना मुझे तू आज दिवाना,
तप्त श्वेत बूँदों में ढर जा।"

श्री बदरीनाथ जी भट्ट बोले—

दे रहा दीपक जलकर फूल,
रोपी उज्ज्वल प्रभा पताका अंधकार हिय हूल।"

प्रथम और द्वितीय कविता की रचना सं० १९७४ में और तृतीय रचना इसके चार वर्ष पूर्व हुई थी। इससे स्पष्ट है कि तत्कालीन कवि सं० १९७० से ही नई दिशा का संकेत करने लगे थे। वे अब एक ओर जगत और जीवन के विस्तृत क्षेत्र के अन्तर्गत दिखाई देनेवाले प्रकृति के विभिन्न रूपों में व्याप्त सौन्दर्य को चित्रमयी भाषा में व्यक्त करना चाहते थे और दूसरी ओर उपासना के क्षेत्र में एकदेशीय भावना के स्थान पर रहस्यात्मक सार्वभौम भावना की प्रतिष्ठा करना चाहते थे। 'छायावाद' के जन्म के पूर्व भी हिन्दी-काव्य में नवीन और मार्मिक विषयों का समावेश होता जा रहा था पर इन विषयों के व्यक्तीकरण में नई दृष्टि का अभाव था। गुप्तजी और पन्त जी ने विरोधों का भय त्याग इस अभाव को दूर करने का यत्न किया और काव्याभिव्यंजना को एक नई दृष्टि प्रदान करने की दिशा में प्रयास आरम्भ किया। इसी समय बंगला में रवि बाबू के "पाश्चात्य अध्यात्मवाद" की रहस्यात्मक दृष्टि लिए गीत आये और थोड़े ही दिनों में उनका प्रभाव सर्वव्यापी हो गया। हिन्दी के कवि भी इन गीतों और उनमें निहित अभिव्यंजना से अप्रभावित न रह सके। रवि बाबू की ये रचनाएँ 'छायावादी' रचनाओं के नाम से सम्बोधित की जाने लगीं। इसी अनुकरण पर हिन्दी कवियों ने भी अपनी नवीन रचनाओं को यही नाम दिया। बाबू मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय आदि कवियों द्वारा हिन्दी काव्य का विकास जिस दिशा में हो रहा था उससे यह छायावादी दिशा भिन्न थी। इसमें अज्ञात प्रियतम की व्यंजना तो थी पर इसमें वस्तु विन्यास की निर्जीवता और अभिव्यंजना का लाक्षणिक वैचित्र्य ही प्रधान था। यह काव्य वास्तविक जगत् से भिन्न था। यही रहस्यवादी काव्य का प्रारंभिक रूप था।

हिन्दी में यह रहस्यवादी काव्यधारा चार रूपों में व्यक्त हुई है—जिज्ञासा-मूलक सौन्दर्य-मूलक विरहानुभूति-मूलक और तादात्म्य-मूलक।

जिज्ञासा-मूलक रहस्यवाद में कवि के सामने सदैव एक प्रश्न चिह्न रहा है और उसने सृजन के रहस्य को जानने की अभिलाषा व्यक्त की है। उदाहरणार्थ ये पंक्तियाँ देखिए—

हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?
　　　　यह मैं कैसे कह सकता।
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो,
　　　　भार विचार न सह सकता॥
　　　　　　　　—प्रसाद

विश्व के पलकों पर सुकुमार,
　　　　विचरते हैं जब स्वप्न अजान,
न जाने नक्षत्रों से कौन
　　　　संदेशा मुझे भेजता मौन ?
　　　　　　　　—पन्त

अवनि अम्बर की रुपहली सीप में,
तरल मोती-सा जलधि जब काँपता।
तैरते घन मृदुल हिम के पुञ्ज में—
ज्योत्स्ना के रजत पारावार में,
सुरभि बन जो थपकियाँ देता मुझे
नींद के उच्छ्वास-सा वह कौन है ?
　　　　—महादेवी

सौन्दर्य-मूलक रहस्यवाद में कवि ने दृश्य जगत की वस्तुओं में उस अनन्त सौन्दर्य राशि का दर्शन किया है या प्रकृति का मानवीकरण कर उसके सौन्दर्य का चित्रण किया है। यथा—

"मूर्तियों का दिगन्त छविजाल,
ज्योति चुम्बित जगती का भाल।"
　　　　—पन्त

"रूपसि ! तेरा घन केश पाश।"
　　　　—महादेवी

विरहानुभूति-मूलक रहस्यवाद में कवि अपने को प्रेयसी और उस अनन्त को अपना प्रेमी मान उसके विरह में तड़पता है। उसकी इस तड़पन में आत्मा और परमात्मा की विरहानुभूति होती है—

"अलि कैसे उनको पाऊँ ?
वे आँसू बनकर मेरे, इस कारण ढुल-ढुल जाते,
इन पलकों के बन्धन में, मैं बाँध-बाँध पछताऊँ।।"
—महादेवी

तादात्म्य-मूलक रहस्यवाद में आत्मा और परमात्मा की—प्रेमी और प्रेयसी की पृथकता मिट जाती है—

"समरस थे जड़ या चेतन, सुन्दर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती आनन्द अखंड घना था।।"
—प्रसाद

"तुम मुझ में प्रिय, फिर परिचय क्या ?
रोम-रोम में नन्दन पुलकित,
साँस-साँस में जीवन शत शत,
स्वप्न स्वप्न में विश्व अपरिचित।"
—महादेवी

जब रहस्यवाद का जन्म हुआ और कवियों की रहस्यवादी कविताएँ सामने आयीं, तब आरम्भ में प्राचीनतावादियों के लिए यह एक तमाशा था। वे इसका मजाक उड़ाने में ही आनन्द लेते थे। उस समय एक कवि ने पन्त प्रसाद और निराला का मजाक उड़ाते हुए लिखा था—

"पन्त प्रसाद निराला की जय,
बजती हैं पैंजनियाँ।
सब अनन्त की ओर चलो—
जाता हिन्दी की दुनियाँ।।"

किन्तु इन कवियों को अपनी भावनाओं में पूर्ण विश्वास था। वे अपने गीतों की अमरता पर विश्वास करते थे। और यह विश्वास महादेवी के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त हुआ—

"मैं अनन्त पथ में लिखती जो,
सस्मित सपनों की बातें।

उनको कभी न खो पायेंगा,
अपने आँसू से रावें॥"

वह कभी अपने प्रियतम को धूमिल घन-सा आता देखती और कभी तम के परदे में उसकी प्रतीक्षा करती—

"रजत रश्मियों की छाया में,
धूमिल घन-सा वह आता।"

× × ×

"मेरे प्रियतम को भाता है,
तम के परदे में आना।"

धीरे धीरे प्रियतम का स्वप्न-दर्शन रहस्यवादी कवियों का प्रमुख आकर्षण बन गया। स्वप्न इन रहस्यवादियों के लिए वरदान बन गया और वे उसी भाव-भूमि में विचरण करने लगे—

"वह सपना बन बन आता,
जागृति में जाता लौट।"

महादेवी ने इस भावना में बहकर अनेक सुन्दर गीत लिखे हैं। अन्य रहस्यवादी कवि भी प्रियतम से मिलते ही उससे आँख-मिचौनी करते रहे—

"है स्पर्श मलय के झिलमिल-सा,
संज्ञा को और सुलाता है,
पुलकित हो आँखें बन्द किये,
तन्द्रा को पास बुलाता है।
व्रीड़ा है यह चंचल कितनी,
विभ्रम से घूँघट खींच रहा,
छिपने पर स्वयं मृदुल कर से,
क्यों मेरी आँखें मींच रहा।"

प्रसाद की ये पंक्तियाँ प्रथम रहस्यवादी कवि कबीर के उस भाव की पोषक हैं जिसमें ब्रह्मरन्ध्र में झंकृत अनहद नाद और बरसनेवाले मेघ का चित्रण है। इस प्रकार की भावनाएँ रहस्यवादियों के आनन्द का कारण बन जाती हैं। आचार्य शुक्ल ने अपने 'काव्य में रहस्यवाद' पुस्तक में लिखा है—'अनिर्दिष्ट या धुँधली झलक की भावना में भी एक प्रकार का आकर्षण होता है जो स्निग्ध विस्मय या औत्सुक्य उत्पन्न करता है। घने कुहरे या पानी के बीच किसी के रूप-माधुर्य की हलकी-सी झलक मात्र पाकर

हम केवल उत्सुक होंगे। इसी उत्सुकता की सतत प्रेरणा से उसका रूप निर्दिष्ट करने के लिए हमारी कल्पना प्रवृत्त रहा करेगी।

उस काल के रहस्यवादी कवियों ने बाह्य जगत् में अपने आन्तरिक जगत् का प्रसार देखा है। इस प्रकार उन्होंने व्याकुल प्रकृति में अपने 'स्व' की प्रतिष्ठा की और इसी को परम चेतना के नाम से सम्बोधित किया। प्रसाद जी के शब्दों में यह 'विश्व सुंदरी प्रकृति में चेतनता का आरोप' था किन्तु रहस्यवादी कवि प्रकृति और मानव-जगत् की सार्थकता उसके पार्थिव रूप में न मान उस सत्य में मानते थे जो उनके लिए 'अनन्त' था और जिसकी ओर वे संकेत करते थे। रहस्यवादियों की यही भावना पन्त की इन पंक्तियों से व्यक्त हुई है—

'पंकिल जीवन में पंकज सा,
शासित आप यह से ऊपर।
वही सत्य जो आप हृदय से,
शेष शून्य जग का आडम्बर॥
मनः स्वकीया या परकीया,
जन-समाज की है परिभाषा।
काम-सुख औ प्रीति-सुख,
होगी मनुष्यता मुस्का आशा॥"

हिन्दी के काव्य-साहित्य में रहस्यवाद एक ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। इसने प्राचीन विचार-पद्धति के स्थान पर एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया और मानव-मन को विस्मय और एक नवीन वातावरण दिया। इसने मानव के 'स्व' का विस्तार समस्त प्रकृति और प्रकृति से परे विश्व तक किया और विश्व मानवतावाद की प्रतिष्ठा की। दृश्य जगत् के स्थूल उपकरणों में जीवन-तत्त्व की सूक्ष्मता देखने की दृष्टि दी और मानव-अनुभूतियों का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया। इस प्रकार इसने काव्य में जीवन के मौलिक तत्त्वों और सत्यों की अभिव्यक्ति की किन्तु "रहस्यवाद" वास्तव में रहस्यवाद था और उसकी अपनी सीमाएँ थीं। इसने जीवन के गूढ़ रहस्यों को समझा सकता था पर यह सर्वजन-सुलभ न था। जीवन और जगत् की समस्याओं का हल इसमें सम्भव न था। रहस्यवाद ने मानव जीवन के रहस्यों का उद्घाटन कर स्वयं उसे रहस्यमय बना दिया। रहस्यवादियों ने परम सत्य को अज्ञात बतलाया और उसके अज्ञात स्वरूप में ही आनन्द अनुभव किया—

"शून्य मेरा जन्म था, अवसान है मुझको सवेरा,
प्राण आकुल के लिए, संगी मिला केवल अँधेरा।

मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूँ।"

×   ×   ×

"तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा, तुममें ढूँढूँगा पीड़ा,
रहने दो प्यासी आँखें, भरती आँसू के सागर।"

रहस्यवादी कवि को चिर-विरह और पीड़ा में प्रियतम को ढूँढ़ने में आनन्द मि सकता था किन्तु सामान्य जन के लिए यह सम्भव न था। परिणाम-स्वरूप यह काव्य धारा एक सीमित क्षेत्र में ही सिमट कर रह गयी और मनन युग को कोई ऐसी वस् न दे सकी जो उसे शान्ति सन्तोष या उत्थान की ओर अग्रसर करता या व राजनीतिक और सामाजिक संघर्ष के दिनों में उसे मार्ग-प्रदर्शन कर सकता। अतः इसक भी वही स्थिति हुई जो इसके पूर्व छायावाद की हुई थी।

—•—

११

हिंदी का प्रगतिवादी काव्य-साहित्य

प्रगतिवाद

काव्य में प्रगतिवाद एक विशिष्ट राजनीतिक विचारधारा का द्योतक है। यह विचारधारा कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक वस्तुवाद पर आधारित है। मार्क्स और एंजिल्स के 'कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो' के प्रकाशन के पश्चात् समाजवाद को लेकर नई-नई विचारधाराएँ सामने आईं किन्तु उन सबमें मार्क्सवादी विचारधारा ही सर्वाधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई। साहित्य भी इस विचारधारा से अप्रभावित न रह सका।

मार्क्स का प्रगतिवाद वास्तव में सामाजिक व्यवस्था के आर्थिक दृष्टिकोण से सम्बन्धित है। जिस प्रकार विश्व का निर्माण भौतिक पदार्थों के संघटन से सम्भव हुआ उसी प्रकार समाज का निर्माण आर्थिक व्यवस्थाओं से ही सम्भव हुआ। मनुष्य की सामाजिक प्रगति में वस्तुओं के उत्पादन की शक्तियों के विकास पर ही आधारित है। राजनीतिक और सामाजिक प्रगति के मूल में भी यह वस्तु-उत्पादन की शक्ति का प्रभाव ही काम करता है। जिस समाज में वस्तु-उत्पादन की शक्ति जितना अधिक प्रसार में होगी वह समाज राजनीतिक और सामाजिक प्रगति में उतना ही आगे होगा। इस वस्तु-उत्पादन शक्ति की न्यूनाधिकता के कारण ही समाज में आर्थिक विषमता देखी जाती है जो कि एक प्रकार अथवा द्वन्द्वात्मक प्रगति की अवस्था है। इस द्वन्द्व की स्थिति के चरम सीमा पर पहुँचने पर वर्ग-संघर्ष का जन्म हो जाता और एक वर्ग-विहीन समाज का जन्म होता है। इस इतिहास निर्माण में जिस वर्ग-संघर्ष एवं आर्थिक वास्तविकता द्वारा आधुनिक समस्या का निर्माण करती है उसके मूल में भी वर्ग-व्यवस्था ही है। इस वर्ग-व्यवस्था की विषमता ही वर्ग-संघर्ष को जन्म देती सामाजिक उत्क्रान्ति की प्रेरणा भरती और वर्तमान व्यवस्था के प्रति रोष अथवा क्षोभ उत्पन्न कर परिवर्तन का आवाहन करती है। वर्ग-संघर्ष में समस्त मानव-समाज दो भागों में विभक्त हो जाता है। एक वर्ग वस्तु उत्पादक होता है और दूसरा उस वस्तु का उपभोक्ता होता है। प्रथम वर्ग अपनी समस्त शक्ति लगाकर वस्तु उत्पादन के प्रभाव में वृद्धि करता जाता और दूसरा वर्ग उन्हीं उन वस्तुओं पर अधिकार करता जाता है। द्वितीय वर्ग की अधिकार-लालसा और प्रयास प्रथम वर्ग के हृदय में असन्तोष रोष और क्षोभ उत्पन्न करता और इस प्रकार वर्ग-संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। इस संघर्ष का जन्म मानव सभ्यता के विकास के साथ ही हुआ और उसके विकास के माध्यमों के साथ यह संघर्ष भी विभिन्न रूपों में विकसित होता गया। साम्यवाद इस संघर्ष का अन्त कर एक साम्य

वादी समाज की व्यवस्था करना चाहता है। वह ऐसे समाज का निर्माण करना चाहता है जिसमें समान विचारधारा, समान आकांक्षा, समान प्रयत्न, समान सुख भोग साधन, समानाधिकार और समान सुख सुविधाएँ उपलब्ध हों। इस प्रकार का समाज ही प्रगतिवादी समाज होगा।

इस प्रकार के समाज की स्थापना के लिए वर्ग-संघर्ष की अग्नि को निरन्तर प्रज्वलित रखना आवश्यक है। जहाँ संघर्ष नहीं है—शोषित वर्ग शोषकों से समझौता करता है वहाँ शोषित वर्ग को चेतना और प्रेरणा प्रदान कर सशस्त्र क्रान्ति के लिए तैयार किया जाना आवश्यक है। इस संघर्ष की राह में श्रमिकों का शोषण करनेवाले पूँजीपति ही नहीं पर वे वह पुरोहित, पुजारी, मौलवी, पादरी आदि भी हैं जो जनता की अंधश्रद्धा और अन्ध-विश्वास युक्त धर्म भावनाओं से अनुचित लाभ उठाने में संलग्न हैं। वे राजनीतिक नेता भी हैं जो पूँजीवादियों की सत्ता अक्षुण्ण बनाये रखने में ही लोक-कल्याण देखते हैं और पूँजीवादी शासन व्यवस्था के समर्थक हैं। प्रगतिवाद इन सबका विरोधी है। जो साहित्य प्रतिक्रियावादी पूँजीवादी प्रवृत्ति, मनोवृत्ति और व्यवस्था का विरोधी है वही प्रगतिवादी साहित्य है।

जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है कि प्रगतिवादी विचारधारा मूलतः कार्लमार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) पर आधारित है। सर्वप्रथम यूनान में 'डायलेक्टिक' शब्द का प्रयोग उस पद्धति के लिए किया जाता था जिसके द्वारा दो परस्पर विरोधी विचारधारा के विद्वान् शास्त्रार्थ के द्वारा किसी एक निश्चित सत्य तक पहुँचने का प्रयत्न करते थे। एक दूसरे विद्वान् हीगल ने इस शब्द का प्रयोग उस पद्धति के लिए किया जिसके द्वारा उत्पत्ति, विकास और परिवर्तन के सिद्धान्त को समझा जा सकता था। हीगेल के विचार को प्रमुखता देकर बाह्य जगत् को उसी का प्रत्यक्षीकरण मानते थे। उन्होंने इस सिद्धान्त के अनुसार एक निरपेक्ष वस्तु की भी कल्पना की थी। मार्क्स ने हीगेल के उत्पत्ति, विकास और परिवर्तन का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया किन्तु उसने उसकी निरपेक्ष वस्तु की कल्पना स्वीकार न की। इसके साथ ही उसने हीगेल के विपरीत विचार को प्रमुखता न दे बाह्य जगत् को ही प्रमुखता दी। मार्क्स का मत था कि इतिहास की व्याख्या निरपेक्ष वस्तु के आधार पर नहीं पर आर्थिक आधार पर ही सम्भव है। कार्ल मार्क्स की इस धारणा के पूर्व एक जर्मन विद्वान् फायरबाख हीगल के सिद्धान्त के विपरीत भौतिकवाद के सिद्धान्त को जन्म दे चुका था। उसने सृष्टि के विकास में प्रकृति-पदार्थ को प्रथम स्थान दिया और मनुष्य को प्राकृतिक विकास की ही एक कड़ी घोषित किया। वह मनुष्य को चेतन रूप में एक ऐसा प्राणी मानता है जिसमें वातावरण को बदल देने की क्षमता है। मार्क्स की विचारधारा वास्तव में हीगल और फायरबाख के कथन के विरुद्ध पक्षों का एक समन्वय

थी। इसमें हीगल की द्वन्द्वात्मक प्रणाली और फायरबाख के प्रकृतिवाद का समन्वय था। हीगेल और फायरबाख के सिद्धान्तों में 'वर्ग-संघर्ष' का कोई स्थान न था। मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त मार्गन हाल से ग्रहण किया। मार्गन हाल का मत था कि सभ्यता के साथ ही संपत्ति और शोषक और शोषित का जन्म और विकास हुआ। इससे वर्ग-संघर्ष की भावना का जन्म हुआ। उसका मत था कि यदि देश के अर्थ और शासन के सूत्र गरीबों के हाथ में हों तो सदैव के लिए युद्ध की संभावना का अंत हो जाय।

मार्क्स के मतानुसार संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं—स्वीकारात्मक और नकारात्मक। इन दोनों तत्वों के संघर्ष का नाम ही जीवन है जिसका आधार वस्तु (Matter) है। दोनों विरोधी तत्व वस्तु में स्थित हो निरंतर संघर्ष-रत रहते हैं। इसी से चेतना का जन्म होता है। यह चेतना द्वन्द्वात्मक होती है। इसी आधार पर कार्ल मार्क्स के इस सिद्धान्त को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहा गया है।

मानव-विकास के इतिहास के अनुसार मनुष्य आरम्भ में साम्यवादी अथवा समाजवादी था। समाज का प्रत्येक व्यक्ति वस्तु-संग्रह का काम करता था और उस संग्रह पर सबका समान अधिकार होता था। विकास के साथ मनुष्य क्रमशः पशुपालक कृषक आदि बनते गए और इसी के साथ उनमें व्यक्तिगत अधिकार की भावना आयी। इसी भावना ने संघर्ष को जन्म दिया। मनुष्य क्रमशः वन्य से सभ्यतर बनता गया और इसमें वर्ग-संघर्ष की भावना भी बढ़ती गयी। क्रमशः राजा का जन्म हुआ और उनके विस्तार के लिए युद्ध प्रारम्भ हुए। विजयी शासक बने और विजित शासित। इस प्रकार एक ओर धन की न्यूनाधिकता के आधार पर और दूसरी ओर शासन सत्ता के आधार पर मानव-समाज दो वर्गों में विभाजित हो गया। इन दोनों वर्गों के संघर्ष पर ही मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद आधारित था। यही वाद प्रमुख रूप में प्रगतिवाद का मूल आधार है। मार्क्स की इस विचारधारा के अनुसार आज संसार के समस्त राष्ट्र भी दो वर्गों में विभाजित हैं। एक वर्ग आर्थिक विषमता अथवा वर्ग-संघर्ष का अन्त कर संसार में साम्यवादी समाज व्यवस्था को जन्म देना चाहता है और दूसरा दल पूँजीवादी समाज व्यवस्था के द्वारा वर्ग-संघर्ष का [illegible] या यथावत् बनाए रखना चाहता है। हम प्रथम दल को एक बड़ी सीमा तक साम्यवादी दल भी कह सकते हैं। इस विचारधारा का समर्थक और प्रचारक साहित्य ही "प्रगतिवादी साहित्य" है।

प्रगतिवाद के मूलाधार

प्रगतिवाद के अन्तर्गत हम मुख्यतः ये बातें देखते हैं। प्रगतिवाद जीवन के प्रति एक ऐसा दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है जो सर्वथा वैज्ञानिक है। द्वितीय यह धन को ही समस्त विषमताओं का आधार मानता है और उसके समान विभाजन पर ही बल देता है।

तृतीय प्रगतिवाद का दृष्टिकोण पूर्णतः भौतिकवाद पर आधारित है। उसका ईश्वर आत्मा आदि दार्शनिक भावनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः पूंजीवाद साम्राज्यवाद आदि प्रतिक्रियावाद तत्वों को नष्ट कर समाजवाद की स्थापना करना ही उसका लक्ष्य है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह प्रतिक्रियावादी तत्वों से निर्मित अथवा आबद्ध सब नैतिक धार्मिक सामाजिक राजनीतिक एवं साहित्यिक परम्पराओं का विरोध करना आवश्यक समझता है। चतुर्थ वह कला को अभिव्यक्ति का एक साधन मात्र मानता है और साहित्य में उसका सरलतम रूप अपनाने पर बल देता है। पंचम साहित्य में वह समाज को विशेष महत्व प्रदान करता है और व्यक्ति पर उसके नियन्त्रण की आवश्यकता अनुभव करता है।

प्रगतिवादी साहित्य का जन्म और विकास

प्रगतिवादी साहित्य का जन्म सर्वप्रथम सन् १९०७ में इटली में हुआ जबकि मारनेटि ने "भविष्यवाद" नामक एक नवीन विचारधारा को जन्म दिया। उसने कहा कि संसार अब एक नये रूप में परिवर्तित हो चुका है। सामाजिक व्यवस्था-सम्बन्धी मान्यताएँ बदल चुकी हैं। अतः उसके साहित्य की मान्यताएँ अपरिवर्तित नहीं रखी जा सकतीं। उसके मूल्य और मापदंड में भी नवीन दृष्टिकोण आवश्यक है। उसने रूढ़िवादी विचारों का ही विरोध नहीं किया पर साहित्यिक परम्पराओं में भी अभूतपूर्व परिवर्तन की घोषणा कर दी। शब्दों की शृंखला भंग कर दी गयी और व्याकरण के नियमों को तिलांजलि दे दी। उसने कहा कि अब शब्द और कथन में सौन्दर्य व्यक्त न कर अंकों में दिया जाना चाहिए। उसकी इस विचारधारा से साहित्य की प्राचीन मान्यताओं के स्थान पर नई मान्यताएँ स्थापित होने लगीं। कुछ समय के पश्चात् मारनेटि का भविष्यवाद दो विचारधाराओं में विभक्त हो गया। एक विचारधारा के अनुसार वर्तमान मानव समाज के भविष्य-दर्शन का सिद्धान्त स्थिर हुआ और दूसरी विचारधारा मानव-महत्तावाद का प्रतिपादन करने लगी।

सन् १९१९ में प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त होने के पश्चात् रूस से जारशाही का अन्त हो गया और उसके स्थान पर मार्क्सवादी बोलशेविक दल की सत्ता स्थापित हो गयी। इस समय तक काव्य में रूप को ही अधिक महत्व दिया जाता था किन्तु इसके पश्चात् ही रूसी काव्य जगत् में यथार्थवाद का जन्म हुआ। फ्रेंच साहित्य में प्रकृतिवाद की प्रधानता थी। रूस की क्रान्ति का विश्व पर गहरा प्रभाव पड़ा। रूस में नयी सत्ता स्थापित हुई थी जिसको उसे लोकप्रिय बनाना आवश्यक था। वहाँ के साहित्यिकों ने मार्क्सवादी बोलशेविज्म को अपने साहित्य का मूलाधार बना उसका प्रचार आरम्भ किया। इस साहित्य ने सामान्य जनता के हृदय में राजसत्ता प्राप्त करने की अभिरुचि उत्पन्न की। रूसी साहित्य द्वारा आर्थिक वैषम्य दूर कर वर्गहीन समाज की स्थापना की

भावनाओं का प्रचार होने लगा। सन् १९१२ के लगभग रूसी साहित्यकारों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। वे श्रमिकों में क्रान्ति की भावना जागृत करना चाहते थे। उन्होंने साहित्य में एक नये वाद को जन्म दिया जो सामाजिक यथार्थवाद के नाम से प्रसिद्ध है। मार्क्सवादी विचारधारा इस वाद के अधिक अनुकूल थी अतः रूसी साहित्यकार इसी धारा के प्रचार में लग गये।

इसी समय रूसी शासन ने देश के आर्थिक विकास के लिए कुछ योजनाएँ बनायीं और साहित्यकारों से इन योजनाओं को लोकप्रिय बनाने में योग देने का आग्रह किया। साहित्यकारों के विविध संघ इन योजनाओं के प्रचार में लग गये। अन्य प्रकार का साहित्य-सृजन निषिद्ध हो गया।

सन् १९१ के पश्चात् अंग्रेजी साहित्य में भी मार्क्सवादी विचारधारा का प्रवेश हो गया। वहाँ के कवि उच्चवर्गीय जनता के मनोरंजन के लिए साहित्य का निर्माण न कर जन-सामान्य के जीवन से सम्बन्धित साहित्य का निर्माण करने लगे। उन्होंने पूँजीवादी शोषण के विरुद्ध विद्रोह का झंडा फहराया और श्रमिकों में विद्रोहात्मक नवीन भावनाएं जागृत कीं।

हिन्दी-काव्य में प्रगतिवाद

सन् १९१९ की रूसी क्रान्ति से भारत भी अप्रभावित न रह सका। एक ओर अंग्रेजी शासन का दमनचक्र तीव्र गति से घूम रहा था और दूसरी ओर यहाँ का पूँजीवादी वर्ग श्रमिकों के शोषण में निरत था। समाज के उच्चवर्ग के सामाजिक अत्याचार निम्नवर्ग पर पूर्ववत् चल रहे थे। यहाँ के साहित्यकारों से यह स्थिति छिपी न थी और वे सामान्य जनता को शासकों, पूँजीपतियों एवं समाज और धर्म के ठेकेदारों के अत्याचारों से मुक्त करने के लिए चिन्तित थे। सन् १९२७ में कुछ भारतीय तरुणों ने यहाँ साम्यवादी दल की स्थापना की और उसके मार्क्सवादी सिद्धान्तों का प्रचार आरम्भ किया। हिन्दी काव्य-साहित्य छायावाद और रहस्यवाद की भावनाओं को लेकर आगे बढ़ रहा था। इन दोनों काव्य-धारा का आधार व्यक्तिवाद था अतः यह काव्यधारा मार्क्सवादी विचारधारा के अनुकूल न थी। मार्क्सवादी साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव से तत्कालीन कवि और साहित्यकार प्रभावित होने लगे और हिन्दी-साहित्य में नयी विचारधारा का आभास मिलने लगा। १९३५ में प्रगतिशील लेखक-संघ की स्थापना हुई और इसका प्रथम अधिवेशन बड़ी धूम-धाम से अंग्रेजी के प्रसिद्ध साहित्यकार ई० एम० फारेस्टर की अध्यक्षता में पेरिस में हुआ। दूसरे वर्ष डाक्टर मुल्कराज आनन्द तथा सज्जाद जहीर के प्रयत्न से भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ स्थापित हुआ और इसका प्रथम अधिवेशन बाबू प्रेमचन्द की अध्यक्षता में लखनऊ में हुआ। प्रेमचन्द जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा—

"हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिन्तन हो स्वाधीनता का भाव हो सौन्दर्य का सार हो सृजन की आत्मा हो जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो—जो हममें गति संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।

बाबू प्रेमचन्द गांधीवादी से आदर्शोन्मुख यथार्थवादी बन गये और हिन्दी के अन्य साहित्यकार उनके अनुकरण पर साहित्य सृजन करने लगे। सन् १९३८ में प्रगतिशील लेखक संघ का द्वितीय अधिवेशन डा॰ रवीन्द्रनाथ की अध्यक्षता में हुआ। इसी बीच श्री सुमित्रानन्दन पन्त और नरेन्द्र शर्मा ने कालाकांकर से "रूपाभ" नामक मासिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया और इसमें प्रगतिवादी रचनाएँ प्रकाशित होने लगीं। इसके पश्चात् काशी के "हंस" ने प्रगतिवादी रुख अपनाया और सन् १९४१ में श्री शिवदान सिंह चौहान के 'हंस' के सम्पादक होने पर वह पूर्णरूपेण प्रगतिवादी पत्र बन गया। इसी समय पन्त जी की "युगवाणी" प्रगतिवादी विचारधारा को लेकर प्रकाशित हुई और पन्त जी ने घोषणा की—

रक्त स्नात साम्राज्यवाद का ले नयनों में शासन।
पूँजीवाद निशा भी है होने को आज समापन॥

पन्त जी प्रारम्भ से ही एक प्रतिनिधि कवि रहे हैं। छायावाद और रहस्यवाद के पश्चात् पन्त जी ही एक प्रगतिवादी कवि के रूप में सर्वप्रथम हिन्दी काव्य क्षेत्र में आये और अन्य कवि उन्हीं के पथ-प्रदर्शन में विकसित हुए। पन्त जी ने कहा

आज सत्य शिव सुन्दर केवल वर्गों में है सीमित।
ऊर्ध्व मूल संस्कृति को होना अधोमूल है निश्चित॥

कवि ने ग्राम देवता को प्रणाम करते हुए कहा—

राम राम—
हे ग्राम्य देवता, यथा नाम, ।
शिक्षक हो तुम, मैं शिष्य तुम्हें सविनय प्रणाम।
विजया, महुआ, ताड़ी, गाँजा पी सुबह शाम,
तुम समाधिस्थ नित रहो तुम्हें जग से न काम।
पंडित पंडे, ओझा, मुखिया और साधु सन्त
दिखलाते रहते तुम्हें स्वर्ग अपवर्ग पन्थ।

पन्त जी की 'ग्राम्या' ग्राम के विविध रूपों को प्रतिबिम्बित करती है। इसी समय रूसी क्रान्ति और रूस से सम्बन्धित अनेक कविताएँ प्रकाशित हुईं। रूस की प्रत्येक वस्तु प्रगतिवादी कवियों के लिए एक आदर्श बन गयी और उन्होंने रूस को

ही समस्त शोषित जनता का भ्राता मान लिया। श्री नरेन्द्र शर्मा ने रूस के शत्रुओं को मानवता का शत्रु घोषित किया —

खास रूस का दुश्मन साथी दुश्मन सब इन्सानों का।
दुश्मन है सब मजदूरों का दुश्मन सभी किसानों का।।

नरेन्द्र शर्मा की तरह श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन' तथा कुछ अन्य कवियों ने भी रूस से सम्बन्धित कविताएँ लिखीं। इन रचनाओं में समाज के स्वरूप में परिवर्तन करने की प्रेरणा और जोश था किन्तु भारतीयता का सर्वथा अभाव था। ऐसा जान पड़ता था मानों कि हिन्दी के प्रगतिवादी कवि रूस के गुणगान करने में ही भारत में साम्यवादी शासन स्थापित करने तथा भारतीय किसान मजदूरों का उद्धार करने का स्वप्न देख रहे हों। इन प्रगतिवादी कवियों ने भारतीय भावनाओं में पोषित सभी वस्तुओं को नयी दृष्टि से देखना आरम्भ किया। पन्त जी ने नारी के सम्बन्ध में कहा कि आधुनिक भारतीय नारी सब कुछ हो सकती है किन्तु वह नारीत्व की भावना से दूर जा पड़ी है अतः वह नारी नहीं हो सकती —

तुम सब कुछ हो फूल, लहर, तितली, विहगी मार्जारी।
आधुनिक, तुम नहीं अगर कुछ नहीं सिर्फ तुम नारी।।

आगे चलकर पन्त जी ने नारी के प्रति पुरुष का स्वाभाविक प्रेम होना स्वीकार करते हुए कहा कि पुरुष का यह प्रेम तो स्वाभाविक है परन्तु उसमें नारी के प्रति प्रकट कर के प्रेम व्यक्त करने का साहस नहीं है क्योंकि उसके प्रेम में पवित्रता का अभाव है इसीलिए उसने अपने हृदय की प्रेम के नाम पर व्यक्त की वासनामयी अनुचित भावना को गोपनीयता के आवरण में छिपाकर रखा है। वे मनुष्य को धिक्कारते हुए कहते हैं —

धिक् रे मनुष्य, तुम स्वच्छ स्वस्थ निश्छल चुम्बन
अंकित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर ?
मन में लज्जित जन से शंकित चुपके गोपन
तुम प्रेम प्रकट करते हो नारी से, कायर।

प्रगतिवादी कवियों की रूस भक्ति के स्वर अधिक दिनों तक मुखरित न रह सके। उनका ध्यान भारत के दुःखी श्रमिकों ग्रामों और खेतों की ओर आकर्षित हुआ और उन्होंने प्रगतिवादी दृष्टिकोण से इनकी अभिव्यंजना आरम्भ की। उनकी रचनाओं में प्रकृति के माध्यम से अनेक सामाजिक विषमताएँ व्यक्त हुईं। इस प्रकार प्रगतिवादी युग में कुछ प्रकृति के सुन्दर चित्र भी चित्रित हुए, किन्तु इन चित्रों के चित्रण में सौन्दर्य भावना के स्थान में बुद्धि का ही अधिक भाग रहा।

इसी समय बंगाल में मानवता को लज्जित करने वाला दुर्भाग्यदायक अकाल पड़ा जिसने हिन्दी के प्रगतिवादी कवियों का ध्यान सहसा अपनी ओर आकर्षित किया। अधिकांश कवियों ने अकाल पीड़ित जनता की दुर्दशा पर करुणार्द्र हो आँसू बहाये और गहरी संवेदना व्यक्त की। प्रगतिवादियों ने इसे पूंजीवाद का अभिशाप कहा। इस प्रकार पर लिखी श्री केदारनाथ अग्रवाल की कुछ पंक्तियाँ देखिये—

शर्म से आँखें न उठतीं,
रोष से छाती धधकती,
और अपनी दासता का—
शूल उर को छेदता है,
बाप बेटा बेचता है।

प्रगतिवादी काव्य में भावनाएँ रहीं, प्रेरणाएं रहीं, किन्तु काव्य सौन्दर्य का अभाव रहा। *'युगवाणी' और 'ग्राम्या'* पन्त जी की प्रतिनिधि प्रगतिवादी रचनाएं हैं। इन दोनों कृतियों में प्रगतिवाद के सिद्धान्तों के प्रतिपादन के अतिरिक्त ग्राम्य जीवन के विविध चित्र भी प्रगतिवादी दृष्टिकोण से चित्रित हुए हैं। किन्तु इनकी अधिकांश रचनाएँ विचारात्मक ढंग की होने से उनमें काव्य-सी सरसता दिखायी नहीं देती। दूसरे इन रचनाओं में बुद्धि-पक्ष अधिक और हृदय-पक्ष कम है। कुछ पंक्तियाँ गद्य-सी ही *जान पड़ती हैं। 'स्वर्ण-धूलि' और 'स्वर्ण-किरण' निश्चय ही पन्त जी की अधिक* सुन्दर काव्य-कृतियाँ हैं। इनमें पन्त जी ने बहिर्चेतना और अन्तर्चेतना का समन्वय बड़ी सुन्दरता से उपस्थित किया। पन्तजी की प्रगतिवादी रचनाओं में हमें स्थान-स्थान पर सुन्दर सामाजिक व्यंग्य मिलता है। "तितली के प्रति" पन्त जी की ऐसी ही एक व्यंग्यात्मक रचना है जिसमें उन्होंने मध्यवर्गीय नारी के जीवन पर व्यंग्य किया है। काव्य की दृष्टि से पन्त जी का 'युगवाणी' 'ग्राम्या' 'स्वर्ण-धूलि' और 'स्वर्ण-किरण' उनके काव्य के प्रगतिवादी विकास के चार क्रमबद्ध सोपान जान पड़ते हैं।

पन्त जी के पश्चात् प्रगतिवादी कवियों में श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' विशेष उल्लेखनीय हैं। दिनकर जी की अधिकांश रचनाएँ भारतीय राष्ट्रीयता और संस्कृति के चित्रों से ही पूर्ण हैं। कहीं वे अतीत भारतीय गौरव के चित्र उपस्थित कर भारतीयों के हृदय में पूर्व गौरव जाग्रत करने का प्रयत्न करते, कहीं वे सहानुभूति व्यक्त करते और शोषण-कर्ताओं के प्रति रोष व्यक्त करते और कहीं देश की दयनीय स्थिति को बदलने के लिए ध्वंसात्मक क्रान्ति का आवाहन करते दिखाई देते हैं। दिनकर जी की दृष्टि में अन्तर्राष्ट्रीयता का महत्त्व भी कम नहीं है, पर वे राष्ट्रीयता का मूल्य अन्तर्राष्ट्रीयता से अधिक मानते हैं। वे अपनी अनेक रचनाओं में एक महान् क्रान्तिकारी के रूप में उपस्थित होते हैं किन्तु वे हिंसा के समर्थक नहीं हैं। उदाहरणार्थ

दुरूपण देखा जा सकता है। दिनकर जी के क्रान्ति के स्वर बड़े शक्तिशाली और प्रभावपूर्ण हैं। उनके उदात्त हृदय का विद्रोह बोलता है। उदाहरणार्थ उनकी "हिमालय के प्रति" रचना की निम्नांकित पंक्तियां देखिए—

तू मौन त्याग कर सिंहनाद
रे तपी आज तप का न काल।
नवयुग शंखध्वनि जगा रही
तू जाग जाग मेरे विशाल॥
मेरी जननी के हिम – किरीट,
मेरे भारत के दिव्य भाल।
नवयुग शंखध्वनि जगा रही
जागो नगपति, जागो विशाल॥

दिनकर जी भारतीय प्रगतिवादी विचारधारा के प्रबल समर्थक हैं किन्तु राजनीतिक दृष्टि से वे किसी दल विशेष का समर्थन स्वीकार नहीं करते। वे भारतीय राष्ट्रीयता के प्रबल समर्थक और प्रचारक थे। निम्नांकित पंक्तियों में उनकी राष्ट्रीयता के उदात्त स्वरों में दिखते हैं—

सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।
दो राह समय के रथ का घर्घर नाद सुनो
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।
सदियों से ठंढी बुझी आग सुगबुगा उठी
मिट्टी सोने का ताज पहन इठलाती है।
दो राह समय के रथ का घर्घर नाद सुनो
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।

इन पंक्तियों में वे एक विप्लव चमत्कारी कवि के रूप में उपस्थित हुए हैं। उनके काव्य में जनवादिता के दो रूप मिलते हैं। एक ओर शोषित और दैन्य दलित जनता की चीत्कार और दूसरी ओर उदात्त मानवता की हुंकार है। कवि ने इन दोनों जनवादी रूपों का बड़ा सक्षम प्रतिनिधित्व किया है।

अन्य प्रगतिवादी कवियों में नरेन्द्र शर्मा शिवमंगलसिंह सुमन रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' केदारनाथ अग्रवाल भारतभूषण अग्रवाल रांगेय राघव सुरेन्द्रकुमार श्रीवास्तव नेमिचन्द्र जैन नागार्जुन त्रिलोचन आदि मुख्य हैं।

श्री नरेन्द्र शर्मा अपनी प्रगतिवादी रचनाओं में भावुकता के प्रति सचेष्ट सावधान दिखाई देते हैं। उनकी रचना-शैली सरल-सुबोध और प्रभावात्मक ढंग की है। डा० शिवमंगल सिंह "सुमन" का दृष्टिकोण बहुत व्यापक है। उनमें राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय

घटना-चक्रों का सदैव ध्यान रखा है। काव्य-रचना करते समय उन्हें सदैव लोक-कल्याण का ध्यान रहता है। उनकी रचनाओं में शक्ति और उत्साह की प्रेरणा है। 'मास्को अब भी दूर है' या सुमन की बड़ी भावप्रिय रचना है। लोक-प्रचलित मुहावरेदार भाषा का प्रयोग उनकी विशेषता है। सुमन जी की प्रगतिवादी रचनाओं में शोषित और दमित जनता के दुख-दर्द की अभिव्यंजना बड़े सबल स्वरों में हुई है। उन्होंने सामाजिक विषमताओं के प्रति भी रोष प्रकट किया है। श्री केदारनाथ अग्रवाल ने अपनी रचनाओं में निम्न और मध्यवर्ग के जीवन के बड़े सुन्दर चित्र उपस्थित किए हैं। किसान मजदूर और दलितों का जीवन ही उनकी रचना के मुख्य विषय हैं। कुछ रचनाओं में उच्चवर्गीय जनता तथा शासक वर्ग पर भी व्यंग्य मिलता है। उन्होंने अपनी अधिकांश रचनाओं में भावपक्ष को ही प्रधानता दी है।

छायावाद की विशेषता उसकी कल्पना-जन्य अन्तर्दृष्टि और प्रगतिवाद की विशेषता सामाजिक यथार्थवादिता है। प्रगतिवादी कवि जो देखता है, वह इसी दृष्टि से देखता है। 'ग्राम्या' का कवि कहता है—

"देख रहा हूँ आज विश्व को, मैं ग्रामीण नयन से
सोच रहा हूँ जटिल जगत पर, जीवन पर जन-मन से।

कवि इस संघर्षमय युग में शान्ति बनकर अन्धकार की क्रान्ति के रूप में योग को अभिलषित है—

"संघर्षों में शान्ति बनूँ मैं
अन्धकार में पड़े जीवन के
अन्धकार की क्रान्ति बनूँ मैं।"

इन्हीं दिनों श्री निराला जी ने भी प्रगतिवाद के प्रभाव से कुछ गीत और रेखा चित्र लिखे पर साहित्य-जगत् उनकी ओर अधिक आकृष्ट न हो सका। उनका एक प्रगतिवादी रेखाचित्र देखिए—

"सड़क के किनारे दूकान है
पान की। दूर इक्कादान है
घोड़े का पाँव ठोकता हुआ
पारचकरा एक बच्चे का दुआ
दे रहा है। पीपल की डाल पर
कूक रहा है कोयल। भाल पर
मसगाड़ा पक्षी आ रहा है।
नीम फूला है खुशबू आ रही है,

डालों से छन छनकर राह पर।
किरणें पड़ रही हैं बाट पर
भार लिए आ रहा है खेत में
दाहिनी तरफ किसान। रेत में
बाईं तरफ चिड़ियाँ कुछ बैठी हैं,
सुखी बड़े सिरसे की पैंठी हैं।"

निराला जी की 'नये पत्ते' 'यमुना के प्रति' 'सरस्वती' आदि रचनाएँ भी प्रगतिवादी-युग की ही देन हैं। सरस्वती की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

'ऐसे चाह चाह की पोथा बजा सुहाई,
पौधों का रागिनी सजाव सखी सुखदाई।
सुख के आँसू दुखी किसानों की जाया के
भर आये आँखों में खेती की माया के।
हरी भरी खेतों की सरस्वती लहराई
मग्न किसानों के घर उन्मद बजी बधाई।"

कवि-कल्पना निश्चय ही अनूठी है, पर इसमें वह काव्य-सौष्ठव नहीं है, जो पन्त जी की आध्यात्मिक क्षितिज पर उड़ती हुई जन-जीवन पर दृष्टिपात करनेवाली कल्पना में रही है।

दिनकर की 'रेणुका' और 'हुंकार' भी प्रगतिवादी युग की ही रचनाएँ हैं। इनमें इन्होंने देश-प्रेम की उद्दीप्त भावना के साथ ही जन-जीवन का प्रगतिवादी दृष्टिकोण बड़ी सुन्दरता से प्रकट किया है। कवि कहता है—

"आज न उडु के नीलकुञ्ज में स्वप्न खोजने जाऊँगा।
आज चमेली में न चन्द्र किरणों से चित्र बनाऊँगा॥"

अब वह सौन्दर्य के स्नेहसिक्त अंचल को छोड़कर जन-जीवन के संघर्ष की कठोर भूमि पर आ गया है और वासुकी के सहस्र फनों से क्रान्ति का मस्तक उठाने को आतुर है—

"मेरे मस्तक के छत्र मुकुट, वसु-काल सर्पिणी के शत फन,
मुझ चिर कुमारिका के ललाट में, नित्य नवीन रुधिर चंदन।"

'कुंकुम' नवीन जी की भी प्रगतिवादी युग की कविताओं का संग्रह है। उनकी अधिकांश कविताएँ देश-प्रेम की उदात्त भावनाओं से परिपूरित हैं पर दिनकर की तरह उनकी रचनाओं में भी प्रगतिवादी तत्वों की न्यूनता नहीं है—

"विजय नहीं रण के प्रांगण की, धूल बटोरे लाया हूँ,
हिय के घावों में यादों के चिथड़ों को ले आया हूँ।"

सिंहावलोकन

प्रगतिवाद के नाम पर जो रचनाएँ सामने आयीं उन्हें देखकर भिन्न भिन्न आलोचकों ने उन पर भिन्न भिन्न मत व्यक्त किये। किसी ने प्रगतिवादी दृष्टिकोण को एकांगी कहा, किसी ने उन्हें धर्म-सम्बन्धी भारतीय मान्यताओं के विपरीत कहा, किसी ने उसे भारतीय समाज के केवल असत् रूप का चित्रण करनेवाला कहा और किसी ने शोषित वर्ग के प्रति उसे मौखिक सहानुभूति प्रकट करनेवाला कहा। कुछ आलोचकों ने यह मत व्यक्त किया कि प्रगतिवादी साहित्य को चिरंतनता पर विश्वास नहीं करता और उसका चरम लक्ष्य केवल शारीरिक और आर्थिक भूख ही है। प्रगतिवादी नारी का केवल उपभोग्य रूप ही मानते हैं। उनका कोई आदर्श नहीं है आदि। इन आक्षेपों में से कुछ में किसी सीमा तक कुछ सत्यता भले ही हो पर इनमें से कोई भी मत पूर्णतः सत्य नहीं कहा जा सकता। प्रगतिवाद में कुछ दोष हो सकते हैं पर यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इसने हिन्दी साहित्य को जो देन दी है वह कम मूल्यवान् नहीं है। प्रगतिवादी साहित्य ने नवीन समस्याओं के अपनी दृष्टि से नवीन हल प्रस्तुत किये हैं। इसने प्राचीन और नवीन विचारधाराओं की तुलना कर जो निष्कर्ष उपस्थित किये हैं वे भी जीवन-दर्शन की नयी दिशा की ओर संकेत करनेवाले हैं। इस साहित्य ने धर्माधिक प्रधानता का विरोध किया, प्राचीन रूढ़ियों पर आघात किया, धर्म-विषयक संकीर्णता को मिटाने का प्रयत्न किया और इस प्रकार यह साहित्य जीवन के यथार्थ रूप के प्रत्यक्षीकरण में सहायक हुआ। प्रगतिवादी कवियों ने ऐसी रचनाएँ भी प्रस्तुत कीं जो देश के राष्ट्रीय जागरण में सहायक सिद्ध हुईं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस सम्बन्ध में लिखा था—'इनके सिद्धांत और उद्देश्य बहुत सुन्दर हैं लेकिन ये लोग कम्युनिस्ट पार्टी के साथ जुड़ गए हैं। अगर ये लोग दल द्वारा परिचालित होना छोड़ दें तो सब ठीक हो जाय। प्रगतिशील आंदोलन महान् उद्देश्य से चालित है। यदि इसमें साम्प्रदायिक भाव का प्रवेश न हुआ तो इसकी संभावनाएँ अत्यधिक हैं। भक्ति-आन्दोलन के समय जिस प्रकार एक अदम्य दृढ़ आस्था स्थायी पोथी-पत्रों को समाज के नव जीवन दर्शन से चालित करने का संकल्प लेने के कारण सर्वप्रियता के रूप में प्रकट हुई थी उसी प्रकार यह आन्दोलन हो सकता है।

बाबू गुलाबराय ने प्रगतिवाद की महत्ता स्वीकार करते हुए कहा है—"प्रगतिवाद हमको स्वार्थ-परायण व्यक्तिवाद से हटाकर समष्टिवाद की ओर ले गया है। उसने लेखकों को स्वप्नान्वेषी पथभ्रष्ट नहीं रखा है।" आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी प्रगतिवाद के कड़े आलोचकों में से एक हैं। पर उन्होंने भी यह स्वीकार किया है कि 'साहित्य के

सामाजिक लक्ष्यों और उद्देश्यों का विज्ञापन करनेवाली यह पद्धति साहित्य का बहुत उपकार भी कर सकी है। इसने हमारे युवकों को एक नई तेजस्विता प्रदान की है और एक नया आत्मबल भी मिला है। उन्होंने प्रगतिवादी समीक्षा के सम्बन्ध में कहा है— 'इस समीक्षा में मुख्य रूप से दो वस्तुएँ ली हैं। प्रथम यह कि काव्य साहित्य का सम्बन्ध सामाजिक वास्तविकता से है और वही साहित्य मूल्यवान है जो उक्त वास्तविकता के प्रति सजग और सम्वेदनशील है। द्वितीय यह कि जो साहित्य सामाजिक वास्तविकता से जितना ही दूर होगा वह उतना ही काल्पनिक और प्रतिक्रियावादी कहा जायगा। न केवल सामाजिक दृष्टि से वह अनुपयोगी होगा साहित्यिक दृष्टि से भी हीन और ह्रासोन्मुख होगा। इस प्रकार साहित्य के क्षेत्र में अथवा एक नई मानरेखा, एक नया दृष्टिकोण इस पद्धति ने हमें दिया है जिसका उचित प्रयोग हम करेंगे।

प्रगतिवादी साहित्य छायावादी और रहस्यवादी साहित्य की तरह केवल काव्य तक ही सीमित नहीं रहा। इस वाद का प्रभाव उपन्यास, कहानी, निबन्ध और आलोचना साहित्य तक परिलक्षित होता है। पन्त जी, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, रांगेय राघव, कृष्ण चन्द्र, नागार्जुन, अश्क, बेनम, भारती, राहुल सांकृत्यायन, अमृतलाल नागर, राजेन्द्र यादव, मन्मथनाथ गुप्त आदि प्रमुख प्रगतिवादी उपन्यासकारों के अतिरिक्त यशपाल, अश्क आदि के भी नाम लिये जा सकते हैं। डा० भगवतशरण उपाध्याय, डा० राम विलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, यशपाल, रांगेय राघव, कन्हैयालाल, राहुल, प्रेम आदि प्रमुख प्रगतिवादी निबन्धकार हैं। प्रगतिवादी आलोचकों में डा० रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, चन्द्रबली सिंह, नामवर सिंह आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।



हिंदी-काव्य-साहित्य में प्रयोगवाद

पृष्ठभूमि

सन् १९३६ में हिन्दी-काव्य-साहित्य का छायावादी युग समाप्त हुआ और उस समय की सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति ने प्रगतिवादी-युग का सूत्रपात किया। यह ऐसा काल था जिसमें एक ओर राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए देश व्यापी संघर्ष चल रहा था और दूसरी ओर बेकारी तथा अन्नाभाव से सर्वसामान्य जनता में असंतोष फैल रहा था। परिणाम-स्वरूप पूंजीपतियों और मजदूरों में संघर्ष विकसित होता जा रहा था। प्रगतिवादी कवियों ने शोषितों का पक्ष ग्रहण किया और रचनाओं में शोषितों, दलितों एवं अन्य सामान्य जनता की वाणी मुखरित होने लगी। इससे पूंजीवादी चिंतित हो उठे। पूंजीवाद के संकेत पर प्रगतिवादी साहित्य पर अनेक आरोप लगाये गये किन्तु इससे प्रगतिवादी साहित्य की प्रगति न रुकी। प्रगतिवादी साहित्य से श्रमिकों में जो चेतना आ गई थी, उसका अंत न हो सका। प्रगतिवाद को रोकने के लिए अभिव्यंजनावाद, प्रतीकवाद स्वच्छंदतावाद आदि का जन्म हुआ, किन्तु इनमें से कोई भी वाद अपने उद्देश्य में सफल न हो सका। इसी समय हिन्दी के कवियों का प्रगतिवाद की ओर से ध्यान हटाने के लिए एक नयी काव्यधारा सामने आई। यही काव्यधारा हिन्दी काव्य-साहित्य में 'प्रयोगवादी काव्य धारा' के नाम से प्रसिद्ध है। यह काव्य पद्धति एक यूरोपीय काव्य-पद्धति का अनुकरण मात्र थी। यूरोप में इस काव्यधारा का जन्म प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात् टी० एस० इलियट के द्वारा हुआ।

प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात् समस्त यूरोप की शासन-व्यवस्था विशृंखलित हो गई थी। वहाँ से पूंजीवाद भी सत्ता समाप्त हो रही थी और रूस की जारशाही की समाप्ति के पश्चात् वहाँ का सर्वहारा वर्ग जो क्रांति कर रहा था उसका प्रभाव सर्वव्यापक बन रहा था। इंग्लैंड, फ्रांस जर्मनी आदि देशों पर इस क्रान्ति के परिणाम-स्वरूप साम्यवाद का प्रभाव बढ़ता जा रहा था अतः वहाँ के पूंजीवादियों ने कुछ साहित्यकारों को खरीदकर उनके द्वारा एक ऐसी काव्यधारा का आविर्भाव कराया जो प्रगतिवादी अथवा साम्यवादी विचारधारा की विरोधिनी थी। इस काव्यधारा का जन्म नये प्रयोग और नये टेकनिक को लेकर हुआ था। इसमें मानव-जीवन की समस्याओं का कोई स्थान न था। टी० एस० इलियट इसी काव्यधारा के जनक थे। प्रसिद्ध आंग्ल आलोचक आई० ए० रिचर्ड्स ने इस काव्यधारा के विकास में पर्याप्त सहायता

की। टी० ई० ह्यूम ने काव्य के भावी स्वरूप की भविष्यवाणी करते हुए कहा था कि भविष्य में काव्य का स्वरूप क्रमशः अधिक अस्पष्ट होता जायेगा और बहुत कम लोग उससे आनन्दित हो सकेंगे। यह वह काल था जब हिन्दी-काव्य-साहित्य में छायावाद का विकास हो रहा था। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् भारत की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति भी यूरोप की प्रथम विश्वयुद्धोत्तर काल सी हो गई थी। यहाँ के पूँजीपतियों ने भी यूरोपीय पूँजीपतियों के द्वारा गृहीत साधन अपनाए और पूँजीवाद की रक्षा का असफल प्रयत्न किया। प्रयोगवादी काव्यधारा एक बहुत बड़ी सीमा तक इसी प्रयत्न का परिणाम है। हिन्दी की प्रयोगवादी काव्यधारा लगभग पंद्रह वर्षों से हमारे सामने है किन्तु आज भी यह नवीन टेकनिक की परिधि से आगे बढ़ती दिखाई नहीं दे रही है।

हिन्दी में प्रयोगवाद की परम्परा

हिन्दी-काव्य के लिए प्रयोगवाद कोई नई वस्तु नहीं है। हम इसे प्रगतिवाद की तरह पश्चिम की देन नहीं मानते। हिन्दी-काव्य-जगत् में आदिकाल से ही नये-नये प्रयोग होते रहे हैं। कबीर सम्भवतः हिन्दी के सबसे बड़े प्रयोगवादी कवि थे। उन्होंने न केवल नवीन विषयों में वरन् काव्य-शैली में भी अनेक सफल प्रयोग किए थे। उनकी विचारधारा भी कम प्रयोगवादी न थी। कबीर ने अपने काल की राजनीतिक सामाजिक और धार्मिक स्थिति को देखते हुए हिन्दी काव्य को जो विचारधारा प्रदान की, वह उनका एक क्रान्तिकारी प्रयास था। इसी प्रकार उन्होंने पूर्ववर्ती कवियों के वर्ण्य विषयों को तत्कालीन स्थिति के लिए अनावश्यक समझ युगानुकूल नवीन विषयों पर नई काव्य-शैली में काव्य-रचना की। कबीर इन प्रयोगों में इतने सफल हुए कि उनका प्रभाव शताब्दियों तक हिन्दी-काव्य-साहित्य पर रहा। सूर और तुलसी के द्वारा सगुणधारा काव्य की प्रतिष्ठा हुई किन्तु इन दोनों महाकवियों के काव्य की व्यापक सत्ता स्थापित होने के पश्चात् भी कबीर की काव्य-शैली का प्रभाव कम न हो सका।

महाकवि सूरदास और गोस्वामी तुलसीदास भी कम प्रयोगवादी न रहे। सूर का विषय-विस्तार और पद-लेखन-शैली भी हिन्दी-काव्य-साहित्य का एक प्रयोग ही था। सूर ने वात्सल्य रस की जो सर्वांगपूर्ण प्रतिष्ठा की वह उनका सबसे बड़ा प्रयोग था। उनके इसी प्रयोग की सफलता के कारण काव्य-शास्त्रियों को नव रसों के अतिरिक्त वात्सल्य रस को दसवाँ रस स्वीकार करना पड़ा। गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपने विषयों और काव्य-शैली में जो प्रयोग किये वे सर्वविदित हैं किन्तु यह स्मरण रहे कि ये प्रयोग कभी 'वाद' के रूप में कभी स्वीकार नहीं किए गए। पंडित सुमित्रानन्दन पन्त के मतानुसार प्रयोगवादी काव्य-रचना का आरम्भ प्रसाद जी से 'प्रलय की

माना तथा "कुकुरमुत्ता" "नये पत्ते" रचना से होता है यद्यपि प्रयोगवादी कवि यह सत्य स्वीकार नहीं करते। वस्तु और शिल्प दोनों दृष्टियों से प्रसाद जी की ये रचनाएँ निश्चित ही प्रयोगवादी हैं। निराला जी ने जो मुक्तक छन्दों में काव्यरचना प्रारम्भ की, वह भी उनका एक महत्वपूर्ण सफल प्रयोग ही कहा जायगा। उनकी 'कुकुरमुत्ता' और "नये पत्ते" रचनाएँ पूर्णरूपेण प्रयोगवादी हैं।

छायावादी काव्य में वैयक्तिकता का प्राधान्य होने से वह ऐकान्तिक बना रहा, जिससे उसमें काव्य सौन्दर्य का विकास तो हुआ किन्तु सामाजिकता का विकास न हो सका। अपनी इस ऐकान्तिकता के कारण उसका ह्रास हो गया और उसके स्थान पर पन्त जी के कवियों-द्वारा प्रगतिवाद की प्रतिष्ठा हुई। प्रगतिवाद में सामाजिक-दृष्टिकोण था किन्तु वह सिद्धान्तों के प्रचार में जितना सफल हो सका उतना काव्य के विकास में सफल न हुआ। दूसरे इसकी प्रचारात्मकता ने उसे सर्वजन-सुलभ तो अवश्य बना दिया किन्तु वह पूर्ण रूप में काव्य न रह सका जिससे उसका ह्रास भी अनिवार्य हो गया। इसके पश्चात् हिन्दी काव्य साहित्य में प्रयोगवाद का आविर्भाव हुआ। अधिकांश प्रगतिवादी कवियों ने प्रयोगवाद का आश्रय ग्रहण किया और नये ढंग की कविताएँ नये विषयों के साथ मुखरित होने लगीं। सर्वश्री अज्ञेय गिरिजा कुमार माथुर, रामविलास शर्मा गजानन माधव मुक्तिबोध प्रभाकर माचवे भवानीप्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, शमशेर बहादुर सिंह, नरेश मेहता, धर्मवीर भारती हरिनारायण व्यास रघुवीर सहाय आदि उल्लेखनीय प्रयोगवादी कवि हैं।

प्रयोगवादी काव्य

प्रयोगवादी कवियों ने जीवन और जगत् से सम्बन्धित अनेक विषयों से सम्बन्धित काव्यरचना की। राजमहल से झोंपड़ी तक और मानव से पशु तक कोई ऐसा विषय न था जिस पर इन्होंने काव्य-रचना न की हो। शृंगार सामाजिक विकृतता, आत्मचिन्तन और प्रकृति-सौन्दर्य भी इनकी रचनाओं से पृथक न रहे किन्तु इन्होंने जिस काव्य-शैली में प्रयोगवादी रचनाएँ आरम्भ कीं। वह हिन्दी-काव्य-जगत् के लिए सर्वथा नई शैली थी। हिन्दी के आचार्यों ने इनकी कविताओं को कविता कहने से ही अस्वीकार कर दिया और इन रचनाओं पर तरह-तरह की व्यंग्यपूर्ण बौछारें होने लगीं किन्तु ये लोग भी अपनी धुन के पक्के थे। विविध विरोधों के बीच भी ये आगे बढ़ते गये। संवत् २००० वि० में अज्ञेय जी ने गजानन माधव मुक्तिबोध गिरिजाकुमार माथुर, नेमिचन्द्र जैन भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे तथा रामविलास शर्मा की प्रयोगवादी रचनाओं के साथ कुछ अपनी रचनाएँ मिलाकर 'तार सप्तक' का प्रकाशन किया। इस काव्य-संग्रह की आलोचनाओं के उत्तर में अज्ञेय जी ने कहा कि

प्रयोगवादी काव्य शैली द्वारा इसके कवि अनुभूत सत्य के विविध प्रयोग हिन्दी-काव्य के पाठकों तक पहुँचाना चाहते हैं। इन्हें वस्तु का आग्रह नहीं है। वे अपने प्रयोगों द्वारा नये-नये भावों का अन्वेषण करना चाहते हैं।

सं० २००८ वि० में सर्वश्री भवानीप्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेर बहादुर सिंह, नरेश मेहता, रघुवीर सहाय तथा धर्मवीर भारती की प्रतिनिधि रचनाओं को लेकर 'दूसरा सप्तक' प्रकाशित हुआ। यह सप्तक प्रयोगवादी काव्य के विकास का द्वितीय सोपान समझा जाना चाहिए, किन्तु दोनों सप्तकों के काव्य-स्तर में हमें कहने योग्य कोई अन्तर नहीं दिखाई देता। दूसरे हम दोनों सप्तकों के कवियों के दृष्टिकोण में भी परस्पर विभिन्नता पाते हैं। कहा जा सकता है कि इन कवियों ने प्रयोगवादी विचारधारा तो स्वीकार कर ली किन्तु वे अन्य विषय राजनैतिक और सामाजिक सिद्धान्तों काव्य-वस्तु शैली, छन्द आदि किसी भी विषय में अन्त तक एकमत न हो सके। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रयोगवादी कवियों का कभी भी कोई एक निश्चित दृष्टिकोण नहीं रहा और उनके इस मतैक्यता के अभाव ने उन्हें आगे चलकर अलग अलग दलों में विभाजित कर दिया। 'प्रतीक' अजन्ता दृष्टिकोण तथा पाटल पत्रिकाओं में प्रयोगवादी रचनाएं अधिक प्रमाण में प्रकाशित होती रही हैं। 'नई कविता' भी १४ प्रयोगवादी कवियों की रचनाओं का एक संग्रह है। इसके सम्पादक हैं डा० जगदीश गुप्त। प्रयोगवादी कविताओं को लेकर 'निकष' नामक एक अर्ध वार्षिक संग्रह भी प्रकाशित हुआ। डा० जगदीश गुप्त ने 'नई कविता' के प्रथम अर्धवार्षिक संग्रह में लिखा है— 'कुछ व्यक्ति ऐसे भावुक होते हैं कि अपनी तन्मयता में कविता का अर्थ बिना समझे उसके संगीत पर ही मुग्ध हो उठते हैं। नई कविता कदाचित् ऐसे व्यक्तियों के लिए भी नहीं है। वह उन प्रबुद्ध विवेकशील आस्वादकों को लक्षित करके लिखी जा रही है। जिनकी मानसिक अवस्था और बौद्धिक चेतना नये कवि के समान है अर्थात् जो उसके समानधर्मा हैं, एक ओर जो पुरानी कविता की अभिव्यंजना प्रणालियों शक्तियों और सीमाओं से परिचित हैं और जिनकी परितृप्ति वस्तु और अभिव्यक्ति से नहीं होती या होती है तो संपूर्ण रूप में नहीं। दूसरी ओर जो नई दिशाएं खोजने में उत्पन्न नूतन प्रतिभा की वास्तविक असफलताओं और कठिनाइयों के प्रति सहानुभूतिशील होकर नये कवि की वास्तविक उपलब्धि की प्रशंसा करने में संकोच नहीं करते। बहुत अंशों में नई कविता की प्रवृत्ति की पूर्ण प्रबुद्ध भावुकता पर आश्रित रहती हो भले ही यह वर्ग इसका वैभव हो पर्याप्त इसका महत्व संख्या से नहीं उस स्थिति से आँका जाता है जिस तक अनेक अनुभवों को संचित करता हुआ वह पहुँचा होता है।

डा० जगदीश गुप्त के इस कथन से यह स्पष्ट है कि प्रयोगवादी काव्य उन इने-गिने व्यक्तियों के लिए ही है जो डा० गुप्त की दृष्टि के अनुसार प्रबुद्ध और विवेकशील हैं, सामान्य जनता से अथवा उसके जीवन से इसका कोई संबंध नहीं है। संक्षिप्त में यह कहा जा सकता है कि प्रयोगवादी काव्य का संबंध देश की किसी सामाजिक धार्मिक राजनीतिक अथवा आर्थिक समस्या से नहीं वरन् एक विशेष टेकनिक मात्र से है जिस काव्य अथवा साहित्य में जन-जीवन को छूने की क्षमता नहीं है, उसका सामाजिक जीवन की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं हो सकता। केवल टेकनिक के बल पर आज तक न कोई काव्यधारा पनपी है और न पनप ही सकती है। यही कारण है कि यह काव्यधारा मात्र एक मरणोन्मुख रोगी की तरह अपने जीवन के दिन नापती दृष्टिगोचर हो रही है।

प्रयोगवादी रचनायें

यहाँ प्रयोगवादी रचनाओं के कुछ उदाहरण देकर इस विषय को अधिक स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा। श्री गिरिजाकुमार माथुर की 'पहियों की लकीरें' की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

भीगी राहें धीरे धीरे सूनी हालीं
जिनपर बोझिल पहियों के निशान हैं।
माथ पर की सोच भरी रेखाओं जैसे
पानी-रंगी दीवालों पर
सूने गाढ़ी की छाया पड़ती।
पैरों के धीमे स्वर भर आते हैं,
अनजानी उदास दूरी में।

डाक्टर रामविलास शर्मा ने खेत में काम करते हुए मजदूरों का चित्र इस प्रकार उपस्थित किया है —

छोटा सा सूरज सिर पर बैसाख का,
कामें अपनों से बिखर न खेत में
फटे अंगरखों में, बच्चे भी साथ हां
ध्यान लगा सीला चमार है बीनता
खेत कटाई की मजदूरी, उन्होंने जोता, बोया, सींचा भी था खेत को।

नयी कविता में प्रकाशित एक प्रयोगवादी कविता की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं—

हूँ ऽऽऽऽऊँ। ठीक है लेकिन भाई,
अब सा चीज कुछ लिखो भाई।
इसमें भला क्या बात बनी?
मुक्तों की अपने घुटाई है अभी।
अजी मियाँ, चेतना को उठाओ गिलाफ
इस पर टेकनीक की चढ़ाई गिलाफ
यहाँ ऊषा अरुणा, यहाँ चन्द्र मामा।
इसमें कहीं भी न जैकेट न जामा॥"

एक प्रयोगवादी कवि तोता बनने के इच्छुक हैं। उनकी यह इच्छा निम्नांकित पंक्तियों में देखिए—

"अगर कहीं मैं तोता होता
तो क्या होता?
तो क्या होता?
तोता होता।
तो तो तो तो ता ता ता ता
होता होता होता होता।

एक प्रयोगवादी कवि का अलंकार-प्रयोग भी दर्शनीय है। उन्होंने प्राचीन उपमानों के स्थान पर नई उपमाओं की प्रतिष्ठा इस प्रकार की है—

"चाँदनी चंदन सदृश
हम क्यों लिखें?
मुख हमें कमलों सरीखे क्यों दिखें?
हम लिखेंगे
चाँदनी उस रुपये सी है कि जिसमें
चमक है पर खनक गायब है
हम कहेंगे जोर से
मुँह पर अजायब है।

प्रयोगवादी रचनाओं के रसास्वादन के लिए इनकी जानकारी पर्याप्त होगी। प्रयोगवादी कवियों ने निश्चय ही हिन्दी-काव्य में एक नई धारा प्रवाहित की किन्तु उनकी विचारधारा और काव्य-शैली में एक 'निश्चितता' का अभाव होने के कारण उनकी रचनाओं से न हिन्दी काव्य के विकास में कोई सहायता मिली और न काव्य

समाप्ति ही हुई। अधिकांश रचनाएँ हास्यास्पद ही सिद्ध हुईं और हिन्दी-काव्य के पाठक उनके बेतुकेपन से अपना मनोरंजन करते रहे। ये रचनाएँ प्रगतिवादी रचनाओं की तरह भी लोकप्रियता प्राप्त करने में असमर्थ रहीं। पन्त जी ने इन रचनाओं पर अपना मत व्यक्त करते हुए यह लिखा था—

'जिस प्रकार प्रगतिवादी काव्य-धारा मार्क्सवाद एवं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नाम पर अनेक प्रकार के सांस्कृतिक आर्थिक तथा राजनैतिक पुस्तकों में फँसकर एक कृत्रिम सामूहिकता की ओर बढ़ी उसी प्रकार प्रयोगवाद की निर्झरिणी कल-कल छल-छल करती हुई फ्रायडवाद से प्रभावित हो कर स्वप्निल फेनिल स्वर संगीतहीन भावनाओं की लहरियों से मुखरित अवचेतन उपचेतन की रुद्ध-रुद्ध ग्रन्थियों को मुक्त करती हुई दमित कुण्ठित आकांक्षाओं को वाणी देती हुई लोक-चेतना के स्रोत में गिरी के द्वीप की तरह प्रकट होकर अपने पृथक् अस्तित्व पर अड़ गई। अपनी रागात्मक विकृतियों के कारण अपने निम्नस्तर पर इसकी सौन्दर्य-भावना केंचुओं घोंघों मेंढकों के उपमानों के रूप में झाड़ियों के समान अनुप्राणित होने लगी।

हमने यहाँ प्रमुख प्रयोगवादी कवियों की कविताओं के जो उदाहरण दिये हैं, उनसे भी यह स्पष्ट है कि प्रयोगवादी कवियों का लक्ष्य केवल नई उपमाओं रूपकों, प्रतीकों आदि की खोज और लोक भाषा के शब्दों का अपने काव्य में प्रयोग करना ही है, चाहे उनसे भावों का समुचित अभिव्यक्तीकरण भले ही न हो सके। इनके इस प्रयास का परिणाम यह होता है कि उनके काव्य का भावपक्ष निर्बल दिखाई देता, अभिव्यक्तीकरण में कोई क्रम नहीं होता और उसकी संवेदना अस्पष्ट एवं उलझी हुई परिलक्षित होती है। सम्भवतः यह देखकर आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है— 'प्रयोगवादी साहित्यिक से साधारणतः उस व्यक्ति का बोध होता है, जिसकी रचना में कोई वास्तविक अनुभूति कोई स्वाभाविक क्रम-विकास या कोई सुनिश्चित व्यक्तित्व न हो।' आचार्य वाजपेयी ने प्रयोगवादी काव्य की अवमानना पर प्रकाश डालते हुए आगे कहा है— 'किसी भी अवस्था में यह प्रयोगों का बाहुल्य वास्तविक साहित्य-सृजन का स्थान नहीं ले सकता। प्रयोग और काव्यात्मक निर्माण या सृजन में जो मौलिक अंतर है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। विशेषकर काव्य का क्षेत्र प्रयासों की भूमिका से बहुत दूर है। कवि सबसे पहले अपनी अनुभूतियों के प्रति उत्तरदायी है। वह उनके साथ विश्वासघात नहीं कर सकता। उसका दूसरा उत्तरदायित्व काव्य-परम्परा और काव्यात्मक अभिव्यक्ति के प्रति है। वह किसी भी अवस्था में ऐसे प्रयोगों का पल्ला नहीं पकड़ सकता, जिनका उस काव्य के भावपक्ष और भाषागत संस्कारों से तथा उन भावों के स्वाभाविक विकास-क्रम से सहज संबंध नहीं है।

आचार्य वाजपेयी ने आगे लिखा है—

प्रयोगवादी रचनाएँ पूरी तरह काव्य की कोटि में नहीं आतीं। वे अतिरिक्त बुद्धिवाद से ग्रस्त हैं। प्रयोगवादी रचनाएँ वैचित्र्यप्रिय हैं। वृत्ति का सहज सन्निवेश उनमें नहीं है। वे वैयक्तिक अनुभूति के प्रति ईमानदार नहीं हैं और सामाजिक उत्तरदायित्व को भी पूरा नहीं करतीं।

प्रयोगवादी कवियों के समर्थक डाक्टर रामविलास शर्मा ने भी दूसरे शब्दों में इस काव्यधारा की ये विषमता स्वीकार की है। उन्होंने लिखा है—'पूँजीवादी व्यवस्था में शिक्षित किन्तु कुशिक्षित वर्ग में और जनसाधारण में भारी अन्तर होता है। कवि अपने संकुचित मध्यवर्गीय वर्ग में और संकुचित होता हुआ व्यक्तिवाद के नये अपने तक सीमित प्रतीत हुए जाता है। वह समझता है कि उसका अनुभव और व्यंजना उच्च कोटि की है।' डाक्टर शर्मा के इस कथन से पक्षपाती का इस काव्य के 'जनहितार्थ होने का दावा निर्मूल हो जाता है।

डाक्टर नगेन्द्र ने प्रयोगवादी काव्य के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये हैं वे भी लगभग उपर्युक्त निष्कर्षों की ही पुष्टि करते हैं। उन्होंने इस काव्य के निम्नांकित दोष बतलाये हैं—

१. भाव तत्त्व और काव्यानुभूति के बीच रागात्मक के बजाय बुद्धिगत सम्बन्ध
२. साधारणीकरण का त्याग
३. अचेतन मन के अनुबन्ध कुंठाओं के यथावत् चित्रण का आग्रह।
४. काव्य के उपकरणों एवं भाषा का एकान्त वैचित्र्य और असमंजस प्रयोग।
५. नूतनता का दुराग्रह मोह, जो सदा परिचित को छोड़ अपरिचित की खोज में रहता है।

प्रयोगवादी कवियों के आचार्य और पथ प्रदर्शक श्री अज्ञेय जी ने स्वयं "तार सप्तक" की "विवृति" में लिखा है—उनके तो एकत्र होने का कारण ही यही है कि किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं अभी राही हैं—राही नहीं राहों का अन्वेषी।"

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि कुछ प्रयोगवादी तरुण कवि नये-नये प्रयोगों को लेकर काव्य क्षेत्र में अवतीर्ण हुए और भूले राहियों की तरह राह टटोलते रहे पर राह न पा सके। वे अभी राह खोज रहे हैं किन्तु उनके राह खोजने का ढंग बड़ा विचित्र है। जब तक वे यह विचित्रता छोड़कर जनमार्ग पर चलना न सीखेंगे, तब तक उनका एक निश्चित मार्ग पर पहुँचना सम्भव नहीं है। डा० रांगेयराघव, त्रिलोचन

शास्त्री केदार शमशेर भवानीप्रसाद आदि ऐसे कवि हैं, जो प्रयोगवाद में अधिक सफल दीखते हैं, किन्तु सप्तकों में उनका कोई स्थान नहीं है। तार सप्तकों के कवियों ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए जो बातें कही हैं, उनमें अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग है। इस तरह दोनों तार सप्तक भानुमती का कुनबा बन गये हैं। इन प्रयोगवादी कहे जानेवाले कवियों की रचनाएं जन-मन को तो प्रभावित कर ही नहीं सकीं, पर इस दल को आज तक कोई ऐसा कवि भी प्राप्त न हो सका जिसे हिन्दी का प्रतिनिधि कवि कहलाने का सम्मान प्राप्त हो।

प्रयोगवादी काव्य की विशेषतायें

प्रगतिवादी कवियों ने रसात्मकं वाक्यं काव्यम् की प्राचीन मान्यता ही अस्वीकार कर दी थी। उन्होंने जन जीवन को काव्य के अधिक निकट लाने का प्रयत्न किया था किन्तु उन्हें केवल इतने से ही सन्तोष न था। वे जन जीवन को अपने काव्य का विषय ही नहीं बनाना चाहते थे, वरन् उसे अपनी नई विचारधारा से अधिकाधिक प्रभावित भी करना चाहते थे। यही कारण है कि प्रगति काव्य जितना प्रचारात्मक रहा उतना सृजनात्मक नहीं रहा। मूलतः प्रगतिवादी और प्रयोगवादी दोनों ही जन-जीवन के कवि हैं। दोनों की प्रेरणा का स्रोत भी एक ही है। दोनों ही एक जैसी क्रान्ति को जन्म देने के आकांक्षी हैं जो जर्जर समाज के प्राचीन रूप का अन्त कर उसे नया रूप प्रदान कर सके जो सामाजिक विषमता का अन्त कर समता की सुखद स्रोतस्विनी प्रवाहित कर सके और जन जीवन को एक नये साँचे में ढाल सके। दोनों वादों के कवियों में और उनकी आकांक्षाओं में यह समानता होने पर भी उनके काव्य के स्वरूप में बहुत अन्तर रहा। इस अन्तर का कारण उनकी अपनी-अपनी विशेषताएं हैं। प्रयोगवादी काव्य के सम्बन्ध में उसके प्रमुख कवियों ने समय समय पर स्वयं अपने मत व्यक्त किए हैं। श्री अज्ञेय जो इस काव्य-धारा के प्रमुख उन्नायकों में एक हैं। वे कहते हैं— प्रयोगवादी कविता में नये सत्यों या नई यथार्थताओं का जीवित बोध भी है उन सत्यों के साथ नये रागात्मक सम्बन्ध भी और उनको पाठक या सहृदय तक पहुँचाने यानी साधारणीकरण करने की शक्ति है।

धर्मवीर भारती कहते हैं—'प्रयोगवादी कविता में भावना है किन्तु हर भावना के आगे एक प्रश्न-चिह्न लगा है। इसी प्रश्न चिह्न को आप बौद्धिकता कह सकते हैं। सांस्कृतिक ढाँचा चरमरा उठा है और यह प्रश्न-चिह्न उसी की ध्वनिमात्र है।

"श्री गिरिजाकुमार माथुर कहते हैं— प्रयोगों का लक्ष्य है व्यापक सामाजिक सत्य के खंड अनुभवों का साधारणीकरण करने में कविता को नवानुकूल माध्यम देना, जिसमें व्यक्ति द्वारा इस व्यापक सत्य का सर्वबोधगम्य प्रयत्न सम्भव हो सके।

१: "उत्तरा" जुलाई १९५९

प्रयोगवाद के चतुर्थ प्रमुख कवि डा० शिवमंगल सिंह प्रयोगवादी काव्य में शैलीगत और व्यंजनागत चमत्कार एवं विषयगत और वस्तुगत तत्व का भी समावेश आवश्यक मानते हैं। अब हम इन बातों के प्रकाश में प्रयोगवादी काव्य की प्रमुख विशेषताएँ देखेंगे।

(क) भाषा

कुछ प्रयोगवादी रचनाओं को देखकर ऐसा लगता है कि इस धारा के कवियों ने आवश्यकता न होने पर भी हिन्दी भाषा के प्रचलित रूप की अवहेलना करने का प्रयत्न किया है। प्रयोगवादी कविताएँ खड़ी बोली की कविताएँ हैं जिनकी रचना में इसके वर्तमान विकसित और विशुद्ध रूप का प्रयोग सरलता से किया जा सकता था किन्तु कहीं यह बन्धन भी स्वीकार नहीं है। उदाहरणार्थ श्री रघुवीर सहाय की निम्नांकित पंक्तियाँ दर्शनीय हैं जिनमें उन्होंने खड़ी बोली के रूप का विकृत कर दिया है—

जब दुख के भार से मन थकने आय
पैरों में कुली की-सी लपकती चाल छटपटाय।

इनमें से प्रथम पंक्ति प्रयुक्त आय तथा द्वितीय में छटपटाय क्रिया खड़ी बोली की दृष्टि से शुद्ध नहीं समझी जा सकती। इसी प्रकार उनकी बाद की पंक्तियों में भी हमें शब्दों की बेमेल खिचड़ी दिखाई देती है

तुमने धारी है अनाहूत छिआछिया
उसे क्या करूँ? कहो—अपन पुत्रों, मेरे छोटे
भाइयों के लिए यही कहा।

इन पंक्तियों में सरलतम चलती भाषा के शब्दों के साथ अनाहूत और छिआछिया शब्दों का मेल अस्वाभाविक है।

प्रयोगवादी कवियों की अनेक रचनाओं में व्याकरण के नियमों का उल्लंघन, प्रयत्नपूर्वक शब्दों का तोड़-मरोड़, हिन्दी शब्दों के साथ अहिन्दी भाषाओं के शब्दों का बेमेल संयोग, साहित्यिक हिन्दी के साथ ग्रामीण शब्दों का प्रयोग आदि सरलता से देखे जा सकते हैं। विषयानुकूल भाषा का प्रयोग सदैव ही आवश्यक होता है किन्तु प्रयोगवादियों की दृष्टि में इसका भी कोई मूल्य नहीं जान पड़ता।

(ख) भाव

प्रयोगवादी कवि वास्तव में भावना के कवि हैं। वे अपने काव्य में अपने हृदय का 'सब कुछ' उंडेल देना चाहते हैं पर वे भावाभिव्यक्ति की तीव्रता और आतुरता

में अनेक बार अस्पष्ट हो जाते हैं। वे सरल से सरल भाषा में अपनी बात कहना चाहते हैं, पर जो कुछ कहना चाहते हैं वह कहते-कहते भूल जाते हैं। प्रमाण-स्वरूप कुछ पंक्तियाँ देखिए। कवि शमशेर बहादुर सिंह 'सावन की बहार' में कहते हैं—

'पूर्णिमा से भर उठी है आज बरसात की रात,
गोद में इन बादलों के साँवली मिट्टी घुली है।'

बरसात की रात के पूर्णिमा से भर उठने में विरोधाभास है। इस विरोधाभास के कारण कवि-हृदय के भाव दुर्बोध हो गये हैं। भावों की संप्रेषणीयता इन पंक्तियों में देखिए—

'मेरे सपने इस तरह टूट गये,
जैसे भुँजा हुआ पापड़।'

निम्नांकित वाक्यों में रसानुभूति की खोज बड़ा कष्टसाध्य काम है—

'झनझन झनझन
झनझन झनझन
दीप जला
दीप बुझा।'

इन पंक्तियों का कवि अपने भावों को आप ही समझ रहा है उसे शब्दों को समझने की आवश्यकता नहीं है।

(घ) छन्द विधान

संगीत मे छन्दों का अमित योग है किन्तु काव्य की दृष्टि से भी छन्दों का कम महत्व नहीं है। कविता के अतुकान्त होने पर भी उसका छन्दबद्ध होना आवश्यक है। बिना छन्द की कविता 'गद्यकाव्य' हो सकती है पर इस स्थिति में उसमें काव्य के अन्य गुण होना आवश्यक है। प्रगतिवादी रचनाओं में भी छन्द के बन्धन शिथिल हो गये थे, किन्तु उसमें एक प्रकार की रागात्मकता अवश्य थी। प्रगतिवादी कवियों में सम्भवतः निराला जी ने ही छन्दों की सबसे अधिक अवहेलना की है फिर भी उनके काव्य में संगीतात्मकता का अभाव नहीं है। इस काल के कुछ कवियों ने पूर्व प्रचलित परम्परागत छन्दों को नए रूप में सँवारने का प्रयत्न किया अथवा उनके स्थान में अप्रचलित छन्दों का प्रयोग किया है किन्तु प्रयोगवादी कवियों को किसी भी रूप में छन्द का बन्धन स्वीकार नहीं है। वे यह भी भूल गये कि स्वर और लय छन्दों की सृष्टि है जो भावों की तीव्रानुभूति मे विशेष सहायक है। इतना ही नहीं पर प्रभाव की दृष्टि से भी काव्य में

स्वर और लय का स्थान आवश्यक है। प्रयोगवादी कवि श्री भगवतीचरण वर्मा ने स्वयं कुछ स्वर-लय-विहीन मुक्तक रचनाओं को देखकर कहा था—'मुक्त छन्द की कविता को मैं अधिक-से-अधिक गद्य काव्य मान सकता हूँ कविता नहीं।" ऐसा जान पड़ता है कि प्रयोगवादियों को सरल भाव ही पसन्द था वे साधना का कष्ट न उठाना चाहते थे। काव्य का सम्वर्द्धन करने के लिए भी कम साधना अपेक्षित नहीं है। प्रयोगवादियों को इस साधना को "झंझट" पसन्द न थी अतः उन्होंने 'नवीनता' और 'परिवर्तन' के नाम पर छन्दविहीन रचनाएँ आरम्भ कर दीं। यह उनका नवीन प्रयास अवश्य है पर इस प्रयास ने उनकी कविताओं के प्रभाव पर बहुत आघात किया और वे कविताएं जिनके लिए लिखी गईं, उन तक न पहुँच सकीं।

(ख) अलंकार विधान

प्रयोगवादी कवियों ने परम्परागत अलंकारों के स्थान में नये अलंकारों का विधान तो नहीं किया पर उनकी उपमाएं नई अवश्य हैं। उन्होंने वे उपमाएं नित्य दृष्टि में आनेवाली वस्तुओं से ही चुनी हैं। रूपकों के विधान में भी नवीनता है। हमें उनकी ये उपमाएं और रूपक-विधान उन्हें चुनने के अभ्यस्त न होने के कारण कुछ बेतुके और भोंडे भले ही लगें, पर उनकी नवीनता का महत्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उपमों को मूँझे पाठकों को अपना एक पूर्व उदाहरण में देखो जा चुके हैं, दो उदाहरण और देखिए—

चाँदनी चन्दन सदृश
हम क्यों लिखें
'चादल भाय आसमान में धरती फूली री।
भरी सुहागिन भरी माँग में भूली भूली री।'

चाँदनी को चन्दन सदृश कहना और फूली धरती की सुहागिन से तुलना करना कवि की अलंकार प्रयोग-कुशलता का द्योतक है।

(ग) प्रतीक प्रयोग

कुछ प्रयोगवादी रचनाओं में प्रतीकों का प्रयोग बड़े सुन्दर स्वाभाविक ढंग से हुआ है। प्रकृति के विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से मानव जीवन-विश्लेषण प्रयोगवादी कवियों की विशेषता है। उदाहरणार्थ अज्ञेय की यो निम्नपंक्तियां देखी जा सकती हैं—

'ये मेघ साहसिक सैलानी।
ये तरल काम्य से भरे हुए,

उन साँसों से लालसा भरे,
ये ढीठ समीरण के झोंके
कंटकित हुए रोएँ तन के
किन अदृश करों से आलोड़ित
स्मृति शेफाली के फूल भरे।
झर झर झर झर
अप्रतिहत स्वर
जीवन की गति आती जाती।'

अलंकार-विधान और भावाभिव्यंजना की दृष्टि से भी ये पंक्तियाँ बड़ी सुन्दर हैं।

श्री 'नीरज' द्वारा कली और भ्रमर के प्रतीकों के माध्यम से निम्नांकित पंक्तियों में की गई प्रेमाभिव्यंजना भी प्रशंसनीय है—

'एक दिन कह रहा थी भ्रमर से कली
ओठ जूठे किये हैं, मुझे तू न छू।
कह रहा था भ्रमर सुन भरा वासना,
निष्कलुष मैं बनूँ जो मुझे चूम तू।
आगया एक झोंका तभी उस तरफ
हिल उठा डाल दो मुख-अगन हिल गये।
कुनमुनाई लजाई कली तो बहुत,
आप ही आप लेकिन अधर मिल गये।
अन्त ऐसा हुआ उस मिलन का मगर
दिन सिसकता रहा रात तड़पती रही।
इस तरह तय हुआ साँस का यह सफर,
जिन्दगी थक गई, मौत चलता रहा।'

———

हिन्दी काव्य-साहित्य में राष्ट्रीय भावना का विकास

'राष्ट्रीय भावना' हमारे लिए नई वस्तु नहीं है। वैदिक काल से हमारे जीवन में राष्ट्रीय भावना का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। ऋग्वेद के अनेक सूत्र इसके प्रमाण हैं। महाभारत के कुछ स्थानों में भी हमें राष्ट्रीय भावना के स्पष्ट दर्शन होते हैं। इधर कुछ लोग राष्ट्रीय भावना शब्द का प्रयोग अत्यंत संकुचित अर्थ में करने लगे हैं। यह सम्भवतः सन् १९२० से सन् १९४७ तक भारतीय मुक्ति के लिए चलनेवाले निरन्तर आन्दोलन का परिणाम है। राजनीति के प्रसिद्ध विद्वान् सी० जे० एच० हेज ने लिखा है कि राष्ट्रीयता प्रधान रूप में सांस्कृतिक होती है वह केवल संयोगवश राजनीतिक हो जाती है किन्तु कुछ लोग राष्ट्रीयता को राजनीति से ही सम्बद्ध करके देख रहे हैं यह राष्ट्रीयता के व्यापक अर्थ की अस्वीकृति है। इस दृष्टि से राष्ट्रीयता देशभक्ति का पर्यायवाची हो जाती है और इस स्थिति में वह राजनीतिक स्वाधीनता अथवा प्रभुता की सीमा में बद्ध हो जाती है। यदि हम राष्ट्रीयता को मन की तरह आत्मपरक मान लें तो भी हमें इसे मानव-भावना और विचार की ओर जीवन की एक पद्धति के ही रूप में स्वीकार करना पड़ेगा। भूमि पर निवास करने वाला जन-समूह तथा उस जनसमूह की संस्कृति का सम्मिलित रूप ही राष्ट्र है। इस राष्ट्र के प्रति हमारे हृदय में जो पवित्र महान् और उत्सर्गमयी भावना है वही राष्ट्रीय भावना की संज्ञा से अभिहित की जा सकती है। इसी अर्थ में श्री रैम्जेम्योर ने अपने अतीत पर अभिमान वर्तमान पर स्वस्थ विश्वास और भविष्य पर जिम्मेदारी से आशा को राष्ट्रीय भावना को सजीव और सक्षम बनाने का साधन कहा है। अतः स्पष्ट है कि हिन्दी में हमारे मत भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन-काल में गति देने के लिए जो काव्य रचना अथवा गीत रचना हुई अथवा इस काल में या इसके पश्चात् इस आन्दोलन के प्रकाश में जिस साहित्य का निर्माण हुआ वही राष्ट्रीय भावना से युक्त साहित्य नहीं वरन् वह सम्पूर्ण साहित्य जो देश की एकता देश के सांस्कृतिक एवं आर्थिक उत्थान राजनीतिक जागरण तथा देश के नवनिर्माण से सम्बन्धित निमित्त हुआ हमारी एक राष्ट्रीय भावना को प्रतिबिम्बित करता है।

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में जब हम हिन्दी के काव्य-साहित्य में राष्ट्रीय भावना के विकास पर विचार करते हैं, तब सर्वप्रथम हमारी दृष्टि हिन्दी के प्रथम निर्गुणवादी कवि सन्त कबीर के काव्य पर जाती है। कबीर का आविर्भाव उस समय हुआ; जब सम्पूर्ण भारत धर्म के नाम पर द्वेष ईर्ष्या कटुता और वैमनस्य का आगार

बना हुआ था। धर्मान्धता के विष ने उसे राष्ट्रीयता की भावना से शून्य कर दिया था। वह पन्थों और सम्प्रदायों की संकुचित एकांगी भावनाओं का शिकार होकर खंड खंड में विभाजित हो गया था। बाह्याडम्बरों और अज्ञानता मूलक रूढ़ियों ने उसे बर्बर कर दिया था। उसकी विश्व-व्यापक संस्कृति विकृत हो गई थी। अपने देश की यह स्थिति देखकर कबीर का हृदय काँप उठा। उसने अपने देशवासियों की संकुचित अमनीय और राष्ट्र-संहारिणी मनोवृत्ति की कटु आलोचना की बाह्याडम्बरों और रूढ़ियों पर कुठाराघात किया और उन्हें साम्प्रदायिकता के निम्न धरातल से ऊपर उठाकर राष्ट्रीय एकता स्थापित करने का स्तुत्य प्रयत्न किया। कबीर का खंडन-मंडनात्मक काव्य साहित्य उसकी इसी राष्ट्रीय भावना का प्रतीक है। कबीर के पूर्व हमें कुछ रासो ग्रन्थों के रचयिता चारण कवियों के काव्य में भी राष्ट्रीय भावनाएं मिलती हैं किन्तु उनकी यह भावना राजपूत राजाओं के गौरव-गान तक ही सीमित रही, अतः उसे विशेष महत्व नहीं दिया जा सकता।

कबीर के पश्चात् हमें राष्ट्रीय भावना का विकास अकबरकालीन कवि गोस्वामी तुलसीदास महाराज पृथ्वीराज डिंगल कवि दुरसाजी आदि की रचनाओं में मिलता है। गोस्वामी जी ने राम कथा के आधार पर अपने 'रामचरित मानस' के द्वारा भारतीयों को न केवल सांस्कृतिक उत्थान का सन्देश दिया वरन् उन्होंने 'राम राज्य' के चित्रण द्वारा एक आदर्श शासन-व्यवस्था भी अंकित की है उन्होंने पराधीन जीवन के प्रति विद्रोह की भावना व्यक्त की और राष्ट्रीय जागरण का सन्देश देकर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की ओर देशवासियों का ध्यान आकर्षित किया। बीकानेर नरेश महाराज पृथ्वीराज परि-स्थिति-वश स्वयं मुगल सम्राट अकबर की अधीनता स्वीकार कर चुके थे किन्तु महाराणा प्रताप के समान स्वतन्त्रताभिमानी नृपतियों पर उन्हें गर्व था। उन्होंने जैसे ही सुना कि राणा प्रताप भी संकट समय से घबराकर अकबर की अधीनता स्वीकार करने जा रहे हैं वे अधीर हो गये और उन्होंने एक ओजपूर्ण पद्यमय पत्र लिखकर राणा प्रताप को पराधीनता की शृंखला में बद्ध होने से बचा लिया। पृथ्वीराज का यह पत्र हिन्दी काव्य-साहित्य की राष्ट्रीय भावना के विकास की शृंखला का एक अत्यधिक मूल्यवान कड़ी है। कवि दुरसाजी की राष्ट्रीय भावना उनकी निम्नांकित पंक्तियों में देखी जा सकती है—

अकबर गरब न आण हिन्दू सह चाकर हुआ
दीठो कोई दीवाण, करतो लटका कटहड़े।
अकबर समद अथाह तिहं डूबा हिंदू तुरक
मेवाड़ी तिण मांह, पोयण फूल प्रताप सी॥

भक्तिकाल के पश्चात् हमें रीतिकालीन कुछ वीर और काव्य-प्रणेता कवियों की रचनाओं में राष्ट्रीय भावना का विकास मिलता है। इनमें भूषण, गोरेलाल और पद्माकर की कुछ रचनाएं विशेष उल्लेखनीय हैं। कुछ लोग भूषण को मुस्लिम विरोधी हिन्दू राजाओं का प्रशंसक कहकर सम्प्रदायवादी कवि कहते हैं किन्तु यह एक भ्रमपूर्ण धारणा है। वे सच्चे अर्थों में एक राष्ट्रीय कवि थे। उन्हें मुस्लिम शासकों से द्वेष न था। शिवा जी के दरबार में आने के पूर्व उन्होंने 'बाबर अकबर हुमायूं हद बांधि गये दो मैं एक करी ना कुरान बेद ढब की' कहकर औरंगजेब के पूर्ववर्ती मुगल बादशाहों की भी प्रशंसा की है। अतः उन्हें मुस्लिम-विरोधी न कहकर धर्मान्ध औरंगजेब का विरोधी ही कहा जा सकता है। जिसने अपने पूर्वजों की परम्परा को त्यागकर भारतीयों पर अत्याचार करने में ही अपना पुरुषार्थ अनुभव किया था। भूषण की कुछ रचनाओं से यह भी स्पष्ट है कि वे हिन्दू मुसलमानों में मेल कराके देश में सुख-शान्ति स्थापित करने के आकांक्षी थे। उदाहरणार्थ निम्नांकित पंक्तियां देखी जा सकती हैं—

"बूढ़ि गयो तो नयो परवाज़ो सलाह की राह गही सरजा सों।"

× × × ×

"और करो किन कोटिक राह सलाह बिना बचिहौ न सिवा सों।"

भारत की राष्ट्रीयता सदैव से अपने देश पर विदेशियों के शासन का विरोध करती आई है। भूषण ने औरंगजेब तथा उसके शासन के विरुद्ध जो भावना व्यक्त की है, वह वास्तव में विदेशी शासन के विरुद्ध ही है। यदि वे मुस्लिम-विरोधी होते तो फतहशाह, बहादुरशाह, आलमशाह और कुतुबशाह का आश्रय ग्रहण न करते। वे विदेशी होने पर भी इन शाहों के गुणों के प्रशंसक थे। यह देखते हुए हम भूषण की अधिकांश रचनाओं को राष्ट्रीय भावना से [illegible] पूर्ण कह सकते हैं। इसी प्रकार गोरेलाल अथवा लाल कवि की छत्रसाल-प्रशंसा में रचित कविताएं भी राष्ट्रीय भावना से ही पूर्ण हैं। पद्माकर की "हिम्मत बहादुर विरुदावली" के कुछ पदों एवं ग्वालियर-नरेश महाराज दौलतराव सिंधिया की प्रशंसा में रचित रचनाओं में भी हमें राष्ट्रीय भावना का विकास मिलता है। इसी काल के वीर कवि जानो पु, जोधराज, सूदन, चन्द्रशेखर आदि की कुछ रचनाएं भी एक राष्ट्रीय भावना से पूर्ण हैं। यह अवश्य है कि इनकी राष्ट्रीयता भी चारण कवियों की तरह अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा और शौर्य वर्णन से ऊपर नहीं उठ पाई।

रीतिकाल के पश्चात् हमें आधुनिक काल के हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीय भावना का

विकास अधिक स्पष्ट एवं द्रुत गति में दिखाई देता है। इस काल के राष्ट्रीय कवियों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र प्रधान हैं। उन्होंने तथा उनके समकालीन कुछ अन्य कवियों ने उस समय के पराधीन भारत की दुरवस्था का चित्रण कर जनता में जागृति उत्पन्न करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। भारतेन्दु जी की राष्ट्रीय भावना अत्यधिक व्यापक है। उनकी इस भावना में विदेशी शासन के प्रति विद्रोह है, असन्तोष है, भारतीय एकता का सन्देश है, स्वभाषा प्रेम, स्वधर्म प्रेम, भारतीयों की दुरवस्था पर क्षोभ एवं जन जागरण का प्रयत्न है। उन्होंने अंग्रेजों की अफगानिस्तान विजय को लक्ष्य कर अपनी 'विजय वल्लरी' कविता में लिखा था—

स्ट्रेची डिजरेली लिटन चित्रय नीति के जाल।
फँसि भारत जरजर भयो, काबुल युद्ध अकाल॥

इस विजय के उपलक्ष्य में समस्त भारत में दीपावली द्वारा विजयोल्लास प्रकट किया गया था। यह देखकर भारतेन्दु जी ने कहा—

सुजस मिलै अंग्रेज को, होय रूस की रोक।
बढ़ै ब्रिटिश वाणिज्य पै, हमको केवल सोक॥

वे अंग्रेजी शासन की कूटनीति से अत्यधिक क्षुब्ध थे। उन्होंने बड़ी निर्भीकता से लिखा था—

सत्रु सत्रु लड़वाइ, दूर रहि लखिय तमासा।
प्रबल देखिए जाहि, ताहि मिलि दीजै आसा॥

भारतेन्दु जी भारत की दुर्दशा देखकर कहते हैं—

सब भाँति दैव प्रतिकूल, होइ यहि नासा।
अब तजहु वीरवर भारत की सब आसा॥

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पश्चात् उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी "प्रेमघन" की कुछ रचनाओं में हम राष्ट्रीय भावना का विकास मिलता है। वे अपनी एक कविता में कहते हैं—

हुआ प्रबुद्ध वृद्ध भारत, निज आरत दशा निशा का—
समझ अन्त अतिशय प्रमुदित हो, तज उसन दुख ताका॥
अरुणोदय एकता-दिवाकर, प्राची दिशा दिखावो।
देखा नभ साम्राज्य परम पावन प्रकाश फैलातो॥

इन्हीं दिनों भारत के प्राचीन गौरव की रक्षा की चिन्ता से व्यस्त हो कर राधाचरण गोस्वामी ने कहा था—

मैं हाय-हाय के आय पुकारों रोई।
भारत की डूबी नाव उबारो कोई॥

श्रीधर पाठक द्वारा रचित भारत-गीत की हिन्दी-काव्य-साहित्य में राष्ट्रीय भावना के विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उनके इन गीतों में भारतभूमि का प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक सौन्दर्य मातृभूमि का महत्त्व एवं देशानुराग की भावना साकार हो उठी है।

भारतेन्दु-कालीन देशभक्ति राजभक्ति-समन्वित थी। सन् १८५७ के सैनिक-विद्रोह के पश्चात् जिस स्थिति का जन्म हुआ था उसमें विशुद्ध राष्ट्रीयता के उच्च स्वरों का उच्चार सम्भव न था। अंग्रेजी शासन ने इस विद्रोह का दमन जिस निरंकुशता से किया था उसे भारतीय भूले न थे किन्तु महारानी विक्टोरिया के घोषणापत्र और शासन के परिवर्तित रूप ने उनके हृदय में धधकनेवाली असन्तोष की अग्नि को आच्छादित कर दिया था। यही कारण है कि हमें भारतेन्दु-कालीन काव्य में भी राष्ट्रीयता के दबे स्वर ही सुनाई देते हैं। दूसरी ओर राजा राममोहन राय स्वामी दयानन्द श्रीरामकृष्ण परमहंस आदि सामाजिक पृष्ठभूमि पर राष्ट्रीय भावना जागृत करने में प्रयत्नशील थे। प्रत्यक्ष रूप में यह सामाजिक आन्दोलन था किन्तु इस आन्दोलन के अन्तर में भी राष्ट्रीय भावना निहित थी। इन राष्ट्रनायकों का लक्ष्य देश को सामाजिक और सांस्कृतिक परतन्त्रता के बन्धनों से मुक्त करना था पर इनके आन्दोलन से जो जन-जागृति हो रही थी वह राष्ट्रीय परतन्त्रता से मुक्ति पाने की दृष्टि से भी कम महत्त्वपूर्ण न थी। इन राष्ट्र-नायकों में राष्ट्रीय भावना के विकास की दृष्टि से स्वामी दयानन्द का प्रयत्न विशेष महत्त्वपूर्ण था। स्वामी जी के हृदय में अपने देश के प्रति अगाध प्रेम था। वे सम्पूर्ण भारत में प्राचीन वैदिक संस्कृति का पुनरुत्थान करने के आकांक्षी थे। विदेशी भाषा, विदेशी सभ्यता और विदेशी शासन सभी को वे भारतीयता के विरुद्ध मानते थे। उन्होंने इन पर तीव्र प्रहार किया है। वे अपने देश को एक ऐसी राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत देखना चाहते थे जो सर्वथा भारतीय थी। उनका विश्वास था कि इस देश में ऐसी राष्ट्रीयता का जन्म और विकास वैदिक धर्म और वैदिक संस्कृति के योग से ही सम्भव है। अतः उनकी इस राष्ट्रीयता को आर्य अथवा हिन्दू राष्ट्रीयता कहा जा सकता है। जो कुछ भी हो पर इसमें सन्देह नहीं कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने निरन्तर प्रयत्न से जिस राष्ट्रीयता को जन्म दिया उसका उनके पश्चात् विकसित होनेवाली भारतीय राष्ट्रीयता के विकास में महत्त्वपूर्ण योग है। यह देखते हुए यदि स्वामीजी को भारतीय राष्ट्रीयता का जनक भी कहें तो यह अतिशयोक्ति न होगी। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के शैशव के दिनों में जिन भारतीय देश-भक्तों ने देश का

निर्भीक नेतृत्व किया उनमें से अधिकांश के जीवन का निर्माण स्वामी दयानन्द के आन्दोलन के प्रभाव से ही हुआ था।

यदि हम सन् १८५७ के सैनिक विद्रोह को भारतीय राष्ट्रीयता का प्रथम उत्थान मान लें तो स्वामी दयानन्द के नेतृत्व में चलने वाले आन्दोलन को द्वितीय उत्थान कहना ही उचित होगा। स्वामी दयानन्द के युग और इसके पश्चात् भी जो काव्य रचना हुई उनमें से अधिकांश को हम प्रचारक रचना भले ही कहें, पर उन रचनाओं का राष्ट्रीय दृष्टि से जो महत्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता। द्विवेदी युग में रचित बाबू मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' पर भी दयानन्द की विचारधारा का कम प्रभाव नहीं है। यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि गुप्त जी की 'भारत भारती' सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण काव्यकृति है। गुप्तजी ने 'भारत भारती' के पश्चात् जो काव्य-कृतियाँ हिन्दी-साहित्य को प्रदान कीं उनमें भी राष्ट्रीय चेतना का अभाव नहीं है। जहाँ उनका 'भारत भारती' काव्य-ग्रंथ हमें भारत के अतीत गौरव और सांस्कृतिक महानता का स्मरण दिला उसकी पुनर्प्राप्ति की प्रेरणा देता है वहाँ उनका स्वदेश-संगीत हमारे हृदय में विशुद्ध देशानुराग की भावना जागृत करता है। गुप्तजी हृदय से पूर्ण राष्ट्रवादी हैं, यही कारण है कि हमें उनकी सभी काव्य कृतियों में कहीं-न-कहीं राष्ट्रीय भावना के दर्शन हुए बिना नहीं रहते।

गुप्तजी के पश्चात् हिन्दी-काव्य-साहित्य में राष्ट्रीय भावना के विकास की दृष्टि से पंडित माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा' का स्थान महत्वपूर्ण है। अपने कवि-जीवन के आरम्भ से ही वे 'राष्ट्र देवता' की आराधना में व्यस्त रहे हैं। उनके हृदय में विदेशी शासन के सर्वनाश की आकांक्षा लिए एक अग्नि प्रज्वलित रही है जो हम उनके काव्य में विद्रोह के विस्फोट के रूप में दिखाई देती है। भारतीय आत्मा की राष्ट्रीय भावना बहुमुखी है। उन्होंने कवि-रूप में भावना के बहुरंगी पुष्पहार समर्पित करके ही सन्तोष नहीं किया वरन् अनेक तरुणों में विद्रोह और देशानुराग की भावना जागृत कर एवं राष्ट्रीय आन्दोलनों को सक्रिय गति प्रदान कर कृष्ण मंदिर की यात्रा का भी सौभाग्य प्राप्त किया है। इससे उनकी राष्ट्रीय भावना अधिक बलवती हो गई है, जो हमें उनके काव्य में सबल दिखाई देती है। उनकी हिमकिरीटनी और हिमतरंगिनी कृतियाँ उनकी इसी प्रकार की रचनाओं के संकलन हैं। आपकी "अमर राष्ट्र" कविता की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

मैं यह चला पत्थरों पर चढ़, मेरा दिलबर नहीं मिलेगा।
फूंक जला दें सोना चाँदी, तभी क्रान्ति का सुमन खिलेगा॥

चट्टान पिघाले हँस-हँस सागर गरजे मस्ताना-सा।
प्रलय-राग अपना भी उसमें, गूँथ चलें ताना-बाना सा॥

चतुर्वेदी जी की सभी काव्य-कृतियों में राष्ट्रीयता कूट-कूट कर भरी दिखाई देती है। वे अपनी प्रथम रचनाओं में अत्यधिक उग्र हो उठे हैं, उदाहरणार्थ 'हिमकिरीटिनी' की निम्नांकित पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

बलि होने की परवाह नहीं, मैं हूँ कष्टों का राज्य रहे।
मैं जीता, जीता-जीता हूँ, माता के हाथ स्वराज्य रहे॥

× × ×

रक्त है ? या है नसों में क्षुद्र पानी।
जाँच कर, तू सीस दे दे कर जवानी॥

× × ×

चढ़ चल, चढ़ चल थक मत रे,
बलि पथ के सुन्दर जीव।
उस कठोर शिखर के ऊपर,
है मंदिर की नींव॥
बड़े-बड़े ये शिला-खण्ड,
मग रोके पड़े अचेत।
इन्हें सौंप तू यदि जाता है,
तुझे मरण के हेत॥

यद्यपि राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) का जन्म सन् १८८५ में हो चुका था और तब से देश के शासन में अधिक-से-अधिक स्थान प्राप्त करने का आन्दोलन आरम्भ हो गया था तथापि आन्दोलन का वह रूप न था जिसके द्वारा देश को पराधीनता से मुक्त किया जा सके। वह आन्दोलन नहीं वरन् अंग्रेजी शासन के साथ भारतीयों का समझौता था। इस समझौते के द्वारा शासन को प्रसन्न रखते हुए अधिक-से-अधिक शासनाधिकार प्राप्त करना ही राष्ट्रीय महासभा का लक्ष्य था। सरकारी दृष्टि से इस सभा के अधिवेशन होते और प्रतिवर्ष कुछ प्रस्ताव पारित कर राज्याधिकारियों से माँग की जाती थी। सन् १९०५ में लार्ड कर्जन के द्वारा बंगाल का विभाजन होने पर बंग-भंग आन्दोलन आरम्भ हुआ किन्तु देश में यथेष्ट जन-जागृति का अभाव था जिससे यह आन्दोलन अधिक बल न पकड़ सका। इसके साथ ही 'स्वदेशी आन्दोलन' आरम्भ हुआ किन्तु यह आन्दोलन भी देश में राजनीतिक चेतना व्यापक प्रभाव में न ला सका। सन् १९१४ में प्रथम विश्व युद्ध आरम्भ हुआ। अंग्रेजी शासन की बातों पर विश्वास कर भारतीयों ने अंग्रेजों की जन-धन से सहायता की।

सन् १९१८ में अंग्रेजों की विजय के साथ युद्ध समाप्त हुआ किन्तु शासन ने "रौलट ऐक्ट" के रूप में भारतीयों को जो पुरस्कार दिया वह अत्यन्त भयंकर था। भारतीयों ने इसका विरोध किया और परिणामस्वरूप 'जलियाँवाला बाग' की मानवता को लज्जित करनेवाली दुर्घटना का दृश्य उपस्थित हुआ। 'माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड योजना' के अनुसार भारत में "द्वैध शासन" आरम्भ हुआ पर भारतीयों को इससे सन्तोष न हुआ। वे जलियाँवाला बाग का भयंकर हत्याकाण्ड न भूल सके। देश भर में अंग्रेजी शासन की बर्बरता के विरुद्ध विद्रोह की ज्वाला प्रज्वलित हो रही थी। इसी स्थिति में सन् १९२० में राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन नागपुर में हुआ। महासभा की बागडोर महात्मा गांधी के हाथ में आयी। सन् १९२१ के आरम्भ के होते-होते महात्माजी ने देशव्यापी असहयोग आन्दोलन की घोषणा कर दी। यह आन्दोलन अपनी विविध धाराओं के साथ देश के कोने कोने में सक्रिय हो उठा। भारतीयों की इस राष्ट्रीय-भावना को कुचलने में अंग्रेजी शासन ने अपनी पूरी शक्ति लगा दी किन्तु वह आंदोलन को पूर्ण रूपेण निर्मूल करने में समर्थ न हो सका। आन्दोलन कभी मन्द और कभी तीव्र गति से चलता रहा।

३१ दिसम्बर सन् १९२९ को अर्धरात्रि को राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस ने पंडित जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में रावी नदी के तट पर "पूर्ण भारतीय स्वतन्त्रता" की घोषणा की। इस घोषणा के साथ ही राष्ट्रीय आन्दोलन "कानून भंग सत्याग्रह" के रूप में सामने आया। पुनः देश के बीस सहस्र देशभक्त भारतीयों से जेल भर गये। इसके पश्चात् अछूतोद्धार आन्दोलन, किसान आन्दोलन आदि का जन्म हुआ और देश राष्ट्रीय चेतना से पूर्ण हो गया।

सन् १९३९ में द्वितीय विश्व-युद्ध आरम्भ हुआ पर कांग्रेस तथा उससे प्रभावित भारतीयों ने इस युद्ध में शासन की सहायता नहीं की। सन् १९४० में "व्यक्तिगत सत्याग्रह" आरम्भ हुआ। इस आन्दोलन में अन्य आन्दोलन की तरह उग्रता न थी। पर सत्याग्रहियों ने देश के कोने कोने में पैदल घूमकर जो जन जागृति की उसी का परिणाम सन् १९४२ का 'भारत-छोड़ो' आन्दोलन था। यह भारतीय स्वतन्त्रता के लिए किया जाने वाला अन्तिम और सर्वाधिक उग्र आन्दोलन था। देश की मुक्ति के इन आन्दोलनों का प्रभाव सर्वव्यापक था फिर हिन्दी के कवि ही अप्रभावित कैसे रह सकते थे? सभी प्रमुख कवियों ने राष्ट्रीय काव्य-रचना कर देश की स्वतन्त्रता के लिए किये जाने वाले महायज्ञ में आहुति देना अपना कर्तव्य समझा। श्री रामधारी सिंह दिनकर, बालकृष्ण शर्मा नवीन, माखनलाल द्विवेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान आदि के ही नहीं वरन् छाया वादी पंत, प्रसाद और निराला तथा हालावादी बच्चन तक के काव्य में राष्ट्रीयता के स्वर सुनाई पड़ने लगे। श्री दिनकर ने "हुंकार" के साथ कहा—

असि की नोकों से मुकुट जीत, अपने सिर उसे सजाती हूँ,
ईश्वर का आसन छीन, कूद मैं आप खड़ी हो जाती हूँ।
थर-थर करते कानून न्याय इंगित पर जिन्हें नचाती हूँ
भयभीत पातकी धर्मों से अपने पग मैं धुलवाती हूँ।
सिर झुका घमंडी सरकारें करतीं मेरा अर्चन-पूजन।

दिनकर जी का कवि विदेशी शासन के प्रति विद्रोह कर उठा और वह क्रान्ति के स्वरों में बोला—

फेंकता हूँ मैं तोड़-मरोड़, अरी निष्ठुर बीणा के तार,
उठा चाँदी का उज्ज्वल शंख, फूँकता हूँ भैरव हुंकार।
नहीं जीते जी सकता देख, विश्व में झुका तुम्हारा भाल
वेदना-मधु का भी कर पान, आज उगलूँगा गरल कराल।

जन-जीवन पराधीनता से ऊब चुका था। राष्ट्रीय आन्दोलन चल रहा था पर समस्त देश पराधीनता की काल-रात्रि से आवृत था। स्वतंत्रता के सूर्योदय के लक्षण दिखाई न दे रहे थे। विद्रोही कवि-हृदय परतन्त्रता से मुक्ति पाने का कोई अन्य मार्ग न देख सम्पूर्ण विश्व में एक ऐसी क्रान्ति होने की कल्पना कर रहे थे जो वार-संसार से समस्त विश्व का ध्वंस करके उसके स्थान पर नवीन विश्व का निर्माण करने में सक्षम हो। नवीन ने एक ऐसा गीत सुना है जिससे उथल-पुथल मच जाय के नवीन जी की रचना में इसी प्रकार की क्रान्ति की कामना निहित है। नवीन जी ने भारत को सम्बोधित करते हुए कहा—

ओ भिखमंगे, अरे पतित तू ओ मजलूम अरे चिर दोहित,
तू अखंड भंडार शक्ति का, जाग अरे निद्रा-सम्मोहित।
प्राणों को तड़पानेवाली हुंकारों से जल-थल भर दे,
अनाचार के अम्बारों में अपना ज्वलित पलीता भर दे।

नवीन जी ने एक राष्ट्रीय कवि के रूप में ही नहीं वरन् जीवन के एक कर्मठ गृह सैनिक के रूप में भी देश की मुक्ति के आन्दोलन में योगदान किया है। इस स्थिति में उनकी वाणी से ओजस्वी प्रसून होना सर्वथा स्वाभाविक ही है।

पंडित सोहनलाल द्विवेदी का स्थान भी हिन्दी की राष्ट्रीय कविता में महत्त्वपूर्ण है। वे एक दीर्घावधि तक अपने काव्य द्वारा देश के तरुणों में उत्साह की भावना जागृत करते रहे हैं। उन्होंने पराधीनता का अंत करने के लिए आत्मबलिदान की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा—

आँसू बिखराते बीतेंगी जलती जीवन घड़ियाँ।
बिना चढ़ाए शीश, नहीं टूटेंगी माँ की कड़ियाँ॥

गांधी के अहिंसात्मक आन्दोलन के साथ देश का एक तरुण क्रान्तिकारी दल भी अपनी दृष्टि से भारतीय स्वतंत्रता प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा था। यद्यपि उनका यह प्रयत्न हिंसा की प्रवृत्तियों से पूर्ण था तथापि उनके इस प्रयत्न में जो भावना निहित थी उसका महत्व भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उनके इस आन्दोलन से देश के तरुणों में वीरता के भाव अवश्य जागृत हुए थे किन्तु गांधीजी के आन्दोलन का प्रभाव अधिक व्यापक था। यही कारण है कि इन दिनों जो राष्ट्रीय गीत लिखे गये उनमें 'शीश देने' की ही अधिक भावना थी 'शीश उतारने' की भावना नहीं थी। श्री सोहनलाल द्विवेदी का उपयुक्त पंक्तियों में भी हम यही बात देखते हैं। आन्दोलन की यही भावना सुभद्राकुमारी चौहान की इन पंक्तियों में निहित है—

सुनूँगी माता की आवाज,
रहूँगी मरने को तैयार।
कभी भी उस वेदी पर देव,
न होने दूँगी अत्याचार॥
न होने दूँगी अत्याचार,
चलो मैं हो जाऊँ बलिदान।
मातृ मंदिर में हुई पुकार,
चढ़ा दो मुझको हे भगवान॥

भारतीय परम्परा कभी भी हिंसा की समर्थक नहीं रही उसने वीरता में भी शान्ति मत्ता के दर्शन किये। यही कारण है कि हम स्वतंत्रता-आन्दोलन के दिनों में भी हिन्दी के कवियों ने राष्ट्रीय भावना से पूर्ण जो काव्य-रचना की उसमें हम स्वदेशाभिमान और सात्विक ओज भी अधिक परिमाण में पाते हैं। छायावादी पन्त ने 'युगान्त' की रचना के साथ छायावादी युग का समाप्ति की घोषणा की और वे एक जनकवि के रूप में "युगवाणी" लेकर उपस्थित हुए। उन्होंने कहा—

रूढ़ि रीतियाँ जहाँ न हों आधारित,
श्रेणि-वर्ग में मानव नहीं विभाजित,
धन बल से हो जहाँ न जनश्रम शोषण,
पूरित भव जीवन के सकल प्रयोजन॥

आज राष्ट्र की नव-निर्माण की बेला में जो कहा जा रहा है वह भविष्यद्रष्टा पन्त एक युग पूर्व कह चुके थे—

हर रम्य निर्माण करो हे रम्य वस्तु परिधान,
रम्य बनाओ गृह जन-पथ को रम्य नगर जन-स्थान।

पन्त जी की "युगवाणी' और 'ग्राम्या' राष्ट्रीय भावना का ही प्रतिनिधित्व करती हैं।

श्री निराला जी ने देश के तरुणों को संबोधित करते हुए कहा—

पशु नहीं वीर तुम।
समर शूर क्रूर नहीं,
काल—चक्र में हो दबे
आज तुम राजकुँवर समर सरताज!
पर क्या है, सब माया है-माया है।
मुक्त हो सदा ही तुम
बाधा—विहीन—बन्ध छन्द ज्यों!

प्रसाद जी ने स्वतन्त्र रूप से राष्ट्रीय गीतों का निर्माण नहीं किया किन्तु उनके चन्द्रगुप्त स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य आदि नाटकों में अनेक गीत प्रखर राष्ट्रीय भावनाओं से पूर्ण मिलते हैं। इसी प्रकार बाबू गोविन्द दास एवं हरिकृष्ण प्रेमी आदि के नाटकों में भी इस प्रकार के गीतों का अभाव नहीं है। राष्ट्रीय भावना के विकास की दृष्टि से पं० रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक' बाबू सियारामशरण गुप्त के 'मौर्य विजय' पं० श्यामनारायण पाण्डेय की 'हल्दी घाटी" सोहनलाल द्विवेदी की 'भैरवी' दिनकर की "हुंकार' [illegible] त्रिपाठी 'प्रभाती' के '[illegible]' त्रिशूल जी की 'त्रिशूल-तरंग' आदि का भी महत्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रगतिवादी युग जहाँ एक ओर मार्क्स की समाजवादी विचारधारा का परिणाम है वहाँ यह दूसरी ओर भारत की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति की भी देन है। अतः हमें आज के प्रभाव में रचित किसान-मजदूर आदि शोषित वर्गों में जागृति उत्पन्न करने की दृष्टि से रचित कविताओं का भी राष्ट्रीय भावना से पूर्ण काव्य-साहित्य में अन्यतम ही स्थान समझना चाहिए। हम इस प्रकार कबीर-दास से वर्तमान काल तक हिन्दी-काव्य-साहित्य में राष्ट्रीय भावना का एक ऐसा प्रवाह देखते हैं जो कभी शिथिल गति से और कभी द्रुतगति से प्रवाहित होता हुआ भारतीय जन-मानस को प्रभावित करता रहा है।

———

नवयुग-काव्य-साहित्य की तीन विभूतियाँ

बाबू जयशंकर प्रसाद

प्रसाद जी का जन्म माघ शुक्ल दशमी सं० १९४६ को काशी के एक प्रतिष्ठित वैश्य-परिवार में हुआ था। धार्मिकता और दानशीलता इस परिवार की परम्परा थी। प्रसाद जी ने युवा होने के पूर्व ही अपनी माता के साथ धाराक्षेत्र, ओंकारेश्वर, मान्धाता, पुष्कर, जयपुर, ब्रज, अयोध्या आदि स्थानों की यात्रा की थी। वे अमरकण्टक की यात्रा से अत्यधिक प्रभावित हुए थे। माता-पिता की मृत्यु हो जाने से प्रसाद जी ने सातवीं श्रेणी से ही शाला जाना बन्द कर दिया और घर पर ही अध्ययन करने लगे। वे घर उपनिषद् साहित्य आदि का अध्ययन करते और दूकान भी देखते थे। उन्हें व्यायाम में बहुत रुचि थी पर व्यापार से चिढ़ थी। दानशीलता और अमीरी छोड़ना न चाहते थे। परिणाम-स्वरूप ऋण का भार बढ़ गया। उन्होंने किसी तरह यह ऋण चुकाया और वे दूकान से पृथक् ही साहित्य-साधना में ही लग गये। उनकी सम्मति से उनके भांजे श्री अंबिकाप्रसाद ने "इन्दु" मासिक का प्रकाशन आरम्भ किया। प्रसाद जी सर्व प्रथम इसी पत्र के द्वारा हिन्दी-प्रेमियों के परिचित हुए।

प्रसाद जी का रचना-काल द्विवेदी-युग से ही आरम्भ होता है। उनकी "महाराणा का महत्व" और "प्रेम पथिक" काव्य-कृतियाँ सं० १९७० में ही प्रकाशित हो चुकी थीं। उस युग की काव्य-प्रवृत्ति के अनुसार प्रसाद जी ने आरम्भ में ब्रजभाषा में ही काव्य-रचना आरम्भ की थी। "चित्राधार" प्रसाद जी की ब्रजभाषा की रचनाओं का ही संग्रह है। खड़ी बोली की ओर प्रवृत्त होने पर आपने "महाराणा का महत्व" और "प्रेम पथिक" के अतिरिक्त 'कानन कुसुम' तथा 'करुणालय' की भी रचना की। ये चारों द्विवेदीकालीन कविता के ढंग की खड़ी बोली की रचनाएँ हैं पर इनमें से "महाराणा का महत्व" और 'प्रेम-पथिक'—उस युग की परम्परा के विरुद्ध अतुकान्त हैं।

छायावाद के क्षेत्र में

पहिले कहा जा चुका है कि बाबू मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर जी पांडे आदि नूतन भावाभिव्यंजना से हिन्दी के काव्य में एक परिवर्तन लाने का प्रयत्न कर रहे थे। अन्य कवियों पर इस नूतन अभिव्यंजना का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। प्रसाद जी ने भी गुप्त जी और पाण्डेय जी के ढंग पर काव्य-रचना आरम्भ की।

"झरना" प्रसाद जी की इसी प्रकार की रचनाओं का संग्रह है जो सं० १९७५ प्रकाशित हुआ था। सं० १९८४ में "झरना" का द्वितीय संस्करण विशुद्ध छायावादी रूप धारण कर प्रकाशित हुआ। 'विषाद' 'बालू की भीत' 'बिखरा प्रेम' 'किरण' 'बसन्त की प्रतीक्षा' आदि छायावाद की उत्कृष्ट रचनाएँ हैं। हिन्दी-संसार ने सर्वप्रथम प्रसाद जी की इन रचनाओं में ही बँगला की तरह संस्कृत-प्रचुर कोमलकान्त पदावली के दर्शन किये। इनमें 'खोलो द्वार' 'किरण' आदि कुछ रचनाएँ ऐसी भी थीं जो छायावाद की सीमा को पार कर रहस्यवादी क्षेत्र में पहुँच चुकी थीं।

रहस्यवादी काव्य

प्रसाद जी के 'झरना' के द्वितीय संस्करण में छायावाद के साथ जिस रहस्यवाद का उदय हुआ उसका विकास हमें 'आँसू' में मिलता है। "आँसू" वास्तव में विप्रलम्भ शृङ्गार की रचना है जिसमें प्रिय की प्रियतम के प्रति विविध रहस्यात्मक भावनाएँ बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त हुई हैं। "आँसू" के पश्चात् प्रसाद जी की दूसरी रहस्यमयी रचनाएँ "लहर" और "कामायनी" हैं।

काव्य-सौष्ठव

"आँसू" प्रसाद जी की प्रथम रहस्यवादी रचना है पर काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से अनुपम है। करुण रस इस काव्य-कृति का प्रधान रस है पर इसमें प्रसाद जी ने करुण भावों का सूक्ष्म विवेचन करते हुए जिस सौन्दर्य की सृष्टि की है वह वास्तव में ही अद्वितीय है। प्रसाद जी के आँसू में जो सौन्दर्य है वह उदात्त शृंगार के उल्लास और मिलन की अनुभूति से बना। "आँसू" में अतीत मिलन-सुख की पीड़ा-दायिनी स्मृतियाँ, वेदना का प्यार, प्रेम की मादकता, प्रियतम की मिलन-कल्पना का माधुर्य और सारे आँसुओं का सौन्दर्य एक साथ ही चित्रित होता है। प्रसाद जी के आँसू उस वेदना का परिणाम करुण की अधीर है जिसकी सत्ता अनन्त और अज्ञात है। जो घनीभूत पीड़ा मस्तिष्क में स्मृति बनकर एकत्र थी वही 'आँसू' बनकर फूट पड़ा है—

"जो घनीभूत पीड़ा थी, मस्तक में स्मृति-सी छायी,
दुर्दिन में आँसू बनकर, वह आज बरसने आयी।"

कवि प्रसाद के सुख दुःख रूप और करुणा से अनुप्राणित होता और अपने हृदय की भावनाओं को अपने काव्य-द्वारा व्यक्त कर देता है। जब घनीभूत पीड़ा की स्मृति कवि मानस में जाग्रत हो उठती है तब वह इसी तरह समस्त विश्व को करुणा में डूबा देखता है। वह जिधर और जहाँ देखता उधर और उसे करुणा का ही साम्राज्य दिखाई देता है—

नीचे विपुला धरणी है, दुख भार वहन-सी करती।
अपने खारे आँसू से करुणा-सागर को भरती॥

कवि जगती के कण-कण में अपनी ज्वालामयी जलन को व्याप्त देखता है—

ये सब स्फुलिंग हैं मेरी उस ज्वालामयी जलन के,
कुछ शेष चिह्न हैं केवल, मेरे उस महामिलन के।

पर कवि को विश्वास है कि यह वेदना-मय संसार उसकी करुणा का प्रकाश पाकर कुछ क्षण को अपनी बेसुधी भूल जाता है। वह अपनी ज्वाला से कहता है—

तेरे प्रकाश में चेतन संसार वेदना वाला,
मेरे समीप होता है पाकर कुछ करुण उजाला।

'आँसू' का कवि विस्मृति की स्थिति में ही आनन्द देखता है इसीलिए वह चिरदग्ध दुखी वसुधा के सदैव बेसुधी में सोई रहने की कामना करता है। वह निशा से कहता है—

चिर दग्ध दुखी यह वसुधा आलोक माँगती तब भी
तुम तुहिन बरस दो कन-कन यह पगली सोये अब भी।

वह उन क्षणों की प्रतीक्षा करता है जिन क्षणों में जीवन के समुद्र में स्थिरता होगा, उसमें चेतना की लहरों का अभाव होगा और सन्ध्या प्रलय रात्रि का रूप ग्रहण कर लेगी—

चेतना लहर न उठेगी, जीवन-समुद्र थिर होगा,
सन्ध्या हो सर्ग प्रलय का, विच्छेद मिलन फिर होगा।

"आँसू" की निम्नांकित पंक्तियों में रहस्यवादी भावनाओं का पूर्ण विकास मिलता है—

लहरों में प्यास भरी थी, थे भँवर-पात्र भी खाली,
मानस का सब रस पीकर, ढुलका दी तुमने प्याली।

कितना निष्ठुर है प्रसाद का प्रियतम। इसीलिए वे प्रथम प्रियतम से पूछते हैं—

तुम रूप-रूप थे केवल, या हृदय भी रहा तुमको?

"आँसू" के पश्चात् प्रसाद जी की दूसरी काव्य-कृति 'लहर' सामने आती है। इसमें विविध भाव-लहरें संगृहीत हैं। इस संग्रह की प्रथम रचना का शीर्षक 'लहर' है। यहाँ कवि उस लहर की ओर संकेत करता है जो मानव-मानस में उठकर उसके जीवन को रसमय बनाती है। 'लहर' की रचनाओं में रहस्यवादी भावनाओं के चित्रण के अतिरिक्त प्रकृति के मधुर रूप भी दर्शनीय हैं। उदाहरणार्थ यह गीत देखिए—

कामायनी का नायक कोई दिव्य पुरुष नहीं किन्तु संसार का सामान्य मानव है। उसमें मानव की सभी दुर्बलताएँ और दोष वर्तमान हैं। श्रद्धा केवल सौंदर्य का उमड़ता सागर और प्रेम की साकार सजीव प्रतिमा ही नहीं वरन् उदात्त जीवन की सन्देशवाहिनी भी है किन्तु मनु उसकी इस महानता को समझ नहीं पाता। वह प्रमादवश उसे तथा उसके नवजात शिशु को त्यागकर सारस्वत प्रदेश को भाग जाता है। वहाँ उसकी इड़ा से भेंट होती है। रूप-गर्विता इड़ा मनु को पाकर अपने को धन्य मानती है। वह बुद्धि और कर्म का प्रतिनिधित्व करती है, अतः पथभ्रष्ट मनु को सुमार्ग पर लाने का प्रयत्न करती है। प्रसाद जी ने इड़ा के सौंदर्य का जो चित्रण किया है वह परम्परागत रूप-सौन्दर्य-चित्रण के स्तर से बहुत उच्च धरातल पर स्थित है। उदाहरणार्थ ये पंक्तियाँ देखिए—

बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल।
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान ज्ञान,
था एक हाथ में कर्म-कलश वसुधा-जीवन रस लिये –
दूसरा था विचार ॥

इन पंक्तियों में विचार और कर्म का सुन्दर समन्वय दर्शनीय है। राज्य-वैभव तथा विलास की चकाचौंध से मनु का मस्तिष्क विकृत हो जाता है। उसका अहं भाव तथा शासन की एकान्तता और निरंकुशता उसे प्रजा के सम्मान से च्युत कर देती है। वह प्रजा का कोपभाजन बन निराशा के एक गहन गर्त में जा पड़ता है। प्रसाद ने मनु की इस स्थिति द्वारा प्रजातन्त्रवाद का समर्थन किया है। इड़ा-रूप बुद्धि मनु के अत्याचारों से त्रस्त होकर उसका त्याग करने को उद्यत है, किन्तु मनु उसे चिरबंदिनी बनाना चाहता है। इड़ा और मनु का यही संघर्ष उसके पतन का कारण बन जाता है।

इसी समय श्रद्धा अपने शिशु के साथ वहाँ उपस्थित होती है। मनु उसे देखकर निष्प्रभ हो जाता है और पश्चात्ताप की ज्वाला में जलने लगता है। वह रात्रि के अंधकार में छिपकर पुनः अपनी पलायनवृत्ति का परिचय देता है। श्रद्धा अपने पुत्र 'मानव' को इड़ा के संरक्षण में छोड़कर मनु की खोज में निकलती है। इसके पूर्व वह मानव को शिक्षा देते हुए कहती है

हे सौम्य! इड़ा का शुचि दुलार
हर लेगा तेरा व्यथा भार।
यह तर्कमयी तू श्रद्धामय
तू मननशील कर कर्म अभय ॥
इसका तू सब सन्ताप निचय
हर ले, हो मानव भाग्य उदय।

सबकी समरसता का प्रचार
मेरे सुन सुन माँ की पुकार ॥

कामायनी में इसी प्रकार की अनेक विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। इसमें प्रबंध काव्य की परम्परा का चाहे पूर्ण निर्वाह न हुआ हो परंतु इसमें सन्देह नहीं कि यह काव्य इस नवयुग की एक महान् देन है। इसमें जीवन और जगत् की अन्तर्मुखी भावनाओं का जितना विशद और सूक्ष्म चित्रण हो सका उतना कदाचित ही इस काल के अन्य काव्य में देखा जा सकता है। कामायनी प्रसाद जी के हिन्दू बौद्ध शैव आदि के दर्शन के गंभीर अध्ययन का परिणाम है। भावों की चित्रात्मकता कल्पनाओं की रमणीयता तथा अनूठी भावाभिव्यंजना कामायनी की विशेषताएँ हैं। इसमें मानव वृत्तियों की आभ्यंतर प्रेरणाओं की मार्मिक विवेचना की गई है। काव्य में स्थान स्थान पर प्रकृति के जो भव्य और मधुर चित्र उपस्थित किये गये हैं उनसे यह काव्य कृति बड़ी सौन्दर्यमयी बन गई है।

भाषा और शैली

भाषा की दृष्टि से प्रसाद के काव्य में हमें एक क्रमबद्ध विकास मिलता है। ब्रजभाषा के पश्चात् प्रसाद जी ने खड़ी बोली में काव्य रचना आरंभ की और ज्यों-ज्यों उनका ज्ञान अनुभव बढ़ता गया और उनकी रचना में प्रौढ़ता आती गई त्यों-त्यों उनकी भाषा क्रमशः विकास की ओर बढ़ती हुई अधिकाधिक परिष्कृत और गंभीर बनती गई। प्रसाद जी की काव्य-भाषा संस्कृत-प्रचुर हिन्दी है किन्तु इसकी विशेषता यह है कि इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की बाहुल्य होते हुए भी प्रवाह में कोई अवरोध दिखाई नहीं देता। संस्कृत-प्रचुर भावमयी उच्चकोटि की गंभीर भाषा में मनोहारी काव्य रचना करने में प्रसाद जी को अद्वितीय सफलता प्राप्त है। भावानुकूल शब्द-चयन प्रसादजी की एक प्रमुख विशेषता है। उनकी भाषा पूर्ण रूपेण भावानुवर्तिनी होकर अविरल गति से व्यंजना करती चलती है। लाक्षणिकता प्रसाद की भाषा का प्राण है।

प्रसाद जी की काव्य-शैली सचमुच उनकी अपनी है। लघुतम वाक्यों में महान् भावनाओं को संगीत की मधुरिमा के साथ व्यक्त कर देना प्रसादजी की शैली की विशे-षता है। लाक्षणिक प्रयोगों ने प्रसाद जी की शैली में अनूठी सजीवता ला दी है। उनकी रचना शैली में अलंकार-विधान का भी स्थान है, किन्तु उनके प्रयोग में कोई प्रयास दिखाई नहीं देता। भावों की सरल और स्पष्ट व्यंजना ही प्रसाद जी के अलं-कार-प्रयोग का प्रयोजन है।

राष्ट्रभारती का यह महान् साधक कार्तिक शुक्ल एकादशी संवत् १९९४ को हिन्दी संसार को सदैव के लिए सूना कर स्वर्गवासी हो गया।

क्षिति में, — जल में, — नभ में, अनिल अनल में
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द — सा "चुप — चुप — चुप"
है गूँज रहा सब कहीं,—

निराला जी की रहस्यवादी रचनाओं में हमें अध्यात्म की उस भाव-धारा के दर्शन होते हैं जिसका विकास बंगला के रहस्यवादी कवियों की रचना में हुआ है। उन्होंने अपनी 'रेखा' कविता में प्रेम के उद्भव का निरूपण एक ही चेतन सत्ता की अनुभूति के रूप में किया है—

सब कुछ तो था असार
अस्तु ? वह प्यार ?
सब चेतन जो देखता
स्पर्शों में अनुभव — रोमांच,
दृश्य रूप में — परिचय
सौंपा कली ने था हृदय वह
जड़ों में चेतन गति कम्पन मिलता कहाँ ?

निराला जी जीवन भर केवल छायावाद और रहस्यवाद के अंतरजाल में ही उलझे न रहे, उन्होंने देश के उपेक्षितों, भिखारियों और श्रमिकों की स्थिति पर भी दृष्टिपात किया और उनको करुण गान गाये। उन्होंने भिखारी विधवा पत्थरों को तोड़ते श्रमिक आदि के जो चित्र उपस्थित किये हैं वे वास्तव में बड़े करुण और मर्मस्पर्शी हैं। उनके शब्दों में भारत की विधवा का रूप देखिए—

वह इष्टदेव के मंदिर की पूजा सी,
वह दीपशिखा सा शांत भाव में लीन
वह क्रूर काल ताण्डव की स्मृति-रेखा सी
वह टूटे तरु की छुटी लता सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है।

निराला जी कवि और गीतकार एक साथ हैं। 'गीतिका' उनके गीतों का एक महत्वपूर्ण संकलन है। उनके कुछ गीतों में वे संगीत की तन्मयता में इस प्रकार खो गये हैं कि वे भाव।भिव्यंजना से भी दूर जा पड़े। उदाहरणार्थ ये पंक्तियाँ देखिये—

मधुप निकर कलरव भर
गीत-मुखर पिक-प्रिय-स्वर
स्मर शर हर केसर-झर
मधुपूरित गंध, ज्ञान

यहाँ स्वर-साधना ही निराला जी का लक्ष्य बन गया है भावाभिव्यक्ति नहीं।

भाषा-शैली

प्रसाद जी की तरह निराला जी की भाषा भी संस्कृत-प्रचुर हिंदी है किन्तु इनका पद-विन्यास जितना बंगला-पद-विन्यास के समीप है, उतना संस्कृत अथवा हिन्दी पद विन्यास के समीप नहीं है। भाषा का रूप सर्वत्र समान नहीं है वह विषय और भाव के साथ सरल अथवा दुरूह होता गया है। तत्व की प्रधानतायुक्त भावों की अभिव्यंजना करनेवाली भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों के बाहुल्य से कहीं-कहीं बड़ी पुष्ट हो गई है किन्तु इस स्थिति में भी वह कोमल कांत पदावली से युक्त है। भाषा का संगीतमय स्वरूप निराला जी के काव्य की एक ऐसी विशेषता है जो अन्यत्र दुर्लभ है। हिन्दी-काव्य को संगीत के स्वर प्रदान करने का श्रेय निराला जी को ही है। लंबी पदावलियों का प्रयोग सामासिक शब्दों की एक लंबी शृंखला और क्रिया-पदों का लोप निरालाजी की भाषा शैली की विशेषता बन गई है। उनकी शैली के कारण अनेक स्थलों पर उनके काव्यगत भावों को समझना अत्यन्त कठिन हो गया है। उदाहरणार्थ, "राम की शक्ति-पूजा" की निम्नांकित पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

राक्षस विरुद्ध प्रत्यूह-क्रुद्ध कपि विषम-हूह
विच्छुरित-वह्नि-राजीव-नयन-हत लक्ष्य बाण
लोहित लोचन-रावण-मद-मोचन-महीयान
राघव-लाघव रावण-वारण-गत युग्म प्रहर

शब्द-चित्र-चित्रण और आनुप्रासिक प्रयोग तथा संगीतमय रूपक निरालाजी की भाषा-शैली की अन्य प्रमुख विशेषता है। यथा—

मुकुल शैशव मृदु मलय मधुर
स्नेह-कंपित किसलय मधु गात
कुसुम अस्फुट नव नव संचय,
मृदुला-वह यौवन कनक-प्रभात

छंदों की स्वच्छंदता भी निरालाजी की एक विशेषता है जैसा कि पूर्व-उद्धरित पंक्तियों में देखा जा सकता है किन्तु हमारे इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि निरालाजी के काव्य में छंदबद्ध कविताओं का सर्वथा अभाव है। उनको छंदों के निर्बन्धन में रहकर लिखी गई अनेक कविताएँ उपलब्ध हैं और वे भी उतनी ही सुन्दर, मधुर और भावपूर्ण हैं जितनी कि उनकी स्वच्छंद छंद की रचनाएँ हैं यथा—

यमुना के प्रति कही गई ये पंक्तियाँ देखिए—

किसका स्पर्शों का आँखों की, पल्लव छाया में अम्लान
यौवन की माया-सा आया, मोहन का सम्मोहन ध्यान ?

नवमुग्ध किन अभिलाषाओं के, मुग्ध हृदय का मृदु गुंजार
तेरे दृग-कुसुमों की सुषमा, खोज रहा है बारबार ?
यमुने ! तेरी इन लहरों में, किन अधरों की आकुल तान
पथिक प्रिया-सी जगा रही है, उस अतीत के नीरव गान ?

सुमित्रानन्दन पंत

पंतजी का जन्म सं० १९५७ के वैशाख मास में कौसानी (अल्मोड़ा) में हुआ था। इनके पिता श्री गंगादत्त पंत एक धर्मानुरागी जमींदार तथा कौसानी राज्य के कोषाध्यक्ष थे। पंत जी ने अपने गांव में प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर सं० १९७१ में बनारस से मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की और उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रयाग के म्योर सेंट्रल कालेज में भरती हो गये। यहां उनका पं० शिवाधार पाण्डेय से परिचय हुआ और उन्हीं के निर्देशन में उन्होंने अंग्रेजी तथा संस्कृत के प्रमुख कवियों के काव्य का अध्ययन किया। इसी समय देश में असहयोग आन्दोलन प्रारंभ हुआ। पंतजी ने भी कालेज छोड़ दिया और वे अपने घर आकर पाश्चात्य साहित्य ग्रंथों की रचनाओं का अध्ययन करने लगे।

काव्य-रचना

पंतजी का रचना-काल लगभग सं० १९७५ से आरम्भ होता है। इनकी सं० १९७५ से १९७८ तक की प्रारंभिक रचनाएँ 'उच्छ्वास' में संग्रहीत हैं जो सं० १९७८ में प्रकाशित हुआ था। इसके पश्चात् 'वीणा' प्रकाशित हुई जिसमें कुछ द्विवेदी-युग के ढंग की और कुछ छायावाद का आभास देनेवाली कविताएँ संगृहीत हैं। 'वीणा' की कुछ रचनाओं पर रवि बाबू की 'गीतांजलि' का प्रभाव भी मिलता है। पंतजी भी प्रथम छायावादी और रहस्यवादी कवि के रूप में प्रकट हुए। उनकी प्रकृति के विविध रूपों की सौन्दर्यानुभूति की स्वाभाविकता ने ही सम्भवतः उन्हें रहस्यवादी दृष्टि प्रदान की है। हम उनके रहस्यवाद में बाद की साम्प्रदायिकता का आग्रह नहीं पाते वह उनकी रचनाओं में स्वाभाविक गति से विकास पाता दृष्टिगोचर होता है।

'वीणा' के पश्चात् पंत जी का 'पल्लव' सामने आता जिसे हम भावविचार-प्रधान काव्य कह सकते हैं। जिस [illegible] व्यंजना का सूत्रपात 'वीणा' में हुआ था उसका पूर्ण विकास 'पल्लव' में मिलता है।

ग्रंथि (१९७७) में असफल प्रेम की कहानी है। कहानी के प्रथम उत्थान में कवि प्रेम की मनोहर भूमि में प्रवेश करता है और द्वितीय उत्थान में उस प्रेम का अन्य विवाह के [illegible] टूटता है। ग्रंथि का कथानक औपन्यासिक ढंग का है। झील में नाव डूबने पर एक तरुण मूर्छितावस्था में निकाला जाता है एक तरुणी उसकी सेवा

सुषमा में रत होती है दोनों में प्रेम हो जाता है समाज यह प्रेम-व्यापार अनुचित समझता है और उस तरुणी का ग्रन्थि-बन्धन दूसरे व्यक्ति से कर देता है। यही ग्रंथि बंधन प्रथम तरुण के हृदय में सदैव के लिए 'विषाद-ग्रंथि' बन जाती है। यही कहानी 'ग्रंथि' का मूलाधार है पर इसमें कथानक के विकास की अपेक्षा सौन्दर्यानुभूति की व्यंजना ही प्रायः उल्लास वेदना स्मृति आदि के माध्यम से अधिक हुई है।

'गुंजन' में पंतजी जीवन और जगत् के वास्तविक और स्वाभाविक क्षेत्र की ओर प्रवृत्त होते से दिखाई देते हैं। कवि जीवन और जगत् के अन्तराल में प्रवेश करता है और चतुर्दिक बिखरे सौन्दर्य को अपने हृदय में भर लेना चाहता है—

मेरे मन के मधुवन में सुषमा के शिशु मुसकाओ
नव नव साँसों का सौरभ नवमुख का सुख बरसाओ"

इसके पश्चात् वह जीवन के विविध रूपों एवं विषमताओं की व्यंजना करता है। इसके पश्चात् वे "युगान्त' की रचना कर छायावादी और रहस्यवादी युग के अंत की घोषणा करते हुए वास्तविक जगत् की ओर आते हैं। कवि बाह्य सौन्दर्य से दृष्टि मोड़ कर जीवन-सौन्दर्य का दर्शन करता है, जो सत्य पर आधारित है।

"युगवाणी' पंत जी की आधुनिकतम विचारधारा की सम्यक् प्रेरक है। इसमें वर्तमान युग में सामाजिक-व्यवस्था और अर्थ-विषमता से उद्भूत सभी प्रमुख वादों और नव प्रवृत्तियों का आभास है।

पन्तजी की 'ग्राम्या' भारत के ग्राम जीवन के विविध पहलुओं पर प्रकाश डालने वाली काव्य-कृति है। इसके अतिरिक्त स्वर्णधूलि स्वर्ण-किरण उत्तरा मधुज्वाल और युग-पथ पन्तजी की अन्य रचनाएँ हैं।

काव्य-सौष्ठव

अन्य छायावादी कवियों की तरह पन्तजी ने भी प्रारम्भ में जो कविताएँ लिखीं उनमें अर्थ की अपेक्षा शब्द चमत्कार ही प्रधान रहा। अनेक स्थानों में अंग्रेजी के लाक्षणिक प्रयोग ज्यों-के-त्यों हिन्दी में अनुवादित रूप में रख दिये गये हैं। नये शब्द रचे गये और उनके द्वारा कहीं एक और कहीं दो अर्थच्छाया एक साथ रख दी गईं। इसी प्रकार कहीं-कहीं दो अलंकारों का भी प्रयोग एक साथ किया गया मिलता है। "वीणा" और 'पल्लव' में ऐसे अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं। इन दोनों काव्य कृतियों में कहीं पीड़ा के मर्म का हास है कहीं मैत्री के साथ और अनुराग है कहीं चमकती हुई उर्मि है और कहीं मधुर कलियों में कोमल भाव छिपाया देते हैं। इन्हीं विविध भावनाओं के कारण प्रारम्भ में छायावादी काव्य एक व्यंग और हास्य का विषय बना रहा।

'पल्लव" में कुछ रहस्यवादी रचनाएँ भी हैं। 'स्वप्न' और 'मौन-निमंत्रण' इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। इन रचनाओं में कवि दृश्य-जगत् के विविध रूपों और व्यापारों में किसी अज्ञात सत्ता का अनुभव करता और उसे जानने की आकांक्षा व्यक्त करता है। पन्तजी ने जहाँ प्रिय और प्रमिका को अपने काव्य में स्थान दिया है वहाँ भारतीय पद्धति के अनुसार स्त्री-पुरुष के रूप में ही उपस्थित होते हैं सूफी-पद्धति के अनुसार दोनों पुल्लिंग में ही प्रयुक्त नहीं होते।

'पल्लव' का कवि सौन्दर्योपासक है। वह प्रकृति के जिन स्थलों पर सौन्दर्य-सागर का स्रोत उमड़ता पाता है वहीं उसकी दृष्टि रम जाती है। वह प्रकृति के विविध रूप देखता और उन्हें अपनी कल्पना की रंगभूमि के नाटक के एक सजीव पात्र की तरह उपस्थित कर देता है। वह विशाल अम्बर को चन्द्र-ज्योत्स्ना से भरा देखता और उस सौंदर्य के बीच अपनी लघुता का अनुभव करता और उसका कवि कह उठता है—

फिर परियों के बच्चों-से हम सुभग सीप के पंख पसार।
समुद पैरते शुचि ज्योत्स्ना में पकड़ इन्दु के कर सुकुमार॥

जीवन और जगत् की प्रत्येक वस्तु उसके लिए मनोरम सौन्दर्य से पूर्ण है। कवि के शब्दों में आंसू का सौन्दर्य देखिए—

कल्पना में है कसकती वेदना।
अश्रु में जीता सिसकता गान है,
शून्य आहों में सुरीले छंद हैं,
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है।

"पल्लव" पन्तजी की उस युग की रचना है जब यूरोपीय काव्य-साहित्य में "सौंदर्य-वाद" का निरूपण 'कला-वाद' के माध्यम से किया जा रहा था। पन्तजी संभवतः प्रथम कवि हैं जिन्होंने अपने काव्य में सौन्दर्य विवेचन की यह पाश्चात्य-दृष्टि ग्रहण की है। वे "पल्लव" के अनेक स्थलों में सौन्दर्य का संचय करते दिखायी देते हैं किन्तु उनका यह सौन्दर्य-संचय अपनी कला को सँवारने का साधन है उसमें जीवन को सौंदर्य प्रदान करने की क्षमता नहीं है। सौन्दर्योपासक पंत का कवि धूल की ढेरी में भी अपने सौन्दर्यमय मीठे गीतों को छिपा पाता है—

धूल की ढेरी में अनजान।
छिपे हैं मेरे मधुमय गान॥

कवि निम्नांकित पंक्तियों में उस सत्ता को अपने भावना की तरंगों में भर लेने को अधीर है, जो उसकी दृष्टि में त्रिभुवन के समस्त सौन्दर्य का उपादान है—

अरे विश्व-अभिनय के नायक!
अखिल सृष्टि के सूत्राधार!

कण-कण की कम्पन में व्यापक,
ऐ त्रिभुवन के मनोविकार !
ऐ असीम सौन्दर्य-सिंधु की,
विपुल वीचियों के शृङ्गार !
मेरे मानस की तरङ्ग में,
पुनः अनङ्ग बनो साकार ॥

पन्तजी परिवर्तन की एक आँधी में और जीवन को विनष्ट होता देखते और उनका कोमल हृदय सिहर उठता है। परिवर्तन प्रकृति की एक अनिवार्य क्रिया है, उसे रोकना किसी के वश की बात नहीं पर उस क्रिया की जो प्रतिक्रिया जन-जीवन पर देखी जाती है, वह निश्चय ही मर्मस्पर्शिनी है। उस प्रतिक्रिया को देखकर कवि-हृदय वेदना से तड़प उठता और वह क्षुब्ध हो कह उठता है—

अहे निष्ठुर परिवर्तन
अहे वासुकि सहस्रफन
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर

मानव-मन भयावह से भयावह और महान् शोकप्रद स्थिति में भी अपने लिए सांत्वना का साधन ढूंढ ही लेता है। यदि वह यह शक्ति खो दे तो जगत् और जीवन के अवसान में विलम्ब न लगे। 'पल्लव' का कवि भी परिवर्तन की निष्ठुरता पर क्षुब्ध होने के पश्चात् अपने हृदय को सांत्वना देता हुआ कहता है—

मूँदती नयन मृत्यु की रात,
खोलती नव जीवन की प्रात।
म्लान-कुसुमों की मृदु मुस्कान,
फलों में फलती फिर अम्लान।

अन्त में कवि परिवर्तन के प्रहार से निराश जीवन में 'मधु-संचय' करता और उससे] उसके प्राण स्पन्दित होने लगते हैं—

रे गूँज उठा मधुवन में
नव गुञ्जन, अभिनव गुञ्जन,
जीवन के मधु-संचय को
उठता प्राणों में स्पन्दन

ये पन्तजी के 'गुंजन' की पंक्तियाँ हैं। 'गुंजन' उनके जीवन अनुभव के द्वितीय रूप को लेकर उपस्थित होता है। यहाँ वह मानव जीवन में दुःख और सुख, वृद्धि और अवसान दोनों की आवश्यकता अनुभव करता और दोनों को समान महत्त्व प्रदान करता

है तथा दोनों विषम स्थितियों के बीच अपने जीवन को प्रगतिशील देखने की कामना करता है—

सुख दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन,
फिर घन में ओझल हो शशि
फिर शशि से ओझल हो घन।

इसके पश्चात् पन्तजी धीरे-धीरे दुःख-सुखमय मानव जीवन में सौन्दर्य की नूतन भावना की प्रतिष्ठा करते हुए कहते हैं

मेरे मन के मधुवन में सुषमा के शिशु! मुसकाओ!
नव-नव साँसों का सौरभ नव मुख का सुख बरसाओ।

पल्लव की तरह 'गुंजन' में भी कवि की रहस्यमयी भावना अपने स्वाभाविक रूप में परिलक्षित होती है। वह खेतों में दूर तक शस्य श्यामला मन-मोहक हरीतिमा क्षितिज में जाकर मिलती देखता और सोचता है इस विस्तृत सौन्दर्य राशि के उस पार निश्चित ही कोई महान् वैभव होगा—

दूर उन खेतों के उस पार, जहाँ तक गई नील झंकार,
छिपा छाया-वन में सुकुमार, स्वर्ग की परियों का संसार।

कवि की रहस्यात्मक भावना में आत्मप्रकाशियता का अभाव है। वह मुक्ति का अभिलाषी नहीं है। वह अव्यक्त सत्ता के व्यक्त प्रसार में आत्मस्वानुभव करने में ही सहज मुक्ति मानता है। वह सहज मुक्ति ही उनकी साधना का परम सत्य है। इसी भावना के कारण उनके स्वकीय दृष्टिकोण में समन्विता प्रधान बन गई है। उनकी यह भावना विश्व के प्रति रचना में अधिक स्पष्ट दिखाई देती है। कवि ने इस रचना में अव्यक्त प्रकृति के बीच शब्द-सृष्टि के स्पन्दन में शक्ति का विविध रूपात्मक विकास चित्रित किया है। कुछ पंक्तियाँ देखिये—

छोड़ निर्जन का निभृत निवास, नीड़ में बँध जग के सानन्द,
भरे प्रिय कलरव से हरित-श्याम गृहों में कुसुमित मुदित अमन्द।
रिक्त होते जब-जब तरु-वास रूप धर तू नव नव तत्काल।
नित्य नादित रखती सोल्लास विश्व के अक्षयवट की डाल।

केवल रहस्यात्मक भावनाओं की दृष्टि से ही नहीं पर काव्य-कला के विकास की दृष्टि से भी पन्त जी 'पल्लव' की अपेक्षा 'गुंजन' में बहुत आगे आगे बढ़े हैं। 'गुंजन' की काव्यशैली "पल्लव" से अधिक व्यवस्थित अधिक प्रौढ़ और गंभीर है। 'गुंजन' में ही कल्पना-जगत् की अपेक्षा वास्तविक जगत् के अधिक समीप है। 'गुंजन' के पश्चात्

के काव्यों में हम उनका जीवन और जगत् में निहित सत्य का अधिकाधिक विकास देखते हैं। उन्होंने 'युगान्त' में मानव जीवन के अनेक पक्षों की सुन्दर और वास्तविक अभिव्यंजना की है। कहीं जीवन के मधुर स्वरों का गान, कहीं श्रमिक-जीवन की वेदना और पीड़ा, कहीं परिवर्तन की पुकार ये ही 'युगान्त' के विषय हैं। कवि स्वप्नोत्थित-सा हो कहता है—

"जो सोये स्वप्नों के तम में, वे जागेंगे यह सत्य बात।
जो देख चुके जीवन निशीथ, वे देखेंगे जीवन-प्रभात।"

कवि इस विश्वास के साथ शंखनाद करता आगे बढ़ता और सत्याश्रित जीवन सौंदर्य की कल्पना में प्रवृत्त होता है। उसके मन में सौंदर्य का आलोक-स्रोत फूट पड़ता और वह विश्व जीवन में नवजीवन प्रभात लाने को मचल पड़ता है। वह बाह्य-जगत् में स्नेह, सौंदर्य और उल्लास का अभाव पा अपने अन्तर में एक ऐसी सृष्टि की रचना करने को उद्यत है जिसमें भावी मानव के कल्याण के समस्त उपकरण उपलब्ध हैं। 'युगान्त' का कवि नर-कंकाल से भरे जर्जरित और क्षुधित जगत् के बीच कला-सौंदर्य के महान् प्रतीक ताजमहल को शोभित देख क्षुब्ध हो जाता और उसके प्रति मानव का आकर्षण देख कह उठता है—

"मानव ! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति,
आत्मा का अपमान, प्रेत औ' छाया से रति।
शव को दें हम रूप रंग, आदर मानव का,
मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का।"

वह लोक-मंगल की कामना से ओतप्रोत होकर प्राचीन जीर्ण शीर्ण जगत् का अन्त करने को एक विद्रोही के स्वर में कहता—

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र
हे स्रस्त, ध्वस्त, हे शुष्क शीर्ण,
हिम-ताप पीत, मधु-वात-भीत,
तुम वीतराग, जड़ पुराचीन।
× × × ×
झरें जाति-कुल-वर्ण-पर्ण घन,
अंध नीड़ से रूढ़ि-रीति छन।"

'युगान्त' के पश्चात् हम 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' में कवि को स्वाभाविक जीवन प्रगति की ओर अग्रसर देखते हैं। वह विविध विषमताओं की अग्नि में भुनते मानव में आंतरिक साम्य देखने को व्यग्र है—

पाया नहीं आंतरिक साम्य,
जीवन में मानव के प्राकम्य।

इसके पश्चात् पंत जी 'स्वर्णधूलि' और 'स्वर्ण-किरण' लेकर उपस्थित होते हैं। इनमें वे उपनिषद्-प्रतिपादित संस्कृति का संदेश देते हुए कहते हैं—

"उसी सचगत पर क्यों केन्द्रित
रहे मनुज गत में मयूर को
पायस रहे परस्पर।
सबके साथ अपापविद्ध
स्थित नम्हें-मग्न रहे जग में नर ॥"

पंत जी ने 'युगवाणी' में वर्तमान सामाजिक व्यवस्था से संबंधित सभी बातों को स्थान दिया है। यद्यपि उन बातों में निहित सत्य की स्पष्ट अभिव्यंजना नहीं है। कवि ने समाजवाद और गांधीवाद के प्रति भी अपना अनुराग व्यक्त किया है। बाह्य-व्यवस्था की दृष्टि से 'समाजवाद' के समर्थक हैं पर व्यक्तिगत विकास की दृष्टि से गांधीवाद का ही महत्व स्वीकार करते हैं। समाजवाद के विषय में उनका दृष्टिकोण स्पष्ट है। वे समाजवाद तो स्वीकार करते हैं पर न उसके संकुल संकीर्ण भौतिकवाद नहीं मानते।

भाषा-शैली

कवि पंत की भाषा खड़ी बोली है पर अपनी इस काव्य भाषा का निर्माण उन्होंने स्वयं अपने ढंग पर किया है। उनकी भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से बोझिल ही नहीं है, पर वह उनकी कल्पना को रूप-आकार प्रदान करने तथा उनके मनोभावों की व्यंजना में पूर्ण समर्थ है। शब्दों पर उनका अपूर्व स्वामित्व है। उन्होंने ब्रजभाषा और फारसी के शब्दों को भी अपने ढंग से रँगकर स्वीकार कर लिया है। ब्रजभाषा के ठेठ शब्द प्रयोग करने तथा फारसी के बीच नादान आदि ऐसे ही शब्द हैं। उन्होंने स्वप्निल विशेषित महमिल पुराकाल नभस-वास आदि न जाने कितने नये शब्द भी बना लिये हैं जो अब हिन्दी काव्य में रूढ़ हो गये हैं। उन्होंने रूप शब्दों का प्रयोग नवीन अर्थों में भी किया है। वायु के लिए प्रयुक्त समीर शब्द ऐसा ही है। हमें पंत जी की भाषा में कहीं-कहीं व्याकरण के नियमों का उल्लंघन भी मिलता है। लिंग-प्रयोग में ये बातें विशेष-रूप से देखी जाती हैं। उनकी भाषा में लोकोक्तियों और मुहावरों का पूर्ण अभाव मिलता है।

हिन्दी-साहित्य में यथार्थवाद

मानव-जीवन की किसी भी समस्या अथवा स्थिति की अभिव्यक्ति जब उसके वास्तविक रूप में की जाती है तब वह उसका यथार्थ अथवा नग्न चित्रण कहलाता है। साहित्य का मानव-जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है इसीलिए साहित्य में भी इस प्रकार की अभिव्यक्ति होती पायी है। साहित्य का जो पक्ष वस्तुस्थिति अथवा रूप का नग्न अथवा यथार्थ चित्रण करता है वह उसका यथार्थवादी पक्ष है। साहित्य का दूसरा पक्ष जीवन अथवा समाज के यथार्थ रूप की ओर कभी प्रत्यक्ष और कभी परोक्ष ढंग से संकेत मात्र करके उस रूप के प्रतिकूल एक ऐसा आदर्श चित्र उपस्थित करता है जिसे देखकर यथार्थ के प्रति तिरस्कार घृणा अथवा त्याग की प्रेरणा मिलती है। यह साहित्य का आदर्शवादी पक्ष है। अन्य भाषाओं के साहित्य की तरह हमें हिन्दी-साहित्य में भी अभिव्यक्ति के ये दोनों ढंग मिलते हैं। साहित्यकार यथार्थ-रूप-चित्रण के साथ मानव के रागात्मक सम्बन्ध की व्यंजना भी करता है। इस व्यंजना के दो रूप हैं—सामाजिक और धार्मिक। प्रथम रूप को हम सामाजिक यथार्थवाद और दूसरे रूप को धार्मिक यथार्थवाद कह सकते हैं।

सामाजिक यथार्थवाद

प्रत्येक समाज के संगठन और संचालन के लिए कुछ निश्चित नियमों की आवश्यकता होती है। ये नियम उस समय की स्थिति विश्वास और धारणा पर आधारित होते हैं जिस काल में उस समाज का संगठन होता है। ये नियम त्रिकाल-बाधित नहीं होते। कुछ नियम सदैव ही समाज के लिए कल्याणकारी होते हैं पर कुछ नियमों में समया-नुसार परिवर्तन भी आवश्यक होता है। परिवर्तन के अभाव में ऐसे नियम समाज के लिए अहितकर सिद्ध होने लगते हैं और कलाकार अथवा साहित्यकार उन नियमों के प्रभाव-स्वरूप उत्पन्न सामाजिक स्थिति का यथार्थ चित्रण करना आवश्यक समझता है। हिन्दी का विभिन्न कालीन साहित्य उस काल की स्थिति मनोदशा और जीवन का यथार्थ चित्रण करता है। हमें आदिकाल के चारण-साहित्य में भक्तिकाल के कबीर, सूर और तुलसी के साहित्य में तथा रीतिकाल के शृङ्गार-प्रिय कवियों के काव्य में तत्कालीन समाज का यथार्थ रूप स्पष्ट दिखाई देता है। समाज का इस प्रकार का वास्तविक चित्रण ही सामाजिक यथार्थवाद है। हम भारतीय साहित्य का यह यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही देखते चले आ रहे हैं। महाकवि कालिदास ने 'मेघदूत' में एक पत्नी-वियुक्त व्यक्ति की मनोभावना और मानवोचित दुर्बलताओं का यथार्थ चित्रण

किया है। कुमार-सम्भव में उपस्थित शिव-पार्वती के प्रथम समागम का वर्णन भी पूर्णतः यथार्थवादी है। शूद्रक के 'मृच्छकटिक' नाटक में भी निम्न कोटि के व्यक्तियों के जीवन का सहानुभूतिपूर्ण यथार्थ चित्रण है। भारतीय साहित्य का यह यथार्थवादी दृष्टिकोण प्राकृत साहित्य में अधिक विकसित रूप में दिखायी देता है। कवि हाल की गाथा-सप्तशती इसका प्रमाण है। इस ग्रन्थ में हाल ने सामान्य मनुष्य के दैनिक क्रिया-कलापों तथा मानव हृदय की स्वाभाविक वृत्तियों का यथार्थ चित्रण किया है। दम्पति प्रेम की विभिन्न परिस्थितियों और रूपों का जो चित्रण है वह भी यथार्थवादी दृष्टिकोण का ही परिचायक है। गाथा-सप्तशती के व्यभिचारी पति की मनोवेदना का यथार्थ चित्रण करने में हाल को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त है। गाथा-सप्तशती की इस परम्परा का विकास हम उसके पश्चात् 'अमरु-शतक' 'चौरपंचाशिका' शृङ्गार-शतक आदि में भी देख सकते हैं। सामाजिक यथार्थवाद की इसी परम्परा का विकास हमें हिन्दी के बिहारी देव पद्माकर आदि के काव्य में मिलता है।

आर्थिक यथार्थवाद

हम वैदिक काल से ही वस्तु-विनिमय पर आधारित अर्थ-व्यवस्था देख रहे हैं यद्यपि उस काल में अर्थ का आज की तरह अधिक महत्व न था। भारतीय साहित्य में एक सुदीर्घ काल तक आर्थिक-व्यवस्था से सम्बन्धित साहित्य का सृजन हुआ नहीं जान पड़ता। इसका कारण सम्भवतः भारत की संतुलित अर्थ-व्यवस्था ही हो। दूसरे उस काल में आज की तरह समाज का एक बड़ा वर्ग अर्थ-पीड़ित न था जिससे आर्थिक वर्ग-विभाजन का प्रश्न ही कभी उपस्थित नहीं हुआ।

किसी भी वस्तु के महत्व का अनुभव हम उस वस्तु की न्यूनता अथवा अभाव की स्थिति में ही करते हैं। अर्थ का महत्व केवल उसकी उपयोगिता में है वह हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति का एक महान साधन है जब हम अर्थाभाव से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाते तब हम उसकी महत्ता का विशेष अनुभव होता है। अंग्रेजों के शासन के साथ भारत में अर्थ-शोषण प्रारंभ हुआ। अंग्रेज एक साथ ही शासक और व्यापारी बने थे। अतः उनकी नीति के कारण समाज में आर्थिक विषमता का जन्म स्वाभाविक था। एक ओर अंग्रेजी शासन के कृपापात्रों और उनके व्यापार में सहायक व्यापारियों की आर्थिक सम्पन्नता में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी और दूसरी ओर सामान्य जनता की आर्थिक स्थिति असन्तोषजनक होती गया। इस स्थिति ने अर्थ पर आधारित वर्ग संघर्ष का जन्म दिया। इस स्थिति का यथार्थ चित्रण लेकर साहित्य में यथार्थवाद का प्रवेश हुआ।

यूरोप में अर्थ की समस्या पर आधारित वर्ग संघर्ष बहुत पहिले से चल रहा था। वहाँ की क्रान्तिकारी क्रान्ति इसी संघर्ष को लेकर हुई थी। धनिक व्यापारी-वर्ग निर्धन

वर्ग के शोषण में अनुरक्त था। परिणामस्वरूप उसका सामाजिक जीवन अस्त-व्यस्त होता जा रहा था। उस काल के अंग्रेजी साहित्य में हमें निम्न-वर्ग के इसी जीवन का यथार्थवादी चित्रण मिलता है। अंग्रेजी साहित्य में यह प्रारम्भिक यथार्थवाद हमें दो रूपों में मिलता है। इसका एक रूप अत्यंत करुण और दूसरा व्यंग्य-पूर्ण है। करुण रूप में हमें यथार्थवाद की स्पष्टता परिलक्षित होती है, उसके व्यंग्य रूप में यथार्थ के साथ हास्य की भावना भी रहती है। हार्डी का 'मेयर आफ कैस्टर ब्रिज' यथार्थवादी चित्रण का करुण रूप है और डैनियल डिफो का 'मुलेबिल ट्रम्पेस' यथार्थवादी चित्रण का व्यंग्यात्मक रूप उपस्थित करता है। ऐसा जान पड़ता है कि अंग्रेजी शासन के उत्तर काल में भारत में यथार्थवादी साहित्य की रचना होने लगी थी पर हमारे इस साहित्य का सूत्रपात पश्चिम के यथार्थवादी साहित्य के प्रभाव को लेकर ही हुआ था। हिन्दी के यथार्थवादी साहित्य पर भी गाल्सवर्दी, शा, वेबर, गोर्की आदि का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।

वैदिक काल से आज तक जो यथार्थवादी साहित्य उपलब्ध है वह दो प्रकार का है। एक साहित्य वह है जिसमें उस काल की सामाजिक स्थिति का यथावत् वर्णन अथवा चित्रण है। दूसरे प्रकार का वह साहित्य है जिसमें किसी काल विशेष के व्यक्ति उसके कार्य और उन कार्यों का परिणाम वर्णित है। वैदिक साहित्य में वैदिक काल के और "रामचरित मानस" में गोस्वामी तुलसीदास के काल का सामाजिक चित्र मिलता है। यह समाज-चित्रण से युक्त साहित्य प्रथम प्रकार का यथार्थवादी साहित्य है। हमें 'महाभारत' में युधिष्ठिर, दुर्योधन, नल आदि राजाओं के उल्लेख के साथ उनके कार्यों का विवरण तथा उसका परिणाम मिलता है। रामचरित-मानस में भी रावण द्वारा किये गये परनारी-हरण और उसके परिणाम-स्वरूप उसके सपरिवार विनाश का वर्णन मिलता है। यह दूसरे प्रकार का यथार्थवादी साहित्य है। सभी भाषाओं के साहित्य में यथार्थवादी साहित्य के ये दोनों रूप उपलब्ध हैं। इससे स्पष्ट है कि 'यथार्थवाद' शब्द का नया रूप भले ही हो पर 'यथार्थवादी साहित्य' नवीन नहीं है। इस साहित्य की रचना आरम्भ से होती आई है। मनुष्य ने जो कुछ देखा उसका वह यथार्थ वर्णन करता आया है और जो कुछ अनुभव किया उसको भी वह आरम्भ से ही अभिव्यक्त करता आ रहा है।

बाबू गुलाबराय के शब्दानुसार—"यथार्थ वह है जो नित्य प्रति हमारे सामने घटता है। उसमें पाप-पुण्य, सुख-दुःख की धूप-छाँह का मिश्रण रहता है। यह सामान्य भाव भूमि के समतल पर रहकर वास्तविकता से सीमाबद्ध रहता है। स्वर्ग के स्वप्निल सपने उसके लिए परी-देश की वस्तुएँ हैं। या उसकी पहुँच के बाहर हैं।' इससे स्पष्ट है कि

यथार्थवादी साहित्य में वस्तु के दोनों पक्षों गुणों-अवगुणों सुंदर-असुंदर का समावेश आवश्यक है।

यथार्थवादियों का एक दूसरा वर्ग समाज के घृणित, असुंदर, हीन और असत् स्वरूप को ही यथार्थवादी साहित्य के अंतर्गत स्थान देना आवश्यक मानता है। वह उसके सुंदर, उच्च और सत् स्वरूप को कल्पना की वस्तु मानता है। प्रगतिवादी युग के आरंभ में इसी धारणा के परिणामस्वरूप यथार्थवादी कहे जाने वाले कवियों और लेखकों के द्वारा हिन्दी में अश्लील और घृणित साहित्य का निर्माण हुआ। इन यथार्थवादियों का यह भी मत है कि 'संसार में सदैव असत् की ही विजय होती रही है और जो असत् या बुरा विजयी होने पर सत् और महान् माना जाता रहा। इस तरह शक्तिमान् और विजयी 'पुण्यात्मा तथा शक्तिहीन और विजित पापी माना जाता रहा। यथार्थवादियों की यह धारणा भ्रमात्मक है। यथार्थवाद के अन्तर्गत वस्तु, व्यक्ति और समाज का अच्छा और बुरा दोनों रूपों का यथावत् चित्रण आवश्यक है। सत् को सत् असत् का असत् सुन्दर को सुन्दर और असुन्दर को असुन्दर कहना ही यथार्थवाद है वस्तु के केवल हीन पक्ष का चित्रण ही यथार्थवादी साहित्यकार का लक्ष्य न होना चाहिए। यदि वह ऐसा करता है तो उसका दृष्टिकोण एकांगी और उसका साहित्य अयथार्थवादी ही समझा जायेगा।

हिन्दी-साहित्य में यथार्थवाद

हिन्दी-साहित्य में आरंभ से ही यथार्थवादी प्रवृत्तियों को स्थान मिलता रहा है। आदिकालीन कवि अमीर खुसरो, नरपति नाल्ह आदि की रचनाओं में भी हमें यथार्थवादी दृष्टिकोण मिलता है। अमीर खुसरो की निम्नांकित पंक्तियों में वियोगिनी नायिका का यथार्थवादी चित्रण देखिए—

सखी! पिया को जो मैं न देखूँ,
तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ।

प्रायः देखा गया है कि यथार्थवादी दृष्टिकोण में आरंभ से ही वासनात्मकता का प्रभाव रहा है। कवियों ने जहाँ नायक नायिका के उद्दाम प्रेम का चित्रण किया है, वहाँ उन्होंने लोक-मर्यादा तक का ध्यान नहीं रखा। उनका यह प्रेम-निरूपण वासना पूर्ण ही रहा है। इसमें नीति और मर्यादा का कोई स्थान नहीं है। कवि विद्यापति ने कहा भी है—

मनमथि मथन महारथि पाउल
मूढल कुल मरजाद॥

विद्यापति यह स्वीकार करते हैं कि प्रेम की उन्मुक्त और उद्दाम स्थिति प्रेमी और प्रेमिका को विवेकहीन बना देता है। इस स्थिति का अन्त विनाश और पश्चात्ताप में ही

होता है। कवि की यह यथार्थवादी भावना निम्नांकित पंक्तियों में देखी जा सकती है—

कुल-कामिनी छाँड़ों, कुलटा भये गेहों तिनकर भवन सोभाई।
अपने कर हम मूँड़ मुड़ायल कानु से प्रेम बढ़ाइ ॥
चोर रमनि जनि मन मन रोअई अम्बर बदन छिपाई।
दीपक लौ सलभ जनि आयल से फल भुंजइत चाई ॥

नरपति नाल्ह का स्थान आदि-काल के चारण कवियों में महत्वपूर्ण है। उन्होंने 'बीसलदेव रासो' में अपने काल की सामन्तशाही का यथार्थ चित्रण किया है। उन्होंने उस काल के नारी-जीवन का जो चित्रण किया है वह वस्तुतः ही भयावह है। उस काल की नारी अपने स्वामी की पत्नी नहीं दासी है। स्वामी के संकेतों पर नृत्य करने में भी उसके जीवन की सार्थकता है। महाराज बीसलदेव को उनकी गर्वपूर्ण उक्ति का उत्तर देने मात्र से उनकी रानी को बारह वर्ष के लिए वियोग की ज्वाला में जलने को विवश होना पड़ता है। रानी राजमती के मुख से कहलायी गयी कवि की निम्नांकित पंक्तियाँ उस काल के शोचनीय नारी-जीवन का यथार्थ चित्र उपस्थित करती हैं—

त्रिय का जनम काँई दियो महेस।
अवर जनम थारे घणा हो नरेस ॥

यद्यपि मध्यकालीन भक्त कवि आदर्शवाद के पोषक थे तथापि उनके काव्य में यत्र-तत्र यथार्थ के दर्शन हो ही जाते हैं। इस दृष्टि से सूरदास का काव्य विशेष रूप से दृष्टव्य है। बाल-सुलभ चेष्टाओं का जितना यथार्थ अंकन इस अंधे महाकवि ने किया है वह हिन्दी-साहित्य में अन्यत्र अप्राप्य है। बाल-जीवन के यथार्थ चित्र के साथ ही ग्राम्य जीवन की भी अनेक सुन्दर झाँकियाँ सूर ने अंकित की हैं जिनमें ग्राम्य जीवन की यथार्थता रह-रहकर उभर पड़ती है। सूर का भ्रमरगीत प्रसंग भी यथार्थवादी भावना से ओतप्रोत है और एक सीमा तक उद्धव और गोपिका उत्तर-प्रत्युत्तर आदर्शवाद और यथार्थवाद की टक्कर माना जा सकता है। गोपियों के जीवन की यथार्थता के सम्मुख उद्धव की आदर्शवादिता चूर-चूर हो जाती है। 'लरिकाई को प्रेम कहौ अलि कैसे छूटै' 'ऊधो! मन नाहीं दस बीस! एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधै ईस' आदि पंक्तियों में जीवन की शाश्वत यथार्थता की मार्मिक अभिव्यक्ति पायी जा सकती है।

मध्यकालीन या रीतिकालीन शृङ्गारी कवियों में तो यथार्थवाद और भी स्पष्टता से दीख पड़ता है। वस्तुतः समस्त रीतिकालीन काव्य सामाजिक आदर्शों से विमुख है। प्रत्येक कवि मानों सामाजिक आदर्शों को छिन्न-भिन्न करता हुआ जीवन की यथार्थता को स्वीकार करने का सन्देश देता है और घोषणा करता है कि—

तंत्री नाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग।
अनबूड़े-बूड़े, तिरे जे बूड़े सब अंग॥

इन शृंगारी कवियों में बिहारी की दृष्टि अधिक यथार्थवादी परिलक्षित होती है। उन्होंने उद्दाम शृंगारिकता को ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना है और प्रिय के सान्निध्य के सामने स्वर्ग का भी तुच्छ और मुक्ति का भी हेय समझा है—

चमक तमक हाँसी ससक, मसक, झपट, लपटानि।
ए जिहिं रति सो रति मुकति और मुकति अति हानि॥

एक अन्य दृष्टि से भी बिहारी के काव्य में यथार्थवाद का परिदर्शन किया जा सकता है। तत्कालीन समाज को लेकर भाभी के अनैतिक संबंध, पड़ोसियों के व्यभिचार, कथा-वाचकों, वैद्य और ज्योतिषियों आदि की दुश्चरित्रताओं का यथार्थ चित्रण बिहारी ने किया है और यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि उनकी सतसई तत्कालीन समाज की वास्तविक स्थिति का यथार्थ चित्रण करनेवाली कृति है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का दृष्टिकोण सुधारवादी अधिक था। फिर भी उन्होंने और उनके समकालीन कवि-लेखकों ने तत्कालीन भारत की दुरवस्था, सामाजिक, धार्मिक और शासकीय दुराचरण आदि की व्यंग्यात्मक शैली में यथार्थ अभिव्यक्ति की है।

द्विवेदी युग में आदर्शवादिता ही दृष्टिगोचर होती है, किन्तु आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के विराट व्यक्तित्व की सफलता के बावजूद यथार्थवादी दृष्टिकोण एकदम विलुप्त नहीं है। गुप्त जी की भारत भारती इस कथन का सर्वश्रेष्ठ और ज्वलन्त प्रमाण है। इसी भाँति कल्पना के ऐन्द्रजालिक लोक में विचरण करनेवाले छायावादी कवि भी कभी कभी यथार्थ की भूमि पर उतर ही आते हैं। छायावादी कवियों में निराला में यथार्थवाद अधिक प्रखर रूप में लक्षित होता है। अनेक आलोचकों ने आधुनिक हिन्दी-काव्य में यथार्थवाद का प्रारंभ उन्हीं से माना है। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की तो आधार भूमि ही यथार्थ है। प्रगतिवादियों ने समाज की यथार्थता का और प्रयोगवादियों ने अनुभूतियों की यथार्थता को काव्य में अंकित करने का सफल और स्वाभाविक प्रयत्न किया है।

इस संक्षिप्त विवेचन के साथ ही यथार्थवाद को पूरा-पूरा समझने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी प्रवृत्तियों का संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया जाय। थोड़े से शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यथार्थ जीवन की वास्तविकता को व्यक्त करता है। अतः स्वाभाविक है कि इसमें अतीत और भविष्य की अपेक्षा वर्तमान का ही चित्रण रहता है। यथार्थवादी साहित्यकार न अतीत का गुणगान करता है और न भविष्य के सुनहरे स्वप्न ही दिखाता है। यह उसका काम नहीं है और न उसके अधिकार की बात ही है। यह काम तो आदर्शवादियों का है। यह तो केवल वर्तमान की

वास्तविकता को अधिक-से-अधिक यथार्थ रूप में प्रस्तुत करना चाहता है। इसकी स्वाभाविक परिणति यह होती है कि यथार्थवादी रचनाओं में जीवन का सौष्ठव परिलक्षित नहीं होता अपितु जीवन की असमर्थताओं कटुताओं वैषम्यों आदि का ही चित्रण मिलता है। वह तो केवल यथार्थ का पुजारी होता है—चाहे फिर वह कितना भी असत्य हो। यह कहा जा सकता है कि वह केवल समस्या प्रस्तुत करता है, उसका समाधान नहीं। इसका परिणाम यह होता है कि यथार्थवादी रचना में वैयक्तिकता के अधिक और सामाजिकता के नहीं के बराबर दर्शन होते हैं। चूंकि यथार्थवाद जीवन की वास्तविकता को स्पष्ट करता है, अतः यथार्थवादी शैली में तीव्रता और व्यंग्यात्मकता के अधिक चिह्न मिलते हैं।

यथार्थवादी प्रवृत्तियों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यथार्थवाद जहाँ जीवन की वास्तविकता को चित्रित कर हमें अपनी वस्तुस्थिति से परिचित कराता है, वहीं वह यथार्थवाद के नाम पर जीवन के हीन और अश्लील पक्ष की ही अभिव्यक्ति कर जीवन के प्रति अस्वस्थ दृष्टिकोण प्रदान करता है। जहाँ वह सामाजिक व्यवस्था के प्रति शक्तिशाली प्रतिक्रिया को मुखर करता है वहाँ जीवन की यथार्थता को यथावत् रूप में उभार कर हमें जीवन के प्रति पलायनवादी नहीं तो कम-से-कम निराशावादी तो अवश्य ही बना देता है— मानव के उत्थान के प्रति विश्वास मिटता जाता है, क्योंकि वह भविष्य की सुखद कल्पना करना तो जानता ही नहीं है और न चाहता है।

अन्त में यह कहना अनुचित न होगा कि यद्यपि हिन्दी–साहित्य अपने आरम्भकाल में ही विशिष्ट मान्यताओं को लेकर चला है और उसकी दृष्टि आदर्शवादी ही रही है, तथापि यथार्थवाद के आधुनिक काल की देन होते हुए भी यह स्वीकार करना ही होगा कि हिन्दी-कविता के प्रत्येक युग में इस प्रवृत्ति के दर्शन होते ही रहते हैं—कभी प्रकट रूप में और कभी प्रच्छन्न रूप में। इसके साथ यह भी उतना ही सत्य है कि यथार्थवाद की सबसे सशक्त अभिव्यक्ति इसी युग में हुई है।

समाजवादी यथार्थवाद

यथार्थ और आदर्श

मानव जीवन की किसी भी समस्या अथवा स्थिति की अभिव्यक्ति जब उसके वास्तविक रूप में की जाती है तब वह उसका यथार्थ अथवा नग्न चित्रण कहलाता है। साहित्य का मानव-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है इसीलिए साहित्य में भी इस प्रकार की अभिव्यक्ति होती आई है। साहित्य का जो पक्ष वस्तु-स्थिति अथवा रूप का नग्न यथार्थ चित्रण करता है वह उसका यथार्थवादी पक्ष है। साहित्य का दूसरा पक्ष जीवन अथवा समाज के यथार्थ रूप की ओर कभी प्रत्यक्ष और कभी परोक्ष ढंग से संकेत मात्र करके उस रूप के प्रतिकूल एक ऐसा आदर्श चित्र उपस्थित करता है जिसे देखकर यथार्थ के प्रति तिरस्कार, घृणा अथवा त्याग की प्रेरणा मिलती है। यह साहित्य का आदर्शवादी पक्ष है। अन्य भाषाओं के साहित्य की तरह ही हिन्दी-साहित्य में भी अभिव्यक्ति के ये दोनों ढंग मिलते हैं।

मानव अपने जीवन के आरम्भ से ही यथार्थ की स्वीकृति के साथ आदर्श की कल्पना करता आ रहा है। वर्तमान में उसने जो कल्पना की वही उसके प्रयत्न से भविष्य में उसके जीवन का यथार्थ बन गया। यही उसकी प्रगति का क्रम है। साहित्यकार भी यही करता है। वह अपनी कृतियों में एक सामाजिक प्राणी होने के कारण प्रायः यथार्थ का ही चित्रण करता है क्योंकि यही यथार्थ वास्तव में जीवन का सत्य होता है किन्तु इस यथार्थ को मर्यादित बनाने के लिए वह कल्पना का भी सहारा लेता है। अतः हम यथार्थ को जीवन का सत्य और आदर्श को जीवन की कल्पना कह सकते हैं। यथार्थ अनेक बार नग्न रूप में हमारे सामने आता है अतएव केवल यथार्थ से हम जीवन को पूर्णतः अनुभव नहीं कर पाते। आदर्श वस्तुतः हीन के कारण उसमें जीवन के सत्य का अभाव रहता है किन्तु आदर्शविहीन जीवन भी जीवन नहीं समझा जा सकता। यह मानते हुए हम मानव-जीवन को यथार्थ और आदर्श का समन्वय ही कह सकते हैं।

यथार्थवाद वस्तुओं की स्वतंत्र सत्ता का समर्थक है अतः वह व्यष्टि उन्मुख है। उसका तत्त्व प्रत्येक वस्तु जगत् में है। उसकी दृष्टि वैज्ञानिक है। वह नाना द्वन्द्वों के बीच में जो निष्कर्ष निकालता है वही उसका सत्य है। इसके विपरीत आदर्शवाद समष्टि की ओर उन्मुख है। वह समष्टि में व्यष्टि के दर्शन का अभिलाषी है। वह मधुरता में कटुता, निराशा में आशा एवं दुःख में सुख पाने का प्रयत्न करता है। संक्षेप में आदर्श

वाद मानव-जीवन की महत्वाकांक्षाओं पर आधारित है, जब कि यथार्थवाद केवल उसी को तथ्य मानता है जिसका वह अनुभव करता प्रत्यक्ष दृष्टि से देखता और जिसको यथार्थता वह बुद्धि द्वारा सिद्ध कर सकता है।

उन्नीसवीं शताब्दी में कुछ पाश्चात्य कलाकारों ने रोमैन्टिसिज्म को कल्पनाशील घोषित कर उसका विरोध किया और उसके स्थान पर यथार्थवाद की प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया। इसी प्रयत्न के परिणाम-स्वरूप अंग्रेजी और फ्रेंच साहित्य में यथार्थवाद यथातथ्यवाद प्रकृतिवाद आदि का प्रवेश हुआ। रोमैन्टिसिज्म की धारा कुछ मंद हो गयी पर यथार्थवाद प्रकृतिवाद आदि के नाम पर जिस साहित्य का निर्माण हुआ उसमें भी जीवन के स्वस्थ उपकरणों का पूर्ण संचरण न हो सका। उस साहित्य में विकृत जीवन के चित्र चित्रित होने लगे यह देखकर आदर्शवादियों ने उसके सम्बन्ध में कहा—"They promised to give us a world, instead they gave us a hospital" (उन्होंने हमें एक विश्व देने का वचन दिया था पर इसके स्थान में उन्होंने एक अस्पताल दिया)। अनेक दिनों तक आदर्शवाद और यथार्थवाद में एक संघर्ष चलता रहा।

मार्क्स और लेनिन ने साहित्य और समाज संबंधी जो विचार व्यक्त किये हैं वे सभी यथार्थवादी विचार कहे जाते हैं। मार्क्स-द्वारा प्रस्तुत यथार्थवादी विचारधारा वैज्ञानिक कही जाती है। इस विचारधारा के समर्थकों का दावा है कि उनका साहित्य कल्पना और आदर्श से नहीं वरन् व्यावहारिक सत्य से संबंधित है। वे काव्य और साहित्य को उन अधिकारियों की प्रवृत्तियों का परिचायक मानते हैं जिन्होंने वर्ग-संघर्ष के क्रमबद्ध इतिहास में प्रमुख रूप से भाग लिया है। यथार्थवादियों का एक दूसरा दल है, जो मानववादी यथार्थवाद का आधार सामाजिक विकास है किन्तु इस दूसरे दल का यथार्थवाद अंतर्चेतना पर आधारित है। इन दोनों यथार्थवादी विचारधाराओं में परस्पर विरोध अवश्य है पर दोनों के साहित्य का आधार यथार्थवाद ही है।

आदर्शवादी साहित्यकारों में टाल्स्टाय को प्रमुख स्थान प्राप्त है। उनके साहित्य में मानव की महत्ता और उसकी आत्मा सर्वोत्तम धर्मों के प्रति विश्वास व्यक्त हुआ है। पाश्चात्य साहित्य पर यथार्थवाद और आदर्शवाद का निरन्तर प्रभाव पड़ता रहा है और उस साहित्य के अनुकरण पर हिन्दी-साहित्यकारों ने भी यह प्रभाव ग्रहण किया है। यथार्थवाद के नाम पर कुछ ऐसी रचनाएँ भी हुई हैं जो औचित्य की तुला पर निम्न-कोटि की उतरती हैं। इस प्रकार के साहित्य ने यथार्थवाद की प्रतिष्ठा पर आघात किया है। ऐसा जान पड़ता है कि आरम्भ से ही दोनों प्रकार के यथार्थवादियों ने साहित्य की सामाजिक उपयोगिता की सराहना की है।

वे सामाजिक प्रतिबन्ध भी स्वीकार नहीं करते। इसके विपरीत आदर्शवादी साहित्य पूर्णतया मानव-जीवन से संबंधित रहा है पर आदर्शवाद की अति के कारण यह साहित्य केवल उपदेशात्मक ही रह गया है। परिणाम-स्वरूप यह कहीं-कहीं साहित्य की परिधि से बाहर भी दिखाई देता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि साहित्य-दृष्टि से यथार्थवाद और आदर्शवाद दोनों ही अपने अपने में पूर्ण नहीं हैं। दोनों की अपनी अपनी अच्छाइयाँ हैं और दोनों की अपनी-अपनी निर्बलताएँ भी हैं। एक लम्बे विवाद के पश्चात् यह स्वीकार किया जा चुका है कि कला की सार्थकता जीवन को सँवारने में है। यही बात साहित्य के संबंध में भी कही जा सकती है। उसकी सार्थकता मानव-जीवन को सँवारने और ऊँचा उठाने में ही है।

समाजवादी यथार्थवाद

एक समय आया जब साहित्य की यह सार्थकता मान्य हुई और इस आधार पर केवल यथार्थवादी साहित्य अपूर्ण और एक सीमा तक निरर्थक माना गया। साहित्य-सृजन की एक नवीन शैली का आविर्भाव हुआ। इस शैली में यथार्थ और आदर्श का समन्वय था। इस शैली को आदर्शोन्मुख यथार्थवादी शैली कहा जा सकता है। इस शैली द्वारा सृजित साहित्य मानव-जीवन से संबंधित साहित्य अथवा जन-साहित्य के नाम से उद्घोषित हुआ। यह आदर्शोन्मुख यथार्थवाद ही समाजवादी यथार्थवाद है।

सामाजिक यथार्थवाद का संबंध मानव-मस्तिष्क से भिन्न है। इसके अन्तर्गत मानव-समाज की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों का समन्वय उस सामाजिक वातावरण का निर्माण करता है, जिसमें मानव के संस्कारों की रचना होती है। आदर्शवाद काव्य और कला को मानव की जीवन-प्रक्रिया से भिन्न अलौकिक और आध्यात्मिक अभिव्यक्ति-क्रिया की उपलब्धि मानता है किन्तु यथार्थवाद काव्य और कला को जीवन से उद्भूत [illegible] मानता है। हिन्दी में सब-प्रथम प्रेमचन्दजी ने ही इन दोनों वादों का समन्वय आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के नाम से किया था। उनके इस समन्वय का विकास हमें 'गोदान' और 'मंगल सूत्र' में विशेषरूप से दृष्टिगोचर होता है। आदर्शवाद दर्शन की आदर्शवादी अथवा आध्यात्मवादी प्रवृत्तियों से प्रेरणा ग्रहण करता है किन्तु यथार्थवाद इससे भिन्न दर्शन की भौतिकवादी प्रवृत्ति से प्रेरणा ग्रहण करता है।

१९वीं शताब्दी के मध्य में पाश्चात्य प्रगतिवादियों—जैसे जेम्स ज्वायस, मोपासाँ, एमिल, फ्लाबेयर, डी० एच० लारेंस आदि के पश्चात् बालज़ाक, टालस्टाय, गोर्की यथार्थवाद का नया रूप उभर कर सामने आया। यह सामाजिक यथार्थवाद अथवा समाज

वादी यथार्थवाद था। यथार्थवाद के इस रूप पर मार्क्स का पर्याप्त प्रभाव था। वास्तव में इसी प्रभाव में इस वाद का विकास हुआ। ये प्रायः सभी सामाजिक यथार्थवादी उपन्यासकार हैं और इनमें से बाल्ज़ाक सर्वोत्कृष्ट सामाजिक यथार्थवादी कहा जाता है। इसने अपने उपन्यासों में अपने समय की सामाजिक बुराइयों की कड़ी आलोचना की है। इसके साहित्य में जिस सामाजिक यथार्थवाद के दर्शन होते हैं, उसका आधार कोई गतिशील दर्शन नहीं था। यही कारण है कि इसके उपन्यासों में हमें व्यंग्य और विडम्बना जिस प्रमाण में मिलती है उस प्रमाण में निर्माणकारी सामाजिक चेतना नहीं मिलती। हमें सर्वप्रथम बेलिंस्की के साहित्य में ही एक निश्चित दर्शन पर आधारित सामाजिक जीवन-प्रक्रिया दिखायी देती है। बेलिंस्की वास्तव में हीगेलियन दर्शन का ही अनुयायी था। उसने इसी दर्शन के प्रकाश में ऐसे साहित्य का निर्माण किया जो तत्कालीन स्थिति में देश के राष्ट्रीय उत्थान में सहायक था। इसके पश्चात् ही मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को लेकर मैक्सिम गोर्की ने सामाजिक यथार्थवादी उपन्यासों की रचना की थी। प्रेमचन्दजी स्वामी दयानन्द के समाज-सुधार आन्दोलन तथा महात्मा गांधी के जन-जागरण से प्रभावित अवश्य हैं, पर एक सीमा तक हम उनके उपन्यासों पर गोर्की का प्रभाव भी देखते हैं।

प्रगतिवादी दृष्टिकोण

रोमांटिक काव्य के चरम विकास की स्थिति में फ्रेंच साहित्य में कलावाद का प्रवेश हुआ। कलावाद कल्पनावाद प्रतीकवाद और संवेदनावाद का सम्मिश्रित रूप था। इन वादों में शब्द-शिल्प और मूड विधान का ही प्राधान्य था। व्यक्तिगत राग-विराग की अभिव्यक्ति ही इन वादों का लक्ष्य था अतः यह सामान्य जन-मन को स्पर्श न कर सका। इस वाद की प्रतिक्रिया के रूप में यथार्थवाद का जन्म हुआ। इस वाद को लेकर सर्वप्रथम प्रकृतिवादी सामने आये। इनमें ज़ोला और मोपासाँ प्रमुख थे। इन्होंने बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध विद्रोह की भावना जागृत की किन्तु उनका ध्यान पूँजीवाद से उत्पन्न बुराइयों की ओर न गया। इनका आदर्शवादी सपनों में संघर्ष चलता रहा। इसी बीच इब्सन गाल्सवर्दी बर्नार्डशॉ वैल्स आदि ने मानव जीवन की समस्याओं को लेकर साहित्य की रचना की। इनमें यथार्थवाद ने समाजोन्मुख यथार्थवाद के विकास में विशेष योग दिया। इस दृष्टि से गोर्की का कार्य विशेष महत्वपूर्ण था। भारतीय लेखक भी इस साहित्य से प्रभावित हुए। यहाँ साम्राज्यवाद और पूँजीवाद एक साथ ही भारतीय जनता का दम घोट रहे थे। अब हिन्दी में रीतिकालीन शृङ्गार-भावना का कोई स्थान न था। वह ऐसे साहित्य की अपेक्षा कर रही थी जो भारतीय जन-मानस को सामाजिक और राजनीतिक चेतना से ओत प्रोत कर दे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कहा—

अंगरेज राज सुखसाज, महा सुख भारी ।
पै धन विदेश चलि जात, यहै दुख भारी ॥

श्री बालमुकुन्द गुप्त पूँजीपतियों को ललकारते हुए बोले—

धनियो, क्या दीनजनों की, नहीं सुन सकते हाहाकार ।
जिसका मर पड़ोसी भूखा, उसके जीवन को धिक्कार ॥

यह भारतीय प्रगतिवाद की पृष्ठभूमि थी । बिसवी युग में आर्यसमाज ने सामाजिक चेतना का विकास किया पर राष्ट्रीय जनता को उल्लेखनीय शक्ति न मिल सकी । रूस की राज्य-क्रान्ति ने समस्त विश्व के साथ भारत को भी प्रभावित किया । वैज्ञानिक भौतिकवाद का प्रकाश भी आया । अन्य भारतीय लेखकों की तरह हिन्दी लेखकों का ध्यान भी सामान्य जनता के जीवन की विषमताओं की ओर गया । परिणाम-स्वरूप दलितों शोषितों किसान-मजदूरों की कष्ट-कथा लेकर प्रगतिवाद का आविर्भाव हुआ । हम प्रगतिवादी साहित्य में सामाजिक यथार्थवादी साहित्य का विकसित रूप देखते हैं ।

सामाजिक यथार्थवाद का विकास

साहित्यकार यथार्थ-रूप-चित्रण के साथ मानव के रागात्मक संबंध की व्यंजना भी करता है । इस व्यंजना के दो रूप हैं । एक का सम्बन्ध समाज के संगठन से और दूसरे का सम्बन्ध इसके आर्थिक जीवन से है ।

(१) प्रत्येक समाज के संगठन और संचालन के लिए कुछ निश्चित नियमों की आवश्यकता होती है । ये नियम उस समय की स्थिति विश्वास और धारणा पर आधारित होते हैं जिस काल में उस समाज का संगठन होता है । ये नियम शाश्वत नहीं होते । कुछ नियम सर्वदा ही समाज के लिए कल्याणकारी होते हैं पर कुछ नियमों में समयानुसार परिवर्तन भी आवश्यक होता है । परिवर्तन के अभाव में ऐसे नियम समाज के लिए अहितकर सिद्ध होने लगते हैं और कलाकार अथवा साहित्यकार उन नियमों के प्रभाव-स्वरूप उत्पन्न सामाजिक स्थिति का यथार्थ चित्रण करना आवश्यक समझता है । हिन्दी का विविध कालीन साहित्य उस काल की स्थिति मनोदशा और जीवन का यथार्थ चित्रण करता है ।

हमें आदि काल के चारण-साहित्य में, भक्तिकाल के कबीर, सूर और तुलसी के साहित्य में तथा रीतिकाल के शृंगार-प्रिय कवियों के काव्य में तत्कालीन समाज का यथार्थ रूप स्पष्ट दिखाई देता है । समाज का इस प्रकार का वास्तविक चित्रण ही सामाजिक यथार्थवाद है । हम भारतीय साहित्य का यह यथार्थवादी दृष्टिकोण आरंभ से ही देखते आ रहे हैं । महाकवि कालिदास ने 'मेघदूत' में एक पत्नी-वियुक्त व्यक्ति की भावना और मानवोचित दुर्बलताओं का यथार्थ चित्रण किया है । कुमार-सम्भव में

[अ]सिद्धित शिव-पार्वती के प्रथम समागम का वर्णन भी पूर्णतः यथार्थवादी है। शूद्रक के [मृ]च्छकटिक नाटक में भी निम्न कोटि के व्यक्तियों के जीवन का सहानुभूतिपूर्ण यथार्थ वर्णन है। भारतीय साहित्य का यह यथार्थवादी दृष्टिकोण प्राकृत-साहित्य में अधिक विकसित रूप में दिखाई देता है। कवि हाल की 'गाथा-सप्तशती' इसका प्रमाण है। [इ]स ग्रंथ में हाल ने सामान्य मनुष्य के दैनिक क्रिया-कलापों तथा मानव-हृदयकी [स्व]ाभाविक वृत्तियों का यथार्थ चित्रण किया है। इसमें प्रेम की विभिन्न परिस्थितियों [औ]र क्रमों का जो चित्रण है, वह भी यथार्थवादी दृष्टिकोण का ही परिचायक है। गाथा सप्तशती के व्यभिचारी पति की मनोवेदना का यथार्थ चित्रण करने में हाल को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त है। गाथा सप्तशती की इस परम्परा का विकास हम उसके पश्चात् 'अमरू-शतक' और 'पंचासिका' 'शृंगार-शतक' आदि में भी देख सकते हैं। सामाजिक यथार्थवाद की इसी परम्परा का विकास हमें हिन्दी के बिहारी, देव व्यास पद्माकर आदि के काव्य में मिलता है।

(२) हम वैदिक काल से ही वस्तु-विनिमय पर आधारित अर्थ-व्यवस्था देख रहे हैं यद्यपि उस काल में धन का आज की तरह अधिक महत्व न था। भारतीय साहित्य में एक सुदीर्घ काल तक आर्थिक-व्यवस्था से संबंधित साहित्य का सृजन हुआ नहीं जान पड़ता। इसका कारण संभवतः भारत की संतुलित अर्थ-व्यवस्था ही हो। दूसरे उस काल में आज की तरह समाज का एक बड़ा अंग अर्थ-पीड़ित भी न था जिससे आर्थिक वर्ग विभाजन का प्रश्न ही कभी उपस्थित नहीं हुआ।

किसी भी वस्तु के महत्व का अनुभव हम उस वस्तु की न्यूनता अथवा अभाव की स्थिति में ही होता है। धन का महत्व केवल उसकी उपयोगिता में है वह हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति का एक महान् साधन है जब कि हम अर्थाभाव से अपनी आव श्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाते तब हमें उसकी महत्ता का विशेष अनुभव होता है। अंग्रेजों के शासन के साथ भारत में अर्थ-संकट प्रारंभ हुआ। अंग्रेज एक साथ ही शासक और व्यापारी दोनों थे। अतः उनकी नीति के कारण समाज में आर्थिक विषमता का जन्म स्वाभाविक था। एक ओर अंग्रेजी शासन के कृपापात्रों और उनके व्यापार में सहायक व्यापारियों की आर्थिक क्षमता में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी और दूसरी ओर सामान्य जनता की आर्थिक स्थिति भयावह होती गयी। इस स्थिति ने धन पर आधारित वर्ग-संघर्ष को जन्म दिया। इस स्थिति का यथार्थ चित्रण लेकर साहित्य में यथार्थवाद का प्रवेश हुआ।

यूरोप में धन की समस्या पर आधारित वर्ग-संघर्ष बहुत पहिले से चल रहा था। वहाँ की व्यापारिक क्रांति इसी संघर्ष को लेकर हुई थी। वणिक व्यापारी-वर्ग निम्न-वर्ग

के शोषण में अनुरक्त था। परिणाम-स्वरूप उनका सामाजिक जीवन अस्त-व्यस्त होता जा रहा था। उस काल के अंग्रेजी साहित्य में हम निर्धन वर्ग के दुखी जीवन का यथार्थवादी चित्रण मिलता है। अंग्रेजी साहित्य में यह यांत्रिक यथार्थवाद हमें दो रूपों में मिलता है। इसका एक रूप अत्यन्त करुण और दूसरा व्यंग्य-पूर्ण है। करुण रूप में हमें यथार्थवाद की स्पष्टता परिलक्षित होती है, उसके व्यंग्य रूप में यथार्थ के साथ हास्य की भावना भी रहती है। हार्डी का 'मेयर आफ कैस्टर ब्रिज' यथार्थवादी चित्रण का करुण रूप है और डीनियस स्विफ्ट का 'गुलीवर्स ट्रैवेल्स' यथार्थवादी चित्रण का व्यंग्यात्मक रूप उपस्थित करता है। ऐसा जान पड़ता है कि अंग्रेजी शासन के उत्तर काल में भारत में सामाजिक यथार्थवादी साहित्य की रचना ही आवश्यक थी पर हमारे इस साहित्य का सूत्रपात पश्चिम के यथार्थवादी साहित्य के प्रभाव को लेकर ही हुआ था। हिन्दी के यथार्थवादी साहित्य पर भी मार्क्सवादी या चेखव गोर्की आदि का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।

वैदिक काल से आज तक जो यथार्थवादी साहित्य उपलब्ध है वह दो प्रकार का है। एक साहित्य वह है जिसमें उस काल की सामाजिक स्थिति का यथावत् वर्णन अथवा चित्रण है। दूसरे प्रकार का वह साहित्य है जिसमें किसी काल विशेष के व्यक्ति उनके कार्य और उन कार्यों का परिणाम वर्णित है। वैदिक साहित्य में वैदिक काल के और 'रामचरित मानस' में स्वामी तुलसीदास के काल का सामाजिक चित्र मिलता है। यह समाज-चित्रण से युक्त साहित्य प्रथम प्रकार का यथार्थवादी साहित्य है। इसमें 'महाभारत' में युधिष्ठिर दुर्योधन नल आदि राजाओं के उत्कर्ष के साथ उनके कार्यों का विवरण तथा उनके परिणाम मिलते हैं। रामचरित-मानस में भी रावण द्वारा किये गये परनारी-हरण और उसके परिणाम-स्वरूप उसके सर्वनाश का वर्णन मिलता है। सभी भाषाओं के साहित्य में समाजवादी यथार्थवाद के ये दोनों रूप उपलब्ध हैं। इससे स्पष्ट है कि "यथार्थवाद" और सामाजिक यथार्थ चाहे आज नये शब्द भले ही हों पर इन बातों पर आधारित साहित्य नवीन नहीं है। इस साहित्य की रचना प्राचीनकाल से होती आई है। मनुष्य ने जो कुछ देखा उसका वह यथार्थ वर्णन करता आया है और जो कुछ अनुभव किया उसको भी वह प्राचीन से ही अभिव्यक्त करता आ रहा है।

यथार्थवादियों का एक दूसरा वर्ग समाज के घृणित असुंदर हीन और असत् व्यक्त को ही यथार्थवादी साहित्य के अन्तर्गत स्थान देना आवश्यक मानता है। वह उसके सुन्दर उच्च और नम्र स्वरूप की कल्पना को व्यर्थ मानता है। प्रगतिवादी युग के प्रारम्भ में इसी धारणा के परिणाम-स्वरूप यथार्थवादी कहे जाने वाले कवियों और लेखकों के द्वारा हिन्दी में अश्लील और घृणित साहित्य का निर्माण हुआ। इस यथार्थ

वादियों का यह भी मत है कि "संसार में सदैव असत् की ही विजय होती रही है और जो असत् का वही विजय होने पर सत् और महान् माना जाता रहा। इस तरह शक्ति-वान और विजयी पुण्यात्मा तथा शक्तिहीन और विजित पापी माना जाता रहा।" यथार्थवादियों की यह धारणा भ्रमात्मक है, यथार्थवाद के अन्तर्गत वस्तु, व्यक्ति और समाज का अच्छा और बुरा दोनों रूपों का यथावत् चित्रण आवश्यक है। सत् को सत् असत् को असत् सुन्दर को सुन्दर और असुन्दर को असुन्दर कहना ही यथार्थवाद है, वस्तु के केवल हीन पक्ष का चित्रण ही यथार्थवादी साहित्यकार का लक्ष्य न होना चाहिए। यदि वह ऐसा करता है तो उसका दृष्टिकोण एकांगी और उसका साहित्य भ्रम-यथार्थवादी ही समझा जाएगा।

हिन्दी का सामाजिक यथार्थवादी साहित्य

जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है यथार्थवादी की तरह सामाजिक-यथार्थवादी साहित्य का सृजन भी हिन्दी में आदिकाल से ही होता आ रहा है। हिन्दी-अपभ्रंश के कवियों की रचनाओं में भी हमें सामाजिक यथार्थवाद का रूप मिल सकता है। चारण-काव्य वीरगाथाओं से पूर्ण है पर उसमें भी सामाजिक यथार्थवादी साहित्य का सर्वथा अभाव नहीं है। इसके पश्चात् कबीर और जायसी के काव्य में तो हमें स्थान-स्थान पर सामाजिक यथार्थवाद के स्पष्ट चिह्न मिल जाते हैं। जायसी ने जिस दार्शनिक धारा को लेकर विरह-व्यंजना की है उसमें तथा उनके उपासना-सम्बन्धी दृष्टिकोण में भी हमें अनेक स्थानों पर सामाजिक यथार्थवाद दृष्टिगोचर होता है। सामाजिक यथार्थवाद का सबसे अधिक निखरा रूप हमें कबीर के काव्य में मिलता है। उन्होंने हिन्दू और मुस्लिम धर्म की साम्प्रदायिकता एवं रूढ़िवादिता की जो कड़ी आलोचना की है उसमें उनकी दृष्टि स्पष्ट सामाजिक यथार्थवादी ही है।

विद्यापति यह स्वीकार करते हैं कि प्रेम की ओर उन्मुख उद्दाम स्थिति प्रेमी और प्रेमिका को विवेकहीन बना देती है। इस स्थिति का अन्त विनाश और पश्चात्ताप में ही होता है। कवि का यह यथार्थवादी भावना निम्नांकित पंक्तियों में देखी जा सकती है—

> कुल-कामिनी छलीं, कुलटा भय गेलीं तिनकर बचन लोभाइ।
> अपने कर हम मूड़ मुड़ाएल कानु स प्रेम बढ़ाई॥
> चोर रमनि जनि मन मन रोअई अम्बर बदन छिपाइ।
> दीपक लो जनि पावस मे फल मुझइन पाइ

नरपति नाल्ह का स्थान आदि-काल के चारण कवियों में महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने बीसलदेव रासो में अपने काल की सामन्तशाही का यथार्थ चित्रण किया है। उन्होंने

उस काल के नारी-जीवन का जो चित्रण किया है, वह वास्तव ही भयावह है। उस काल की नारी अपने स्वामी की पत्नी नहीं पर की दासी है। स्वामी के संकेतों पर नृत्य करने में ही उसके जीवन की सार्थकता है। महाराज बीसलदेव को उनकी सत्पुरुष उचित का उत्तर देने मात्र से उनकी रानी को बारह वर्ष के लिए वियोग की ज्वाला में जलने को विवश होना पड़ता है। रानी राजमति के मुख से कहलायी गयी कवि की निम्नांकित पंक्तियाँ उस काल के शोचनीय नारी-जीवन का यथार्थ चित्र उपस्थित करती हैं—

त्रिय जनम कोई दिया हो महेस।
अवर जनम मारें पत्ता हो नरेस॥

यद्यपि मध्यकालीन भक्त कवि आदर्शवाद के पोषक थे, तथापि उनके काव्य में यत्र-तत्र यथार्थ के दर्शन हो ही जाते हैं। इस दृष्टि से सूरदास का काव्य विशेष रूप से उल्लेख्य है। बाल-सुलभ चेष्टाओं का जितना यथार्थ अंकन इन अंधे महाकवि ने किया है, वह हिन्दी-साहित्य में अन्यत्र अप्राप्य है। बाल-जीवन के यथार्थ चित्रण के साथ ही ग्राम्य जीवन की भी अनेक सुन्दर झाँकियाँ सूर ने अंकित की हैं, जिनमें ग्राम्य जीवन की यथार्थता रह-रहकर उभर पड़ता है। सूर का भ्रमरगीत प्रसंग भी यथार्थवादी भावना से ओतप्रोत है और एक सीमा तक उद्धव और गोपियों का उत्तर-प्रत्युत्तर आदर्शवाद और यथार्थवाद का संघर्ष माना जा सकता है। गोपियों के जीवन की यथार्थता के सम्मुख उद्धव की आदर्शवादिता चूर-चूर हो जाती है। 'सरिकाई को प्रेम कहि कहा कैसे छूटै', 'ऊधौ मन नाहीं दस बीस। एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधै ईस' आदि पंक्तियों में जीवन की शाश्वत यथार्थता की मार्मिक अभिव्यक्ति पायी जा सकती है।

मध्यकालीन काव्य-साहित्य के इतिहास में सामाजिक यथार्थवाद की दृष्टि से गोस्वामी तुलसीदासजी का स्थान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने रामचरित मानस में अपने काल के समाज का यथार्थवादी चित्र बड़ी सुन्दरता से चित्रित किया है। उत्तरकाण्ड का अधिकांश भाग इसी प्रकार के चित्रों से पूर्ण है। एक उदाहरण लीजिए—

सुत मानहिं मातु पिता तब लौं।
अबलानन दीख नहीं जब लौं॥
ससुरारि पिआरि लगी जब तें।
रिपु-रूप कुटुम्ब भए तब तें॥
नृप पाप-परायन धर्म नहीं।
करि दंड बिडंब प्रजा नितहीं॥

इसी प्रकार बैताल बरहर भंड बिहारी चन्द चिन्तामणि केशवदास गिरि आदि

उत्तर मध्यकालीन कवियों की रचना में भी हमें सामाजिक यथार्थवाद के अनेक भव्य चित्र मिलते हैं। स्थानाभाव से हम सबकी रचनाओं के उदाहरण देना यहाँ सम्भव नहीं है। कवि बैताल का एक षट्पदी देखिए—

मरै बैल गरियार, मरै वह अड़ियल टट्टू।
मरै करकसा नार, मरै वह खसम निखट्टू॥
बाम्हन सो मरि जाय, हाथ लै मदिरा प्यावै।
पुत्र वही मरि जाय, जो कुल में दाग लगावै॥
बैताल कहै बिक्रम सुनो, इनके मरे न रोइय।
सब पते मरि जायँ, पायँ पसार सोइय॥

इस काल के शृङ्गारी कवियों में बिहारी की दृष्टि अधिक यथार्थवादी परिलक्षित होती है। उन्होंने उद्दाम शृङ्गारिकता को ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य कहा है और प्रिय के सान्निध्य के सामने स्वर्ग को भी तुच्छ और मुक्ति को भी हेय समझा है—

चमक तमक हाँसी ससक,
मसक, झपट, लपटानि।
ये जिहि रति सो रति मुकुति,
और मुकुति अति हानि॥

यह पद्यांश ही उस समय के समाज की एक प्रवृत्ति का ही चित्रण है। बिहारी ने तत्कालीन समाज के बीच देवर भाभी के अनैतिक सम्बन्ध पड़ोसियों से व्यभिचार, कथा-वाचकों वैद्यों और ज्योतिषियों आदि की दुर्बलताओं का यथार्थ चित्रण किया है और यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि उनकी सतसई तत्कालीन समाज की वास्तविक स्थिति का यथार्थ दर्शन करानेवाली कृति है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल के जनक माने जाते हैं। उनकी तथा उनके समकालीन बाबू बालमुकुन्द गुप्त की सामाजिक यथार्थवादी रचना के एक-एक उदाहरण पहिले दिये जा चुके हैं। इसी प्रकार उस काल के दूसरे कवि बदरीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन' एवं प्रतापनारायण मिश्र ने भी तत्कालीन समाज तथा मानव-जीवन को लक्ष्य कर अनेक सुन्दर सामाजिक यथार्थवादी चित्र अंकित किये हैं। इस काल के कवि लेखकों ने भी तत्कालीन भारत की दुर्दशा सामाजिक आर्थिक और राजनीय दुराचरण आदि की व्यंग्यात्मक शैली में यथार्थ अभिव्यक्ति की है।

द्विवेदी-काल में यद्यपि आदर्शवाद की प्रधानता रही तथापि इस काल में भी सामाजिक यथार्थवादी साहित्य का अभाव नहीं रहा। स्वयं पण्डित महावीरप्रसाद की कुछ काव्य-रचनाओं में हमें साहित्य का यह रूप मिल जाता है। वे अपनी 'कुमित्र

वह आता—

दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को भूख मिटाने को
मुँह फटी-पुरानी झोली का फैलाता,
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि निराला में सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति तीव्र रूप में हुई है।

सन् १९४३ में अज्ञेय द्वारा सम्पादित 'तार सप्तक' के कवियों में रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, भारत भूषण अग्रवाल तथा मुक्तिबोध में सामाजिक यथार्थवाद देखा जा सकता है। नयी कविता के रचयिता कवि भी इस ओर सक्षम हैं और अनेक रचनाओं में सामाजिक यथार्थ के दर्शन होते हैं।

हिन्दी के गद्य-साहित्य में विशेषकर उपन्यास-साहित्य में सामाजिक यथार्थवाद का अधिक सुस्पष्ट विकास हुआ है। प्रेमचन्द, यशपाल, राहुल, नागार्जुन तथा फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास अधिकतर सामाजिक यथार्थता पर ही आधारित हैं। प्रेमचन्दजी के 'गोदान' में सामाजिक यथार्थवाद की अधिक व्यापक सृष्टि हुई है। यशपाल और राहुलजी के अधिकांश उपन्यास सामाजिक यथार्थवाद के निकट हैं किन्तु कभी कभी सैद्धान्तिकता के आग्रह के कारण यशपाल जी उपन्यासों के अध्ययन में व्यतिरेक उत्पन्न हो जाता है। सन्तोष की बात है कि उनके परवर्ती उपन्यासों में यह प्रवृत्ति लोप होती गयी है। रांगेय राघव के 'विषाद मठ' 'हुजूर' और 'कब तक पुकारूँ' आदि उपन्यासों में आधुनिक समाज और जन जीवन का दुःख दैन्य मूर्तिमन्त हो उठा है। नागार्जुन के 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा', 'बाबा बटेसरनाथ', 'वरुण के बेटे' आदि उपन्यासों में ग्राम्यजीवन के यथार्थ चित्र मिलते हैं। नागार्जुन की ही तरह 'रेणु' ने 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' में मैथिली जन जीवन की यथार्थता को व्यंग्यात्मक शैली में अभिव्यक्त किया। सबसे बड़ी बात तो यह है कि नागार्जुन की तुलना में रेणु अधिक तटस्थ हैं। उनमें नागार्जुन का-सा सैद्धान्तिक आग्रह नहीं मिलता।

नई कविता

'नयी कविता' से तात्पर्य प्रायः "प्रयोगवादी" कविता से समझा जाता है, किन्तु केवल प्रयोगवादी कविता ही नयी कविता नहीं है। 'नयी कविता' के अंतर्गत वह सभी काव्य माना जाना चाहिए जिसका आरंभ द्विवेदी-काल से होता है और जिसे हम विशुद्ध खड़ीबोली की कविता कह सकते हैं। इस प्रकार "पुरानी कविता' से तात्पर्य ब्रज भाषा की कविता और 'नयी कविता' से तात्पर्य खड़ी बोली की कविता समझना उचित होगा। यह नवयुग की कविता है।

नवयुग हिन्दी के काव्य-साहित्य का महान् क्रान्तिकारी युग रहा है। इस युग में काव्य की न जाने कितनी प्राचीन परम्परागत मान्यताएँ अस्तित्व-विहीन हुईं और उनके स्थान पर नवीन मान्यताएँ प्रस्थापित हुईं। विषय भाषा छन्द, विचारधारा सभी में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ और न जाने कितने नये विषय नये छन्दों और नई विचार धाराओं को लेकर भाषा के नये रूप में सामने आये और अपने युग को नई वाणी प्रदान की। द्विवेदी युग तक हिन्दी का काव्य-साहित्य क्रमशः विकसित होता हुआ प्रगति की ओर अग्रसर हुआ किन्तु काव्य की परम्परागत मान्यताएँ अक्षुण्ण रहीं। नये विषय भी आये पर उनकी झांकी प्राचीन ही थी। नये गीत बने पर उनके स्वर मोहित करनेवाले वातावरण प्राचीन ही थे। कवियों ने युग की भावनाएँ भी व्यक्त करने का प्रयत्न किया पर उनके स्वरों में आरोह की तीव्रता न थी। एकमात्र मैथिलीशरण गुप्त अपने युग की भावनाओं और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। 'एक भारतीय आत्मा" का कवि भारत की आत्मा का दर्शन करने और कराने को उत्सुक था, पर अभी उसका पूर्ण विकास न हो पाया था और नवयुग नवचेतना नवजागृति और नवसन्देश का शंखनाद करता आ गया। इस युग का प्रादुर्भाव सर्वप्रथम काव्य-साहित्य में परिलक्षित हुआ। हिन्दी-काव्य में छायावाद रहस्यवाद प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के नाम से सम्बोधित होनेवाले वाद एक-दूसरे के पश्चात् आये और काव्य-जगत् इन वादों को लेकर नव स्पन्द से समुज्ज्वल हो उठा।

शैली की दृष्टि से वर्तमान काव्य तीन प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है—द्विवेदी काव्य शैली छायावादी काव्य-शैली और नवीन शैली। द्विवेदीकालीन काव्य शैली आरम्भिक प्रयोगात्मक शैली कही जा सकती है। इस युग का काव्य किसी व्यवस्थित काव्य-स्वरूप के अन्तर्गत नहीं कहा जा सकता। यह एक प्रकार की पद्यमय रचना मात्र थी। उसमें काव्य भावना या वस्तु-चित्रण से पृथक् उपदेशात्मक प्रवृत्ति है। उसमें घटनापरक इतिवृत्त और काव्य की बाह्य भावना का वैशिष्ट्य स्थान-स्थान पर मिलता है।

गद्य और पद्य की भाषा की शब्दावली में भी कोई अन्तर न था। इस काल के अष्ट कवियों की रचना शैली पर भी विराट् काव्य-पद्धति की अपेक्षा मागध-पद्धति का ही प्राधान्य है। उन्होंने या तो संस्कृत के छन्दों का प्रयोग किया है या हिन्दी के पुराने छन्दों का। अलंकार-योजना भी परम्परागत ही है। उदाहरणार्थ अयोध्यासिंह उपाध्याय ने "प्रिय प्रवास" में मेघदूत के अनुकरण पर "पवनदूत" की योजना की है और मैथिलीशरण गुप्त ने "साकेत" के नवे सर्ग में ऋतु-वर्णन को स्थान दिया है। इस काल के काव्य पर स्वामी दयानन्द-द्वारा प्रवर्तित आर्य-समाज की बौद्धिकता की छाप भी स्पष्ट देखी जाती है।

इस प्रकार इस काल में बौद्धिक व्याख्याता और उपदेश की प्रधानता के कारण हार्दिक अनुभूतियों का मार्ग अवरुद्ध हो गया था। इस अवरोध की प्रतिक्रिया के रूप में छायावादी कविता का जन्म हुआ। भाषा में नई लाक्षणिकता का आविर्भाव हुआ और एक अपूर्व कल्पना-प्रवणता वैयक्तिक वेदना तथा सौन्दर्य-वृत्ति को प्रधानता मिली। प्रकृति और मानव-जीवन का सम्बन्ध तथा प्रेम-कल्पना आध्यात्मिक भूमि पर पहुँचा दी गई। उदात्त दार्शनिक और रहस्यात्मक अनुभूति की प्रमुखता हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि काव्य में स्वच्छन्दतावादिता आ गई और भाषा अधिकाधिक परिष्कृत होकर जन भाषा से दूर हो गई। संगीतात्मकता का भी उसमें प्रवेश हो गया। उदाहरणार्थ निम्न पंक्तियाँ देखिए—

कौन-कौन तुम परिहृत वसना
म्लानमना भूपतिता-सी।
वातहता विच्छिन्न लता-सी,
रतिश्रान्ता व्रजवनिता-सी॥

कुछ छायावादी कवियों ने सरल भाषा का भी प्रयोग किया पर उसमें भी एक प्रकार की असाधारणता रही। यथा—

जागो फिर एक बार।
प्यार जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें,
अरुण-पंख तरुण किरण खड़ी खोल रही द्वार॥

इन कविताओं की भाषा लाक्षणिकता की योजना से असाधारण बन गई है। प्रकृति और मानव-जीवन के आध्यात्मिक स्वरूप तथा सौन्दर्य की झाँकी छायावादी युग की कविता की विशेषता है। इस युग में नारी-भावना का विकास भी सुरुचि से हुआ और नारी के प्रति उसके स्वरूप में दारुण परिवर्तन हो गया। कवियों ने उसके प्रति हृदय की समस्त सहानुभूति प्रकट की और नारीत्व को पुरुषत्व से भी उच्च स्थान प्रदान किया। इसके

साथ ही इस युग के काव्य पर तत्कालीन राष्ट्रीय चेतना का प्रभाव भी स्पष्ट देखा जाता है। प्राचीन गौरव की अभिव्यक्ति तथा रहस्यात्मक दार्शनिकता इसी स्वातन्त्र्य और सांस्कृतिक चेतना का परिणाम है।

प्रगीत शैली का विकास भी छायावादी युग की एक प्रमुख विशेषता है। आत्मानुभूति व्यञ्जना का माध्यम प्रगीत काव्य ही होता है। छायावादी कवियों ने युग की सांस्कृतिक भाव-व्यंजना इसी माध्यम से की है। कवियों ने सामूहिक चेतना के अभाव में व्यक्तिगत साधना का आधार लिया और यही साधना प्रगीतात्मक काव्य के रूप में व्यक्त है।

छायावादी काव्य की कुछ विशेषताएँ ऐसी हैं जिनसे वह अन्य काव्य-धाराओं से स्पष्ट रूप से पृथक दिखाई देता है। प्रकृति प्रतीक अज्ञात और अगोचर सत्ता के प्रति निष्ठा एवं आत्म-समर्पण की भावना नारी के प्रति एक सर्वथा नवीन दृष्टिकोण आदि उसकी ऐसी ही विशेषताएँ हैं। इस काव्य के अनेक स्थलों में हमें प्रकृति परोक्ष सत्ता और नारी के चित्रण एवं वर्णन में अत्यधिक समानता दिखाई देती है। सम्भवतः यही देखकर छायावादी युग के आरम्भ में कुछ लोग इस काव्य को विलास-प्रधान मानते रहे जब कि वस्तुस्थिति इसके विपरीत थी। इतना अवश्य है कि छायावादी कवियों ने प्रकृति का भाव नारी-रूप में ग्रहण किया और उसके सौन्दर्य आकर्षण प्रेम में अपने को तन्मय एवं निमग्न किया। इस प्रकार उन्होंने इस काव्य में व्यक्त जीवन-दर्शन को सौंदर्य शृंगार और प्रेम से पूर्ण व्यक्त किया।

इसके अतिरिक्त नारी के नवीन स्वरूप की अवतारणा अज्ञात सत्ता के प्रति आत्म-समर्पण की भावना एवं नवीन शैली का प्रयोग इस काव्य-धारा की अन्य विशेषताएँ हैं। इनमें से वैयक्तिकता और नारी के नवीन रूप से संबंधित उदाहरण पहले दिए जा चुके हैं। अज्ञात सत्ता के प्रति समर्पण की भावना प्रसाद पंत एवं महादेवी वर्मा की अनेक रचनाओं में देखी जा सकती है। उदाहरणार्थ महादेवी वर्मा की निम्नांकित पंक्तियाँ देखिए—

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।
नींद थी मेरी अचल निस्पन्द कण-कण में,
प्रथम जागृति थी जगत के प्रथम स्पन्दन में,
प्रलय में मेरा पता पद-चिह्न जीवन में,
शाप हूँ जो बन गया वरदान बन्धन में,
कूल भी हूँ, कूलहीन प्रवाहिनी भी हूँ।

छायावादी काव्य में निहित आध्यात्मिकता धर्म पर नहीं अपितु मानवीय और सौंदर्यात्मक भूमि पर स्थित है। छायावाद का अध्यात्म धर्म मूलक नहीं पर सौन्दर्य-मूलक

है। इस सौन्दर्य के प्रकाश में अनुप्राणित होकर ही ससीम प्रेम असीम होकर सम्पूर्ण चेतन और जड़ जगत् तक व्याप्त हो जाता है। यही प्रकृति का प्रसाद-प्रसार है, जिसे हम छायावादी काव्य में स्थान-स्थान पर देखते हैं।

उसके पश्चात् एक नवीन काव्य-शैली सामने आयी जो छायावादी शैली से भिन्न है। इन दोनों प्रकार की शैलियों से युक्त कविताओं का अन्तर बच्चन के लिए पन्त और बच्चन की काव्य भाषा देखा जा सकता है। पन्त जी की भाषा में जो असाधारणता और साहित्यिकता है उसका बच्चन की भाषा में अभाव है। काव्यात्मक पदावली का चयन करने में पन्त जी लोक-प्रचलित भाषा से बहुत दूर चले गये हैं जब कि बच्चन जी की भाषा पर लोक-व्यवहार का पूरा प्रभाव है। यदि हम यहाँ कहें कि हिन्दी के काव्य-क्षेत्र में बच्चन जी के प्रवेश में एक नवीन काव्य शैली का सूत्रपात हुआ तो हमारा यह कहना अनुचित न होगा। लोक प्रचलित, सुगम और व्यावहारिक भाषा का प्रयोग इस शैली की एक विशेषता थी। कुछ समय पूर्व निरालाजी ने भी इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग अपनी कुछ रचनाओं में किया था जैसा कि हम उनकी निम्नलिखित पंक्तियों में देखते हैं—

रोक टोक से कभी नहीं रुकती है—
यौवन-मद की बाढ़ नदी की
किसे देख झुकती है?
सुना उसे रोकन कभी गुजर आया था,
फल क्या पाया था?
तिनका जैसा मारा-मारा
फिरा तरंगों में बेचारा
गर्व गँवाया, हारा—
यदि अवश्य जाओगे,
दुर्दशा कराओगे
वह जाओगे।

निरालाजी की यह भाषा उनकी बहुत कम रचनाओं में देखी जाती है जब कि बच्चन जी की अधिकांश रचनाओं में हमें भाषा का यही रूप मिलता है। यह देखते हुए हम बच्चन जी को निरालाजी की अपेक्षा नवीन काव्य शैली के अधिक निकट कह सकते हैं। जब हम बच्चन शैली को दृष्टि से बच्चन जी द्वारा प्रवर्तित इस नवीन काव्य-धारा को देखते हैं तो हमें इस काव्य-धारा में विषयता और वस्तुपरता की प्रवृत्ति भी छायावादी काव्य की अपेक्षा अधिक दिखायी देती है। अतः वास्तव में इस नवीन काव्य-धारा की एक प्रवृत्ति है जिसे हम एक सीमा तक यथार्थवादी प्रवृत्ति कह सकते हैं।

छायावादी काव्य का द्वितीय पक्ष वह है जिसमें हम मानवता का उच्च संदेश पाते हैं। प्रसाद की 'कामायनी' और निराला जी के 'तुलसीदास' में यह संदेश स्पष्ट स्वरों में सुनायी देता है। छायावादी काव्य में अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ हम मानव-समानता विश्व-बंधुत्व असाम्प्रदायिकता करुणा राष्ट्रीय जागृति आदि की भावनाएँ प्रकृति के माध्यम से देखते हैं। इसका कारण छायावादी काव्य पर विश्वकवि रवीन्द्र का प्रभाव है। ऐसा जान पड़ता है कि आगे चलकर छायावाद का इन्हीं भावनाओं का विकास राष्ट्रीय आन्दोलन के परिणाम-स्वरूप प्रगतिवाद की दिशा में हुआ और पंत जी की 'युगवाणी' के साथ अधिकांश छायावादी कवि जन काव्य की रचना में प्रवृत्त दिखायी दिये।

जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है छायावादी काव्य में वैयक्तिकता प्रकृति के प्रति आकर्षण एवं अशरीरी सौन्दर्यप्रियता की प्रधानता रही है। वैयक्तिकता के अमर्यादित विकास की स्थिति में छायावादी कवि आध्यात्मिक अनुभूति की ओर प्रवृत्त हुए। उनकी इसी प्रवृत्ति ने हिन्दी के रहस्यवादी काव्य को जन्म दिया। आरम्भ में ऐसा जान पड़ने लगा कि रीति-कालीन शृंगार ही छायावाद के नाम पर नये रूप-परिधान में पुनः अवतरित हो रहा है पर इसमें संदेह नहीं कि छायावादी युग में लाक्षणिक वैचित्र्य मूर्त पर अमूर्त का विधान भावाभिव्यञ्जन की चित्रात्मकता तथा भाषा की लाक्षणिकता का जो विकास हुआ और काव्य-भाषा का जो परिष्कार हुआ वह वास्तव में ही अद्वितीय था। इस युग में प्रेम के लौकिक और आध्यात्मिक दोनों रूपों का विकास निरूपण हुआ। छायावाद प्रेम के आध्यात्मिक स्वरूप की व्यंजना में रहस्यवाद की सीमा के अन्तर्गत ही चला गया पर उसके लौकिक रूप ने वासना का रूप ग्रहण कर लिया। छायावादी काव्य में अभिव्यक्त प्रेम के आध्यात्मिक स्वरूप का विकास आगे चलकर रहस्यवाद में हुआ और उसके लौकिक वासनामय चित्रण ने 'मांसलवाद' को जन्म दिया। बच्चन जी के हाला-प्याला और मधुबाला के रूप में 'मांसलवाद' की ओर प्रवृत्त होते दिखाई दिये पर इसके पश्चात् ही उन्होंने आध्यात्मिक स्वरूप ग्रहण कर लिया और कवि बच्चन का 'छायावाद' "रहस्यवाद" का ही एक अंग बन गया। एक मात्र 'अंचल' जी 'मांसलवाद' के क्षेत्र में रह गये पर उनकी अपनी यौवन-मदिरा अधिक दिनों तक उन्हें तृप्ति प्रदान न कर सकी और—उन्हें भी रहस्यवाद की शरण लेने को विवश होना पड़ा।

बाबू जयशंकर प्रसाद सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला सुमित्रानंदन पंत और महादेवी वर्मा ने इन दोनों काव्यधाराओं का विशेष रूप से प्रतिनिधित्व किया।

हिन्दी में यह रहस्यवादी काव्यधारा चार रूपों में व्यक्त हुई है—१ जिज्ञासामूलक २ सौन्दर्यमूलक, ३ विरहानुभूति-मूलक और ४ तादात्म्यमूलक।

सौंदर्य की ओर अधिक झुकाव छायावाद युग के काव्य की एक विशेषता रही है। असुन्दर भयानक और विस्मयकारक चित्रण नये युग के काव्य की विशेषता है। इसे भी हम यथार्थवादी भ्रम ही कह सकते हैं। जीवन के दैनिक और गोचर पहलू को लेकर नई कविता विकास कर रही है। जिसे प्रयोगवादी काव्य कहा जाता है उसमें इन्हीं व्यंग्यात्मकता उपहास की प्रवृत्ति तटस्थ और मार्मिक वस्तुचित्रण तथा छन्द-रहित और लयरहित गद्यात्मक भाषा-योजना की विशेषताएँ हैं। 'तार सप्तक' प्रयोगवादी कवियों की रचनाओं का प्रथम संकलन है। इसमें ये सब विशेषताएँ वर्तमान हैं। स्वभावतः इन प्रयोगों में भाव-योजना के स्थान पर शैली सम्बन्धी विलक्षणता अधिक दिखाई देती है। यद्यपि इस नवीन काव्य शैली का कोई प्रथम श्रेणी का प्रतिनिधि कवि अब तक सामने नहीं आया तथापि हिन्दी-कविता में एक नवीन सामाजिक और वस्तुन्मुखी चेतना का प्रवेश अवश्य हो गया है।

नई कविता का प्रयोगवादी रूप

सन् १९३६ से हिंदी-काव्य-साहित्य का छायावादी युग समाप्त हुआ और उस समय की सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति ने प्रगतिवादी-युग का सूत्रपात किया। वह ऐसा काल था जिसमें एक ओर राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए देश-व्यापी संघर्ष चल रहा था और दूसरी ओर बेकारी तथा अन्नाभाव से जन-सामान्य जनता में असंतोष फैल रहा था। परिणाम-स्वरूप पूँजीपतियों और मजदूरों में संघर्ष विकसित होता जा रहा था। प्रगतिवादी कवियों ने शोषितों का पक्ष ग्रहण किया और उनकी रचनाओं में शोषितों दलितों एवं अन्य सामान्य जनता की वाणी मुखरित होने लगी। इसमें नीचाती चित्रित हो उठे। पंतवाद के मैत पर प्रगतिवादी साहित्य पर एकाध का लेबल लगाये गये किन्तु इससे प्रगतिवादी साहित्य की प्रगति न रुकी। प्रगतिवादी साहित्य में कमियों में जो चेतना या नई थी उसका अंत न हो सका। अर्थ वाद को रोकने के लिए अभिव्यंजनावाद, प्रतीकवाद, स्वच्छंदतावाद आदि का जन्म हुआ किन्तु इनमें से कोई भी वाद अपने उद्देश्य में सफल न हो सका। इसी समय हिन्दी के कवियों का प्रगतिवाद की ओर से ध्यान हटाने के लिए एक नयी काव्य धारा सामने आई। यही काव्यधारा हिन्दी-काव्य-साहित्य में "प्रयोगवादी काव्यधारा" के नाम से प्रसिद्ध है। यह काव्य-पद्धति एक यूरोपीय काव्यपद्धति का अनुकरण मात्र थी। यूरोप में इस काव्यधारा का जन्म प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् टी० एस० इलियट के द्वारा हुआ था।

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् समस्त यूरोप की शासन-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई थी। वहाँ से पूँजीवाद की सत्ता समाप्त हो रही थी और रूस की जारशाही की समाप्ति हो रही थी और रूस की जारशाही की समाप्ति के पश्चात्

वहाँ का सर्वहारा वर्ग जो क्रांति कर रहा था उसका प्रभाव सर्वव्यापक बन रहा था। इंग्लैंड फ्रांस जर्मनी आदि देशों पर इस क्रान्ति के परिणाम-स्वरूप साम्यवाद का प्रभाव बढ़ता जा रहा था अतः वहाँ के पूँजीवादियों ने कुछ साहित्यकारों को खरीदकर उनके द्वारा एक ऐसी काव्यधारा का आविर्भाव कराया जो प्रगतिवादी अथवा साम्यवादी विचारधारा की विरोधिनी थी। इस काव्यधारा का जन्म नये प्रयोग और नये टैक्निक को लेकर हुआ था। इसमें मानव-जीवन की समस्याओं का कोई स्थान न था। टी० एस० इलियट इसी काव्य-धारा के जनक थे। प्रसिद्ध आंग्ल आलोचक आई० ए० रिचर्ड्स ने इस काव्यधारा के विकास में पर्याप्त सहायता की। उन्होंने काव्य के भावी स्वरूप की भविष्यवाणी करते हुए कहा था कि भविष्य में काव्य का स्वरूप क्रमशः अधिक उलझित होता जायेगा और बहुत कम लोग उससे आनन्दित हो सकेंगे। यह वह समय था जब हिन्दी काव्य-साहित्य में छायावाद का विकास हो रहा था। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् भारत की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति भी यूरोप की प्रथम विश्व-युद्धोत्तर काल-सी हो गई थी। यहाँ के पूँजीपतियों ने भी यूरोपीय पूँजीपतियों के द्वारा गृहीत साधन अपनाये और पूँजीवाद की रक्षा का असफल प्रयत्न किया। प्रयोगवादी काव्य धारा एक बहुत बड़ी सीमा तक इसी प्रयत्न का परिणाम है।

नई कविता का अन्तिम विकास हमारे सामने प्रयोगवाद के रूप में आया। जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है 'तार सप्तक' इस विकासधारा की प्रथम और प्रमुख कृति है। इसकी भूमिका 'विवृत्ति' में श्री अज्ञेयजी ने कहा है—'उनके तो एकत्र होने का कारण ही यही है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं अभी राही हैं—राही नहीं राहों के अन्वेषी। काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बाँधता है। वे प्रयोगवादी कवियों की प्रवृत्ति का परिचय देते हुए कहते हैं—'उनमें मतैक्य नहीं है सभी महत्वपूर्ण विषयों में उनकी राय अलग-अलग है—जीवन के विषय में समाज और धर्म और राजनीति के विषय में काव्य-वस्तु और शैली के छंद और तुक के कवि के दायित्वों के—प्रत्येक विषय में उनका आपस में मतभेद है। यहाँ तक कि हमारे जगत् के एक सर्वमान्य और स्वयंसिद्ध मौलिक सत्यों को भी वे स्वीकार नहीं करते जैसे लोकतंत्र की आवश्यकता उद्योगों का समाजीकरण यांत्रिक युद्ध की उपयोगिता वनस्पति घी की बुराई अथवा काननबाला और सहगल के गानों की उत्कृष्टता इत्यादि। वे सब एक-दूसरे की रुचियों-कृतियों और आशाओं-विश्वासों पर एक-दूसरे की जीवन-परिपाटी पर और यहाँ तक कि एक दूसरे के मित्रों और कुत्तों पर भी हँसते हैं।

अज्ञेयजी के उपर्युक्त शब्दों से यह स्पष्ट है कि अपने को प्रयोगवादी कहलवाने कवि प्रत्येक दृष्टि से स्वतंत्र हैं। वे काव्यशास्त्र अथवा किसी प्रकार का सामाजिक बन्धन या

उत्तरदायित्व स्वीकार नहीं करते। उन्हें अपने पथ का ज्ञान भी नहीं है वे मार्ग-भ्रमंती मात्र हैं। उनकी विचारधारा अस्त-व्यस्त और संवेदना उलझी हुई है। उनकी इस स्थिति ने उन्हें काव्य की वास्तविक भूमि पर कभी पहुँचने नहीं दिया उनका अपना दृष्टिकोण है और सबका अलग अलग दृष्टिकोण है। यह देखते हुए प्रयोगवादी काव्य की परिभाषा इस प्रकार होगी—'उलझी हुई संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए अथवा अमेय शब्दों में आने की स्वाभाविक प्रत्याशा सीधी-तिरछी लकीरों सीधे-उल्टे अक्षरों आदि का उपयोग करते हुए कभी किसी विषय पर सहमत न होनेवाले व्यक्तियों की रचना प्रयोगवादी कविताएँ हैं।

कभी-कभी प्रयोगवादी प्रचलित काव्य के विषयों और वर्णनों में भी नवीनता का संचार करते देखे जाते हैं। उदाहरणार्थ आज के कवि और लेखक मनोविज्ञान जीव-विज्ञान समाज विज्ञान तथा अन्य विषयों की पुस्तकें पढ़कर उसमें पाये जानेवाले नवीन तथ्यों का उपयोग अपनी साहित्यिक रचनाओं में करते हैं। इससे चरित्र-चित्रण आदि में कुछ स्पष्टता भले ही आ जाय पर किसी भी अवस्था में वह प्रयोगों का बाहुल्य वास्तविक साहित्य-सृजन का स्थान ग्रहण नहीं कर सकता। काव्य का क्षेत्र प्रयोगों के क्षेत्र से पृथक है। कवि अपनी अनुभूतियों के प्रति उत्तरदायी होता है और उसे काव्य-परम्परा एवं वाक्यात्मक अभिव्यक्ति के प्रति सचेत रहना पड़ता है। इन प्रयोगवादी कवियों का सक्रिय सामाजिक सहयोग न करके एक सर्वहित उपेक्षा वृत्ति का प्रदर्शन समाज के लिए अनिष्ट का ही परिचायक है।

अज्ञेयजी ने तार-सप्तक की भूमिका में प्रयोगवादी काव्य और कविता के सम्बन्ध में पूर्ण स्पष्टीकरण किया है उससे हम निम्न निष्कर्षों पर पहुँचते हैं —

१ प्रयोगवादी रचनाएँ पूरी तरह काव्य की सीमा में नहीं आतीं। वे अतिरिक्त बुद्धिवाद से ग्रस्त हैं।

२ प्रयोगवादी रचनाएँ वैचित्र्य-प्रिय हैं।

३ प्रयोगवादी रचनाएँ वैयक्तिक अनुभूति के प्रति ईमानदार नहीं हैं और सामाजिक उत्तरदायित्व को पूरा नहीं करतीं।

इन निष्कर्षों के अनुसार प्रयोगवादी काव्य का कोई निश्चित सत्य अथवा सामाजिक उपयोगिता नहीं जान पड़ती। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि युग और समाज की विषमता एवं भ्रान्तियों ने इस काव्य-धारा को भी जन्म दिया है।

हम प्रयोगवादी कवियों की जो कविताएँ देखते आ रहे हैं उनसे यह स्पष्ट है कि प्रयोगवादी कविता का लक्ष्य केवल नयी उपमाओं नये प्रतीकों आदि की खोज और नीरस भाषा के रूप का अपने काव्य में प्रचार करना ही है चाहे इनमें भावों का

समुचित अभिव्यक्तीकरण भले हो न हो सके। इनके इस प्रयत्न का परिणाम यह होता है कि इनके काव्य का भावपक्ष निर्बल दिखाई देता है, अभिव्यक्तीकरण में कोई क्रम नहीं होता और उसमें सर्वत्र अस्पष्टता एवं उलझन परिलक्षित होती है। सम्भवतः यही देखकर आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है— प्रयोगवादी साहित्यिक से साधारणतः उस व्यक्ति का बोध होता है जिसकी रचना में कोई तात्विक अनुभूति, कोई स्वाभाविक क्रम विकास या कोई सुनिश्चित व्यक्तित्व न हो। आचार्य वाजपेयी ने प्रयोगवादी काव्य की उपलब्धि पर प्रकाश डालते हुए आगे कहा है— किसी भी अवस्था में यह प्रयोगों का तांता वास्तविक साहित्य-सृजन का स्थान नहीं ले सकता। प्रयोग और काव्यात्मक निर्माण या सृजन में जो मौलिक अन्तर है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। विशेषकर काव्य का क्षेत्र प्रयोगों की दुनियाँ से बहुत दूर है। कवि सबसे पहले अपनी अनुभूतियों के प्रति उत्तरदायी है। वह उनके साथ खिलवाड़ नहीं कर सकता। उसका दूसरा उत्तरदायित्व काव्य-परम्परा और काव्यात्मक अभिव्यक्ति के प्रति है। वह किसी भी अवस्था में ऐसे प्रयोगों का पल्ला नहीं पकड़ सकता जिसका उस काव्य के भावगत और भाषागत संस्कारों से तथा उन दोनों के स्वाभाविक विकास-क्रम से सहज संबंध नहीं है।

प्रयोगवादी कवियों के समर्थक डाक्टर रामविलास शर्मा ने भी दूसरे शब्दों में इस काव्यधारा की ये निर्बलताएँ स्वीकार की हैं। उन्होंने लिखा है— 'पूँजीवादी व्यवस्था में शिक्षित किन्तु कुशिक्षित कवि में और जनसाधारण में भारी अन्तर होता है। कवि अपने संकुचित अभिजात वर्ग में और संकुचित होता हुआ व्यंजना के नये साधन तक सीमित प्रतीक ढूँढ़ लाता है। वह समझता है कि उसकी अनुभव और व्यंजना उच्च कोटि की है।' डाक्टर शर्मा के इस कथन से प्रयोगवादियों का इस काव्य के 'जनहितार्थ' होने का दावा निर्मूल हो जाता है।

डाक्टर नगेन्द्र ने प्रयोगवादी नई कविता के संबंध में जो विचार व्यक्त किये हैं वे भी लगभग उपर्युक्त निष्कर्षों की ही पुष्टि करते हैं। उन्होंने इस काव्य के निम्नांकित दोष बतलाये हैं—

१ भाव-तत्व और काव्यानुभूति के बोध रागात्मक के बजाय बुद्धिगत [illegible]।

२ साधारणीकरण का त्याग।

३ अवचेतन मन के अनुभव खण्डों के यथावत् चित्रण का आग्रह।

४ काव्य के उपकरणों एवं भाषा का एकान्त वैयक्तिक और असंगत प्रयोग।

५ नूतनता का अथाह मोह जो सदा परिचित को छोड़ अपरिचित की खोज में पड़ता है।

उत्तरदायित्व स्वीकार नहीं करती। उन्हें अपने पथ का ज्ञान भी नहीं है वे मार्ग-अन्वेषी मात्र हैं। उनकी विचारधारा अस्त व्यस्त और संवेदना उलझी हुई है। उनकी इस स्थिति ने उन्हें काव्य की वास्तविक भूमि पर कभी पहुँचने नहीं दिया उनका अपना दृष्टिकोण है और सबका अलग-अलग दृष्टिकोण है। यह देखते हुए प्रयोगवादी काव्य की परिभाषा इस प्रकार होगी—'उलझी हुई संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए अथवा अभीष्ट कभी न पाने की स्वाभाविक प्रवृत्तिवश सीधी-तिरछी लकीरों सीधे-उल्टे अक्षरों आदि का उपयोग करते हुए कभी किसी विषय पर सहमत न होनेवाले अन्वेषियों की रचना प्रयोगवादी कविता है।

कभी-कभी प्रयोगवादी प्रचलित काव्य के विषयों और वर्णनों में भी नवीनता का संचार करते देखे जाते हैं। उदाहरणार्थ आज के कवि और लेखक मनोविज्ञान जीव-विज्ञान समाज विज्ञान तथा अन्य विषयों की पुस्तकें पढ़कर उनमें पाये जानेवाले नवीन तथ्यों का उपयोग अपनी साहित्यिक रचनाओं में करते हैं। इससे चरित्र-चित्रण आदि में कुछ स्पष्टता भले ही आ जाये पर किसी भी अवस्था में यह प्रयोगों का बाहुल्य वास्तविक साहित्य-सृजन का स्थान ग्रहण नहीं कर सकता। काव्य का रूप प्रयोगों के रूप से पृथक् है। कवि अपनी अनुभूतियों के प्रति उत्तरदायी होता है और उसे काव्य-परम्परा एवं काव्यात्मक अभिव्यक्ति के प्रति सचेत रहना पड़ता है। इन प्रयोगवादी कविता का सक्रिय सामाजिक सहयोग के बदले एक सर्वथा उपेक्षा वृत्ति का प्रदर्शन समाज के लिए अहित का ही परिचायक है।

अज्ञेयजी ने तार-सप्तक की भूमिका में प्रयोगवादी काव्य और कवियों के सम्बन्ध में पूरा स्पष्टीकरण दिया है उससे हम निम्न निष्कर्षों पर पहुँचते हैं —

१ प्रयोगवादी रचनाएँ पूरी तरह काव्य की सीमा में नहीं आतीं। वे अतिरिक्त बुद्धिवाद से ग्रस्त हैं।

२ प्रयोगवादी रचनाएँ वैचित्र्य-प्रिय हैं।

३ प्रयोगवादी रचनाएँ वैयक्तिक अनुभूति के प्रति ईमानदार नहीं हैं और सामाजिक उत्तरदायित्व को पूरा नहीं करतीं।

इन निष्कर्षों के अनुसार प्रयोगवादी काव्य का कोई निश्चित लक्ष्य अथवा सामाजिक उपयोगिता नहीं जान पड़ती। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि युग और समाज की विषमता एवं प्रतिक्रिया ने इस काव्य-धारा को भी जन्म दिया है।

इन प्रयोगवादी कवियों की जो कविताएँ देखने आ रही हैं उनसे यह स्पष्ट है कि प्रयोगवादी कवियों का लक्ष्य केवल नयी उपमाओं अनोखी प्रतीकों आदि की खोज और [illegible] भाषा के शब्दों का [illegible] काव्य में प्रयोग करना ही है चाहे इनमें भावों का

असुचित अव्यवस्थित रूप में भी न हो सके। इसके इस प्रयत्न का परिणाम यह होता है कि उनके काव्य का भावपक्ष निर्बल दिखाई देता, उसके विकास में कोई क्रम नहीं होता और उसकी संवेदना अस्पष्ट एवं उलझी हुई परिलक्षित होती है। सम्भवतः यही देखकर आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है— 'प्रयोगवादी साहित्यिक से भावात्मक उस उत्पत्ति का बोध होता है जिसकी रचना में कोई तात्त्विक अनुभूति, कोई स्वाभाविक क्रम-विकास या कोई सुनिश्चित व्यक्तित्व न हो।" आचार्य वाजपेयी ने प्रयोगवादी काव्य की उपलब्धि पर प्रकाश डालते हुए आगे कहा है— 'किसी भी अवस्था में यह प्रयोगों का आडम्बर वास्तविक साहित्य-सृजन का स्थान नहीं ले सकता। प्रयोग और काव्यात्मक अभिव्यक्ति या सृजन में जो मौलिक अन्तर है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। विशेषकर काव्य का क्षेत्र प्रयोगों की दुनियाँ से बहुत दूर है। कवि सबसे पहले अपनी अनुभूतियों के प्रति उत्तरदायी है। वह उनके साथ खिलवाड़ नहीं कर सकता। उसका दूसरा उत्तरदायित्व काव्य-परम्परा और काव्यात्मक अभिव्यक्ति के प्रति है। वह किसी भी अवस्था में ऐसे प्रयोगों का पल्ला नहीं पकड़ सकता जिनका उस काव्य के भावगत और भाषागत संस्कारों से तथा उन दोनों के स्वाभाविक विकास-क्रम से सहज संबंध नहीं है।"

प्रयोगवादी कवियों के समर्थक डाक्टर रामविलास शर्मा ने भी दूसरे शब्दों में इस काव्यधारा की ये निर्बलताएँ स्वीकार की हैं। उन्होंने लिखा है— 'पूँजीवादी व्यवस्था में शिक्षित किंवा सुशिक्षित कवि में और जनसाधारण में भारी अन्तर होता है। कवि अपने संकुचित अभिजात वर्ग में और सङ्कुचित होता हुआ व्यञ्जना के नये अपने एक सीमित प्रतीक ढूँढ़ लाता है। वह समझता है कि उसका अनुभव और व्यंजना उच्च कोटि की है। डाक्टर शर्मा के इस कथन से प्रयोग को या इस काव्य के 'जनद्रोही' होने का दावा निर्मूल हो जाता है।

डाक्टर नगेन्द्र ने प्रयोगवादी नई कविता के संबन्ध में जो विचार व्यक्त किये हैं वे भी लगभग उपर्युक्त निष्कर्षों की ही पुष्टि करते हैं। उन्होंने इस काव्य के निम्नांकित दोष बतलाए हैं—

१ भाव-तत्त्व और काव्यानुभूति के बोध रागात्मक के बजाय बुद्धिगतप्रधान।
२ साधारणीकरण का त्याग।
३ उपचेतन मन के अनुबद्ध भावों के यथावत् चित्रण का आग्रह।
४ काव्य के उपकरणों एवं भाषा का एकान्त वैयक्तिक और मनमाना प्रयोग।
५ नूतनता का अनावृत मोह जो सदा परिचित को छोड़ अपरिचित की खोज में रहता है।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि कुछ प्रयोगवादी तरुण कवि नये-नये को लेकर काव्य-पथ में अवतीर्ण हुए और अन्य राहियों की तरह राह खोजते रहे राह न पा सके। वे अभी भी राह खोज रहे हैं किन्तु उनके राह खोजने का ढंग विचित्र है। जब तक वे यह विचित्रता छोड़कर सामान्य पर चलना न सीखेंगे तब तक उनका एक निश्चित मार्ग पर पहुँचना सम्भव नहीं है। डा. रांगेयराघव, शास्त्री, केदार, गोपेश, भारतभूषण आदि ऐसे कवि हैं जो प्रयोगवाद में सफल दीखते हैं किन्तु सप्तकों में उनका कोई स्थान नहीं है। तारसप्तकों के कवियों ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए जो बातें कही हैं उनमें अपनी-अपनी ढपली और अपना-अपना राग है। इस तरह दोनों तार सप्तक भानुमती का कुनबा बन गये हैं।

नई कविता—प्रयोगवादियों की दृष्टि में

कुछ विद्वान् 'दूसरा तार सप्तक' के बाद की कविताओं को ही नई कविता मानते हैं किन्तु प्रयोगवादी कविता के रूप में भी नई कविता की विकास मानने पर हम इसके विकास का प्रारम्भ (सन् १९५१) के साथ मानना चाहिए। नई कविता का स्वरूप पहली बार डा. जगदीश गुप्त और रामस्वरूप चतुर्वेदी के सम्पादकत्व में सन् १९५४ में प्रकाशित 'नई कविता' नामक संकलन में स्पष्ट घोषित होता है। इस संकलन से पहली बार यह घोषित होता है कि इस धारा विशेष के कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों से विषयवस्तु और शिल्प की दृष्टि से समानता रखते हुए भी कुछ विशिष्टताओं के आधार पर इनसे भिन्न हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि नई कविता प्रयोगवाद के आगे की कविता है और इसी क्रम में दोनों की काव्य-चेतना भी पर्याप्त साम्य रखती है और सर्वथा भिन्न और नवीन विषयवस्तु की भूमि पर इसी पार्थक्य की प्रतिष्ठा करने के उद्देश्य से इलाहाबाद की संस्था 'साहित्य सहयोग' ने 'नई कविता' का प्रकाशन सन् १९५४ में किया। आलोचना के कुछ अंकों में तथा प्रकाशित रचनाओं में इस स्थापना का प्रयास किया गया कि वैयक्तिक और सामाजिक दोनों पक्षों को स्वीकार करते हुए उन दोनों मान्यताओं को भी स्वीकृति दी जाय जो वर्तमान भावना लेकर उत्पन्न हो रहे हैं। 'यह नई कविता एक युग सत्य को लेकर चल रही है। यह युग के प्रभाव और मानव की सवन्नशीलता का सुन्दर समन्वय एक नई भाव भूमि पर उपस्थित कर रही है। इस तरह की कविता आज के इस बर्बर मानव की अपूर्णता की प्रति पक्ति है जो वर्तमान के प्रभाव, विषमता और विपन्नता का नाम धारण करके भी जीवित है और इसीलिए वह अपना व्यक्तित्व को सुरक्षित रखे हुए है।

हम नई कविता में मुख्य चार बातें देखते हैं। एक तो नई कविता का विश्वास आधुनिकता में है। दूसरे वह इस आधुनिकता में विश्वास रखने के साथ ही जीवन की दरबारी और कुण्ठाओं को नहीं अपितु जीवन की व्यापकता की हामी है। तीसरे

वह जीवन के इस यथार्थ के परिवर्तन के लिए विवेक को अधिक न्यायोचित मानती है। साथ ही वह समसामयिकता के दायित्व को भी स्वीकार करती है। आधुनिकता की इस स्वीकृति के कारण उसकी दृष्टि मानवीय है और वह अनुभूतियों को गति देती है संवेदन देती है। यही कारण है कि उसमें छायावादी पलायनवादिता और प्रगतिवादी साम्प्रदायिकता दोनों का नितान्त अभाव है। छायावादी कविता की भाँति पलायनवादी न होने के कारण वह इस युग की और आज के मानव की भावनाओं को यथारूप में अभिव्यक्त करने में समर्थ है और प्रगतिवादी साम्प्रदायिकता से हीन होने के कारण ही वह यथार्थ की सत्यात्मकता को पहचान पाई है। वह आज के मानव में आस्था रखती है और इसलिए वह अनुभूति की विविधता और अभिव्यक्ति अनेकानेक माध्यमों के प्रति अत्यधिक सजगता को आवश्यक नहीं समझती वह जीवन की यथार्थता और क्षण-क्षण के मुक्त जीवन के दायित्व के प्रति आग्रह लेकर चलती है।

प्रवृत्तियों के आधार पर आज की नई कविता को पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहला वर्ग उन कवियों का है जिनमें यथार्थवादी अहंकार की प्रवृत्ति दीख पड़ती है। इस वर्ग के कवियों में अज्ञेय मुक्तिबोध सर्वेश्वरदयाल सक्सेना आदि कवियों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। कवियों का यह वर्ग यथार्थ को स्वीकार तो करता है किन्तु अपने अस्तित्व को उसी यथार्थ का ही एक अभिन्न अंग मानकर उसकी अभिव्यक्ति करता है। दूसरे वर्ग के कवि भावानुभूति को स्वच्छन्द अभिव्यक्ति देते हैं। इस वर्ग के कवियों में माचवे विशेष उल्लेखनीय हैं। कवियों का तीसरा वर्ग अपने व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण के कारण विशेष महत्व रखता है, वह जीवन की विषमताओं के प्रति व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण रखता है और उसकी व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति करता है। इन कवियों में भवानीप्रसाद मिश्र विजयदेवनारायण साही और लक्ष्मीकान्त वर्मा प्रमुख हैं। चौथा वर्ग उन कवियों का है जो रस और रोमांस से समन्वित आधुनिकता का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस वर्ग के कवियों में डा० धर्मवीर भारती और गिरिजाकुमार माथुर के नाम लिए जा सकते हैं। पाँचवें के कवि बिम्बमयता और सम्प्रेषित अनुभूति चित्र पर विशेष ध्यान देते हैं और यथार्थ को बिम्बों के माध्यम से स्वीकार करते हैं। ऐसे कवियों में डा० जगदीश गुप्त केदारनाथ सिंह और शमशेर बहादुर के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

नई कविता का रचयिता उस सौन्दर्य के प्रति भी उदासीन है, जो दर्शनीय है और जो मानव-दृष्टि को युगों से सुपरिचित और सर्वप्रिय बनाए हुए है। इस दृष्टि से उसका सौन्दर्य-बोध बुद्धिवाद से अत्यधिक प्रभावित है। बुद्धिवाद के कारण ही वह सौन्दर्य के बोधतत्व में विश्वास करता है और उसके

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि कुछ प्रयोगवादी तरुण कवि नये-नये को लेकर काव्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए और भूले राहियों की तरह राह खोजते रहे, राह न पा सके। वे अभी भी राह खोज रहे हैं किन्तु उनके राह खोजने का ढंग बड़ा विचित्र है। जब तक व यह विचित्रता छोड़कर जनमार्ग पर चलना न सीखेंगे तब तक उनका एक निश्चित मार्ग पर पहुँचना सम्भव नहीं है। डा० रांगेयराघव त्रिलोचन शास्त्री केदार गोपेश बकरे-बकरे आदि ऐसे कवि हैं जो प्रयोगवाद म अपना स्थान रखते हैं किन्तु सप्तकों में उनका कोई स्थान नहीं है। तारसप्तकों के कवियों ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए जो बातें कही हैं उनमें अपनी-अपनी ढफली और अपना-अपना राग है। इस तरह दोनों तार सप्तक भानुमती का कुनबा बन गये हैं।

नई कविता—प्रयोगवादियों की दृष्टि में

कुछ विद्वान् 'दूसरा तार सप्तक' के बाद की कविताओं को ही नई कविता मानते हैं किन्तु प्रयोगवादी कविता के रूप में भी नई कविता को विकास मानने पर हम इसके विकास का प्रारम्भ (सन् १९५१) के साथ मानना चाहिए। नई कविता का स्वरूप पहली बार डा० जगदीश गुप्त और रामस्वरूप चतुर्वेदी के सम्पादकत्व में सन् १९५४ में प्रकाशित 'नई कविता' नामक संकलन में स्पष्ट दृष्टिगत होता है। इस संकलन में पहली बार यह दृष्टिगत होता है कि इस धारा विशेष के कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों से विषयवस्तु और शिल्प की दृष्टि से समानता रखते हुए भी कुछ विशिष्टताओं के आधार पर इनसे भिन्न हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि नई कविता प्रयोगवाद के आगे की कविता है और इसी अर्थ में दोनों की काव्य-चेतना भी पर्याप्त पार्थक्य रखती है और सबका भिन्न और नवीन विषयवस्तु की भूमि पर इसी पार्थक्य की प्रतिष्ठा करने के उद्देश्य से हमप्रकार की तरफ साहित्य सहयोग' में 'नई कविता' का प्रकाशन सन् १९५४ में किया। आलोचना के कुछ अंकों में तथा प्रकाशित रचनाओं में इस स्थापना का प्रयास किया गया कि वैयक्तिक और सामाजिक दोनों यथार्थों को स्वीकार करते हुए वन और मानव की भी स्वीकृति की जाय जो वर्तमान भावना लेकर उत्पन्न हो रहे हैं। स्पष्ट है नई कविता एक नए साथ को लेकर चल रही है। वह नये के यथार्थ और काव्य की सबल सरलता का सुन्दर समन्वय एक नई भावभूमि पर उपस्थित कर रही है। इस तरह की कविता आज के इस युग मानव की लघुता को प्रतिफलित है, जो वर्तमान के अभाव विषमता और विघटनता का भार धारण करके भी जीवित है और इसीलिए वह अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखे हुए है।

हम नई कविता में मुख्यतः चार बातें देखते हैं। एक तो नई कविता का विश्वास आधुनिकता में है। दूसरे वह इस आधुनिकता के विश्वास रखने के साथ ही जीवन की असमानता और कुरूपता को नहीं अपितु जीवन की यथार्थता को हामी है। तीसरे

अंगीकार करने पर और देता है। नई कविता की इन्हीं नवीनताओं से कुछ आलोचकों को चौंकानेवाली लगती है, तो कुछ को रसशून्य।

नई कविता के विरोधियों का आक्षेप है कि वह वैयक्तिक और एकांगी है, परम्परागत साहित्यिक मर्यादाओं का उल्लंघन करने में ही नवीनता और केवल व्यक्ति को ही मान्यता देती है किन्तु दिनोदिन विकसित होती और नये भाव-चरणों में मुखरित होती हुई नई कविता सिद्ध कर रही है कि ये आक्षेप यथार्थ से कितनी दूर हैं। नई कविता की विकास-रेखा से यह स्पष्ट है कि वह विरूपताओं कुण्ठाओं विषमताओं और युग की विभाजकता से ग्रस्त और जर्जर मानव की संघर्ष से पूरी तरह परिचित है और इसीलिए उसकी वास्तविकता को अभिव्यक्ति देने में समर्थ है, अन्यथा अनेकानेक कटु आलोचनाओं को मिटाती हुई वह इतना द्रुत विकास नहीं कर पाती।